प्रकाशक—

कर्मभूमि-प्रकाशन-मन्दिर,

विश्वेश्वरगंज, वाराणसी ।
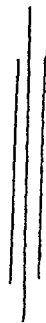
मुद्रक—

विश्वनाथ प्रसाद

श्रीराम प्रेस, बुलानाला, वाराणसी ।

❀ समर्पणम् ❀

नन्दैकनन्दनं दिव्यं मत्प्रबन्धस्य कारणम् ।
वन्देऽहं सुकलाविज्ञं गुरुन्तं वाजपेयिनम् ॥
येषां पूतपदारविन्दरजसा मच्चेतसो दर्पणः
साहित्योदधिरत्नराशिग्रहणे जातः समर्थः शुचिः ।
तेषां दिव्यकरारविन्दयुगले पुण्यं समीक्षात्मकम्
श्रीशुक्लस्य विचारचारुचरितं श्रद्धान्वितेनार्प्यते ॥

दो शब्द

डा. रामलाल सिंह द्वारा प्रणीत यह पुस्तक उनके पी-एच० डी० प्रबन्ध का ही किंचित् परिवर्तित स्वरूप है। इसके प्रकाशन से आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्तों का प्रथम बार सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। इस विषय की अबतक उपलब्ध पुस्तकें तथा निबन्ध आदि सर्वांगपूर्ण नहीं थे और उनका विवेचन भी उतना शास्त्रीय और वस्तुमुखी नहीं था। इस दृष्टि से यह पुस्तक आचार्य शुक्ल पर किये गये तात्त्विक अध्ययन का प्रतिनिधित्व करती है। डा. रामलाल सिंह काशी-विश्वविद्यालय में आचार्य शुक्ल के छात्र रहे हैं और गुरु-मुख से उपलब्ध ज्ञान के अधिकारी भी हैं। अतएव इस पुस्तक में शुक्ल जी की वास्तविक समीक्षा-दृष्टि का निरूपण हो सका है। प्रबन्ध-लेखन में समय समय पर आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के सुझाव भी प्राप्त होते रहे हैं; जिनसे पुस्तक की प्रामाणिकता में वृद्धि हुई है। यद्यपि सम्पूर्ण प्रबन्ध मेरे निरीक्षण में प्रस्तुत किया गया है परन्तु मैंने इस बात का ध्यान रखा है कि इसमें मेरे निजी विचार जो शुक्ल जी के विचारों से कुछ भी भिन्न हों, स्थान न पा सकें। पाश्चात्य समीक्षा के तुलनात्मक अध्ययन में मैंने डा. रामलाल सिंह को एक स्वतन्त्र अध्याय प्रस्तुत करने की सम्मति दी थी, जिसे उन्होंने मनोयोगपूर्वक प्रस्तुत किया है। इस अध्याय में इतनी विस्तृत सामग्री का उपयोग करना पड़ा है कि सम्पूर्ण निबन्ध में समरसता का आना कठिन था। परन्तु आगामी शोध-कर्ताओं के दिशा-निर्देश की दृष्टि से यह अध्याय एक नवीन कार्य माना जायगा। डा. सिंह ने शुक्ल जी के नवीन उपस्करणों के स्रोतों की खोज बड़े अध्यवसाय से की है जिसके कारण शुक्ल जी की मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक भूमिकाओं का नवीन परिचय प्राप्त हो सका है। इससे ज्ञान के क्षेत्र में नवीन अभिवृद्धि हुई है। अन्य अध्यायों में डा. सिंह ने प्राचीन साहित्य-शास्त्र का शुक्ल जी द्वारा किया गया अभिनव प्रवर्तन व्यवस्थित दृष्टि से उपस्थित किया है। ये सभी अध्याय प्रौढ़ विचारणा तथा विस्तृत अध्ययन के परिणाम हैं। डा. सिंह की लेखन-शैली सुसंबद्ध और प्रबन्धोपयुक्त है। हिन्दी-विभाग के अन्तर्गत किये गये इस कार्य की प्रशंसा में अधिक कुछ कहना आत्मप्रशंसा ही कही जायगी। इसलिए मैंने केवल ऐसे तथ्यों का निर्देश किया है, जिनसे पुस्तक की रूपरेखा पर आरंभिक प्रकाश-मात्र पड़ता है। पुस्तक के मूल्य और महत्व का निर्णय तो सहृदय और सुधी पाठकों पर ही छोड़ा जाता है। मैं अपनी सम्पूर्ण शुभकामनाओं के साथ इस पुस्तक को हिन्दी-संसार के सम्मुख रख रहा हूं।

नन्ददुलारे वाजपेयी,
अध्यक्ष, सागर-विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश।

प्राक्कथन

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के पूज्य चरणों में समीक्षा-सिद्धान्तों के अध्ययन का मुझे कुछ ही समय मिल पाया था कि वे क्रूर काल के कठोर प्रहारों द्वारा हिन्दी-साहित्य के दुर्भाग्य से अकाल काल-कवलित हो गये। उनके आकस्मिक निधन से उस समय उनके विद्यार्थियों को ही नहीं समस्त हिन्दी-जगत को महान चोट पहुँची। उस मानसिक चोट के फलस्वरूप उस समय मैंने उनके समीक्षा-सिद्धांतों के अनुशीलन का संकल्प किया था। किन्तु उस समय के उस संकल्प रूपी बीज-भाव को अंकुरित होने का अवसर सागर में ही आकर मिला, जब कि आचार्य बाजपेयी जी ने मुझे उनके समीक्षा-सिद्धांतों के अनुशीलन पर प्रबन्ध लिखने का आदेश दिया। प्रस्तुत पुस्तक उसी प्रबन्ध के फलस्वरूप तद्वत् रूप में इस समय प्रकाशित हो रही है।

आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांतों का अनुशीलन करते हुए मुझे ऐसा विदित हुआ कि उनके समीक्षा-सिद्धांतों की मूल धारा भारतीय साहित्य-चिंतन-धारा ही है, पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतों की धारा तो उसमें स्रोत अथवा सहायक धारा के रूप में मिली है। इसलिए सर्वप्रथम उनके सिद्धांतों की मूल धारा को समझने के लिए मैंने भारतीय समीक्षा-सिद्धांतों का अध्ययन किया। तदनन्तर उनके सिद्धांतों की सहायक धारा को समझने के लिए मुझे पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतों का अध्ययन करना पड़ा। आचार्य जी के ऊपर हिन्दी-समीक्षा में विभिन्न विद्वानों के आजतक जितने स्फुट निबन्ध तथा ग्रन्थ निकले थे, उनका भी उपयोग मैंने उनके समीक्षा-सिद्धांतों को समझने के लिए किया।

शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धांतों का अनुशीलन करते समय सैद्धांतिक समीक्षा-सम्बन्धी अनेक उलझनें, कठिनाइयाँ तथा शंकायें उत्पन्न हुईं, जिनके सुलझाने का पथ तथा प्रकाश यदि मुझे आचार्य बाजपेयी जी जैसे तत्वाभिनिवेशी समीक्षक एवं पथ-प्रदर्शक गुरु से न मिलता, तो कदाचित् मैं इस कार्य का सम्पादन इस रूप में न कर पाता।

अपने प्रयास की नवीनता प्रतिपादित करने के लिए अद्यावधि शुक्ल जी पर जितनी आलोचनायें हुई हैं, उन सबका संक्षिप्त परिचय दे देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। उनके ऊपर आलोचनात्मक सामग्री संकलित-रूप में सर्वप्रथम साहित्य-संदेश के 'शुक्लांक' में मिलती है। इसमें उनके जीवन-परिचय के अतिरिक्त, उनके व्यक्तित्व के विभिन्न स्वरूपों—निबन्धकार, आलोचक, कवि,

अनुवादक आदि पर विभिन्न लेखकों के निवन्ध मिलते हैं। इसमें संकलित आचार्य वाजपेयी जी का निबन्ध उनके महत्वपूर्ण समीक्षा-सिद्धान्तों तथा उनके ऐतिहासिक महत्व की ओर संकेत करता है, डा० नगेन्द्र का निबन्ध रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धातों के साथ उनके समीक्षा-सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन को संक्षेप में प्रस्तुत करता है तथा शेष निबन्धों की सामग्री परिचयात्मक कोटि की है।

श्री शिवनाथ जी की 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' पहली पुस्तक है, जो उनके व्यक्तित्व के सभी रूपों तथा कृतियों पर कुछ विस्तार से विचार करती है, किन्तु उसकी शैली शोधात्मक नहीं है। इस पुस्तक में लेखक का प्रतिपाद्य विषय शुक्ल जी का व्यक्तित्व तथा कृतित्व होने के कारण, उनके समीक्षा-सिद्धान्तों का धारावाहिक विवेचन नहीं हो सका है।

इस विषय पर 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' प्रो० गुलाबराय तथा विजयेन्द्र स्नातक द्वारा संपादित दूसरी पुस्तक है, जिसमें उनके जीवन-वृत्त, व्यक्तित्व तथा कृतियों से सम्बन्धित विभिन्न लेखकों के स्फुट निबन्ध संकलित हैं। इसमें डा० नगेन्द्र, आचार्य वाजपेयी, प्रो० गुलाबराय, तथा शिवनाथजी के निबन्ध उनके समीक्षा-सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखते हैं; किन्तु इनमें उनके सभी अंगी तथा अंग समीक्षा-सिद्धान्तों का धारावाहिक विवेचन शोधात्मक शैली में नहीं है।

डा० रामविलास शर्मा की 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना' शुक्ल जी पर तीसरी पुस्तक है, जिसमें लेखक ने उनके बौद्धिक, सामाजिक एवं वस्तुवादी पक्ष को आग्रह के साथ उद्घाटित किया है। शर्मा जी के निबन्ध बहुत कुछ उनके मतवाद की पुष्टि में लिखे गये हैं, इसलिए वे साहित्य-शास्त्रीय समीक्षा-सिद्धान्तों की गहराई में नहीं उतरते, केवल उनके प्रगतिशील पक्ष पर प्रकाश डालते हैं।

शुक्ल जी पर चौथी पुस्तक 'समीक्षक-प्रवर श्रीरामचन्द्र शुक्ल' है। इसमें श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने उनके निबन्ध, कविता, आलोचना, इतिहास आदि सभी कृतियों पर विचार किया है। आलोचना-सम्बन्धी अंश में लेखक ने शुक्लजी की समीक्षा के मूल सिद्धान्त तथा सहायक सिद्धान्तों-दोनों पर विचार करने का प्रयत्न किया है, किन्तु अनुसंधानात्मक शैली के अभाव के कारण विवेचन को वैज्ञानिक आधार नहीं मिल सका है।

अपने स्फुट निबन्धों तथा भूमिकाओं द्वारा शुक्ल जी के व्यक्तित्व-वैशिष्ट्य निरूपित करने वाले समीक्षकों में आचार्य वाजपेयी, आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथ शर्मा, डा० केसरीनारायण शुक्ल, डा० नगेन्द्र, प्रो० गुलाब

राय, पं० चन्द्रवली पाण्डेय, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रो० विनयमोहन शर्मा आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

अद्यावधि हमारे समीक्षक पर जितनी आलोचनायें प्राप्त हैं, उन सबके परिशीलन से यह प्रगट होता है कि उनके सभी समीक्षा-सिद्धान्तों पर धारावाहिक रूप में अभी तक किसी ने अनुशीलन नहीं किया था। अपने प्रबन्ध के महत्व तथा नवीनता पर मैं कुछ कहने के पूर्व यह बात सच्चे हृदय से स्वीकार करने में रंचमात्र भी संकोच नहीं करता कि आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्तों का अनुशीलन-कार्य इतना व्यापक क्षेत्र रखता है कि इसके एक-एक अंश पर स्वतन्त्र प्रबन्ध तैयार हो सकता है। ऐसी स्थिति में आचार्य शुक्ल जैसे युग-प्रवर्तक समीक्षक के सभी समीक्षा-सिद्धान्तों के सभी मर्म, सभी विशेषतायें तथा सभी नवीनतायें मैंने ढूँढ़ निकाली हैं—ऐसा कहना साहस मात्र है; फिर भी अपने प्रबन्ध की रूपरेखा, नवीनता आदि को स्पष्ट कर देना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

इस प्रबन्ध के पहले अध्याय 'विषय-प्रवेश' में शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों के वास्तविक मूल्य-निरूपण तथा महत्व-मापन के लिए हिन्दी-समीक्षा में उनके आगमन के पूर्व सैद्धान्तिक समीक्षा की मूल प्रवृत्तियों एवं उनकी गति-विधियों तथा स्थितियों का संक्षिप्त निरूपण किया गया है।

दूसरे अध्याय में मैंने उनके समीक्षा-सिद्धान्तों की सामग्री के सम्यक् ज्ञान के लिए उनकी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षा-कृतियों का सैद्धान्तिक दृष्टि से पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया है।

आलोचना भी साहित्य की तरह जीवन से ही प्राण-ग्रहण करती है। किसी भी सच्चे समीक्षक में जीवन-सिद्धान्तों का निर्माण पहले होता है; तदनन्तर उन्हीं के आधार पर उसके समीक्षा-सिद्धान्त निर्मित होते हैं। इस प्रकार किसी समीक्षक के समीक्षा-सिद्धान्तों के अनुशीलन के समय उसके जीवन-सिद्धान्तों का विवेचन आधार-रूप में आवश्यक है। इसीलिए इस प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में शुक्ल जी की कृतियों के आधार पर उनके जीवन-सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। शुक्ल जी के जीवन-सिद्धान्तों से सम्बन्धित सामग्री उनकी समीक्षा-कृतियों के अतिरिक्त उनके द्वारा अनुवादित पुस्तकों की भूमिकाओं में बिखरी थी। उनके अनुवादित ग्रन्थों से जीवन सम्बन्धी उनकी रुचियों, प्रवृत्तियों एवं धारणाओं का ज्ञान होता था; उनकी कविताओं में प्रत्यक्ष रूप से उनकी आन्तरिक भावनाओं एवं विचारों की झलक मिलती थी; इसलिए उनके जीवन-सिद्धान्तों के निरूपण में उनकी भूमिकाओं, अनुदित ग्रन्थों एवं कविताओं का भी उपयोग किया गया है। उनकी रुचियों, प्रवृत्तियों तथा विचारों के स्पष्टीकरण में उनके जीवन की बहुत सी

घटनायें तथा उनकी अनेक आदतें सहायक सिद्ध होती थीं, इसलिए यत्र-तत्र उनसे भी सहायता ली गई है। उनके जीवन की बहुत सी ज्ञातव्य बातें उनके पुत्र श्री गोकुलचन्द्र शुक्ल तथा पौत्र श्री ज्ञानेशदत्त शुक्ल से प्राप्त हुईं, एतदर्थ वे मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

चौथे अध्याय में शुक्ल जी के अंगी तथा अंग सिद्धान्तों का निरूपण, उनके विभिन्न निर्माणकारी तत्वों के विश्लेषण-सहित किया गया है। उनके सिद्धांतों की स्पष्टता, व्यापकता एवं अनन्यता की प्रामाणिकता के लिए मैंने उनके काव्य-दर्शन का विवेचन भी प्रस्तुत किया है।

पाँचवें अध्याय में शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धांतों की विकास-प्रक्रिया, विकास-स्थितियों, विकास-सम्बन्धी विशेषताओं, विचार-पद्धति, प्रगतिशील प्रवृत्ति, सिद्धांत-निष्ठा, पूर्वापर सम्बन्ध-निर्वाह तथा विकास-द्वारा किए हुए उनके निर्माण-कार्यों पर विचार किया गया है।

छठे अध्याय में मैंने उनके समीक्षा-सिद्धांतों के संस्कार, गन्तव्य बिन्दु, चरम परिणति, विकास-दिशाओं, बौद्धिक शक्ति, संकल्प-शक्ति तथा आदर्शवादी प्रवृत्तियों का निरूपण किया है।

सातवें अध्याय में उनके समीक्षा-सिद्धांतों के मूलाधार, उनमें निहित उनके विस्तृत अध्ययन, प्रबल साहित्य-चेतना, मौलिक चिन्तनशक्ति, स्वतन्त्र व्यक्तित्व तत्वाभिनिवेशी दृष्टि तथा मूल ग्राहिणी शक्ति की स्पष्टता के लिए उनके समीक्षा-सिद्धांतों के मूल स्रोतों पर विचार किया गया है।

आठवें अध्याय में उनके समीक्षा-सिद्धांतों की विशेषताओं के सम्यक् स्पष्टीकरण, उनकी संभावित पूर्णता की ओर संकेत, उनकी सीमाओं के ज्ञान तथा विश्व-समीक्षकों में साहित्य-चिन्तक-रूप में उनके स्थान-निरूपण के लिए उनके सिद्धांतों की तुलना भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा के उन सिद्धांतों से की गई जिनसे वे प्रभावित हैं, जिनकी प्रवृत्तियाँ उनमें अधिकांश मात्रा में मिलती हैं, जिनके सिद्धांतों या तत्वों का उन्होंने अपनी सैद्धांतिक अथवा व्यावहारिक समीक्षा में प्रयोग किया है, जिन मतों, सिद्धांतों तथा विचार-धाराओं के वे निकट पहुँचे हैं, अथवा जिन सिद्धांतों, मतों तथा प्रवृत्तियों का उन्होंने घोर खण्डन अथवा मण्डन किया है।

नवें अध्याय में उनके समीक्षा-सिद्धांतों की मौलिक देन, निर्माण-कार्य, प्रभाव, प्रेरणा, संदेश, महत्व तथा शक्ति पर विचार किया गया है।

इस प्रबन्ध को तैयार करने में समय समय पर जो सामग्री तथा सुझाव

विषय-सूची

सातवाँ अध्याय :

आठवाँ अध्याय :

नवाँ अध्याय :

परिशिष्ट :--

पहला अध्याय

विषय–प्रवेश

समीक्षा-सिद्धान्तों की सत्ता—

वस्तुतः समीक्षा-सिद्धान्त साहित्य-सिद्धान्त से ही सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि रचनात्मक साहित्य ही उनकी सृष्टि के लिए मूल उपादान का काम करता है।[1] इसीलिए समीक्षा का अन्तिम ध्येय साहित्य-रचना के सिद्धान्तों का विधान करना माना गया है।[2] जिन साहित्य-सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर आलोचक आलोचना करता है वे ही उसके समीक्षा-सिद्धान्त माने जाते हैं। सैद्धान्तिक समीक्षा में इन सिद्धान्तों का विशुद्ध रूप में विचार या विवेचन होता है; साहित्य की परिभाषा, लक्षण, प्रयोजन, हेतु, तत्व, तंत्र, प्रकृति, धर्म, नियम, सिद्धान्त, प्रक्रिया, कसौटी, महत्व, मूल्य, आवश्यकता आदि पर बौद्धिक दृष्टि से विचार किया जाता है, तथा समीक्षक सामान्य से विशेष की ओर केवल उदाहरण रूप में जाता है। व्यावहारिक समीक्षा में विशेष को उन्हीं के आधार पर छानबीन की जाती है।[3] इसमें समीक्षक विशेष से सामान्य की ओर जाता है।

जिन सभ्य तथा सुशिक्षित देशों में साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्तों की सहस्रों वर्षों की एक लम्बी परम्परा है, वहां सैद्धान्तिक समीक्षा अब एक ऐसी छोटी वस्तु या कृति नहीं है, जिसे कोई एक व्यक्ति अपनी निजी मान्यताओं से सीमित कर सके, अथवा अपनी निजी धारणाओं में केन्द्रित कर सके। ऐसे देशों में

१–नया साहित्यः नये प्रश्न, पृ० १३४.

2–The ultimate aim of the criticism is to establish the principles of writings. Making of of Literature, Coleridge, P. 226.

३–आज, हिन्दी-साहित्य १९५६, १३ जनवरी १९५७, साहित्य-शास्त्र और समालोचनाः पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

समर्थ समीक्षक की समीक्षा-दृष्टि के निर्माण में पूरी साहित्य-परम्परा का योग रहता है। परम्परा उसके विकास के लिए वृक्ष के मूल के समान आवश्यक जीवन-रस देती रहती है। समर्थ आलोचक अपनी ऐतिहासिक चेतना द्वारा वर्तमान के साथ अतीत की सम्बद्धता को पहचान कर, परम्परा की प्रवहमानता के स्पन्दन को वर्तमान में परिलक्षित कर, अपने आलोचना-सिद्धान्तों के निर्माण में क्रमागत प्रतिनिधि साहित्यिक मान्यताओं एवं सिद्धान्तों के वर्तमानोपयोगी तत्वों तथा तत्कालीन परिस्थिति में प्रवहमान अतीत के सूत्रों से लाभ उठाता है, युग के अनुरूप उनकी छानबीन करता है, जीवन तथा साहित्य की प्रगति में सर्वाधिक सहायक सिद्धान्तों का पुनर्निर्माण करता है, अपने युग की राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुसार उनमें नवीन उद्भावना, नया संश्लेषण, नवीन तथ्यों पर बल एवं नया विश्लेषण लाता है तथा समय की मांग के अनुसार उनमें विस्तृत व्याप्ति भरता है।

हिन्दी-समीक्षा में शुक्लजी का आगमन—

आचार्य शुक्ल ही हिन्दी के पहले समर्थ आलोचक हैं जिन्होंने अपनी सजग ऐतिहासिक चेतना, सूक्ष्म उद्भावन-शक्ति तथा तीव्र समीक्षण-दृष्टि के द्वारा परम्परा के वर्तमानकालीन प्रवहमान सूत्रों को ग्रहण कर, भारतीय काव्य-शास्त्र का युग की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों की मांगके अनुसार नवीन पदावली में वैज्ञानिक विवेचन किया, हिन्दी को सर्वप्रथम मौलिक काव्य-शास्त्र से परिचित कराया, अपने प्रतिपादित समीक्षा-सिद्धान्तों द्वारा हिन्दी समीक्षा को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया तथा अपने सभी पूर्ववर्ती समीक्षकों के आदर्शों का समाहार करके हिन्दी-समीक्षा के लिए सर्वग्राही तथा सर्व सामान्य आदर्श का निर्माण किया। अतः उनके समीक्षा-सिद्धान्तों के मूल्य-निरूपण तथा महत्व-मापन के लिए हिन्दी-समीक्षा में उनके आगमन के पूर्व सैद्धान्तिक समीक्षा की प्रवृत्ति, गतिविधि तथा स्थिति का ज्ञान आवश्यक है।

✓ आचार्य शुक्ल का आगमन हिन्दी-समीक्षा में द्विवेदी-युग (१६०१ से १६३० ई०)[1] के अन्तिम चरण में हुआ। यद्यपि उनके सैद्धान्तिक समीक्षा-सम्बन्धी निबन्ध द्विवेदी-युग के आरम्भ से ही प्रकाशित होते हुए दिखाई पड़ते हैं, किन्तु वे अपनी समीक्षा के सम्पूर्ण वैभव तथा अपने समीक्षक-रूप के समग्र गुणों को तुलसी, जायसी तथा सूर पर लिखी व्यावहारिक समीक्षा-कृतियों एवं रस-मीमांसा के सैद्धान्तिक समीक्षा-सम्बन्धी निबन्धों के माध्यम से व्यक्त करते हुए

१—नया साहित्यः नये प्रश्न-द्विवेदी युग की समीक्षा-देन पृ० ६२

सन् १६२३-२४ ई० के आसपास दिखाई पड़ते हैं।[1] अतः शुक्लजी के आगमन के पूर्व का हिन्दी-समीक्षा-काल द्विवेदी-युग का मध्य-काल निश्चित होता है। इसलिए उनके आगमन के पूर्व की समीक्षा-प्रवृत्तियों का सम्बन्ध इसी काल से माना जायगा।

शुक्लजी के आगमन के पूर्व सैद्धान्तिक समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियां—

द्विवेदी-युग के मध्य-काल में हिन्दी-समीक्षा की ४ प्रमुख प्रवृत्तियां दिखाई पड़ती हैं:—

१. परम्परावादी, २. पुनरुत्थानवादी,
३. नवीनतावादी और ४. समन्वयवादी.

अतः ये ही प्रवृत्तियां शुक्लजी के आगमन के पूर्व की सैद्धान्तिक समीक्षा की प्रवृत्तियाँ मानी जायँगी।

परम्परावादी प्रवृत्ति—

सैद्धान्तिक समीक्षा हिन्दी को संस्कृत की विरासत-रूप में मिली, इसीलिए उसकी प्रवृत्ति आरम्भ से ही परम्परावादी कोटि की थी। हिन्दी-समीक्षा के प्रथम युग के रीतिकालीन आचार्य सुनिश्चित जीवन-दर्शन, सांस्कृतिक दृष्टि, स्वात्म चिन्तन, तार्किक शक्ति एवं विश्लेषण-शैली के अभाव में परम्परा में युग के अनुसार परिष्कार, विकास तथा नवीनता लाना तो दूर रहा, उसका ठीक अनुकरण भी नहीं कर सके। इसीलिए उस युग में संस्कृत-समीक्षा के सात सम्प्रदायों में से केवल तीन—अलंकार, रस तथा ध्वनि-सम्प्रदायों के अनुकरण का प्रयत्न किया गया। रीति और गुणवाद, काव्यांग-विवेचन वाली पुस्तकों में काव्य-तत्व के रूप में उठाकर रख दिये गये, औचित्यवाद काव्य-परिभाषा के भीतर कहीं कहीं चुपके से बैठा दिया गया तथा वक्रोक्तिवाद एक अलंकार के भीतर केन्द्रित कर दिया गया।[2]

रीतिकाल में अलंकार-निरुपण का कार्य सबसे अधिक हुआ किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव में केवल संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों के अलंकार-लक्षण पद्य-बद्ध हुए, और वे भी कहीं कहीं भ्रामक और अपर्याप्त थे।[3] कहीं कहीं उनके भेदोपभेदों का निरूपण अधिक हुआ, किन्तु उससे अलंकार की प्रकृति नष्ट हो गई तथा

१—देखिए; समीक्षा-कृतियों वाला अध्याय।
२—हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास; डा० भगवत् स्वरूप मिश्र; पृ० १९८, १९९, २०४,
३— ,, वही ,, ,, पृ० १५३;

अलंकारवाद का सिद्धान्त अथवा अलंकार का वास्तविक स्वरूप, काव्यगत स्थान, मनोवैज्ञानिक आधार, सामाजिक मूल्य, सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा, भावात्मक प्रकृति, काव्य के विभिन्न तत्वों से सम्बन्ध आदिका विवेचन किसी आचार्य के द्वारा न हो सका। अलंकारवाद के प्रतिनिधि आचार्य केशव अलंकार-अलंकार्य के भेद-निरूपण में असमर्थ हो गये, उसका वैज्ञानिक स्वरूप निरूपित करना तो दूर रहा।

रीतिकाल में रसके ऊपर चार प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये :—एक वे जो सभी रसों तथा रसांगों का निरूपण करते हैं, दूसरे वे जो अन्य रसों तथा रसांगों का चलता वर्णन करके शृंङ्गार रस तथा नायिका-भेद-निरूपण में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाते हैं, तीसरे वे जो ध्वनि-काव्य के एक रूप—रस-ध्वनि के रूप में ध्वनि का चलता विवेचन करके रस का विस्तृत विवेचन करते हैं, तथा चौथे वे जो विविध काव्यांगों अथवा काव्य-स्वरूपों का विवेचन रस की दृष्टि से करते हुए रस का विवेचन स्वतन्त्र रूप से कुछ विस्तृत रूप में करते हैं। किन्तु इन रीतिकालीन रसवादी विवेचन की धाराओं से रसवाद के सैद्धान्तिक-पक्ष का कोई सम्यक् चित्र उपस्थित नहीं होता; इनमें कोई सैद्धान्तिक नवीनता या सूक्ष्मता नहीं दिखाई पड़ती; अपने वाद की प्रतिष्ठा तथा समर्थन एवं पूर्वपक्ष के खण्डन की शक्ति इन धाराओं के आचार्यों में नहीं मिलती; इतने अधिक आचार्यों के रहते हुए भी रस-प्रक्रिया सम्बन्धी वादों का विवेचन कहीं कहीं बहुत ही स्थूल कोटि का दिखाई पड़ता है; रस के मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक तथा सामाजिक स्वरूप का उद्घाटन तो कहीं मिलता ही नहीं है; रस-व्याप्ति को भी विवृत करने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया है; इनमें केवल रस-सूत्र तथा रसांगों का विवेचन तथा रस-स्वरूप, रस-संख्या, रस-प्रधानता आदि का निरूपण परम्परागत ढंग एवं परिचयात्मक कोटि का है; शृङ्गार रस की प्रधानता के कारण अन्य रसों का निरूपण रस-स्थिति तक नहीं पहुँच सका है; नायक-नायिका-का भेद-निरूपण जीवन की अनुभूति तथा निरीक्षण के आधार पर न होकर केवल स्रोत-ग्रन्थों के अनुकरण के आधार पर हुआ है; काव्य-दर्शन के अभाव में काव्य-तत्वों के व्यक्तित्व-निरूपण में कोई नवीनता, गम्भीरता एवं उदात्तता नहीं है; काव्य-वर्गीकरण एवं काव्य-पुरुष के रूपक की सामग्री उपजीव्य ग्रन्थों के आधार पर है।

इसी प्रकार रीतिकाल के ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा ध्वनिकी अधिक उलझनें हुई हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से उनके ध्वनि-सम्बन्धी विवेचन में कोई नवीनता नहीं है, सम्पूर्ण सामग्री काव्य-प्रकाश आदि उपजीव्य ग्रन्थों के आधार पर है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रीतिकालीन सैद्धान्तिक समीक्षा का सम्बन्ध देश के तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय जीवन से न होकर प्राय: समीक्षकों के अहं की अभिव्यक्ति से है, किन्तु उनके अहं का स्वरूप भी संस्कार-हीन एवं अन्तर्दृष्टि-रहित था, इसलिए उनका संपूर्ण समीक्षा-कार्य साहित्य तथा जीवन के विषय में कोई स्वस्थ दर्शन उपस्थित नहीं कर सका; उनके लक्षण-ग्रन्थ अलंकारों, रसों, नायकों, नायिकाओं, शब्द-शक्तियों की सूची-मात्र बन गये। इसी कारण रीतिकालीन आचार्यों द्वारा हिन्दी-समीक्षा के विकास में कोई विशेष सहायता नहीं मिली, केवल एक मोटे ढंग से संस्कृत-समीक्षा के कुछ वादों की उद्धरणी मात्र हो गई।

भारतेन्दु-काल में परम्परा का अर्थ रीतिकाल के समान अनुकरण या अविकल अनुवाद नहीं लिया गया। पूर्व एवं पश्चिम के सम्पर्क, पुनरुत्थानवादी आन्दोलन, राष्ट्रीय चेतना, नई शिक्षा, नये वैज्ञानिक आविष्कार; मनोविज्ञान, मानव-विज्ञान, समाज-शास्त्र आदि नवीन विषयों के प्रचार, अंग्रेजी-विद्वानों द्वारा रचित आलोचनात्मक ग्रन्थों के अनुवाद आदि से इस युग की स्थिति में परिवर्तन हुआ, परम्परा को युग के अनुसार विकसित करने की तत्परता लेखकों में आई; रीतिकालीन परम्परावादी प्रवृत्तियां जो रीतिकाल में प्राय: अहं-प्रदर्शन के फल स्वरूप उत्पन्न हुई थीं, वे इस काल में राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक चेतना के फलस्वरूप उद्‌भूत हुईं। परम्परावादी प्रवृत्ति के अनुसार इस युग में अलंकार, रस-निरुपण, नायिका-भेद, छन्द-शास्त्र तथा काव्यांग-विवेचन पर ग्रन्थ लिखे गये।[1] परम्परावादी पद्धति के अनुसार उपर्युक्त विषयों पर लिखे हुए ग्रन्थों तथा रीतिकालीन तत्सम्बन्धी ग्रन्थों में विषय-सामग्री एक होने पर भी, तार्किक शैली, विवेचनात्मक पद्धति तथा कई उपजीव्य ग्रन्थों का आधार लेने के कारण इन ग्रन्थों के विवेचन में मौलिकता आ गई है। उनमें भारतीय अलकांर-शास्त्र के आधुनिक निरुपण का पूर्वाभास मिलता है, इनमें रीतिकालीन परम्परा का विकसित रूप दिखाई पड़ता है, इनमें विश्लेषण की मात्रा बढ़ती जारही है, रीतिकालीन अस्पष्टता, अपूर्णता क्रमश: दूर होती जा रही है।

यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतेन्दु काल में उक्त परम्परावादी प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार के सैद्धान्तिक समीक्षा–सम्बन्धी ग्रन्थ भी तत्कालीन साहित्य तथा समाज की नाड़ी परखकर लिखे गये,[2] जिनमें साहित्य, जनसमूह

१–हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास पृ० २४२-२४३

२–हिन्दी-काव्य-शास्त्र का इतिहास, भगीरथ मिश्र, पृ० १८०

के हृदय-विकास का प्रतिविम्ब माना गया;[1] साहित्य विकासशील रूप में देखा गया; रस, रीति, गुण, अलंकार में नई चेतना भरी गई; रस की सत्ता किसी छन्द के भीतर निरूपित न करके मानव-संवेदना के भीतर मानी गई; नायक-नायिका के भेदों का निरूपण उपजीव्य-ग्रन्थों के अविकल अनुवाद के आधार पर न होकर तत्कालीन जीवन की परिस्थितियों के भीतर पाये जाने वाले नर-नारियों के आधार पर हुआ[2]; काव्य-कला का सौष्ठव लक्षणग्रन्थों के नियमों के पालन में न मानकर अनभूति की गहराई में माना गया तथा प्राचीन सिद्धान्तों का युगानुसार पुनरुत्थान किया गया।

द्विवेदी-युग में हिन्दी-साहित्य विदेशी एवं नवीन विचार-धाराओं से फिर टकराया। अतः अपनी साहित्यिक परम्परा की रक्षा तथा ज्ञान के लिए हिन्दी के विद्वान साहित्य के परम्परावादी सिद्धान्तों के अनुशीलन की ओर प्रवृत्त हुए। इस प्रवृत्ति के फलस्वरुप समीक्षा के परम्परावादी सिद्धान्तों के ऊपर ग्रन्थ तथा निबन्ध लिखे गये तथा साथ ही परम्परावादी सिद्धान्तों के आधार पर कवियों तथा कृतियों की समीक्षा भी हुई[3]।

द्विवेदी-काल में परम्परावादी पद्धति से अलंकार, रस तथा ध्वनि तीनों प्रमुख सिद्धान्तों पर ग्रन्थ तथा निबन्ध लिखे गये, जिनमें निम्नांकित ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं :—

अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थों में कन्हैयालाल पोद्दार का 'अलंकार-प्रकाश' लाला भगवानदीन का 'अलंकार मंजूषा', जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' का 'हिन्दी-काव्यालंकार' आदि विशेष महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। रस-सम्बन्धी ग्रन्थों में बाबूराम वित्थारिया का 'नव रस', गुलाबराय का 'नव रस', जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' का 'रस-रत्नाकर', कन्हैयालाल पोद्दार की 'रस-मंजरी', कृष्णबिहारी मिश्र का 'नव रस-तरंग आदि प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। सीताराम शास्त्री का 'साहित्य-सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर लिखा गया है। कन्हैयालाल पोद्दार के 'काव्य-कल्पद्रुम' में ध्वनि का विस्तृत विवेचन है। मम्मट का अनुकरण करने के कारण इनमें ध्वनि-सिद्धान्त के प्रति विशेष आस्था दिखाई पड़ती है। काव्य-शास्त्र पर लिखी हुई पुस्तकें प्रायः रस-सिद्धान्त के आधार पर लिखी

१—'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है,' ले० बालकृष्ण भट्ट

२—हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी पृ० ५७

३—आलोचना विशेषांक, अक्टूबर १९५३—हिन्दी में रस-मीमांसा पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ७१

गई हैं। इनमें जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' का 'काव्य-प्रभाकर', जगन्नाथदास विशारद का 'कवि-कर्तव्य' कालूराम की 'काव्य-भूमिका' तथा पोद्दार जी का 'काव्य-कल्पद्रुम' विशेष उल्लेखनीयहैं।

यद्यपि द्विवेदीजी का व्यक्तित्व मूलतः पुनरुत्थानवादी कोटि का है, किन्तु उनके कई सैद्धान्तिक निबन्ध तथा व्यावहारिक समीक्षायें मूलतः परम्परावादी सिद्धान्तों के आधार पर लिखी गई हैं। सैद्धान्तिक निबन्धों में 'नाट्य-शास्त्र', 'कवि-शिक्षा', 'कवि बनने के सापेक्ष्य साधन', 'कवि-कर्तव्य' आदि संस्कृत-साहित्य के पुराने सिद्धान्तों के आधार पर लिखे गये हैं। इनमें काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, कवि बनने के साधन, कवि-कर्तव्य, कवि-शिक्षा तथा काव्य-कसौटी विषयक धारणायें प्रायः संस्कृत-समीक्षा के सैद्धान्तिक ग्रन्थों से ज्यों की त्यों ली गई हैं।

द्विवेदी जी की संस्कृत-कवियों पर लिखी हुई व्यावहारिक समीक्षायें संस्कृत-समीक्षा के पुराने सिद्धान्तों—रस, अलंकार, गुण, औचित्य, प्रकृति-वर्णन, प्रबन्ध-कौशल आदि के आधार पर लिखी गई हैं। इनमें भाषा और व्याकरण सम्बन्धी दोष प्रायः क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त के आधार पर बताये गये हैं। इस प्रकार की व्यावहारिक समीक्षाओं में 'कालिदास की निरंकुशता', 'हिन्दी-कालिदास की आलोचना', 'नैषध चरित-चर्चा' तथा 'विक्रमांक देव-चरित चर्चा' विशेष उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदी-युगीन प्रसिद्ध समीक्षकों में मिश्रबन्धुओं, पद्मसिंह शर्मा, कृष्ण-बिहारी मिश्र तथा लाला भगवानदीन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मिश्र बन्धुओं की आरम्भिक समीक्षा पुराने सिद्धान्तों के आधार पर लिखी गई है। उदाहरणार्थ, 'हम्मीरहठ' की आलोचना[1] रस-निरूपण, अलंकार-प्रयोग गुण-वर्णन तथा दोष-वर्णन की दृष्टि से की गई है। उनकी 'नवरत्न'-समीक्षा में देशकाल के उपादानों का संग्रह हुआ, बहुत सी रूढ़ियों का त्याग हुआ, कवियों की जीवनियों का उपयोग हुआ, कहीं कहीं पूर्वी एवं पश्चिमी कवियों की तुलना का भी प्रयत्न किया गया; किन्तु इन तथ्यों का उपयोग करते हुये भी मिश्रबन्धु रीतिकाव्य का मोह त्याग नहीं सके, कवियों की वैयक्तिक जीवनी तथा सामाजिक पृष्ठभूमि के अनुशीलन की गहराइयों में वे नहीं उतर सके, काव्य के भाव-पक्ष के सौन्दर्य को उसकी कोरी कलात्मकता से पृथक् करके देख नहीं सके। उन्होंने 'नवरत्न' की तुलनात्मक तथा निर्णयात्मक समीक्षा-पद्धति में किंचित् हेरफेर के साथ साहित्य के रीतिकालीन प्रतिमानों का ही प्रयोग किया है। रस, अलंकार, रीति, गुण आदि पुराने सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी के प्रसिद्ध नव

१—सरस्वती, सितम्बर १९००; हम्मीर हठ

कवियों के गुण-दोषों का निरूपण करते हुए उन्होंने उनके सम्बन्ध में निर्णयात्मक सम्मति देने का प्रयास किया है।

मिश्र बन्धुओं ने 'मिश्र-बन्धु-विनोद' की रचना द्वारा हिन्दी-साहित्य के इतिहास की नींव डाली। इसके पहले तासी, शिवसिंह सेंगर और ग्रियर्सन ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे थे, किन्तु वे बहुत ही संक्षिप्त तथा साधारण कोटि के थे। 'मिश्र-बन्धु-विनोद' में मिश्र-बन्धुओं की प्रमुख विशेषता सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य के समग्र अध्ययन को एकत्र उपस्थित करने में है। 'मिश्र-बन्धु-विनोद' तथा अन्य उपर्युक्त इतिहास-ग्रन्थों में इतिहास-लिखने की कोई सुसंगठित, व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक पद्धति दिखाई नहीं पड़ती। इतिहास-लेखकों के व्यक्तित्व में इतिहासकार एवं आलोचक-व्यक्तित्व का समन्वय न होने के कारण उनके ग्रन्थों में साहित्य-इतिहास-विधायक दृष्टिकोण का निर्माण नहीं हो सका है, शैली अधिकांश मात्रा में विवरणात्मक है, काव्यधाराओं का कोई सुन्दर वर्गीकरण या निरूपण नहीं है, साहित्य-शाखाओं पर कोई नवीन उद्भावना नहीं है, जातीय जीवन की सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं राष्ट्रीय पीठिकाओं का सुन्दर चित्रण नहीं है तथा आधुनिक युगके निरूपण में सर्जनात्मक सुझावों का अभाव है।

द्विवेदी-युग की तुलनात्मक समीक्षाओं में भी परम्परावादी सिद्धान्तों की झलक मिलती है। तुलनात्मक पद्धति का प्रवर्तन पद्मसिंह शर्मा की बिहारी-समीक्षा से आरम्भ हुआ, जिसमें उन्होंने तुलनात्मक पद्धति द्वारा परम्परावादी सिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर बिहारी को शृङ्गार रस का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध किया है। इस समीक्षा में वक्रोक्ति तथा ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर बिहारी के दोहे उत्तम काव्य के भीतर परिगणित किये गये हैं। इस दृष्टि से शर्मा जी ध्वनि-सिद्धान्त के अनुयायी प्रतीत होते हैं। ध्वनि-सिद्धान्त को अपनाकर भी उनकी दृष्टि काव्यानुभूति की तह में घुस नहीं सकी; भाषा-सौन्दर्य, पद-कौशल, उक्ति-चमत्कार, चित्रण-कौशल में ही बंधी रही। इसीलिए वे अपनी समीक्षा में अनुभूति की अपेक्षा काव्य-कारीगरी पर अधिक मुग्ध होते हुए दिखाई पड़ते हैं।

शर्मा जी के समय में साहित्यिक निर्माण में रचना-कौशल की कमी थी, कदाचित् इसीलिए उन्होंने अपनी समीक्षा का आधार काव्य-कौशल बनाया, जो सामयिक साहित्यिक स्थिति के सुधार में भी एक सीमा तक सहायक सिद्ध हुआ[1]। वे किसी कवि की समीक्षा किसी दूसरे युग के काव्य-सिद्धान्तों से करना अनुचित समझते थे[2], इसीलिए उन्होंने रीतियुग के सिद्धान्तों के आधार पर बिहारी की समीक्षा की। शर्मा जी की समीक्षा में सहृदयता एवं सचाई का गुण अद्वितीय

१–आधुनिक का.हि.ग., भाग ३ ब.जोशी पृ–२७३

२–बिहारी सतसई, पद्मसिंह शर्मा पृ–२१७–१८

मात्रा में वर्तमान था। जो कवि उनको जितना अधिक आनन्द विभोर कर देता था उसको वे उतना अधिक श्रेष्ठ मानते थे। इसीलिए इनकी समीक्षा में प्रभाववादी समीक्षा के तत्व सर्वाधिक मात्रामें मिलते हैं। किन्तु अपने प्रभाव को व्यक्त करने के लिए इन्होंने शास्त्रीय सिद्धान्तों का आधार लेते हुए शास्त्रीय पदावली का प्रयोग किया है।

पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा काव्य-शरीर का आग्रह करके चली, बिहारी को आदर्श बनाकर आगे बढ़ी, मुक्तक काव्य के प्रतिमानों को अपनाकर आगे चली, इसीलिए उनके संस्कार रीतिवाद से ही परिचालित हुए, इसी कारण वे भामह तथा दण्डी के वक्रोक्ति-सिद्धान्त से अधिक प्रभावित हुए। फलतः उनके सुधार का विषय काव्यात्मा नहीं काव्य-शरीर बना। इन्हीं उपर्युक्त कारणों से नवीन काव्य की गति-विधि पर उनकी सम्मति का विशेष मूल्य नहीं हुआ।

पद्मसिंह शर्मा ने अनेक भाषाओं और अनेक समयों के समानधर्मा कवियों की तुलना से जो एक नवीन साहित्यिक मार्ग उद्घाटित किया, यदि उस पर आगे बढ़कर हिन्दी की तुलनात्मक समीक्षा अपने उच्चतर उद्देश्य को पहचानने में समर्थ होती तो हिन्दी में विभिन्न साहित्यिक परम्पराओं, कृतियों एवं कवियों के साहित्यिक अध्ययन की एक सुन्दर और प्रशस्त तुलनात्मक समीक्षा-प्रणाली चल निकलती; परन्तु उक्त समीक्षा-प्रणाली के विकास के लिए हिन्दी में उस समय सुविधा न मिल सकी। शर्मा जी की सुझाई तुलनात्मक पद्धति को उनके समकालीन तथा परवर्ती समीक्षकों ने क्रमशः व्यापक न बनाकर उसे धीरे धीरे संकीर्ण कर दिया। उनकी दृष्टि विभिन्न भाषाओं और समयों के कवियों और उनकी कृतियों की सापेक्षिक विशेषताओं की ओर तुलनात्मक पद्धति में नजाकर देव और बिहारी की कृतियों की ओर ही अधिक झुकने लगी। श्रीकृष्ण बिहारी की 'देव और बिहारी' तथा लाला भगवानदीन की 'बिहारी और देव' पुस्तकें इसका उदाहरण हैं। इन तुलनाओं में समीक्षकों का ध्यान कवियों की मनोभावना, अन्तर्दृष्टि, अनुभूति-पक्ष, उनके काव्य की सामाजिक भूमि आदि पर नहीं गया, वे केवल काव्य के चमत्कार-पक्ष और उक्ति-कौशल की ही खोज करते रहे।

शर्मा जी की पुस्तक के उत्तर में पं० कृष्णदेव बिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक लिखी। इसमें भाव, विषय तथा शैलीगत साम्य के अभाव में तुलना के लिए तुलना की गई है। साहित्यिक परम्परा को ध्यान न रखकर देव की तुलना उक्त पुस्तक में कबीर, जायसी, सूर तथा तुलसी से की गई है[1]। इसी प्रकार मतिराम-ग्रन्थावली की भूमिका में मतिराम

१–देव और बिहारी : श्रीकृष्णबिहारी मिश्र, पृ० ७८, १९७।

की तुलना सूर, तुलसी, तोष, रघुनाथ, कालिदास, रवीन्द्र, शेक्सपीयर, आदि से की गई है। लेखक की दृष्टि में काव्य-उत्तमता की कसौटी गुणाधिक्य, अलंकार-बाहुल्य, रस-परिपाक एवं भाव-चमत्कार है[1], किन्तु उसने स्वयं रस-परिपाक एवं भाव-चमत्कार का विवेचन बहुत कम किया है। उसमें काव्यांगों के निर्देश की प्रवृत्ति अधिक है, यत्र-तत्र स्फुट छन्दों की व्याख्या, नायिका, रस, अलंकार, गुण, भाषा आदि दृष्टियों से बहुत ही स्थूल ढंग से की गई है[2]। पद्मसिंह के समान ही इनमें भी विश्लेषण-वृत्ति की अपेक्षा भावुकता की प्रधानता है। इन्होंने तुलना-पद्धति में देव एवं बिहारी की समता तथा विषमता दोनों पर विचार किया है। किन्तु शर्मा जी प्रायः समता को ही अपना कर चलते थे। इनकी तुलनात्मक समीक्षा में वस्तु-तत्व का विवेचन शर्मा जी की तुलनात्मक समीक्षा की अपेक्षा अधिक है, जीवन सम्बन्धी धारणा तथा युग-तत्व का भी यत्र-तत्र संकेत है। किन्तु कवि की विचार-धारा की स्पष्टता के लिए जिस विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक शैली की आवश्यकता थी, उसका अभाव इनकी तुलनात्मक समीक्षा में दिखाई पड़ता है।

बिहारी तथा देव के वादविवाद की तीसरी तथा अन्तिम पुस्तक 'दीन' कृत 'बिहारी और देव' है। यह पुस्तक प्रधानतः मिश्र-बन्धुओं की बिहारी विषयक कटु आलोचना के प्रत्युत्तर में लिखी गई है। जो दोष बिहारी की कविता में मिश्र-बन्धुओं द्वारा बताये गये हैं, वे ही दोष 'दीन' जी ने देव की कविता में निकाले हैं। दीन जी ने मिश्र-बन्धुओं की त्रुटि बताकर उनके द्वारा बिहारी पर लगाये हुए दोषों का निराकरण भी किया है। इस प्रकार दीन जी की तुलनात्मक समीक्षा में भी पूर्वग्रह का तत्व समाहित हो गया है। दीन जी की इस पुस्तक द्वारा सबसे बड़ा काम यह हुआ कि बिहारी तथा देव का झगड़ा सदा के लिए शान्त हो गया। उनकी तुलनात्मक समीक्षा में विषय या भाव की अपेक्षा काव्य के कला-पक्ष का विवेचन अधिक है। यह विवेचन अलंकारवाद के सिद्धान्त के आधार पर अधिकांश मात्रा में प्रस्तुत किया गया है। दीन जी अलंकारवाद के समर्थन में भामह, दण्डी एवं केशव के अनुयायी प्रतीत होते हैं।

परम्परावादी प्रवृत्ति के अभाव तथा दोष—

इस प्रवृत्ति की सैद्धान्तिक समीक्षा में अलंकार, रस, ध्वनि तथा वक्रोक्ति का बहुत ही स्थूल रूप ग्रहण किया गया है। सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में इन प्राचीन सिद्धान्तों में निहित सूक्ष्म तत्वों की [illegible] पहचान नहीं पाते हैं। काव्य-दर्शन

१- देव और बिहारी, पृ० ११६.

२-वही—पृ० १२४, १२५.

के अभावमें इन सिद्धान्तों का सार्वभौम तथा सार्वकालिक रूप कोई आचार्य प्रस्तुत नहीं कर सका है। इस प्रवृत्ति के आचार्यों में रस, अलंकार तथा ध्वनि-सिद्धान्तों के सूक्ष्म सैद्धान्तिक तत्वों के विवेचन की प्रवृत्ति वहुत कम, किन्तु उनके लक्षण, भेदोपभेद, वर्गीकरण तथा उदाहरण—निरूपण की प्रवृत्ति अधिक है। इसलिए साहित्य-दर्शन में इन सिद्धान्तों की वास्तविक स्थिति को निरूपित करने में कोई आचार्य समर्थ नहीं हो सका। इस युग के परम्परावादी आचार्य साहित्य तथा जीवन के गम्भीर घनिष्ठ सम्बन्ध-स्थापन में असमर्थ होने के कारण काव्य-तत्वों की व्याख्या मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक भूमि पर नहीं कर सके। इसलिए उनके विवेचन में कोई नवीन स्फूर्ति, नवीन दृष्टि अथवा नवीन चेतना नहीं मिलती। इस प्रवृत्ति के आचार्य सुनिश्चित जीवन-दर्शन के अभाव में साहित्य-सिद्धान्तों को अपनी जीवन सचाई के साथ ग्रहण नहीं कर सके, ग्रहीत सामग्री के ऊपर अपने व्यक्तित्व की छाप नहीं लगा सके, विभिन्न सिद्धान्तों में कोई समन्वय स्थापित नहीं कर सके तथा साहित्य का जीवन सम्बन्धी उदात्त तथा गम्भीर मूल्य निरूपित नहीं कर सके, एवं अपनी साहित्य-मीमांसा को जीवन-मीमांसा के साथ प्रस्तुत नहीं कर सके, काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में विवेच्य सामग्री दूसरे ग्रन्थों से लीगई है, नूतन उद्भावना का प्रायः अभाव सा ही है, कहीं कहीं इनका विवेचन और निर्णय अवैज्ञानिक भी हो गया है[1]। काव्य-शास्त्र के सभी आवश्यक विषयों को ग्रहण करने पर भी इस प्रवृत्ति के आचार्यों में साहित्य की सर्वांगीण व्याख्या एवं मूल्यांकन करने वाली दृष्टिका अभाव है।

परम्परावादी समीक्षक व्यावहारिक समीक्षाओं में प्रायः यही बताकर रह जाते हैं कि अमुक प्रसंग में यह रस, यह अलंकार, यह गुण, यह रीति, यह छन्द है, किन्तु उस प्रसंग की अभिव्यंजना कितनी शक्तिपूर्ण है, कितनी जीवन-प्रेरक है; उसमें जीवन की कितनी व्यापकता तथा महानता भरी है, उसका प्रमुख भाव किस महान तथ्य के साथ समन्वित होकर कौन सा जीवनादर्श प्रस्तुत कर रहा है—यह बताने में असमर्थ हो जाते हैं। इन समीक्षकों की समीक्षायें सम्पूर्ण कवि-कर्म को अपनाकर नहीं चली हैं। इनमें साहित्य-संबंधित जीवन के अन्य विषयों का विवेचन बहुत कम है। इनमें नीतिवादी तथा समाजवादी तत्व कहीं कहीं प्रगट हुए हैं, पर उन्हें व्यवस्थित जीवन-दर्शन नहीं मिल सका है। इस प्रवृत्ति की व्यावहारिक समीक्षाओं में पुराने बंधे बंधाये स्थूल नियमों के आधार पर काव्य के गुण-दोषों का स्थूल निरूपण-अधिक है, तथा इसी पद्धति पर निर्णयात्मक एवं प्रभावात्मक शैलियो का अवलम्बन लेकर कवियों का श्रेणी-निरूपण हुआ है, जिसमें आलोचक की रुचियों का

१—काव्य-प्रभाकर : जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' पृ० २०१।

दिग्दर्शन अधिक तथा कवियों अथवा कृतियों का न्यायोचित मूल्यांकन कम हुआ है। कवियों को छोटा-बड़ा सिद्ध करने वाली इनकी आलोचनायें तटस्थता एवं सहृदयता से रहित हैं, अतएव वे विशुद्ध समीक्षा में स्थान नहीं पा सकतीं, इन्हें तुलनात्मक समालोचना भी नहीं कह सकते। वस्तुतः तुलनात्मक आलोचना का उद्देश्य होता है—आलोच्य कवि की समानधर्मा कवि से तुलना करके उसका सम्यक् अध्ययन, परीक्षण करते हुए साम्य एवं वैषम्य के आधार पर उसकी विशेषताओं का स्पष्टीकरण, उसके काव्य-सौन्दर्य तथा काव्य-मूल्य का सापेक्षिक मूल्यांकन। किन्तु इस युग की तुलनात्मक समीक्षा लिखने वाले समीक्षक अपनी रीझ-बूझ तथा खीज की प्रतिद्वन्द्विता में पड़कर तुलनात्मक समीक्षा के उपर्युक्त उद्देश्य से च्युत हो गये हैं। गम्भीर शास्त्रीय अध्ययन और काव्य के निरन्तर अनुशीलन से रुचि-संस्कार हो जाने के बाद आलोचक के निर्णय में शास्त्रीय गम्भीरता और सर्वमान्यता आ जाती है, उसका हृदय वह कसौटी हो जाता है, जिसका निर्णय सबको मानना ही पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रवृत्ति के हिन्दी-आलोचकों का निर्णय इस कोटि को नहीं पहुंच सका था। अतएव वे अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं द्वारा हिन्दी-आलोचना के विकास को उचित दिशा में नहीं ले जा सके।

पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र साहित्य को हमारे जीवन के साथ लगाने के कारण, पुराने भाव और आदर्शों को लेकर नये आदर्श निर्मित करने के कारण, साहित्य को विकास-शील रूप में देखने के कारण साहित्य के प्राचीन सिद्धान्तों का युग के अनुसार पुनरुत्थान चाहते थे[1]। बालकृष्ण भट्ट के पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' का उद्देश्य भी पुनरुत्थानवादी था[2]। इस प्रवृत्ति के उदाहरण उनके अनेक साहित्यिक निबन्धों में भी मिलते हैं[3]। 'प्रेमघन जी' भी भारतेन्दु की शैली पर साहित्य के विकास का अध्ययन वांछनीय समझते हैं। उन्होंने रस, अलंकार, गुण तथा अभिव्यंजना के विकास पर अपने निबन्धों में विचार किया है[4]। पुनरुत्थानवादी

१—भारतेन्दु के निबन्ध, डा० केसरीनारायण शुक्ल, पृ० ८८ ([illegible])

२—[illegible]
देश-काल नियमानुसार मारग पग धारे, [illegible] निज उद्देश्य [illegible] पूरन कारे॥

३—उदाहरण, साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है, आदि—साहित्यसुमनावली, प्रथम भाग, पं० बालकृष्ण भट्ट, प्रयाग।

४—प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृ० ४२६—[illegible] प्रयाग।

समीक्षा-प्रवृत्ति की झलक उनके सैद्धान्तिक समीक्षा तथा व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी निबन्धों में भी मिलती है[1]। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों का पुनरुत्थानवादी प्रयास शैशवकालीन प्रयास था। इन लोगों ने अपने समीक्षात्मक निबन्धों में समीक्षा के पुनरुत्थान का कार्य प्रारम्भ करके उसके निर्माण का सूत्र द्विवेदी जी के हाथ में सौंप दिया।

पुनरुत्थानवादी समीक्षा की प्रवृत्ति द्विवेदी जी के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी लेखों में सर्वाधिक मात्रा में मिलती है। इसके अतिरिक्त चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, माधवप्रसाद मिश्र तथा गोविन्द नारायण गुप्त के कतिपय लेखों में इस प्रवृत्ति की झलक दिखाई पड़ती है। अतः पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति के लिए द्विवेदीजी की समीक्षा का उदाहरण दिया जायगा।

द्विवेदी जी का सम्पूर्ण लेखन-कार्य भारतीयता का गौरव-गान करता है, राष्ट्रीय श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है, उत्कर्ष की स्मृतियों एवं विभूतियों से परिचय कराता है, तथा अतीत की पृष्ठभूमि पर नवीनता का आह्वान करता है। उनके साहित्य-विवेक के साथ सामयिक उपयोग की भावना सदा लगी रहती थी, इसीलिए उन्होंने रस, रीति, गुण, अलंकार आदि प्राचीन सिद्धान्तों को युगानुसार अर्थ की नई भूमियां प्रदान कीं[2]। उन्होंने युगकी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्य-निर्माण की प्रेरणा दी और अपनी समीक्षा में उन्हीं कृतियों को महत्व दिया जो सामाजिक उत्थान तथा राष्ट्रीय विकास की भावनाओं से ओतप्रोत थीं। आधुनिक कवियों में वे भारतेन्दु तथा मैथिलीशरण के बड़े प्रशंसक थे। इसका कारण यही है कि इन दोनों कवियों में उस युग की पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीय प्रवृत्तियां सर्वाधिक मात्रा में मिलती थीं। प्राचीन संस्कृत तथा हिन्दी-कवियों के अध्ययन के आधार पर द्विवेदीजी ने ऐसा काव्यादर्श तैयार किया जिसमें संस्कृत के कालिदास और भवभूति जैसे कवि, सूर और तुलसी जैसे भावनाशील रचयिता और भारतेन्दु तथा गुप्तजी जैसे अभिनव देश-प्रेमी कलाकार समान रुप से प्रतिष्ठित थे। इस प्रकार हिन्दी में वे सात्विक साहित्यिक आदर्शवाद के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं, जिसका पल्लवित रुप आगे चलकर प्रेमचन्द और शुक्लजी में दिखाई पड़ा। आदर्शवाद के आग्रह के कारण द्विवेदीजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में नीति, सुरुचि एवं सुधार की प्रधानता हो गई है। उन्होंने सुरुचि द्वारा अपनी आलोचनाओं में जिस

१–प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृ० २८ से ३६-दृश्य रूपक वा नाटक, तथा संयोगिता स्वयंवर और उसकी आलोचना, पृ० ४२४।

२–नया शाहित्य : नये प्रश्न, पृ० ३९।

आदर्शवादी एवं नीतिवादी प्रवृत्ति की जड़ जमाई, वही आगे शुक्लजी तक विकसित होती रही और परवर्ती काल के अन्य लेखक तथा आलोचक भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सके हैं[१]।

संस्कृत के प्राचीन कवियों, लेखकों एवं ग्रन्थों पर आलोचना लिखने में उनका एक प्रमुख उद्देश्य साहित्यिक एवं सांस्कृतिक चेतना का पुनरुत्थान करना था। वे 'सरस्वती' के अंकों में प्रायः किसी न किसी प्राचीन संस्कृत या हिन्दी कवि की साहित्यिक विशेषताओं पर प्रकाश डालते रहते थे। वे संस्कृत-ग्रन्थों की आलोचना अलंकार, रस, रीति, प्रबन्धौचित्य आदि पुराने सिद्धान्तों की दृष्टि से करते थे; इसकी प्रेरणा उन्हें प्राचीन अलंकारिकों तथा आलोचकों से मिली थी। इन आलोचकों की मुख्य विशेषता यह है कि ये कवियों के जीवन की कतिपय मुख्य घटनाओं का उल्लेख करते हुए उनकी कृतियों की चर्चा करते थे, उनके काव्य-गुणों तथा दोषों का विवेचन सोदाहरण करते थे। उक्त प्रकार की आलोचनाओं के गुण-निरुपण में आलोचक का सर्जनात्मक संदेश झांक रहा है एवं दोष-निरूपण में शास्त्रीयता, सहृदयता एवं सुरुचि प्रतिबिम्बित हो रही है। द्विवेदीजी ने प्राचीन संस्कृति के मूलभूत तत्वों के पुनरुत्थान तथा अपने काव्यादर्श एवं काव्य-कसौटी के निर्माण के लिए संस्कृत के प्राचीन कवियों का अध्ययन किया। उनके द्वारा गृहीत समीक्षा-सिद्धान्त—रस, अलंकार, गुण आदि जिनका उल्लेख स्फुट रुप से उनके निबन्धों में[२] तथा एकत्र रूप से उनकी कविता[३] में मिलता है, उनके संस्कृत-ग्रन्थों के अध्ययन से ही प्राप्त हुए थे।

द्विवेदी जी हिन्दी के युग-प्रवर्तक आलोचक थे। वे सब क्षेत्रों में नवीनता के समर्थक थे। वस्तुतः हिन्दी में नवीन प्रकार की सैद्धान्तिक समालोचना का आरम्भ द्विवेदीजी से ही होता है। वे प्राचीन सिद्धान्तों को नवीन युग की उपयोगिता की कसौटी पर कस लेने के पश्चात् ही ग्रहण करते थे। उस समय काव्य के सर्वतोमुखी विकास के लिए रीतिकालीन काव्य-धारा का विरोध आवश्यक था। इसलिए उन्होंने समस्यापूर्ति, नायिका-भेद, अलंकार-निरुपण-कुत्सित शृङ्गार, राजाओं की झूठी प्रशंसा आदि पर लिखने वालों का घोर विरोध किया[४]। अपने आदर्शवाद द्वारा उन्होंने साहित्यगत तत्कालीन सभी रुढ़िवादी धारणाओं एवं अन्धविश्वासों का उच्छेदन करके साहित्य में सांस्कृतिक एवं नैतिक उद्देश्य

१—हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, पृ० २७३।

२—रसज्ञ-रञ्जन— कवि और कविता, कवि-कर्तव्य, कवि बनने के सापेक्ष्य साधन—

३—हा कविते १

४—रसज्ञ-रञ्जन-पृ० ४४

की प्रतिष्ठा की, साहित्य एवं जीवन की दूरी को मिटाकर उसमें अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित किया, रीतिकालिन संकुचित रस-धारणा को व्यापक बनाकर उसे सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया, काव्य के कलात्मक साधनों को उसके प्रभाववर्धक तत्वोंके रूप में स्वीकार किया, काव्य के कृत्रिम पक्षको दूर करने के लिए अनुभूति की मार्मिकता पर सबसे अधिक बल दिया, वर्ण्य-विषय को व्यापक बनाकर साहित्य की व्याप्ति को विस्तृत किया[1] तथा समीक्षा को सत्योद्घाटन के रूप में स्वीकार किया[2]।

द्विवेदी जी ने किसी विशिष्ट समीक्षा सिद्धान्त का निरुपण जमकर नहीं किया है, किन्तु इनके निबन्धों में बिखरे विचारों से इनकी सिद्धान्त विषयक धारणाओं का ज्ञान हो जाता है। वे रस को कविता का प्राण मानते हैं[3], कविता के लक्षण-निरूपण में अभिव्यक्ति के असाधारण ढंग पर बल देते हैं[4]। अर्थात् रस के साथ वे चमत्कार के भी पक्षपाती हैं। वर्णन-पक्ष में वे कल्पना की सूक्ष्म शक्ति देखना चाहते हैं[5], भाषा की स्वाभाविकता एवं शुद्धता के समर्थक हैं[6], अलंकार के स्वाभाविक प्रयोग को पसंद करते हैं[7], कवि के लिए कविता विषयक गुण-दोषों का ज्ञान आवश्यक समझते हैं[8], उसे ईश्वर के प्रतिनिधि एवं लोक-मङ्गल-विधायक रूप में देखना चाहते हैं[9], उसके प्रतिभा-स्वातन्त्र्य का स्वागत करते हैं[10], अपने युग की कविता के वर्ण्य एवं शैली के आमूल परिवर्तन पर बल देते हैं[11], काव्य हेतुओं में मम्मट के मत के समर्थक हैं[12], काव्य-प्रयोजनों में पुराने मतों—आनन्द, व्यवहार विदता, उपदेश, लोक-मङ्गल आदि का समर्थन करते हैं[13], क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त के आधार पर काव्य में व्यवस्था, शुद्धता, सुरुचि, नीति एवं मर्यादा की प्रतिष्ठा चाहते हैं[14], तथा कविता की परिभाषा अंतरंग तत्त्वों के आधार पर करते हैं[15]।

१—रसज्ञ-रञ्जन- पृ० ४२— | २—समालोचना का सत्कार—
३—रसज्ञ-रञ्जन पृ० १७ | ४—रसज्ञ-रञ्जन पृ० ३४, ४७
५— वही पृ० ४७, ४८ | ६— वही पृ० ४६
७— वही पृ० १७ | ८— वही पृ० ३६
९— वही पृ० २३ | १०— वही पृ० ४५
११— वही पृ० १९,२०,४५ | १२— वही पृ० ५०
१३— वही पृ० २३,२६,२९ | १४— वही पृ० २६ से २७ तक
१५— वही पृ० ५८

उपर्युक्त सिद्धान्तों को देखने से विदित होता है कि उनका सम्बन्ध प्राचीन भारतीय समीक्षा से ही है, इससे स्पष्ट है कि द्विवेदी जी के मान्य सिद्धान्त संस्कृत समीक्षा से लिए गये हैं, किन्तु उन्होंने किसी विशिष्ट सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन करते हुए उसका पुनर्निर्माण नहीं किया है, केवल कवियों का मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए, उन्हें कुछ मान्य सिद्धान्तों एवं तथ्यों का आदेश दिया है। इसीलिए इनके निबन्धों की शैली प्रायः विवेचनात्मक न होकर उपदेशात्मक हो गई है। इन निबन्धों से कवि-कर्म एवं कविता की प्रकृति का बोध तो हो जाता है, पर किसी सिद्धान्त विशेष का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। इस तरह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने अपनी समीक्षाओं द्वारा लेखकों के निर्माण का कार्य अधिक किया है, सिद्धान्त-निर्माण का कार्य कम।

आचार्य द्विवेदी का प्रधान साहित्यिक कार्य समीक्षा-सिद्धान्तों के अनुसंधान तथा नव निर्माण का नहीं था, हिन्दी के नवीन साहित्य-शास्त्र के निर्माण का भी नहीं था, यह तो अन्य विद्वानों का उत्तरदायित्व था। उनका प्रधान कार्य तो संस्कृत साहित्य तथा भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान से नीति, सुरुचि, औदात्य एवं सुधार की भावना लेकर प्राचीन भारत के गौरव की रक्षा करते हुए युग विशेष के प्रवर्तन-हेतु, भिन्न-भिन्न साहित्यिक आन्दोलनों को उत्पन्न कर जनता में नवजागरण का संदेश भरना था, उसे नवीन जीवन-प्रवाह में डाल देना था। इस प्रकार उनकी प्रयोगात्मकतथा सैद्धान्तिक आलोचनाओं की अपेक्षा उनके द्वारा किये गये साहित्यिक आन्दोलन अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन आन्दोलनों का युगान्तरकारी प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ा है। हिन्दी साहित्य पर इतना अधिक प्रभाव किसी एक व्यक्ति का नहीं पड़ा। द्विवेदी जी की आलोचना का सबसे महत्वपूर्ण अंश यही है। तात्पर्य यह कि उनका महत्व साहित्य-संरक्षक तथा साहित्य-नियन्ता के रूप में समीक्षा का अग्रदूत होने के कारण अधिक है, पर विशुद्ध साहित्य-चिन्तक के रूप में कम।

द्विवेदी जी के समीक्षा-विषयक उपर्युक्त कार्यों से वह विदित है कि हिन्दी समीक्षा की पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति की मूल देन—समीक्षा में राष्ट्रीय एवं सुधारवादी प्रवृत्ति को जन्म देने में है, सामयिक उपयोगिता की भावना को तीव्र करने में है, रीतिवादी प्रवृत्ति का विरोध कर समीक्षा में नीति, सुरुचि, एवं औदात्य की प्रतिष्ठा करने में है, स्थूल गुण-दोष निरूपण वाली समीक्षा पद्धति के विकास करने में है, तुलनात्मक, ऐतिहासिक, शास्त्रीय एवं स्वच्छन्दता-वादी समीक्षा के बीज को वपन करने में है, पुस्तकों की परिचयात्मक समीक्षा से सन्तोष न करके लेखकों को कवि कर्म सम्बन्धी विधायक सन्देश देने में है,

हिन्दी में पुस्तकाकार रूप में व्यावहारिक समालोचना को जन्म देने में है, काव्य-सिद्धान्तों के व्यापक आधार की दिशा-संकेत करने में है, नवीन शैली में काव्यांगों को प्रस्तुत करने में है, काव्य के वर्ण्य तथा शैली में आमूल परिवर्तन करने वाले सिद्धान्तों को आन्दोलन-रूप में परिणत करने में है, तथा भाषा-क्षेत्र में व्यवस्था एवं सुधार लाने में है।

पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति के अभाव तथा दोषः—

इस युग की पुनरुत्थानवादी समीक्षा से लेखकों का मार्ग-निर्देशन तो हुआ, किन्तु सैद्धान्तिक निरूपण, सामान्य परिचय से आगे नहीं बढ़ सका। इस प्रवृत्ति के सैद्धान्तिक समालोचना सम्बन्धी निबन्ध पाठकों की ज्ञान-वृद्धि अथवा कवि-कर्म-निर्देशन में तो समर्थ हैं, किन्तु किसी विशिष्ट सिद्धान्त के तात्विक विश्लेषण में असमर्थ दिखाई पड़ते हैं। सिद्धान्त-प्रतिपादन सम्बन्धी ग्रन्थों में पूर्व पक्ष के खण्डन तथा अपने मत के प्रतिपादन में जैसी तार्किकता, परिभाषा-निरूपण तथा लक्षण-कथन में जैसी प्रौढ़ता, विश्लेषण में जैसी विशदता एवं उसके आधार परक तथ्य पर पहुँचने की जैसी क्षमता अपेक्षित होती है, वैसी तार्किकता, प्रौढ़ता, एवं प्रशस्तता पुनरुत्थानवादी लेखक अपनी सैद्धान्तिक समीक्षाओं में नहीं ला सके। इस युग की आलोचना सम्बन्धी धारणाओं में समया-नुकूलता एवं समीचीनता के तत्व वर्तमान हैं, किन्तु उनमें प्रौढ़ता एवं गम्भीरता की कमी है।

व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में आलोचकों की दृष्टि साहित्य-निर्माण की ओर अधिक केन्द्रित रही, इसलिए उनमें सिद्धान्तों का प्रयोग सफलता पूर्वक नहीं हो सका। द्विवेदीजी जैसे समीक्षकों की दृष्टि भाषा एवं व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों के निराकरण तथा वर्ण्य एवं शैली-परिवर्तन संबंधी आन्दोलनों की ओर अधिक लगी रही, इसलिए वे व्यावहारिक समीक्षा में भाव एवं विचार-पक्ष का विश्लेषण सांगोपांग रूप से नहीं कर सके।

इस धारा के समीक्षकों के पास स्वानुभूत-सिद्धान्तों अथवा सैद्धान्तिक मौलिक उद्भावनाओं की कमी थी, इसलिए वे अपना कोई निजी सिद्धान्त नहीं बना सके। इन समीक्षकों ने नीति, आदर्श एवं सुरुचि के माध्यम से जीवन-तत्वों एवं मूल्यों को अपनी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षाओं में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया, किन्तु सुनिश्चित जीवन-दर्शन के अभाव में उसे वे व्यापक अन्तर्दृष्टि नहीं दे सके। पुनरुत्थानवादी आचार्यों ने पुराने सिद्धान्तों के पुनरुत्थान के प्रयत्न में उनमें युगानुरुप नवीन अर्थ तो प्रतिष्ठित किया, किन्तु वे उसका प्रशस्त विवेचन नहीं कर सके, उसमें कोई महत्वपूर्ण मौलिक उद्भावना

नहीं ला सके, उनमें कोई नवीन संश्लेषण, नवीन संबन्ध-स्थापन नहीं ला सके, उनके भीतर निहित विभिन्न तत्वों का पृथक्करण नहीं कर सके तथा उनकी त्रुटियों अथवा कमियों को परिलक्षित नहीं करा सके।

नवीनतावादी प्रवृत्तिः—

भारतेन्दु-काल में पाश्चात्य शिक्षा, पाश्चात्य साहित्य एवं अंग्रेजों की व्यावसायिक सभ्यता के सम्पर्क, विज्ञान के प्रसार तथा नवीन उद्योग-धंधों की वृद्धि आदि ने भारत में नवीन बौद्धिक जागर्ति लादी और भारतवासियों को समाज-सुधार तथा देश की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए प्रेरित किया, वे अपने जीवन तथा साहित्य पर नवीन दृष्टि से विचार करने लगे[1]। पश्चिमी साहित्य तथा समाज की उन्नति के समानान्तर अपने समाज तथा साहित्य को ले जाने की वेगवती महत्वाकांक्षा के फलस्वरुप हिन्दी के अभाव को दूर करने के लिए हिन्दी के लेखक उन साहित्य-रुपों की रचना में लीन हो गये जो हिन्दी-साहित्य में नहीं थे[2]। फलतः हिन्दी में नये प्रकार के काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध तथा आलोचना लिखने के प्रयत्न हुए। उन साहित्य-रूपों में प्रतिष्ठित तंत्र नये प्रकार के थे; इनमें निरूपित जीवन के चित्र तथा मूल्य भी कुछ परिवर्तित कोटि के थे। अतः इन-साहित्य-रूपों के विवेचन के लिए नये प्रतिमानों की आवश्यकता हुई। काव्य की समीक्षा तो कुछ दूरी तक रस, अलंकार, रीति आदि पुराने सिद्धान्तों से हो सकती थी, किन्तु नये साहित्य-रुपों के परीक्षण में वे पुराने सिद्धान्त अशक्त सिद्ध हो रहे थे। नये प्रगीत, नये उपन्यास, नई कहानियाँ, नये निबन्ध, नई व्यावहारिक आलोचना आदि साहित्य-रूप पश्चिम से आये थे। अतः इनके परीक्षण के लिए पश्चिमी सिद्धान्तों को अपनाना आवश्यक होगया। इस प्रकार भारतेन्दु-काल में हिन्दी-आलोचना को जो नवीन स्वरूप प्राप्त हुआ, उसकी प्रेरणा पश्चिम से मिली। हिन्दी-साहित्य पर अंग्रेज विद्वानों द्वारा लिखित आलोचनात्मक ग्रन्थों[3] से हिन्दी-समीक्षा के तत्कालीन विकास में प्रत्यक्ष सहयोग मिला। उन्होंने कथानक, चरित्र-चित्रण, जीवन-दर्शन, धार्मिक मान्यता, भाषा-शैली आदि विभिन्न दृष्टियों से तुलसी के काव्य-सौष्ठव पर विचार किया। तुलसी का साहित्यिक महत्व सर्व प्रथम डा० ग्रियर्सन की उक्त प्रकार की आलोचना द्वारा विस्तृत रूप में भारतीयों को ज्ञात

१—आधुनिक हिन्दी-साहित्यः १८५०—१९००ई०:—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ० ६४,८५,८६।
२— — वही — पृ० ९५, ९६,

3. Ramayan of Tulsidas. F. S. Grivse. 1897.
Tulsidas-Poet and Religious Reformer-Grierson. 19..

हुआ। इसके पहले भारतीयों के बीच तुलसीकृत 'मानस' का आदर एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में था। इन अंग्रेज समीक्षकों की आलोचना-शैली में युग-तत्व, समाज-तत्व एवं तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति के तत्व भी उपलब्ध होते हैं। इनकी समीक्षा द्वारा जो अन्तर्दृष्टि हिन्दी-समीक्षकों को मिली उससे उनकी आँखें खुल गईं।

उपर्युक्त कोटि की नवीन दृष्टि उत्पन्न होने के कारण भारतेन्दुकाल में नवीनतावादी सिद्धान्तों के आधार पर कुछ सैद्धान्तिक समीक्षा-सम्बन्धी निबन्ध, कुछ अनुवाद तथा कुछ व्यावहारिक समीक्षायें लिखी गईं। निबन्धों में गंगा-प्रसाद अग्निहोत्री द्वारा लिखित 'समालोचना' नामक निबन्ध सन् १८९६ ई० में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुआ। यही निबन्ध बाद में पुस्तका-कार रूप में छपा। अनुवादों में पोप के Essays on Criticism का पद्यबद्ध अनुवाद रत्नाकरजी द्वारा 'समालोचनादर्श' नाम से सन् १८९७ ई० में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुआ। गुण-दोष-विवेचन-प्रणाली से भिन्न नवीन दृष्टि से समालोचना-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली प्रथा का सूत्रपात गंगा प्रसाद अग्निहोत्री कृत 'समालोचना' नामक पुस्तक से ही होता है। रत्ना-करजी ने अपने उक्त अनुवाद द्वारा पश्चिमी समीक्षा के प्रसिद्ध अभिनव परम्परा-वादी समीक्षक पोप के समीक्षा-सिद्धान्तों से हिन्दी-समीक्षकों का परिचय कराया। आलोचना सम्बन्धी उक्त दोनों रचनाओं को तत्कालीन साहित्यिक चेतना का द्योतक इस अर्थ में समझा जा सकता है कि नवीन समीक्षा-सम्बन्धी कार्य की आवश्यकता का अनुभव पूर्वापेक्षा अधिक सतर्कता से किया जाने लगा था, और यह भी कि आलोचना के क्षेत्र में नवीन प्रणाली की स्थापना आवश्यक है। पर इस चेतना का प्रतिफलन द्विवेदी-काल में, सन् १९०० के बाद ही दिखाई पड़ा।

इस प्रवृत्तिकी व्यावहारिक समीक्षाओं में 'प्रेमघन' द्वारा लिखित 'बंग-विजेता' तथा 'संयोगिता-स्वयंवर' की आलोचना एवं बालकृष्ण भट्ट द्वारा लिखित 'सच्ची समालोचना' और 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना विशेष उल्लेखनीय हैं।

नाटक तथा उपन्यास पर लिखी 'प्रेमघन' तथा बालकृष्ण भट्ट की सभी व्यावहारिक समीक्षायें नवीनतावादी सिद्धान्तों से प्रेरित होकर लिखी गई हैं। भट्टजी ने 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना भाषा, कथानक, कथनोपकथन, चरित्र-चित्रण आदि दृष्टियों से की है[1]। 'बंग-विजेता' की समीक्षा में 'प्रेमघनजी' ने चरित्र, कथानक आदि उपन्यास के नवीन तत्वों की दृष्टि से सभी

१-हिन्दी-प्रदीप, सन् १८८६ ई०।

परिच्छेदों की व्याख्या की है।[१] नाटक की समीक्षा में पूर्वी एवं पश्चिमी सिद्धान्तों के समन्वय का आधार तो कुछ दूर तक माना जा सकता है, किन्तु उपन्यास की समीक्षा तो पश्चिमी सिद्धान्तों के आधार पर ही लिखी गई है; क्योंकि आधुनिक हिन्दी-उपन्यास का शिल्प-विधान पश्चिम के उपन्यासों के ही आधार पर निर्मित हुआ है। 'भट्ट' जी और 'प्रेमघनजी' के बाद उस काल में तथा आगे भी इस प्रकार की समालोचनायें बराबर पत्र-पत्रिकाओं में निकलती रहीं।

उपर्युक्त कोटि की नवीनतावादी समीक्षाओं में गुण-दोष निदर्शन की प्रवृत्ति अधिक है। उनमें कुछ अनावश्यक विस्तार एवं ढीलापन दिखाई पड़ता है। इस प्रकार की समीक्षाओं में हिन्दी-समीक्षकों का पश्चिमी समीक्षा-सम्बन्धी ज्ञान संदिग्ध कोटि का दृष्टिगोचर होता है। अतः उनकी समीक्षा सतह भेदकर कृति के मर्म तक पहुँचने में असमर्थ दिखाई पड़ती है। उनके प्रतिपादन एवं बिवेचन में तार्किकता, गम्भीरता, एवं प्रौढ़ता की कमी है।

द्विवेदी-युग में विज्ञान एक विशिष्ट वर्ग से सामान्य जनता में फैल गया। कई वैज्ञानिक आविष्कारों से विचार एवं ज्ञान के जगत में क्रान्ति हुई। कतिपय नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण ज्ञान राष्ट्र की सीमाओं से मर्यादित न रह सका। प्रत्येक वैज्ञानिक आविष्कार के साथ नवीनता की शक्ति को वेग मिला। राष्ट्रीय विचार के लेखक अपनी राष्ट्रीयता में प्रगति-तत्व तथा अपनी संस्कृति में पूर्णता लाने के लिए नवीनतावादी प्रवृत्तियों का स्वागत कर रहे थे। अंग्रेजी शिक्षा के अधिकाधिक प्रचार, मनोविज्ञान, मानव-विज्ञान, समाज-शास्त्र आदि नवीन विषयों के प्रसार से भी नवीन विचारों के फैलने में पर्याप्त वेग मिला। अंग्रेजी विद्वानों द्वारा लिखित आलोचनात्मक ग्रन्थों के अनुवाद भावानुवाद तथा छायानुवाद से नवीनतावादी प्रवृत्तियों को प्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला[२]। साहित्य की नवीन शाखाओं का नवोन्मेष भी द्विवेदी-काल में भारतेन्दु-काल की अपेक्षाकृत अधिक हुवा। फलतः उनकी व्याख्या तथा मूल्यांकन करने वाले समीक्षक भी हिन्दी में अधिक संख्या में आये।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र विशुद्ध साहित्य की विविध शाखाओं के अतिरिक्त लोकोपयोगी अन्य नवीन वाङ्मयों की ओर केवल प्रवृत्त होकर ही रह गये थे, उन्होंने केवल मार्ग-प्रदर्शन का कार्य किया था; सब प्रकार के विषयों का समावेश वे उस समय हिन्दी में न कर सके। किन्तु द्विवेदीजी ने हिन्दी को सब

१-प्रेमघन सर्वस्व; द्वितीय भाग पृ० ४४१ से ४४५ तक।

२-आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास: १९००—१९२५ ई०: डा० श्रीकृष्ण लाल तृतीय संस्क०, पृ० ११, १२, १४

प्रकार के नवीन विषयों की ओर उन्मुख करके उसकी समृद्धि तथा विकास का मार्ग खोल दिया। अंग्रेजी जैसी सम्पन्न भाषा में जितने नवीन विषयों पर विचार किया गया था, उन्हें हिन्दी में प्रस्तुत करने का प्रयत्न इन्होंने अधिक किया जिससे हिन्दी जानने वाले भी सब प्रकार के नवीन विषयों से परिचित हो सकें[1]। इस प्रयत्न के परिणाम स्वरूप आलोचना के क्षेत्र में नवीनतावादी प्रवृत्तियों का जन्म द्विवेदी–युग में हुआ।

द्विवेदी–युग में नवीनतावादी सिद्धान्त को अपनाकर चलने वाली समीक्षा का विकास मुख्यतः तीन सरणियों में दिखाई पड़ता है :—प्रथम सरणि में पश्चिम के साहित्य–रूपों के अनुकरण के आधार पर रचित हिन्दी के नवीन साहित्य-रूपों–कहानी, निबन्ध, उपन्यास आदि की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षायें आती हैं। द्वितीय सरणि में पश्चिम के आलोचनात्मक ग्रन्थों, निबन्धों, सिद्धान्तों या विचारों के छायानुवाद या भावानुवाद के आधार पर रचित निबन्ध या ग्रन्थ आते हैं। तृतीय सरणि में नवीन सिद्धान्तों के आधार पर की गई आधुनिक काव्य की समीक्षायें आती हैं।

नवीनतावादी सिद्धान्तों की प्रथम सरणि के अनुसार लिखने वाले लेखकों में बाबू श्यामसुन्दरदास, श्यामसुन्दर जोशी आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बाबू साहब के 'साहित्यालोचन' में कहानी, निबन्ध तथा उपन्यास का विवेचन अंग्रेज समीक्षक हडसन तथा वर्सफोल्ड के आधार पर है। श्यामसुन्दर जोशी का 'हिन्दी के उपन्यास[2] नामक वृहद् निबन्ध इसी श्रेणी के भीतर स्थान पायेगा, क्योंकि इस निबन्ध में हिन्दी के उपन्यासों की समीक्षा पश्चिमी उपन्यासों के तंत्रों के आधार पर की गई है, बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' के लक्षणों के आधार पर नहीं।

नवीनतावादी सिद्धान्तों की द्वितीय सरणि को अपनाकर चलने वाले लेखकों में नाथूराम 'शंकर' शर्मा, बाबू श्यामसुन्दरदास, गोपालराम गहमरी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। नाथूराम 'शंकर' शर्मा की 'समालोचक' नामक कविता में आर्नोल्ड द्वारा निरूपित समालोचक के लक्षणों का भावानुवाद मिलता है। उदाहरणार्थ, उनकी कविता का कुछ अंश यहाँ दिया जाता है:—

'जिनके द्वारा शंकर संसार न होगा,
जिनके द्वारा सद्धर्म प्रचार न होगाः

१-वाङ्मय विमर्श, पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० २६.

२–सरस्वती, १९१७ सितंबर।

जिनके द्वारा लौकिक व्यवहार न होगा,
जिनके द्वारा परलोक-सुधार न होगा;
ऐसे ग्रन्थों पर रोष जिसे आता है,
वह वीर समालोचक पदवी पाता है[१]।

१९०३–१९०४ ई० के 'समालोचक' में प्रकाशित गोपालराम गहमरी का 'जातीय साहित्यालोचन की आवश्यकता' नामक निबन्ध भी इसी सरणि के भीतर स्थान पायेगा, क्योंकि वह मौलिक निबन्ध नहीं है, लेखक ने स्वयं उसे अनूदित कहा है। बाबू श्यामसुन्दर दास के 'साहित्यालोचन' नामक ग्रन्थ में 'जातीय साहित्य,' 'साहित्यकार का व्यक्तित्व' तथा 'साहित्य की आलोचना' सम्बन्धी कई अंश 'हडसन', 'मोल्टन', 'आर्नल्ड' तथा 'वर्सफोल्ड' की सामग्री के भावानुवाद के आधार पर लिखे गये हैं।

नवीनतावादी सिद्धान्तों की तृतीय सरणि के अनुसार लिखने वाले लेखकों में बदरीनाथ भट्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उदाहरणार्थ, उनके निम्नांकित निबन्ध अवलोकनीय हैं:—

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य पर दोषारोपण. सरस्वती, १९१४ मई.
२. हमारे कवि और समालोचक. — सरस्वती, १९१५ मई.
३. आजकल की कविता पर कुछ निवेदन. सरस्वती, १९१६ जुलाई.

प्रमाणार्थ इन निबन्धों में से एक एक उदाहरण दिये जाते हैं:—

'नया जमाना आ गया। नई बातें पैदा हो गईं। ऐसी बातें जिनको हमारे बाप दादों ने स्वप्न में भी न देखा था। नये भाव जागृत हुए, नये हौसले पैदा हो गये, नई स्फूर्तिका उदय होने लगा, नया चमत्कार दिखाई देने लगा। अब तेली के बैल की तरह पुरानी लकीर पीटने से काम न चलेगा[२]।'

'पुरानी और मैली तराजू में नया गुड़ तौलना ठीक नहीं। नई चमकीली तराजू में पुरानी चीकट तौलना भी अनुचित है[३]।

'कुछ मान्य लेखकों में एक और ही बीमारी पैदा हो गई है, वह यह कि ये लोग व्याकरण की तरह काव्य-शास्त्र को भी ऐसे कड़े नियमों से जकड़ देना चाहते हैं कि बस मामला टस से मस न हो सके। रचना सभी दृष्टि से निर्दोष तथा भावमयी होना चाहिए, परन्तु रचना करते समय कवि के हृदय की

१–सरस्वती; १९०६ अगस्त।

२–सरस्वती–१९१४ मई,–भाग १५–संख्या ५-पृ० २६७।

३–सरस्वती-१९१५ मई-भाग १६–संख्या –५पृ० २६४।

प्रफुल्लता को न पहचान कर उसके भावों को उलटा सीधा समझ या समझाकर-इसकी आवश्यकता थी, और इसकी न थी आदि आज्ञायें देना सहृदयता का परिचायक नहीं[1]।'

इस धारा के समीक्षकों की सबसे बड़ी देन यह है कि इन लोगों ने नवीन साहित्य-रूपों, जीवन के नवीन विचारों तथा मूल्यों को प्रोत्साहित करके हिन्दी-साहित्य तथा उसकी समीक्षा के विकास को आगे बढ़ाया एवं उसके भाण्डार को समृद्ध किया।

नवीनतावादी प्रवृत्ति के अभाव तथा दोषः—

पश्चिम के विशुद्ध अनुकरण के आधार पर इस प्रवृत्ति के समीक्षकों द्वारा लिखा हुआ निबन्ध, कहानी, उपन्यास, एकांकी, नाटक, साहित्य-समालोचना आदि नवीन साहित्य-रूपों का विवेचन समीक्षकों की प्रबल साहित्य-चेतना के अभाव में हिन्दी-समीक्षा की स्वतन्त्र प्रकृति तथा स्वतन्त्र व्यक्तित्व के अनुकूल नहीं हो सका। इसलिए वह अधिकांश मात्रा में पश्चिमी समीक्षा की तत्सम्बन्धी सामग्री की प्रतिलिपि प्रतीत होता है। स्वतन्त्र चिन्तन के अभाव में इस धारा के अधिकांश समीक्षक पश्चिम की समीक्षा-संबन्धी सामग्री को पचाकर निजी वस्तु बनाने में असमर्थ हो गये। इसलिए उसमें कोई महत्वपूर्ण उद्भावना भी नहीं कर सके। इस प्रवृत्ति के समीक्षक तत्वाभिनिवेशिता के अभाव में पाश्चात्य समीक्षा के पोषक तत्वों को न तो भारतीय समीक्षा में संश्लिष्ट कर सके, और न पश्चिम के साहित्य-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों को अपने सिद्धान्तों के अनुकूल बना सके, और न दोनों के सम्मिलन के बिन्दु को पहचान सके। इन समीक्षकों में विस्तृत अध्ययन एवं सूक्ष्म दृष्टि की कमी थी; इसलिए वे, भारतीय साहित्य-शास्त्र में किस पक्ष का अभाव है, वह पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में कहाँ तथा किस रूप में मिलता है, उसका समावेश भारतीय साहित्य-शास्त्र में किस प्रकार हो सकता है, आदि गम्भीर प्रश्नों पर विचार नहीं कर सके। व्यापक गहन चिन्तन के अभाव में इन समीक्षकों में भारतीय सिद्धान्तों को पाश्चात्य अनुसंधानों के तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों को भारतीय मान्यताओं के आलोक में रखकर सत्य वस्तु के निर्णय की प्रवृत्ति कम दिखाई पड़ती है।

समन्वयवादी प्रवृत्तिः—

भारतेन्दु-काल में भारतवर्ष में पूर्वी तथा पश्चिमी संस्कृतियों में समन्वय आरम्भ होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति साहित्य में भी होने लगी। फलतः

१-सरस्वती-१९१६ जुलाई-भाग १७-संख्या १३-पृ० १६३।

उस युग की समीक्षा में भी उसका समाविष्ट होना स्वाभाविक था। उस युग के प्रतिनिधि समीक्षकों भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट तथा बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' की समीक्षाओं में इस प्रवृत्ति की स्पष्ट झलक मिलती है। भारतेन्दु जी समन्वयात्मक बुद्धि लेकर नाट्य-क्षेत्र में अवतरित हुए। उन्होंने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में यह स्पष्ट कहा है कि भारतीय रस-पद्धति के साथ विदेशी चरित्र-वैशिष्ट्य वाली पद्धति का समन्वय होना चाहिए[1]। भट्टजी के कतिपय समीक्षा-सम्बन्धी निबन्धों में समन्वयवादी प्रवृत्ति की झलक मिलती है। उन्होंने 'शब्द की आकर्षण शक्ति' नामक निबन्ध में संस्कृत और फारसी से 'आनोमेटोपोइआ' के उदाहरण दिये हैं। 'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है' नामक निबन्ध में उन्होंने भारतीय और योरोपीय साहित्य की तुलना की है, विक्रमादित्य और कालिदास के युग की तुलना आगस्टन युग से की है। 'संयोगिता-स्वयंबर' नाटक की आलोचना उन्होंने पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों नाट्य-तत्वों के आधार पर की है। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'संयोगिता-स्वयंवर' के प्रत्येक अंग की आलोचना रस, भाषा, कथनोपकथन, कथानक, चरित्र-चित्रण, नाट्य-प्रबन्ध आदि दृष्टियों से की है। इस आलोचना में चरित्र-चित्रण का तत्व निश्चय ही पश्चिमी नाट्य-तत्व है। एक स्थान पर अपनी आलोचना में उन्होंने 'मरचेन्ट आफ वेनिस' से इसकी तुलना की है[2]।

इस युग में समीक्षा की समन्वयवादी प्रवृत्ति की दिशा में आलोचनात्मक कार्य बहुत कम हुआ। इसको वैज्ञानिक एवं व्यवस्थित रूप प्रदान कर इसमें संश्लिष्टता की स्थापना कोई समीक्षक नहीं कर सका। इसीलिए दोनों प्रकार के सिद्धान्त इन आचार्यों की समीक्षाओं में पृथक् पृथक् रूपमें मिलते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी साहित्यिक चेतना इतनी प्रबल नहीं थी कि वे इन सिद्धान्तों को पचाकर आत्मसात करलें तथा उसे अपनी अनुभूति का अंग बना सकें।

प्रत्येक चेतना सम्पन्न समाज में नई रचना के आते ही पूर्ववर्ती परम्परा के साथ उसके सम्बन्ध, उसके परस्पर अनुपात, उसके सापेक्ष्य मूल्य तथा महत्व का अंकन फिर से आरम्भ हो जाता है। इसके फलस्वरूप पुरातन तथा नूतन में एक नया सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। इस क्रिया द्वारा दोनों परस्पर एक दूसरे के योग पर घटित होते हैं, एक सूत्र में आबद्ध

१—भारतेन्दु-नाटकावली, द्वितीय भाग, परिशिष्ट, 'नाटक, निबन्ध, पृ० ४११.

२-प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, संयोगिता-स्वयंवर और उसकी आलोचना पृ० ४२३से४४५

होते हैं। फलस्वरूप परम्परा के साथ नई रचना एवं नवीन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक नवीनता का साहित्य के क्षेत्र में कोई महत्व नहीं होता; क्योंकि वह एक असम्बद्ध खंडित इकाई के रूप में दिखाई पड़ने लगती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त कोटि की मनोवैज्ञानिक चेतना के कारण ही द्विवेदी-काल में शिक्षा, साहित्य, समीक्षा आदि सभी क्षेत्रों में समन्वयवादी प्रवृत्ति का प्रवेश हुआ।

समन्वयवादी प्रवृत्ति की झलक बाबू श्यामसुन्दरदास के 'साहित्यालोचन', बख्शी जी के 'विश्व-साहित्य', छन्नूलाल द्विवेदी के 'कालिदास और शेक्स-पीयर' नामक ग्रन्थों में मुख्य रूप से मिलती है। स्फुट रूप से द्विवेदीजी के सैद्धान्तिक निबन्धों में भी समन्वयवादी प्रवृत्ति का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उस युग की कुछ अनुवादित कृतियों में भी इस प्रवृत्ति की झलक मिलती है, जैसे, रामदहिन मिश्र की 'साहित्य,-मीमांसा' तथा रूपनारायण पाण्डेय की 'कालिदास और भवभूति' नामक अनुवादित कृतियों में।

'साहित्यालोचन' में नाटक की सैद्धान्तिक आलोचना पश्चिमी एवं पूर्वी दोनों नाट्य-सिद्धान्तों के आधार पर की गई है। कला के भीतर कविता का अन्तर्भाव पश्चिमी सिद्धान्त के अनुसार इस ग्रन्थ में किया गया है। कल्पना, अनुभूति एवं चिन्तन का विवेचन पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों के आधार पर तथा रस, अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि आदि तत्वों का विश्लेषण भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों के आधार पर है। इस पुस्तक में साहित्य की आलोचना का विवेचन भारतीय तथा पश्चिमी दोनों दृष्टियों से करते हुए लेखक ने अन्त में दोनों पद्धतियों के समन्वय का प्रयत्न किया है[1]।

बख्शी जीने 'विश्व-साहित्य' के प्रायः सभी निबन्धों में साहित्य के मूल, साहित्य-विकास की प्रक्रिया, साहित्य की अभेद-दृष्टि, काव्य-तत्व, नाट्य-तत्व, काव्यानन्द, विश्व-भाषा, साहित्य और धर्म आदि विभिन्न साहित्यिक प्रश्नों पर भारतीय तथा पश्चिमी दोनों दृष्टियों से विचार करते हुए अपनी समीक्षा-पद्धति में समन्वयवादी प्रवृत्ति को प्रतिबिम्बित किया है।

छन्नूलाल द्विवेदी ने अपनी 'कालिदास और शेक्सपीयर' नामक समीक्षा-कृति में दोनों कलाकारों के चरित्र-चित्रण, प्रकृति-चित्रण, कवित्व, नाटकत्व, उपदेश आदि तत्वों पर भारतीय तथा पांश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों के सिद्धान्तों की दृष्टि से विचार करते हुए दोनों में समन्वय का प्रयत्न किया है, पर उनके

१. साहित्यालोचन, सातवीं आवृत्ति, पृ० २७०

समन्वय का ढंग बहुत कुछ स्थूल तथा वहिरंग कोटि का है; उसमें शास्त्रीय गम्भीरता का अभाव है।

द्विवेदी जी के 'रसज्ञ-रंजन' नामक निबन्ध-संग्रह में कवि तथा काव्य-सम्बन्धी निवन्धों में कई स्थानों पर दोनों समीक्षा-पद्धतियों के सिद्धान्तों की दृष्टि से काव्य की समस्याओं पर विचार किया गया है। जैसे, रस के प्रसंग में अनुभूति का बिवेचन है, जो पश्चिमी काव्य-तत्व है। प्रतिभा के प्रसंग में पश्चिमी काव्य-तत्व कल्पना का समावेश है; कविता के गुणों के विवरण के प्रसंग में मिल्टन द्वारा निरूपित कविता के तीन गुणों—सादगी, असलियत तथा जोश का विवेचन है, इन्हीं तीनों गुणों के विवेचन के प्रसंग में काव्य में स्वाभाविकता, भावों के वास्तविक आधार तथा प्रभविष्णुता की रक्षा का संकेत सूत्रात्मक ढंग से मिलता है। द्विवेदीजी के कविता सम्बन्धी भाषा के विचार वर्डसवर्थ के भाषा-सिद्धान्त से साम्य रखते हैं[1]।

पं० रामदहिन मिश्र ने पूर्णचन्द्र वसु की प्रसिद्ध पुस्तक 'साहित्य-चिन्ता' का छायानुवाद 'साहित्य-मीमांसा' के नाम से किया है। इसमें विद्वान लेखक ने कहीं कहां अपनी ओर से कुछ जोड़ देने, मूल ग्रन्थ के कुछ भाग को छोड़ देने अथवा आवश्यकतानुसार साधारण परिवर्तन कर देने की स्वतन्त्रता ले ली है। इसमें पूर्वी एवं पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों का समन्वय तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् किया गया है। इस समन्वय में भी लेखक भारतीय-समीक्षा-सिद्धान्तों की प्रौढ़ता पूर्ण विवेक तथा तर्क के साथ पाश्चात्य सिद्धान्तों की तुलना में स्थापित करता है। उन्होंने यह भी संकेत किया है कि भारतीय साहित्यिक आदर्श को पाश्चात्य समीक्षक और साहित्यकार भी मानने के लिए तैयार हैं। उन्होंने नाटक के विवेचन के प्रसंग में यह बतलाया है कि भारतीय नाट्य-सिद्धान्त की दृष्टि से युद्ध, हत्या आदि जो कार्य-व्यापार रंगमंच-पर वर्जित हैं, वे पश्चिमी समीक्षकों की दृष्टि में भी सुरुचि के विरुद्ध माने जाते हैं[2]।

रूपनारायण पाण्डेय ने द्विजेन्द्रलाल राय की प्रसिद्ध समीक्षा-कृति 'कालिदास और भवभूति' का अनुवाद किया है। इस समीक्षा-कृति में पाश्चात्य एवं भारतीय नाट्य-सिद्धान्तों की दृष्टि से 'अभिज्ञान शाकुन्तल' तथा 'उत्तररामचरित' के आधार पर दोनों नाटककारों का अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने दोनों देशों के नाट्य-सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए उन्हें अपनी

१–देखिए 'कवि और कविता' सम्बन्धी निबन्ध–

२–साहित्य मीमांसा पृ० ४५-४९

आलोचना का मानदण्ड बनाया है। हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि में अच्छे अनुवादों ने भी पर्याप्त योग दिया है, इसलिये इन अनुवादित ग्रन्थों का भी उल्लेख समीक्षा-प्रवृत्तियों के प्रसंग में किया गया है।

समन्वयवादी समीक्षा-प्रवृत्ति की सबसे बड़ी देन हिन्दी-समीक्षा को यही है कि उसने आलोचकों के दृष्टिकोण को बहुत व्यापक किया तथा साहित्य की अभेद प्रकृति को पहचानने में उन्हें समर्थ बनाया।

समन्वयवादी प्रवृत्ति के दोष तथा अभावः–

इस प्रवृत्ति के समीक्षकों ने दोनों काव्य-शास्त्रों का अध्ययन किया, उनके सिद्धान्तों को यथाशक्ति बुद्धि से ग्रहण भी किया, किन्तु प्रबल साहित्य-चेतना तथा सुनिश्चित जीवन-दर्शन के अभाव में वे उन्हें अपने व्यक्तित्व के साँचे में ढाल नहीं सके, उस पर अपनी अनुभूति का रंग चढ़ा नहीं सके; इसलिए उनकी समीक्षाओं में भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का समन्वय ठीक तरह से नहीं हुआ, वे एक दूसरे से घुले-मिले नहीं, दोनों का अस्तित्व पृथक् पृथक् बना रहा। फलतः उनकी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षाओं में दोनों देशों के सिद्धान्त समानान्तर चलते हुए दिखाई पड़ते हैं, परस्पर संश्लिष्ट होकर नहीं।

जिस समय हिन्दी-समीक्षा में उक्त चारों प्रकार की समीक्षा-प्रवृत्तियां अपने उपर्युक्त गुणों तथा दोषों सहित प्रचलित थीं, उसी समय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लका आगमन हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र में एक सुनिश्चित समीक्षा-दर्शन को लेकर हुआ।

————

दूसरा अध्याय

आचार्य शुक्ल की समीक्षा-कृतियों का पर्यवेक्षण

किसी भी साहित्य-समीक्षक के सिद्धान्तों का ज्ञान उसकी समीक्षा-कृतियों द्वारा ही होता है। साहित्य-समीक्षा के दो पहलू–सिद्धान्त एवं व्यवहार के अनुसार साहित्य-समीक्षक की समीक्षा-कृतियां दो प्रकार की होती हैं:–सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। सैद्धान्तिक समीक्षा में साहित्य के सिद्धान्तों का विशुद्ध रूप में विचार या विवेचन होता है तथा समीक्षक सामान्य से विशेष की ओर केवल उदाहरण-रुप में जाता है। व्यावहारिक समीक्षा में विशेष की उन्हीं के आधार पर छान-बीन की जाती है। इसमें समीक्षक विशेष से सामान्य की ओर जाता है। साहित्य के विभिन्न सिद्धान्तों, वादों अथवा मतों में जीवन तथा कला दोंनों के मूल्य समाये रहते हैं[1]। अतः समीक्षा-सिद्धान्तों की सम्यक् पहचान तथा वैज्ञानिक निर्माण के लिए समीक्षक में जीवन तथा कला-सम्बन्धी दोनों प्रकार की मूल्य-दृष्टियों का होना आवश्यक है[2]। समीक्षक की जीवन तथा कला सम्बन्धी मूल्य-दृष्टि की सच्ची कसौटी उसकी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा-कृतियों से ही प्राप्त हो सकती है, जिसके आधार पर वह साहित्य के विशिष्ट मतों, सिद्धान्तों तथा विशिष्ट कवियों की जीवन-दृष्टि एवं कला-दृष्टि की परीक्षा करता है।

जब हम साहित्यिक आलोचना की बात करते हैं तब हम सिद्धान्त को व्यवहार से बिल्कुल अलग नहीं कर सकते। वस्तुतः समीक्षा-सिद्धान्तों की सचाई, उनका सम्यक् सम्बन्ध-निर्वाह, उनकी व्यवहारोपयोगिता तथा उनकी सच्ची प्रामाणिकता का ज्ञान व्यावहारिक समीक्षा-कृतियां ही उपस्थित करती हैं। इन्हीं उपर्युक्त कारणों से आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्तों की सामग्री के

---

1. Criticism discloses the laws and facts of art and life as those final realities are revealed through literature. Significance of Modern Criticism. Mabic–

2. For if a well grounded theory of value is a necessity for criticism, it is no less true that an understanding of what happens in the arts is needed for the theory.—Principles of Literary Criticism. I. A. Richard. P. 37.

सम्यक् बोध के लिए उनकी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों-प्रकार की समीक्षा-कृतियों का पर्यवेक्षण, उनके प्रकाशन-क्रम के अनुसार प्रस्तुत किया जा रहा है।

साहित्यः—

प्रकाशन-काल—१९०४ ई०, सरस्वती, मई-जून, भा० ५, सं०, ५, ६।

इस निबन्ध की गणना शुक्ल जी की आरम्भिक काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाओं के भीतर की जाती है, क्योंकि इसमें इनके प्रायः सभी प्रमुख समीक्षा-सिद्धान्तों के बीज अन्तर्निहित दिखाई पड़ते हैं। सरस्वती-पत्रिका की पाद-टिप्पणी से यह विदित होता है कि यह निबन्ध न्यूमन के 'लिट्रेचर' नामक निबन्ध के आधार पर लिखा गया है[1]। इससे यह स्पष्ट है कि आरम्भ से ही शुक्ल जी भारतीय तथा योरोपीय समीक्षा-सिद्धान्तों तथा पद्धतियों के समन्वय का प्रयत्न करते हैं। इसमें साहित्य की परिभाषा, धर्म, लक्षण, व्याप्ति, विज्ञान आदि से उसके सम्बन्ध तथा उसके विभिन्न निर्माणकारी तत्वों पर सूत्रात्मक ढंग से विचार किया गया है[2]। शुक्लजी की दृष्टि में साहित्य को अन्य विषयों से अलग करने वाला तत्व साहित्यकार का व्यक्तित्व है[3]। व्यक्तित्व के निर्माणकारी तत्व उनकी दृष्टि में तीन हैं:— १. प्रतिभा, २. व्युत्पत्ति और ३. अभ्यास[4]। उन्होंने इस निबन्ध में प्रसंग रूप से कवियों के गुण, धर्म तथा विशेषताओं का भी संक्षेप में उल्लेख किया है[5]। इसमें उनके साध्य समीक्षा-सिद्धान्त—रस-सिद्धान्त का समर्थन, उसके ऊपर सर्वाधिक बल[6] तथा अलंकारवाद, रीतिवाद एवं बक्रोक्तिवाद आदि के खण्डन का बीज स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है[7]। रस के वस्तु-पक्ष से सम्बन्ध रखने वाले उसके अन्य सहयोगी सिद्धान्तों—उदात्तता, शाश्वतता, मानवता, लोक-मंगल तथा कल्पना-सिद्धान्त की झलक इसमें दिखाई पड़ती है[8]। रसके कला-पक्ष से सम्बन्ध रखने वाले अनुभूति एवं कला के समन्वय-सिद्धान्त का सूत्रात्मक संकेत

१— सरस्वती. १९०४, भाग ५, सं० ६ पृ० १९२—

२— वही — — सं० ५, पृ० १५४—१५७—

३— वही — — — पृ० १५४, १५५—

४— वही — — सं० ६, पृ० १८९—

५— वही — — सं० ५, पृ० १५६, १५७, सं० ६, पृ० १८९-१९२—

६— वही — — सं० ६, पृ० ११८, १९२—

७— वही — — सं० ५, पृ० १५२, १५६; सं० ६, पृ० १९०—

८— वही — — सं० ५, पृ० १५४-१५६, सं० ६, पृ० १८९ १९२

भी इसमें मिलता है। इस निबन्ध में शुक्लजी साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता, प्रकृति, महत्ता, उदात्तता, व्यापकता तथा स्वरूप पर सूत्रात्मक ढंग से प्रकाश डालते हुए उसके भाव तथा कला दोनों पक्षों पर यथोचित् बल देते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे प्रारम्भ से ही साहित्य विषयक सर्वाङ्गपूर्ण तथा सन्तुलित दृष्टि लेकर समीक्षा-क्षेत्र में अवतरित हुए।

उपन्यासः—

प्रकाशन-काल, १९१० ई०, ना० प्र० प०, जुलाई-अंक.

यह शुक्ल जी का विशुद्ध मौलिक साहित्यिक निबन्ध है। इसमें सूत्रात्मक ढंग से उपन्यास के आधार, कार्य, लाभ, सत्य तथा कसौटी पर लेखक के विचार मिलते हैं। लेखक की दृष्टि में उपन्यास का आधार—वास्तविक जीवन; उसका मुख्य कार्य—वस्तु-चित्रण, मानव-अन्तःकरण के सौन्दर्य की झलक दिखाकर पाठकों का नयनोन्मीलन करना, सदाचार का स्वाभाविक सौन्दर्य दिखाना; उपन्यास से लाभ—समाज-कल्याण की सिद्धि; उपन्यास का सत्य—मानव-जीवन की अनुरूपता; उसकी कसौटी—तत्कालीन सामाजिक स्थिति की अनुकूलता आदि है। इस प्रकार इस निबन्ध में शुक्लजी की आलोचना के प्रमुख सूत्र—नीति सिद्धान्त, लोक-मंगल-सिद्धान्त तथा वस्तुवादी सिद्धान्त अभिव्यक्त हुए हैं। इसमें ऐतिहासिक उपन्यास तथा विशुद्ध इतिहास के तथ्यों का अन्तर लेखक ने स्पष्ट रूप से अंकित किया है। इसके पश्चात् उसने सामाजिक उपन्यास की विशेषताओं पर सूत्रात्मक ढंग से विचार किया है। अन्त में इस निबन्ध में ऐतिहासिक उपन्यासकार की योग्यता तथा विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख किया गया है।

अपनी भाषा पर विचारः—

यह निबन्ध सर्वप्रथम सन् १९०७ ई० में आनन्द-कादंबिनी [ज्येष्ठ अग्रहायण] में प्रकाशित हुआ। आगे चलकर यही निबन्ध अपने परिवर्धित रूप में 'भाषा की शक्ति' शीर्षक से नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में सन् १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें सर्वप्रथम भाषा के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों पर संक्षेप में विचार किया गया है। सैद्धान्तिक पक्ष में भाषा के उद्देश्य, प्रयोजन, महत्व, बोधन-शक्ति, सभ्यता और संस्कृति से सम्बन्ध आदि पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। 'भाषा-स्वरूप' के प्रसंग में लेखक ने राष्ट्र-भाषा के महत्व तथा सम्बन्ध पर संक्षेप में विचार किया है। व्यावहारिक पक्ष में लेखक ने हिन्दी-भाषा की शब्द-योजना तथा शब्द-विस्तार पर अपने विचार

व्यक्त किये हैं। आगे इसी प्रसंग में उन्होंने हिन्दी-भाषा की तत्कालीन समस्याओं पर विचार करते हुए उसके शब्द-विस्तार एवं नवीन शब्द-योजना की आवश्यकता पर अपनी सम्मति प्रगट की है तथा हिन्दी-भाषा में पचे हुए दूसरी भाषाओं के शब्दों को हिन्दी से निष्कासित करने वाले रूढ़िवादियों का विरोध किया है। इस निबंध में शुक्लजी की स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति का प्रमाण मिलता है, विशेषतः उस स्थल पर जहां उन्होंने यह बतलाया है कि वह किन किन भाषाओं से किस-किस प्रकार के शब्दों को पचाने में समर्थ हो सकती है। इस दिशा में वे भारतेन्दु बाबू की भाषा को प्रमाण मानते हैं और उसके शब्द-विस्तार की प्रशंसा करते हैं। शुक्लजी ने शब्द-योजना पर विचार करते हुए शब्दों के क्रम, चुनाव, संशोधन एवं उनकी शक्ति पर अपना मत व्यक्त किया है। यहां वे नवीन प्रतीकों तथा नूतन उपमाओं के प्रयोग पर बल देते हुए दिखाई पड़ते हैं। इसके पश्चात् उन्होंने शब्दालंकार एवं अर्थालंकार की प्रयोग-विधि बतालाई है और उस स्थल पर स्पष्ट रूप से उन्होंने अलंकारवादियों का खण्डन किया है, जो कविता में प्रयत्न-पूर्वक अलंकार लादने का आदेश देते हैं। शुक्लजी भावों की स्वच्छता तथा वर्णन की उपयुक्तता को अलंकार-प्रयोग का मान-दण्ड मानते हैं। वे कविता में अलंकार को अधिक से अधिक साधन मानने को तैयार हैं। इस प्रसंग में शुक्लजी ने शब्दालंकार, और उसमें भी अनुप्रास तथा यमक एवं अर्थालंकार में उपमा के सिद्धान्त, प्रयोजन तथा महत्व पर विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार किया है। इस निवन्ध में शुक्लजी जहां अलंकार-प्रयोग का कारण भाव तथा सतोगुण की मनोहारिणी छटा दिखाना बताते हैं, वहाँ रस-सिद्धान्त का संकेत मिलता है; जहाँ नाद-वैलक्षण्य, कृत्रिम अनुप्रास-योजना तथा शब्दाडम्बर का विरोध करते हैं, वहाँ रीतिवाद के विरोध का स्वर सुनाई पड़ता है। शुक्लजी का काव्य विषयक उपयोगितावाद का सिद्धान्त भी उस स्थल पर स्पष्ट रूप में व्यंजित दिखाई पड़ता है, जहाँ वे भाषागत विशिष्ट शब्द-योजना के कारण कविता को किसी काम में अग्रसर कराने वाली मानते हैं। उक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त इस निवन्ध में प्रकृति के प्रति उनके रागात्मक प्रेम का परिचय भी मिलता है।

गोस्वामी तुलसीदासः—

रचनाकाल—सं १६८० वि० तदनुसार १६२२ ई०

यह पुस्तक पहले तुलसी-ग्रन्थावली की भूमिका-रूपमें लिखी गई थी। बाद में इसे स्वतन्त्र पुस्तक का रूप दिया गया। इसके प्रथम संस्करण में गोस्वामी तुलसीदासजी का जीवन-चरित भी सम्मिलित था, पर पुस्तक की विशुद्ध

आलोचनात्मक स्वरूप देने के लिए आलोचक ने इसके द्वितीय संस्करण में जीवन खण्ड को निकाल दिया। समीक्षक के ही शब्दों में इस पुस्तक का उद्देश्य है–'गोस्वामी जी के महत्व के साक्षात्कार और उनकी विशेषताओं के प्रदर्शन का लघु प्रयत्न'[१]। सम्पूर्ण कवि-कर्म में जो बातें मिलती हैं, आलोचक ने उनका वर्गीकरण करके उनकी व्याख्या उपस्थित की है। इसलिए तुलसी के प्रायः सभी ग्रन्थों के उदाहरण इसमें मिलते हैं। प्रत्येक निबन्ध में उस विषय की तुलसी की मान्य विशेषतायें प्रगट की गई हैं। तुलसी की 'भक्ति-पद्धति' में लेखक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनकी भक्ति प्राचीन भारतीय भक्ति-परम्परा से संबन्धित है, वह हिन्दू जनता की युग-चेतना की उपज है, उसमें सामाजिक जीवन की पूर्ण स्वीकृति है, उसमें भगवान के लोक-व्यापार-व्यापी शील, शक्ति, सौन्दर्य-युक्त मंगलमय रूप की प्रतिष्ठा है; उसमें सदाचार, भक्ति का आवश्यक अंग है, उसमें व्यक्ति-कल्याण तथा लोक-कल्याण दोनों का समन्वय है, इसमें किसी गिरी जाति को उठाकर खड़ाकर देने की अपूर्व शक्ति है, इसमें पारमार्थिक ज्ञान, अलौकिक सिद्धि तथा रहस्य-दर्शन का दावा नहीं है। यह भक्ति सबके लिए सुलभ है। भक्ति-विवेचन में शुक्ल जी ने तुलनात्मक पद्धति का अवलम्बन लेकर तुलसी की भक्ति-पद्धति की तुलना यहूदी, ईसाई तथा इस्लामी भक्ति-पद्धति से करके उसकी विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए उसे अन्य भक्ति-पद्धतियों से श्रेष्ठ सिद्ध किया है।

'भक्ति और स्वभाव' नामक प्रकरण में शुक्ल जी ने अन्तःसाक्ष्य के आधार पर तुलसी की प्रकृति और स्वभाव का विवेचन किया है। साथ ही सूर की प्रकृति से यत्र-तत्र तुलसी की प्रकृति की तुलना भी की है। इस प्रकार रचनाकार की व्यक्तिगत मानसिक स्थिति का उसमें उल्लेख किया गया है। 'लोक-धर्म' एवं 'मानस की धर्म-भूमि' नामक प्रकरणों में तुलसी के धार्मिक मत पर प्रकाश डाला गया है, उनके अंगी धर्म तथा अंग धर्मों की व्याख्या की गई है। इन अवसरों पर शुक्ल जी ने लोक-धर्म तथा उसके अंगधर्मों पर अपना अभिमत भी प्रगट किया है, जिससे उनकी सामाजिक-नीति तथा सामाजिक सिद्धान्त का पता चलता है। शुक्ल जी के वैदिक विचारों में वैदिक हिन्दू समाज-पद्धति एवं आदर्शवाद का प्रधान स्थान है। उसे उन्होने सार्वदेशिक व्यवस्था का रूप देने का प्रयत्न किया है। वर्णाश्रम-धर्म से शुक्ल जी का आशय हिन्दू-धर्म की समाज-व्यवस्था से ही नहीं वरन् ऐसे विश्व-व्यापी समाज-संगठन से है जिसमें कर्त्तव्यों तथा अधिकारों के समीकरण की चेष्टा हो। 'धर्म और जातीयता का समन्वय'

१–गोस्वामी तुलसीदास, सन्शोधित सन्स्करण का वक्तव्य-

था 'मंगलाशा' नामक प्रकरणों में शुक्ल जी ने बताया है कि तुलसी-साहित्य में हिन्दू-धर्म एवं जातीयता का तत्व समन्वित रूप में मिलता है, इसलिए वह भारतीय संस्कृति की रक्षा में अन्य कवियों के साहित्य की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में समर्थ हुआ है। इस प्रकार उन्होंने तुलसी को भारतीय संस्कृति का रक्षक घोषित किया है। इससे यह भी विदित होता है कि आलोचक के मन में भारतीय संस्कृति के प्रति गर्व तथा सच्ची निष्ठा है। उनके मत से तुलसी-साहित्य पाठकों में मंगलाशा के भाव भरने की शक्ति रखता है। तुलसी की 'काव्य-पद्धति' से लेकर अंतिम प्रकरण 'हिन्दी साहित्य में गोस्वामी जी का स्थान' पर्यन्त प्रायः सर्वत्र तुलसी के काव्य-सौष्ठव का उद्‌घाटन किया गया है; उनकी कविता की मानसिक भूमियों, सामाजिक आधारों, कलात्मक उत्कर्षों का स्पष्टीकरण किया गया है; उनकी कविता में निहित युग चेतना तथा युग-तत्वों का सूत्रवत् संकेत किया गया है[1]। 'तुलसी की काव्य-पद्धति' नामक प्रकरण में शुक्ल जी ने यह बताया है कि तुलसी की रुचि काव्य के अतिरंजित अथवा प्रगीत-स्वरूप की ओर नहीं थी; और न कुतूहलोत्पादन, और न मनोरंजन ही उनका उद्देश्य था। उनकी दृष्टि वास्तविक जीवन-दशाओं के मार्मिक पक्षों के उद्‌घाटन की ओर थी, काल्पनिक वैचित्र्य-विधान की ओर नहीं। इसी प्रकरण में शुक्ल जी ने यह भी दिखलाया हैं कि गोस्वामी जी ने किस प्रकार विभिन्न घटनाओं का चतुराई से उपयोग करके, कहीं कहीं उनके परम्परागत क्रम में परिवर्तन करके तथा कहीं कथा के मार्मिक स्थलों का मार्मिक चित्रण करके काव्य की रसात्मकता बढ़ाई है। 'तुलसीदास की भावुकता' नामक प्रकरण में कवि की अखिल जीवन-व्यापिनी भावुकता, कथा के मार्मिक स्थलों की पहिचानशक्ति, अन्तःप्रकृति की निरीक्षण एवं चित्रण-शक्ति, कर्म-सौन्दर्य सम्बन्धी अभिव्यक्तियों, कथा-संविधान में निहित प्रबन्ध-पटुता, तथा मर्मस्पर्शी चित्रण में निहित व्यापार-शोधन-कला का निरूपण किया गया हैं। शुक्ल जी भावों को उनके आधार से अलग करके नहीं देखते, इसलिए वे तुलसी के विविध भावों की व्यंजना के निरूपण के समय उनमें निहित मानव-जीवन का चित्रण तथा उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करते चलते हैं तथा साथ ही यह भी बताते चलते हैं कि वे भाव किन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न हुए तथा सामाजिक जीवन पर उनका क्या प्रभाव पड़ा। शुक्ल जी अपने स्वाभाविक गाम्भीर्य तथा औदात्य के कारण तुलसी-साहित्य के मार्मिक प्रसंगों में रम से गये हैं। इन स्थलों पर उनकी समीक्षा में प्रभाववादी समीक्षा का पुट मिलता है।

१—गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य शुक्ल, पृ० ७६।

'शील निरूपण और चरित्र-चित्रण' प्रकरण में आदर्श और सामान्य वर्गगत तथा वैयक्तिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में निहित तुलसीदास की मनोवैज्ञानिक शील-निरूपण की कला का स्पष्टीकरण किया गया है। शुक्ल जी ने पात्रों का शील-निरूपण उनके मनोविकारों की जीवन-व्यापी व्यंजना के साथ किया है। वे शील-दशा को भाव की एक दशा विशेष कहकर और-भाव-दशा को चरित्र-चित्रण का आधार मानकर चरित्र-चित्रण को प्रकारान्तर से रस-सीमा के भीतर ले लेते हैं। इनकी दृष्टि में आलम्बन का स्वरूप संघटित करने में उपादान रूप होकर शील-दशा रसोत्पत्ति में पूरा योग देती है।

शुक्ल जी ने 'वाह्य-दृश्य-चित्रण' में तुलसी के संश्लिष्ट प्रकृति चित्रण, सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण तथा उनकी दृश्य-वर्णन-शक्ति की प्रशंसा की हैं; किन्तु उनके प्रकृति-चित्रण की प्रणाली से उन्हें सर्वत्र संतोष नहीं है। क्योंकि उनकी दृष्टि में तुलसी ने मानस में प्रकृति-चित्रण के बहुत से अवसरों का ठीक उपयोग नहीं किया है, जैसे 'ऋष्यमूक पर्वत नियराई' में 'आगे चले बहुरि रघुराई' वाली पक्ति शुक्ल जी को विशेष नीरस लगती है। समूचे प्रबंध की सरसता के ही कारण उन्होंने ऐसी नीरसता को क्षम्य समझा है। शुक्ल जी ने अलंकारों के विधान में अपने पूर्ववर्ती समीक्षकों के समान अलंकारों के नाम न गिनाकर उन्हें वस्तु, भाव तथा विचार के उत्कर्ष बढ़ाने एवं वस्तु, गुण तथा क्रिया के तीव्र अनुभव कराने के रूप में विवेचित किया है। 'उक्ति-वैचित्र्य' नामक प्रकरण में यह दिखाया गया हैं कि उक्ति-वैचित्र्य सम्बन्धी उक्तियां तुलसी-साहित्य में भरी पड़ी हैं, किन्तु उनमें बेपर की उड़ान कहीं नहीं हैं। वे सर्वत्र विषय को मार्मिक तथा प्रभावशाली बनाती हैं। 'भाषा पर अधिकार' प्रकरण में उन्होंने भाषा पर तुलसी के असाधारण अधिकार को सिद्ध किया है। उनकी भाषा के गठन में निहित अनेक बोलियों के तत्व के अध्ययनार्थ उन्होंने अनेक मूल्यवान सुझाव दिये हैं। शुक्ल जी गोस्वामी जी से इस कारण विशेष प्रसन्न हैं कि उन्होंने वाक्यों की सफाई और वाक्य-रचना की निर्दोषता का ध्यान रखा है, वाक्यों में शैथिल्य नहीं आने दिया है तथा यत्र तत्र मुहावरों का सुन्दर प्रयोग किया है।

शुक्ल जी ने तुलसी-साहित्य में ऐसे दोष दिखाये हैं जो कलात्मक सौन्दर्य में बाधक हैं। कवि पर धर्मोपदेष्टा और नीतिकार का हावी होना शुक्ल जी को पसंद नहीं है[१]। शुद्ध काव्य की दृष्टि से देखने पर उनके बहुत से प्रसंग और वर्णन उन्हें खटकते हैं, जैसे, पातिव्रत और मित्रधर्म के उपदेश। इस कृति में

१—गोस्वामी तुलसीदास पृ० ७२

'कुछ खटकने वाली बातें' नामक संक्षिप्त परिच्छेद को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि दोष-निरूपण में उनका मन नहीं लगा है। उनका मन तुलसी के समर्थन में ही अधिक रमा है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर यह बात स्वाभाविक प्रतीत होती है क्योंकि तुलसी उनके सर्वाधिक प्रिय कवि थे किन्तु समीक्षा-विज्ञान की दृष्टि से यह एक दोष ही माना जायगा, क्योंकि इससे समीक्षा में निस्संगता का अभाव हो जाता है। तुलसी-साहित्य की जीवन तथा काव्य सम्बन्धी विशेषताओं के निरूपण के पश्चात् अंतिम प्रकरण में शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास का सर्वोच्च स्थान निरूपित किया है। इस प्रकरण में उनकी समीक्षा में निर्णयात्मक समीक्षा-प्रणाली का पुट मिलता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तुलसी शुक्ल जी के आदर्श कवि हैं। वे अपने काव्य तथा जीवन सम्बन्धी विचारों तथा आदर्शों की सर्वाधिक अभिव्यक्ति तुलसी-साहित्य में पाते हैं। इसीलिए इस व्यावहारिक समीक्षा-कृति में कवि के समर्थन की प्रणाली सर्वाधिक मात्रा में दिखाई पड़ती है, और इसी कारण उनकी व्यक्तिगत रुचियां भी इसमें अनेक स्थलों पर उभरी हुई दिखाई पड़ती हैं। तुलसी की समीक्षा में शुक्ल जी की महत्ता इस बात में सर्वाधिक है कि उन्होंने इस व्यावहारिक समीक्षा को लिखते समय काव्य-कला का आधार वास्तविक जीवन को माना; अपने युग की सांस्कृतिक चेतना के अनुरूप साहित्य-मूल्यांकन के सिद्धान्तों को अपनाया; रस, अलंकार आदि को रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों वाले निःशक्त तथा निर्जीव रूपों में न अपना कर उन्हें उच्चतर जीवन-सौन्दर्य के पर्याय रूप में ग्रहण किया; रामचरित मानस को जीवन-गाथा के रूप में देखते हुए उसमें निहित जीवन की वास्तविक दशाओं का मूल्यांकन अपने युग की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार किया; तुलसी की आध्यात्मिक तथा साम्प्रदायिक भूमिकाओं को छोड़कर उनके साहित्य में देश के नये सामाजिक विकास सम्बन्धी तत्वों तथा प्रगतिशील सामयिक आदर्शों को ढूंढ़ने का प्रयत्न किया; तुलसी के प्रेम का लोकवादी स्वरूप पहिचान कर कर्मक्षेत्र से उसका सम्बन्ध बताया और उसे रीतिकालीन कवियों के व्यक्तिवादी प्रेम से भिन्न कहा तथा तुलसी की सर्वाधिक प्रशंसा उन्होंने जनता के गले का कण्ठहार बनने के कारण तथा जन-जीवन पर सर्वाधिक प्रभाव डालने के कारण किया। इस व्यावहारिक समीक्षा-कृति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें आलोचक की भावना की सचाई सर्वाधिक मात्रा में वर्तमान है, इसीलिए इसमें शुक्ल जी की आलोचना के मूल सूत्र, मूल आदर्श तथा मूल प्रेरणायें अभिव्यक्त हुई हैं। इस समीक्षा-कृति में विषय के सर्वांगीण विश्लेषण के साथ साथ साहित्य तथा जीवन सम्बन्धी निष्कर्षों का आनयन युक्तियुक्त ढंग से हुआ है। इसलिए यह

कृति साहित्यानुशीलन की वैज्ञानिक प्रणाली का पथ-प्रदर्शन कर सकती है। शुक्ल जी के पूर्व हिन्दी समीक्षा-में किसी कवि का ऐसा गम्भीर, सर्वाङ्गपूर्ण तथा तार्किक विवेचन नहीं हुआ था। विवेचना की ऐसी विलक्षण शक्ति शुक्ल जी के किसी पूर्ववर्ती समीक्षक में नहीं दिखलाई पड़ती। इस व्यावहारिक समीक्षा-कृति में साहित्यिकता तथा शोधवृत्ति दोनों का समन्वय मिलता है। ये दोनों वृत्तियां शुक्ल जी के किसी पूर्ववर्ती समीक्षक में एकत्र नहीं मिलतीं। शुक्ल जी के पूर्व हिन्दी-समीक्षा लक्षण-ग्रन्थों में गिनाये रसों, अलंकारों, रीतियों, छन्दों, काव्य-रूपों आदि के आधार पर बहुत ही स्थूल तथा बहिरंग कोटि की होती थी। शुक्ल जी ने उसे लक्षणों ग्रन्थों की यन्त्रगतिक परम्परा से बाहर निकाल कर साहित्य समग्रता तथा जीवन-समग्रता की दृष्टि से तुलसी के काव्य-सौन्दर्य का मूल्यांकन करके हिन्दी-समीक्षा को अंतरंग कोटि का बनाने का प्रयत्न किया। हिन्दी-समीक्षा में रचना तथा रचनाकार की मानसिक स्थितियों का निरूपण, उनके लोकवादी स्वरूप का चित्रण, उस देश की तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर उनके गुणों का विश्लेषण, जनता के ऊपर पड़े हुए उनके प्रभावों का आकलन तथा कृतियों में निहित युग-चेतना का संकेत पहली-बार शुक्ल जी की इस समीक्षा के द्वारा हुआ। इसके पूर्व के हिन्दी-समीक्षक बंधे बंधाये पुराने सिद्धान्तों के आधार पर गुण-दोष निरूपण की स्थूल विवरणात्मक शैली अथवा कवियों के श्रेणी-निरूपण की स्थूल निर्णयात्मक शैली अथवा अपनी रुचि के अनुसार किसी कवि को घटकर या बढ़कर सिद्ध करने के लिए तुलना-प्रणाली अथवा अपने ऊपर पड़े हुए किसी कवि के प्रभाव के चित्रण के लिए प्रभावात्मक शैली का प्रयोग अपनी व्यावहारिक समीक्षा में करते थे। शुक्ल जी ने हिन्दी-समीक्षा में पहली बार अपनी प्रथम व्यावहारिक समीक्षा-पुस्तक में सभी समीक्षा-शैलियों का वैज्ञानिक प्रयोग समन्वित ढंग से किया।

जायसी-ग्रन्थावली की, भूमिका

रचनाकाल—सं० १६८१ वि० तदनुसार सन् १६२४ ई०

शुक्ल जी ने पद्मावत, अखरावट और आखिरीकलाम का सम्पादन करते हुए इस विशाल भूमिका को लिखा था। इस भूमिका को लिखने के लिए कतिपय बाह्य एवं प्रासंगिक कारणों—जैसे, नागरी प्रचारिणी सभा की फरमायश[1],

---

१—एक बार शुक्ल जी ने बातचीत के सिलसिले में तुलसी ग्रन्थावली, जायसी ग्रन्थावली, इतिहास आदि को सभा का फर्मायशी काम तथा निबन्धों को अपनी रुचि का स्वतंत्र काम बतलाया था।

विश्व-विद्यालय में अध्यापन की आवश्यकता आदि के होते, हुए भी उनकी मानसिक रुचियों का विशेष भाग है; जैसे, शुक्ल जी का झुकाव काव्य-रूपों में प्रबन्ध काव्य की ओर सर्वाधिक था, इसलिए जायसी के प्रबन्ध काव्य-पद्मावत ने उन्हें लिखने के लिए प्रेरित किया। रहस्यवाद का अपेक्षाकृत स्वस्थ तथा भारतीय रूप उन्हें जायसी में मिला, इसलिए उन्होंने अपनी आलोचना के लिए जायसी को चुना। पद्मावत की कहानी में हिन्दू-आदर्शों की छाप उन्हें मिली। राष्ट्र कल्याण की दृष्टि से शुक्ल जी हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन करते थे। इस एकता की अभिव्यक्ति उन्हें पद्मावत में मिली। शुक्ल जी के सच्चे भक्त को यह जगत प्रिय होता है। रहस्यवादी भक्त एवं कवि होते हुए भी जायसी का दृष्टिकोण इस जीवन को स्वीकार करने का है। शुक्ली जी के अनुसार सूफी मत की भक्ति का स्वरूप प्रायः वही है जो हमारे यहां की भक्ति का था। प्रेम का मर्यादित लोक-पक्ष उन्हें पद्मावत में दिखाई दिया। वे जायसी को इस बात के लिए बधाई देते हैं कि उनकी प्रेम-गाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विछिन्न होने से बच गई है। शुक्लजी सिद्धान्ततः रसवादी थे। पद्मावत में उन्हें भाव-व्यंजना दरबारी कवियों से भिन्न कोटि की जीवन की उपयुक्त परिस्थितियों के बीच तथा मानवजीवन की सामान्य दशाओं के अंतर्गत मिली।

लेखक के ही शब्दों में इस भूमिका उद्देश्य कवि की विशेषताओं का अन्वेषण तथा उसके गुण-दोषों के विवेचन का प्रयत्न है[1]। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जायसी की काव्य-रचना में प्रयुक्त भिन्न भिन्न तत्वों, सिद्धान्तों तथा काव्य-विभूतियों का उद्घाटन बड़ी सहृदयता के साथ किया गया है तथा तत्संबंधी सभी प्रकरणों में इनके दोषों का उल्लेख काव्य-मर्मज्ञता के साथ किया गया है। भूमिका के प्रथम दो पृष्ठों में तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों का सूत्रवत् निरूपण करके कवि पर उनका प्रभाव दिखाया गया है तथा साथ ही कवि के साहित्य का प्रभाव सामाजिक जीवन पर बताया गया है। इस स्थल पर उनकी समीक्षा-शैली में ऐतिहासिक समीक्षा-शैली का पुट दिखाई पड़ता है। प्रेमगाथा की परम्परा में प्रेममार्गी कवियों की साहित्यिक परम्परा तथा उनकी प्रमुख साहित्यिक विशेषताओं का सूत्रवत् उल्लेख करके जायसी की मुख्य विशेषताओं का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकरण में शुक्ल जी की मानवतावादी समीक्षा का पुट उस स्थल पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है जहां वे कुतबन, जायसी आदि प्रेममार्गी कवियों की प्रशंसा इसलिए करते हैं कि उन लोगों ने मुसलमान होते हुए भी अपनी प्रेम-गाथाओं द्वारा अपने मनुष्य होने का

१-जायसी-ग्रन्थावली का वक्तव्य: आचार्य शुक्ल, प्रथम संस्करण पृ० ७

परिच्चय दिया[1]। शुक्ल जी का मत है कि इसी मनुष्यत्व को ऊपर करने से हिन्दूपन, मुसलमानपन, ईसाईपन आदि के उस स्वरूप का प्रतिरोध होता है जो विरोध की ओर ले जाता है। 'जायसी का जीवन-वृत्त' प्रकरण में अंतर्साक्ष्य तथा वहिर्साक्ष्य के आधार पर संक्षेप में जायसी का जीवन दिया गया है जिसमें चरित-मूलक समीक्षा का स्थान स्थान पर प्रयोग हुआ है और उन स्थलों पर कवि-व्यक्तित्व के निर्माणकारी तत्वों द्वारा उनके काव्य का मूल स्रोत एवं आधार स्पष्ट किया गया है। 'पद्मावत की कथा' नामक प्रकरण में पद्मावत की कथा-वस्तु का स्पष्टीकरण किया गया है। इस स्थल पर आलोचक का उद्देश्य उसे पद्मावत के पाठकों को बोध-गम्य बनाना है। इससे विदित होता है कि शुक्ल जी पाठकों के प्रति अपने दायित्व-सम्पादन में कितने सजग हैं। 'ऐतिहासिक आधार' प्रकरण में पद्मावत की कथा तथा पात्रों का ऐतिहासिक आधार प्रामाणिक ढंग से स्पष्ट किया गया है और स्पष्ट रूप से अलग अलग यह बताया गया है कि कथा कहां तक इतिहास पर आश्रित है, और कहां तक लोक-कथाओं पर, तथा कहां कहां कवि ने अपनी निजी कल्पना का प्रयोग किया है। इस प्रकार इस प्रकरण में कवि की कल्पना के मूल स्रोतों को खोजने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकरण में शुक्ल जी की सूक्ष्म शोध-वृत्ति का परिच्चय हमें मिलता है। पदमावत की प्रेम-पद्धति में भारतीय साहित्य में अंकित दाम्पत्य प्रेम की विविध प्रणालियों को बताकर उसमें जायसी की प्रेम-पद्धति का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रसंग में शुक्ल जी ने बतलाया है कि पद्मावत की प्रेम-पद्धति में भावात्मक एवं व्यावहारात्मक दोनों शैलियों का मेल है पर है वह प्रेम-गाथा ही, पूर्ण जीवन गाथा नहीं। इसमें दाम्पत्य प्रेम की ही प्रधानता है पर वह लोक-पक्ष शून्य नहीं है। क्योकि उसका विकास लोक-जीवन के बीच भी दिखाया गया है बिल्कुल एकान्त में ही नहीं। दाम्पत्य प्रेमके अतिरिक्त इसमें पारिवारिक और सामाजिक जीवन की कई वृत्तियां आई हैं। शुक्ल जी के अनुसार जायसी के प्रेम-वर्णन में मानसिक पक्ष की प्रधानता है, शारीरिक पक्ष गौण है। जायसी के प्रेम-निरूपण में शुक्ल जी ने तुलना-पद्धति का यथोचित उपयोग किया है। उनकी साहित्यिक अनुसंधान की प्रवृत्ति भी इसमें सूक्ष्म रूप में दिखाई पड़ती है। इस प्रकरण में भी वे जायसी का दोष बताना नहीं भूले हैं, जैसे, उनके प्रेम-वर्णन की अस्वाभाविकता जो लौकिक प्रेम और ईश्वर-प्रेम दोनों को एक साथ व्यंजित करने से उत्पन्न हुई है।

१—जायसी-ग्रन्थावली का वक्तव्य पृ० ३

वियोग पक्ष में शुक्ल जी ने विवेचनात्मक समीक्षा-प्रणाली तथा रस-सिद्धान्त का अवलम्बन लेकर जायसी के विरह-वर्णन की विशेषताओं का उद्घाटन किया है। रस-सिद्धान्त के प्रयोग में परम्परागत शास्त्रीय प्रणाली की अपेक्षाकृत मनोवैज्ञानिक प्रणाली का अधिक अवलम्बन लिया गया है और बतलाया गया है कि जायसी का विरह-वर्णन अत्युक्ति पूर्ण होने पर भी गम्भीर तथा संवेदनात्मक है, उसमें विरह के सभी अंगों का वर्णन भावात्मक कोटिका मिलता है। विहारी की तुलना में जायसी के ऊहात्मक विरह वर्णन की प्रशंसा की गई है, अंत में निर्णयात्मक प्रणाली का अवलम्बन लेकर शुक्ल जी ने नागमती के विरह-वर्णन को हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय स्थान दिया है। जायसी के विरह-वर्णन को अद्वितीय मानते हुए भी शुक्ल जी उसका दोष बताना नहीं भूले हैं। इससे यह विदित होता हैं कि जायसी की प्रशंसा के स्थलों में भी उनकी दृष्टि संतुलित है। जायसी के संभोग-शृंगार का विवेचन शुक्ल जी ने भारतीय समीक्षा-दृष्टि से किया है, इसीलिए भारतीय प्रकृति के अनुसार वे जायसी के संयोग-वर्णन की नाना वृत्तियों तथा उनके भावात्मक स्वरूप का विवेचन करते हैं। इस प्रसंग में उन्होंने जायसी के संयोग वर्णन की अश्लीलता का विवेचन भी भारतीय दृष्टि से ही किया है। ईश्वरोन्मुख प्रेम में शुक्ल जी ने बतलाया है कि जायसी का आध्यात्मिक प्रेम भारतीय कोटि का है। क्या संयोग, क्या वियोग दोनों में कवि, प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास देने लगता है जिसकी छाया-सदृश जगत के समस्त व्यापार प्रतीत होते हैं। शुक्ल जी के मतानुसार जायसी का प्रेम अपने परमोत्कर्ष के कारण सदा लौकिक पक्ष से अलौकिक पक्ष की ओर संकेत करता है। जायसी के लौकिक प्रेम के व्यंग्यार्थ के स्पष्टीकरण के लिए शुक्ल जी ने ध्वनि सिद्धान्त का प्रयोग किया है। प्रेम-तत्व में जायसी के प्रेम-स्वरूप का उद्घाटन किया गया है जो शुक्ल जी की दृष्टि में अधिकांश मात्रा में लौकिक है। उनके मत में जायसी वस्तुतः प्रेम और शृंगार के कवि हैं। उनके प्रेम-वर्णन का आधार यहां की जन-संस्कृति है। शुक्ल जी ने तुलना-पद्धति का अवलम्बन लेकर जायसी के प्रेम की तुलना रीतिकालीन कवियों के प्रेम से करते हुए उसे उनकी ऐकान्तिक प्रेम-परम्परा से भिन्न बताया है। शुक्ल जी के अनुसार जायसी ने अलौकिक प्रेम का भी वर्णन किया है लेकिन उनकी महत्ता का कारण प्रेम की लौकिकता है अलौकिकता नहीं।

पद्मावत की समीक्षा में शुक्ल जी की अन्य व्यावहारिक समीक्षा-कृतियों की अपेक्षा पाश्चात्य एवं प्राच्य समीक्षा पद्धतियों का समन्वय अधिक मात्रा में हुआ है। दोनों पद्धतियों के समन्वय में उनका दृष्टिकोण अभिनव परम्परावादी

कोटि का दिखाई पड़ता है। अभिनवपरम्परावादी अंग्रेज-समीक्षक एडिसन ने मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' की आलोचना कथा, चरित्र-चित्रण, भाव तथा भाषा इन चार सिद्धान्तों के आधार पर की है। शुक्ल जी ने भी पद्मावत् की आलोचना के लिए उक्त चारों सिद्धान्तों का प्रयोग प्रबन्ध-कल्पना, सम्बन्ध-निर्वाह, स्वभाव-चित्रण, भाव-व्यंजना, अलंकार, भाषा आदि के विवेचन में किया है। इन सिद्धान्सों के प्रयोग में भारतीय तथा योरोपीय दोनों समीक्षा-पद्धतियों की सामग्री का उपयोग किया गया है। जैसे, कार्य, कार्यान्वय, कल्पना-तत्व एवं कथावस्तु के आदि, मध्य तथा अन्त के विवेचन में पश्चिमी समीक्षा-सामग्री का उपयोग हुआ है कुछ प्रकरणों में दोनों समीक्षा-पद्धतियों का समन्वित प्रयोग हुआ है, जैसे, अलंकार, सम्बन्ध-निर्वाह आदि के विवेचन में। शुक्ल जी ने पद्मावत की कथा-वस्तु के गठन की इसलिए प्रशंसा की है कि उसमें घटनाओं को आदर्श परिणाम पर पहुंचाने का लक्ष्य कवि का नहीं है[1]। उनका तर्क यह है कि यदि कवि का यह लक्ष्य होता तो वह राघव-चेतन का बुरा परिणाम दिखाये बिना ग्रन्थ न समाप्त करता। राघव चेतन का बुरा परिणाम न दिखाकर संसार की गति जैसी दिखाई पड़ती है वैसी ही उन्होंने उसकी रखी है। इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी कथा-वस्तु के कलात्मक निर्वाह को भी यथार्थवाद के आधार पर परखते हैं; उसके सौन्दर्य के लिए स्वाभाविकता को कसौटी मानते हैं। जायसी के वस्तु-वर्णन की परीक्षा शुक्ल जी ने संस्कृत साहित्य तथा भाषा-साहित्य के सिद्धान्तों के आधार पर की है और बतलाया है कि जायसी ने अधिक मात्रा में भाषा-कवियों की पद्धति पर ही वस्तु-वर्णन किया है पर वे वर्णन उपयुक्त घटना-चक्रों के बीच उपयुक्त स्थलों पर ही हुए हैं। इस प्रकार की समीक्षा से यह विदित होता है कि शुक्ल जी हिन्दी-समीक्षा का निर्माण केवल अंग्रेजी अथवा संस्कृत-साहित्य के आधार पर ही नहीं वरन् भाषा-साहित्य के आधार पर भी कर रहे थे। इस प्रकरण में भी जायसी का दोष दिखाना शुक्ल जी नही भूले हैं, जैसे, जायसी में वर्णन की नई पद्धति की उद्भावना-शक्ति नहीं थी। व्यंजनों; पकवानों आदि के वर्णन में नाम परिगणन-शैली का प्रयोग अधिक किया गया है जो जी को ऊबाने वाली हैं। प्राकृतिक दृश्यों के साथ जायसी के हृदय का वैसा मेल नहीं है जैसा संस्कृत-साहित्य के कवियों का था। 'पात्र द्वारा भाव-व्यंजना'-प्रकरण में जायसी के भाव-व्यंजना की परीक्षा शुक्ल जी ने उनके काव्य के भीतर अभिव्यक्त रसों, भावों तथा उनके अंग उपांगों के केवल नामोल्लेख द्वारा न करके भाव-विस्तार; भावोत्कर्ष तथा अंतःप्रकृति-निरीक्षण की सूक्ष्म शक्ति के आधार पर की है। तुलना-पद्धति

१-जायसी ग्रन्थावली की भूमिका: आचार्य शुक्ल—पृ० ६६.

के उपयोग द्वारा इस प्रकरण में भी जायसी के गुणों तथा दोषों दोनों का उल्लेख किया गया है। शुक्ल जी ने जायसी के अंलकारों का विवेचन करके यह बताया है कि उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकार उनकी कविता के भाव-सौन्दर्य-सम्बर्धन, भावोत्तेजन, भाव-पुष्टि, अनुभूति-तीव्रता, भाव अथवा विचार-बोध, कल्पना-विस्तार तथा रसानुकूलता में कहां तक सहायक हैं। इस प्रसंग में शुक्ल जी ने जायसी की कविता में आये हुए अंग्रेजी साहित्य के कतिपय अलकारों के सौन्दर्य को भी दिखाने का प्रयत्न किया है[१]। यहां भारतीय तथा योरोपीय समीक्षा के समन्वय का सुन्दर प्रयत्न दिखाई पड़ता है। शुक्ल जी ने जायसी के स्वभाव चित्रण में व्यक्ति और वर्ग की बात उठाकर उसी यथार्थ की मांग की है जिसे अनेक दूसरे आलोचक व्यक्ति (इंडिविजुअल) और वर्ग (टाइप) की एकता कहते हैं। शुक्ल जी ने पद्‌मावत के पात्रों के विवेचन में इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काम लिया है। जायसी द्वारा रतनसेन के चरित्र-चित्रण का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उसके जातिगत स्वभाव और प्रेमी के व्यापक रूप दोनों की छान-बीन की है। उसे एक आदर्श प्रेमी और राजपूत योद्धा के रूप में देखा है। इसी तरह पद्मावती के चरित्रांकण में उसकी व्यक्तिगत दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता तथा उसके स्त्री-सुलभ प्रेमगर्व और सपत्नी के प्रति ईर्ष्या का उल्लेख किया गया है। 'मत और सिद्धान्त' प्रकरण में आरम्भ में रचनाकार की मानसिक वृत्ति का निरूपण किया गया है, तदनन्तर सूफी मत का ऐतिहासिक विकास देकर जायसी के सूफी मत का विवेचन किया गया है। स्पष्टता के लिए यत्र तत्र तुलना-पद्धति का भी अवलम्बन लिया गया है। अन्त में उनके अन्य मतों; जैसे, सृष्टि-विकास, सामाजिक विचार आदि का विवेचन किया गया है। शुक्ल जी ने जायसी के काव्य-सौन्दर्य को उद्‌घाटित करने के साथ-साथ उनके भूगोल, ज्योतिष, इतिहास तथा उनकी अन्य जानकारियों का विवेचन करके समीक्षा के व्यापक स्वरूप 'अन्तर्भाष्यं समीक्षा अवान्तरार्थ विच्छेदश्चसा' को हिन्दी में प्रथम बार अवतरित किया।

'जायसी का रहस्यवाद' प्रकरण में शुक्ल जी के गहन दार्शनिक अध्ययन, गम्भीर बौद्धिक चिन्तन तथा बहुत ही व्यापक तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति के प्रयोग का प्रमाण मिलता है जहां वे रहस्यवाद की परिभाषा, स्वरूप तथा भेद बताकर एशिया तथा योरोप के विभिन्न दर्शनों में रहस्यवाद का स्वरूप, प्रकार तथा श्रेणियां तुलनात्मक ढंग से बताते हुए अन्त में जायसी के रहस्यवाद की विशेष-

---

१—जायसी ग्रन्थावली की भूमिका पृ० ११५. ११६.

२—काव्य-मीमांसा, राजशेखर—द्वितीयोऽध्यायः पृ० २० मधुसूदनी-विवृति सहित.

तायें निरूपित करते है तथा हिन्दी एवं अंग्रेजी के रहस्यवादी कवियों के रहस्य-वाद की तुलना करते हुए यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जायसी का रहस्यवाद बहुत ही स्वाभाविक ढंग का है और वह भारतीय रहस्यवाद के निकट है। उनकी दृष्टि में हिन्दी कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर रहस्यवाद है तो जायसी में जिनकी भावुकता बहुत ही उच्च कोटि की थी। इस प्रकार की सम्मतियों में शुक्ल जी की समीक्षा में निर्णयात्मक समीक्षा का पुट दिखाई पड़ता है। शुक्ल जी ने जायसी की भाषा का विवेचन भाषा शास्त्री तथा समीक्षक दोनों के समान किया है। यदि जायसी की अवधी की विशेषताओं के विवेचन में उनका भाषाशास्त्री रूप दिखाई पड़ता है तो उनकी भाषा के कलात्मक तत्वो के उद्घाटन में उनका समीक्षक-स्वरूप। इनका मत है कि भाषा-सौन्दर्य की विविधता में जायसी तुलसी से पीछे हैं किन्तु फुटकरिये कवियों की भाषा से उनकी भाषा अधिक स्वच्छ और व्यवस्थित है। विशुद्ध अवधी का जैसा मिठास पद्मावत में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकरण में भी वे जायसी की भाषा सम्बन्धी त्रुटियों को बतलाना नहीं भूले हैं। संक्षिप्त समीक्षा प्रकरण में सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर जायसी के गुणों तथा दोषों का सूत्र रूप में उल्लेख किया गया है। सबसे अंत में निर्दिष्ट विवेचन के पश्चात् हिन्दी साहित्य में जायसी तथा उनके पद्मावत का स्थान निरूपित किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से शुक्ल जी की समीक्षा के विषय में निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं :—

जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में शुक्ल जी की समीक्षा मूलतः रसवादी कोटि की है। शुक्ल जी ने जायसी में जिन गुणों तथा दोषों का निरूपण किया है, वे प्रायः रस पद्धति के गुण तथा दोष हैं—जैसे, गुणों में—मर्मस्पर्शी भावव्यंजना, प्रेम की अत्यन्त व्यापक और गूढ़ भावना का वर्णन, विशुद्ध प्रेम मार्ग का विस्तृत प्रत्यक्षीकरण, मनुष्य की सामान्य जीवन-दशाओं का चित्रण, हिन्दू और मुसलमान दोनों के प्रत्यक्ष जीवन की एकता से सम्बन्ध रखने वाले दृश्यों का निरूपण; जैसे, दोषों में—स्वशब्दवाच्यत्व दोष, अनुचितार्थत्व, अरोचक प्रसंगों का समावेश, पदमावती के समागम की कुछ पंक्तियों का अश्लील होना, पदमावती और रतनसेन का नीरस वार्तालाप, कोरा चमत्कार तथा सुकुमारता दिखाने के लिए अस्वाभाविक अत्युक्तियां। इस समीक्षा-कृति में शुक्ल जी ने रस की सीमा के भीतर ऐतिहासिक प्रवृत्ति, युग-चेतना, सांस्कृतिक तत्व, शील-दशा, तथा दार्शनिक तथ्य को सन्निहित कर रस की वस्तु-भूमि

को विस्तृत करने का प्रयत्न किया है। इस भूमिका में शुक्ल जी ने संस्कृत तथा भाषा-साहित्य के सिद्धान्तों की ही नहीं वरन् अंग्रेजी, ग्रीक तथा फारसी साहित्य के सिद्धान्तों को जायसी-साहित्य की समीक्षा में प्रयुक्त करके; फारसी, अंग्रेजी, अरबी, उर्दू, संस्कृत तथा हिन्दी कवियों से जायसी की तुलना करके तथा एशिया एवं योरोप के विभिन्न दार्शनिक मतों से जायसी के दर्शन एवं मत की तुलना करके हिन्दी-साहित्य को विश्व-साहित्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। इस भूमिका में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक पक्षों का अपूर्व संगम उपस्थित हुआ है। इसके पूर्व साहित्य तथा जीवन के इतने अधिक पक्षों का विवेचन हिन्दी के किसी समीक्षक ने नहीं किया था। इस भूमिका के प्रत्येक प्रकरण में जायसी के विविध गुणों के उद्घाटन के साथ उनके दोषों का भी उल्लेख हुआ है। इससे शुक्ल जी की यह समीक्षा-कृति, उनकी पूर्व कृतियों से भी अधिक संतुलित ढंग की हुई है। इस समीक्षा कृति में तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का जैसा व्यापक रूप दिखाई पड़ता है वैसा शुक्ल जी के किसी पूर्ववर्ती या परवर्ती समीक्षक की कृति में नहीं दिखाई पड़ता। कहीं अंग्रेजी कवि और दार्शनिक, कहीं यूनानी आलोचक और विचारक, कहीं संस्कृत-कवि तथा-दार्शनिक, कहीं हिन्दी-कवि तथा विचारक, कहीं जर्मन-दार्शनिक आदि के विचारों से जायसी की तुलना की गई है। इस तुलना-पद्धति का प्रयोग शुक्ल जी ने प्रत्येक प्रकरण में किया है। इस भूमिका से शुक्ल जी के संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य-शास्त्र, एशिया तथा योरोप के प्रसिद्ध दार्शनिक मतों तथा अंग्रेजी, फारसी, उर्दू एवं भाषा-साहित्य के पाचनशील अध्ययन का सम्यक् रूप से परिचय मिलता है। उनके विचारों, निष्कर्षों तथा मतों से उनके गंभीर आत्मविश्वास, सिद्धान्त-निष्ठा; शोधवृत्ति, उदार दृष्टिकोण का प्रमाण मिलता है। उनकी ऐसी आलोचनाओं को पढ़ने से मस्तिष्क ही सक्रिय नहीं होता वरन् हृदय भी विस्तृत होता है। शुक्ल जी ने हिन्दू-मुसलिम एकता में योग देने वाले, मनुष्य मनुष्य को एक सिद्ध करने वाले जायसी आदि प्रेम-मार्गी कवियों की प्रशंसा की है; इससे यह विदित होता है कि शुक्ल जी अपने समय के कितने उदार, प्रगतिशील राष्ट्रीय विचारक थे। रांगेय राघव आदि आलोचक शुक्ल जी को 'ब्राह्मणवादी' कहते हैं;[1] उनके इस विचार के खण्डन के लिए एक ही भूमिका पर्याप्त है जिसमें उन्होंने जायसी को व्यापक मानवता का कवि कहा है; उनकी हिन्दू-मुसलिम एकता को बढ़ाने वाली राष्ट्रीय भावना की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। इस भूमिका से विदित होता है कि शुक्ल जी का दृष्टिकोण एक

१—'आलोचन', इतिहास विशेषाङ्क १६५२ पृ० २०९.

बुद्धिवादी विचारक का है। वे रहस्यवादियों के लम्बे चौड़े दावों पर विश्वास नहीं करते जहां वे लौकिक ज्ञान को क्षुद्र बताकर अपने को पहुंचा हुआ घोषित करते हैं। शुक्ल जी बुद्धि की पहुंच से परे उस परोक्ष प्रेम और ज्ञान के साक्षात्कार पर विश्वास नहीं करते।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त इस समीक्षा-कृति में दो एक खटकने वाली बातें भी पाई जाती हैं:—जैसे, कई प्रकरणों का अनुक्रम उपयुक्त कोटि का नहीं है। जायसी का जीवन-वृत प्रकरण सबसे आरम्भ में होना चाहिए। इसके पश्चात् प्रेम-गाथा की परम्परा नामक प्रकरण आना चाहिए था। 'प्रेम गाथा की परम्परा,' 'पद्मावत की प्रेम पद्धति' तथा' 'प्रेमतत्व' की सामग्री यदि एक ही प्रकरण में रखी जाती तो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता। 'अलंकार-प्रकरण' को 'जायसी की भाषा' नामक प्रकरण के आस पास रखना चाहिए था। स्वभाव-चित्रण के पूर्व उसका स्थान कुछ ठीक नहीं प्रतीत होता। इस समीक्षा-कृति में भी शुक्ल जी की रुचियां यत्र तत्र उभरी हुई प्रतीत होती हैं; जैसे, प्रबन्ध काव्य के प्रति विशेष आसक्ति; जायसी को लोक-सम्मत आदर्श का अनुयायी तथा कबीर को व्यक्ति पक्ष ही तक दृष्टि रखने वाला साधक कहना[1]। जायसी की तुलना में कबीर को केवल व्यक्ति-बद्ध दृष्टि ही तक सीमित रहने वाला साधक कहना निश्चय ही उनकी वैयक्तिक रुचि तथा मत का द्योतक है। 'संक्षिप्त समीक्षा' प्रकरण को अन्त में रखने से समीक्षा में पुनरुक्ति दोष आ गया है।

जायसी की समीक्षा में शुक्ल जी की महत्ता इस बात में सर्वाधिक है कि उन्होंने जनपदीय भाषा में रचना करने वाले कवि जायसी को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सम्मिलित कर उसके क्षितिज को व्यापक किया। दूसरे उनकी उत्थान मूलक लोकादर्शवादी राष्ट्रीय विचार धारा ने उनकी समीक्षा का साथ इस कृति में भी नहीं छोड़ा। समीक्षा विषयक सबसे महत्वपूर्ण बात उन्होंने इस समीक्षा कृतिमें यह बतलाई कि समीक्षा का निर्माण संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य-शास्त्र के आधार पर ही नहीं वरन् भाषा-साहित्य में पाये जाने वाले समीक्षा-सिद्धान्तों के आधार पर भी होना चाहिए। इस धारणा से शुक्लजी ने आलोचना की परिधि को अपने पूर्ववर्ती समीक्षकों से बहुत ही विस्तृत कर दिया जो हिन्दी समीक्षा का भवन संस्कृत या अंग्रेजी अथवा दोनों की समन्वित पृष्ठभूमि पर ही निर्मित करना चाहते थे।

———

१—जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका: आचार्य शुक्ल—पृ० ८४

—सूरदास—

सम्पादक—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

प्रकाशनकाल—:वसन्त पंचमी २००० वि० तदनुसार १९४३ ई०.

यह पुस्तक पहले 'भ्रमर-गीत सार' की भूमिका-रूप में सं० १९८२ वि० तदनुसार १९२५ ई० में लिखी गई थी। यही भूमिका सर्व प्रथम ज्यों की त्यों निबन्ध-रूप में 'महाकवि सूरदास' के नाम से नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सप्तम् भाग में प्रकाशित हुई थी। भूमिका के अन्त में शुक्ल जी ने स्पष्ट लिखा है कि यहां सूर के सम्बन्ध में कुछ विचार संक्षेप में प्रकट किये गये हैं। आशा है विस्तृत आलोचना का अवसर कभी मिलेगा[1]। इस विस्तृत आलोचना के लिखने में शुक्ल जी ने हाथ भी लगा दिया था। 'भक्ति का विकास' और 'श्री वल्लभाचार्य' शीर्षक दो अध्याय लिख भी डाले थे[2]। पर क्रूर काल के आक्रमण के कारण वे सूर की वृहत् समीक्षा को पूर्ण करने में समर्थन न हो सके।

'सूरदास जी का जीवनवृत्त' नामक प्रकरण की सामग्री तथा वल्लभाचार्य जी के सम्बन्ध की कुछ और बातें 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के प्रवर्धित संस्करण से लेकर प्रस्तुत की गई हैं[3]। 'काव्य में लोक-मंगल' निबन्ध जो इसका अंग रूप था पर अस्थानस्थ हो जाने के कारण सूरदास के प्रथम संस्करण में जुड़ने से रह गया था, वह इस पुस्तक के दूसरे संस्करण में जोड़ दिया गया है[4]। सूरदास की काव्यसमीक्षा सम्बन्धी सामग्री इसमें वही है जो पहले नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में निबन्ध-रूप में तथा बाद में 'भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका के रूप में मुद्रित हुई थी।

परिशिष्ट की सामग्री सूरदास पर वृहत् रूप में शुक्ल जी द्वारा लिखी जाने वाली पुस्तक की योजना का कच्चा रूप है।

'भक्ति का विकास' प्रकरण में शुक्ल जी ने भारतीय भक्ति मार्ग का ऐतिहासिक विकास तथा स्वरूप दिखाते हुए प्राचीन धर्म और दर्शन का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण उपस्थित किया है। प्रसंगानुसार तुलनात्मक पद्धति का अवलम्बन लेकर पश्चिम के रहस्यवादी भक्ति-मार्ग से भारतीय भक्ति-मार्ग का पार्थक्य स्पष्ट किया गया है। शुक्लजी ने इस प्रकरण में धर्म, ईश्वर तथा भक्ति

१—भ्रमर-गीत-सार-की भूमिका पृ० ७६.

२—सूरदास वक्तव्य, प्रथम संस्करण पृ० ४.

३— वही पृ० ४.

४—सूरदास: वक्तव्य, द्वितीय संस्करण पृ० १.

सम्बन्धी धारणाओं को समझाने के लिए वैज्ञानिक विकासवादी पद्धति को अपनाकर उन्हें विकासमान धारणा के रूप में सिद्ध किया है और भारतीय जीवन में उन धारणाओं का ऐतिहासिक विकास दिखाया है। इस स्थल पर उनकी धर्म, ईश्वर तथा भक्ति सम्बन्धी निजी धारणायें मिलती है, जो उनके प्रमुख जीवन सिद्धान्त लोक-धर्म के अनुकूल हैं। यद्यपि यह निबन्ध उनकी सूर सम्बन्धी आलोचना के साथ छपा है फिर भी तुलसी, कबीर आदि अन्य भक्ति-मार्गी कवियों के अध्ययन के लिए वह समान रूप से उपयोगी है। इस प्रकरण में शुक्ल जी की वैज्ञानिक दार्शनिक शोध-वृत्ति, गहन दार्शनिक अध्ययन तथा चिन्तन; उनकी समीक्षा में प्रयुक्त तुलनात्मक एवं विवेचनात्मक प्रणाली का सम्यक् परिचय मिलता है तथा साथ ही भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के प्रति उनकी सच्ची आस्था का ज्ञान होता है। इस निबन्ध में आदि से अन्त तक उनका दृष्टिकोण--सदैव एक बुद्धिवादी समाज-शास्त्री का है न कि एक रहस्यवादी और कल्पनावादी दार्शनिक का।

श्री वल्लभाचार्य प्रकरण में वल्लभाचार्य का जीवन-वृत्त तथा उनके दार्शनिक सिद्धान्तो का संक्षिप्त परिचय दिया गया है और बताया गया है कि उक्त आचार्य का सामान्य प्रयत्न शंकराचार्य के मायावाद अर्थात् जगत के मिथ्यात्व का प्रतिषेध था जिसके भीतर उपासना अविद्या या भ्रान्ति घोषित की गई थी। इन दो निबन्धों द्वारा शुक्ल जी ने सूरदास के काव्य की दार्शनिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का निरूपण किया है।

तृतीय प्रकरण में अन्तर्साक्ष्य तथा वहिर्साक्ष्य के आधार पर सूरदास जी का जीवन-वृत्त तथा उनकी कृतियों का रचना-काल दिया गया है। इसके पश्चात् सूरदास जी के जीवन-वृत्त सम्बन्धी कतिपय ऐतिहासिक मतों का तार्किक खण्डन किया गया है। तदनंतर उनकी काव्य-परम्परा तथा भक्ति-परम्परा का संक्षेप में उल्लेख करके उनके काव्य का मूल स्रोत दिया गया है। अन्त में तुलनात्मक तथा निर्णयात्मक पद्धति का अवलम्बन लेकर कृष्णोपासक कवियों में उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ तथा हिन्दी-साहित्य में तुलसी के पश्चात् द्वितीय निरूपित किया गया है।

'काव्य में लोक-मंगल' निबन्ध में काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था तथा सिद्धावस्था का निरूपण किया गया है। इसमें सर्व प्रथम यह बताया गया है कि काव्य ब्रह्म के आनन्द-स्वरूप को लेकर चलता है। उसमें आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थायें होती हैं—साधनावस्था तथा सिद्धावस्था[१]। साधना-

---

१—सूरदासः-आचार्य शुक्ल—पृ० १३३.

वस्था का सम्बन्ध जीवन के प्रयत्न पक्ष से होता है तथा सिद्धावस्था का सम्बन्ध उपभोग पक्ष से। इस दृष्टि से शुक्ल जी ने काव्य का वर्गीकरण दो श्रेणियों में किया है।

१–आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य।

२–आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य[1]।

आनन्द की साधनावस्था वाले काव्यों को शुक्ल जी ने शक्ति काव्य कहा है। उनके अनुसार प्रबन्ध काव्य इसी के अन्तर्गत आते हैं। तदनन्तर उन्होंने आनन्द की साधनावस्था तथा सिद्धावस्था के अन्तर्गत आने वाले काव्यों की सूची गिनाई है[2]। इसके पश्चात् इनकी विशेषताओं का निरूपण करते हुए उन्होंने यह बताया है कि सौन्दर्य या मंगल का पूर्ण विकास साधनावस्था वाले काव्यों में ही होता है[3]। इन काव्यों का बीज भाव करुणा रहता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के काव्यों मे जीवन के अन्य भाव गौण रुप में आते हैं। इसी प्रकार सिद्धावस्था के अन्तर्गत आने वाले काव्यों का बीज भाव, गौण भाव, उनकी विभावादिक योजना-पद्धति, उनकी अभिव्यक्ति का ढंग, जीवन पर उनके प्रभाव आदि का विवेचन किया गया है। इस प्रकार इस निबन्ध द्वारा शुक्लजी ने सूरदास के काव्य-विवेचन के लिए साहित्यिक पृष्ठभूमि निर्मित की है।

'आलोचना' प्रकरण के आरम्भ में शुक्ल जी ने सूरदास जी के युग की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का सूत्रात्मक ढंग से उल्लेख करके उनका प्रभाव तत्कालीन हिन्दी काव्य अर्थात् भक्ति-काव्य पर बताया है। इस स्थल पर ऐतिहासिक समीक्षा का तत्व शुक्ल जी की समीक्षा में मिलता है। इसके पश्चात् सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों के गीतों की परम्परा स्पष्ट करते हुए उनका मूल लोक-गीतों में दिखाने का प्रयत्न किया गया है। तदनन्तर कृष्णोपासक कवियों की भक्ति का स्वरूप संक्षेप में बताकर उसका प्रभाव तत्कालीन जन-जीवन पर बताया गया हैं। इसके पश्चात् शुक्ल जी सूर के काव्य-पक्ष की विशेषताओं का उद्घाटन करते हैं। इसके लिए उन्होंने पहले सामान्य रूपसे सूर की रचना की समीक्षा विभाव तथा भाव दृष्टि से करके कवि की उन विशेषताओं का निरूपण किया है जिनके कारण उनका स्थान हिन्दी साहित्य में इतना ऊँचा है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि आलोचक ने तुलना-पद्धति का अवलम्बन लेते हुए बतलाया है कि सूर की वृत्ति तुलसी के समान लोक-धर्म के प्रसंगों के

१—सूरदास, आचार्य शुक्ल, पृ० १३५
२— वही पृ० १३६
३— वही पृ० १४२

वर्णन में लीन नहीं हुई है। उनमें वर्ण्य की परिमिति है। उनकी रचना जीवन की अनेक रूपता की ओर नहीं गई है। उनका प्रेम-पक्ष ऐकान्तिक है। शक्ति, शील और सौन्दर्य, भगवान की इन तीन विभूतियों में से सूर ने केवल सौन्दर्य तक ही अपने को सीमित रखा है। इस प्रकार इस अवसर पर शुक्ल जी ने सूर का क्षेत्र तुलसी की तुलना में सीमित कोटि का सिद्ध किया है, किन्तु उनका क्षेत्र सीमित दिखलाकर उनकी हीनता नहीं बतलाई है वरन् सच्चे सहृदय समालोचक की भाँति उनकी परिमिति के कारण बतलाये हैं। जैसे, सूर के गीत-काव्य का स्वरूप प्रबन्ध की तुलना में सीमित होना; गीत काव्य का माधुर्य-प्रधान होना तथा उस भावना के अनुकूल कवि द्वारा जीवन की बालवृत्ति एवं यौवन-वृत्ति का ही चुना जाना। उस परिमित क्षेत्र के भीतर शुक्ल जी की दृष्टि में उनकी पहुँच हिन्दी के अन्य कवियों की अपेक्षाकृत अधिक है। उन्होंने उदाहरण द्वारा यह विवेचन करते हुए सिद्ध किया है कि वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया उतना और किसी कवि ने नहीं। शृङ्गार के संयोग और वियोग का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं मिलता; प्रेम नाम की मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत और पूर्ण परिज्ञान सूर को था वैसा और किसी कवि को नहीं। वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब उसके भीतर मौजूद हैं। इन्हीं उपर्युक्त विशेषताओं के कारण शुक्ल जी हिन्दी साहित्य में सूर का द्वितीय स्थान निरूपित करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे तुलसी को अपना सर्वप्रिय तथा आदर्श कवि मानते हुए भी न तो उनके अन्ध भक्त बने और न सूर के मूल्यांकन में अनुदार हुए। यह दूसरी बात है कि सूर-साहित्य की सम्पूर्ण विशेषताओं का सूक्ष्म विवेचन वे भूमिका की आलोचना में नहीं कर सके। इसका मुख्य कारण यह है कि इस आलोचना को लिखते समय उनकी दृष्टि भ्रमर-गीत-सार की काव्य सम्बन्धी विशेषताओं की ओर ही अधिक केन्द्रित थी।

शुक्ल जी सूरदास को मुख्यतः शृङ्गार और वात्सल्य का कवि मानते हैं, इसलिए भाव तथा विभाव के विवेचन में उक्त दोनों रसों की ही सामग्री का विवेचन करते हैं। अन्य रसों में से केवल भयानक रस का उदाहरण देकर वे सन्तोष कर लेते हैं तथा शेष रसों के विवेचन को छोड़ देते हैं। सूर के मार्मिक स्थलों के विवेचन के अवसर पर भी शुक्ल जी केवल शृङ्गार तथा वात्सल्य के ही मार्मिक स्थलों का सोदाहरण विवेचन करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस आलोचना में शुक्ल जी की दृष्टि सूर की प्रमुख काव्य-विशेषताओं के उद्घाटन की ओर ही है।

शुक्ल जी विभाव और भाव-पक्ष की परस्परानुकूलता कवि-कर्म के साफल्य की कसौटी मानते हैं। इस दृष्टि से उन्हें सूर में विभाव-पक्ष का वर्णन भाव-पक्ष के अनुकूल दिखाई पड़ता है। इस अवसर पर शुक्ल जी ने सूर के विभाव-पक्ष का दोष बड़ी ही सहृदयता से निरूपित किया है। जैसे, उन्होंने विभाव-पक्ष के विवेचन के अवसर पर यह स्पष्ट बताया है कि वर्ण्य की परिमिति के कारण वस्तु-विन्यास का जो संकोच सूर की रचना में दिखाई पड़ता है उसकी बहुत कुछ कसर अलंकार-रूप में लाए हुए पदार्थों के प्राचुर्य द्वारा पूरी हो गई है।

सूर के प्रेम का विश्लेषण करते हुए शुक्ल जी ने उसमें रूप-लिप्सा और साहचर्य दोनों का योग बतलाया है। जो बचपन के साथी हैं वे आगे चलकर प्राय: यौवन के भी सच्चे साथी बन जाते हैं। इसलिए शुक्ल जी गोपियों के साहचर्य-जन्य सहज, क्रमिक तथा निश्छल प्रेम पर मुग्ध हैं। शक्ति, शील तथा सौन्दर्य को आलोचना का मानदण्ड मानने वाला आलोचक यहां केवल सौन्दर्य पक्ष पर मुग्ध है। कृष्ण की बाल-लीलाओं से लेकर वर्धमान आयुके साथ विकसित प्रेम में उसे ऐसी स्वाभाविकता, कोमलता तथा सुन्दरता दीख पड़ी कि वह प्रशंसा किये बिना नहीं रह सका। इसलिए उसने भ्रमरगीत-सार के भाव को मनोयोग पूर्वक स्पष्ट किया है। इससे यह विदित होता है कि शुक्ल जी की इस समीक्षा में सहृदयता का सिद्धान्त वर्तमान है।

शुक्ल जी ने सूर-साहित्य की भाव-पक्ष सम्बन्धी विशेषताओं के निरूपण के पश्चात् उनके काव्य के कला-पक्ष सम्बन्धी विभिन्न तत्वों—शैली, नाद-सौन्दर्य, छन्द, अलंकार, भाषा, वाग्वैदग्ध आदि की विशेषताओं का उद्‌घाटन करते हुए उनकी काव्य-निपुणता की प्रशंसा की है और यह बतलाया है कि सूर में तुलसी तथा बिहारी के समान हृदय तथा कला पक्ष सम है। बीच बीच में प्रसंगानुसार जायसी, कबीर, तुलसी, केशव, विद्यापति आदि से सूर की तुलना करके आलोचक ने सूर की काव्य सम्बन्धी विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

सूरदास की भाव तथा कला सम्बन्धी विशेषताओं तथा उनके दोषों के निरूपण के पश्चात् शुक्ल जी ने उनकी सम्पूर्ण रचना के प्रति अपना मत स्थिर किया है और कवि के प्रमुख गुण-दोषों का सूत्रवत् उल्लेख किया है। तदनन्तर तुलनात्मक समीक्षा-प्रणाली का अवलम्बन लेकर सूर और तुलसी के रचना-सौन्दर्य का अन्तर स्पष्ट किया गया है। इस प्रसंग में शुक्ल जी ने दोनों कवियों की उपासना-पद्धतियों का अन्तर स्पष्ट करते हुए उनके अन्तर का प्रभाव भी उनकी रचनाओं पर दिखलाने का प्रयत्न किया है। शुक्ल जी ने जीवन के

अनेकरूपता और अनेक जीवन-दशाओं को चित्रित करने के कारण तथा लोक-धर्म एवं प्रबन्ध काव्य के स्वरूप को अपनाने के कारण तुलसी को सूर से श्रेष्ठ कवि सिद्ध किया है।

सूर की काव्य सम्बन्धी विशेषताओं पर स्थूल दृष्टि से विचार करने के पश्चात् शुक्ल जी ने भ्रमरगीत-सार के भाव तथा कला-पक्ष सम्बन्धी विशेषताओं का निरूपण संक्षेप में किया है। परिशिष्ट से शुक्ल जी की सूरदास की आलोचना सम्बन्धी पूरी विचार-सरणि का ज्ञान होता है।

उपर्युक्त विवेचन से शुक्ल जी की समीक्षा के विषय में निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं:—

इस कृति के विवेचन में भी रस-सिद्धान्त का ही व्यापक रूप ग्रहण किया गया है। शुक्ल जी ने सूर-काव्य के जिन-गुणों तथा दोषों का निरूपण किया है उनका सम्बन्ध प्राय: रस-सिद्धान्त से है; जैसे, गुणों में—सूर की कृतियों में विभाव एवं भाव का सामंजस्य है; भाव-प्रेरित कल्पना का आधिक्य है; भाव-प्रेरित वक्रता द्वारा प्रेम-प्रसूत न जाने कितनी अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन है; कवि श्रृंगार एवं वात्सल्य का कोना-कोना झांक आया है; कवि द्वारा वर्णित गोपियों का प्रेम स्वाभाविक तथा निश्छल है। जैसे, दोषों में—सूर में जीवन की अनेक-रूपता का अभाव है; उनका प्रेम ऐकान्तिक कोटि का है; लोकधर्म सम्बन्धी प्रसंगों के वर्णन में उनका मन नहीं रमा है। रस के अंग सिद्धान्तों—अलंकार, वक्रोक्ति तथा ध्वनि की दृष्टि से भी इस कृति में सूर-साहित्य के गुण-दोष का यत्र तत्र विवेचन किया गया है। अन्य व्यावहारिक समीक्षा-कृतियों के समान इसमें भी आलोचक की दृष्टि कवि के गुण-दोष दोनों पक्षों के निरूपण की ओर है; प्राय: सभी समीक्षा-शैलियों का समन्वय है; आलोचक की भावना में सचाई वर्तमान है; कवि की जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी विशेषताओं को सहृदयता से देखने का प्रयत्न किया गया है; साहित्य तथा जीवन विषयक निष्कर्षों का आनयन युक्तियुक्त ढंग से है। अन्य कृतियों के समान इस कृति को भी आलो-चक ने देश की तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि में रख कर उसके गुण-दोषों को संक्षेप में निरूपित करने का प्रयत्न किया है, जनता के ऊपर पड़े हुए उसके प्रभाव को संक्षेप में आकलन करने का प्रयास किया है।

इस व्यावहारिक समीक्षा-कृति की सर्वाधिक महत्ता सूर-साहित्य की दार्शनिक सांस्कृतिक, तथा साहित्यिक पूर्व पीठिका को स्पष्ट करने में है; उसकी काव्यात्मक परम्परा को लोक-गीतों से जोड़ने में है; समीक्षा के शाश्वत आदर्श, विभाव तथा भाव के सामंजस्य-ग्रहण में है तथा तुलसी को सर्वप्रिय एवं आदर्श कवि

मानते हुए भी सूरके मूल्यांकन में उदार बनने में है। उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि इस कृति में शुक्लजी की समीक्षा-दृष्टि विशद कोटि की है।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त इस व्यावहारिक समीक्षा-कृति में कुछ खटकने वाली बातें भी हैं:—जैसे, साहित्यिक आलोचना वाले प्रकरण में विषय-बद्ध अध्याय नहीं है। इसीकारण सूर की सूक्ष्म साहित्यिक विशेषताओं का विशद विश्लेषण इसमें नहीं हो सका है। आलोचक ने अपनी साहित्यिक समालोचना के अन्तर्गत स्वयं यह स्वीकार किया है कि उसने सूर की विशेषताओं पर स्थूल रूप से विचार किया है। इस कृति की साहित्यिक आलोचना भ्रमरगीत-सार की भूमिका-रूप में तैयार की गई थी; इसलिए उसको लिखते समय आलोचक का ध्यान भ्रमरगीत-सार की ओर अधिक केन्द्रित रहा। इसी कारण उसे सूर का काव्य-क्षेत्र आवश्यकता से अधिक सीमित दिखाई दिया है। सूर के साथ सहृदयता रखते हुए भी आलोचक की दृष्टि अपने व्यक्तिगत आदर्शों और विचारों की छाया से मुक्त नहीं हो सकी। इसीलिए वह प्रबन्ध काव्य के गुणों के समक्ष सूर के गीत काव्य के उत्कर्ष तथा गुणों का मूल्यांकन निरपेक्ष दृष्टि से नहीं कर सका। इसी कारण इस काव्य-विवेचन में भी आलोचक की व्यक्तिगत रुचियां उभरी हुई दिखाई पड़ती हैं।

भारतेन्दु-साहित्य—

प्रकाशन-काल-पौष-पूर्णिमा स० १९८५ वि० तदनुसार १९२८ ई०

यह संकलन ग्रन्थ है। इसमें भारतेन्दु के बिभिन्न नाटकों से कतिपय अंश और अन्त में छः निबन्ध एकत्र कर दिये गये हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में महत्व-पूर्ण भूमिका है। इस भूमिका की आलोचनात्मक सामग्री लगभग वही है जो पहले उनके द्वारा भारतेन्दु पर लिखे गये दो विवेचनात्मक निबन्धों में प्रस्तुत की गई थी। शुक्ल जी के ये दोनों निवन्ध क्रमशः नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, संख्या १०, सन् १९०९ ई० तथा भाग १५, संख्या १०, सन् १९१० ई० में प्रकाशित हुए थे। इन दोनों का सम्मिलित रूप चिन्तामणि प्रथम भाग में उपलब्ध है। शुक्ल जी के इतिहास में उपलब्ध भारतेन्दु सम्बन्धी सामग्री भी उक्त निबन्धों का ही कुछ परिवर्तित तथा परिवर्धित रूप है। तुलसी, जायसी तथा सूर पर लिखी गई भूमिकाओं की भांति यह भूमिका भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है; यद्यपि उतनी विशद नहीं है। वस्तुतः भारतेन्दु पर लिखी गई यह पहली विद्वत्तापूर्ण विवेचना है, जिसका आगे आने वाले आलोचकों ने पूर्ण उपयोग किया है।

भूमिका के आरम्भ में संक्षेप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जीवन-वृत्त दिया गया है। तदनन्तर हिन्दी के विविध क्षेत्रों में की गई उनकी विविध सेवाओं का उल्लेख करते हुए लेखक ने हिन्दी-साहित्य में उनकी साहित्यिक महत्ता तथा प्रभाव का संक्षिप्त निरूपण किया है। इसके उपरान्त लेखक भारतेन्दु की भाषा सम्बन्धी विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख करके यह बताता है कि उन्होंने हिन्दी भाषा की रूप-प्रतिष्ठा की। आलोचक की दृष्टि में यद्यपि यह संग्रह भारतेन्दु के भाषा-सौष्ठव को दिखाने की दृष्टि से किया गया है किन्तु इस भूमिका में उसने लेखक की भाषा सम्बन्धी विशेषताओं के निरूपण के अतिरिक्त उसकी प्रमुख साहित्यिक विशेषताओं का संक्षिप्त विवेचन भी किया है। अतः इस भूमिका से शुक्ल जी की भारतेन्दु सम्बन्धी कुछ साहित्यिक स्थापनायें भी उपलब्ध होती हैं—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हमारे जीवन के साथ हमारे साहित्य को फिर से लगा दिया। उन्होंने अपने युग के नये विचारों का मेल देश के साहित्य से करा दिया।[१]

प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है। इस कलाकार में बड़ा भारी गुण यह था कि इसने नये और पुराने विचारों को अपनी रचनाओं में इस सफाई से मिलाया कि कहीं से जोड़ मालूम न हुआ। पुराने भावों और आदर्शों को लेकर इन्होंने ये आदर्श खड़े किये।[२] साहित्य के एक नवीन युग के आदि प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए-नए या बाहरी भावों को पचाकर इस ढंग से मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन और नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल और मृदुल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल और मृदुल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं[३]।

कविता की नवीन धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था। नीलदेवी, भारतदुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओं में देश-दशा की जो मार्मिक व्यंजना है, वह तो है ही; बहुत सी स्वतन्त्र कविताएँ भी उन्होंने लिखीं, जिनमें कहीं देश की अतीत गौरव गाथा का गर्व, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभ भरी वेदना, कहीं

१—भारतेन्दु-साहित्य, भूमिका: पृ० १२.

२—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २६३.

३—भारतेन्दु-साहित्य:भूमिका पृ० १३.

भविष्य की भावना से जगी हुई चिन्ता इत्यादि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है[१]।

शुक्ल जी के अनुसार भारतेन्दु में विशुद्ध प्राकृतिक वर्णनों का अभाव है। वे प्रकृति के उपासक नहीं थे। वे अपने भाव दस तरह के आदमियों के साथ उठ बैठ कर प्राप्त करते थे। इसी से मनुष्यों की भीतरी-बाहरी वृत्तियां अंकित करने में ही वे तत्पर रहे हैं। प्रकृति-वर्णन में उन्होंने मनुष्य की कृति की ही ओर अधिक रुचि दिखाई है। जैसे, सत्य हरिश्चन्द्र के गंगा-वर्णन में। चंद्रावली नाटिका में एक जगह यमुना के तट का वर्णन आया है पर उसमें उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं आदि की भरमार इस बात को सूचित करती है कि कवि का मन प्रस्तुत प्राकृतिक वस्तुओं में रमता नहीं था।[२]

भारतेन्दु जी ने हिन्दी-काव्य को केवल नये-नये विषयों की ओर ही उन्मुख किया, उसके भीतर किसी नवीन विधान या प्रणाली का सूत्रपात नहीं किया। गद्य को जिस परिमाण में भारतेन्दु जी ने नए-नए विषयों और माँगों की ओर लगाया उस परिमाण में पद्य को नहीं। उनकी कविताओं के संग्रह के भीतर आधुनिकता कम ही मिलेगी[३]। शुक्ल जी के अनुसार भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी भाषा के स्वतन्त्र रूप को प्रतिष्ठित कर उसकी स्वतन्त्र सत्ता को प्रमाणित किया। शुक्ल जी के अनुसार नाटकीय गद्य तथा निबन्धों की भाषा में भारतेन्दु की सफलता भाषा पर उनके विस्तृत अधिकार को सूचित करती है। उन्होंने शब्दों की काट-छांट तथा वाक्य-विन्यास की उचित व्यवस्था द्वारा हिन्दी भाषा का संस्कार किया। उन्होंने अपनी कविताओं में चलती ब्रजभाषा का व्यवहार करके काव्य-भाषा में सफाई ला दी।

भारतेन्दु सम्बन्धी शुक्ल जी की उक्त स्थापनाओं से उनकी समीक्षा-धारणा के सम्बन्ध में निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं:—

शुक्ल जी की समीक्षा में जीवन और साहित्य का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इसलिए वे भारतेन्दु-साहित्य में युग-जीवन की समस्याओं की मर्यादित अभिव्यक्ति देखकर कवि की प्रशंसा करते हैं।

आचार्य शुक्ल अपनी समीक्षा में प्राचीन तथा नवीन, भारतीय तथा योरोपीय समीक्षा-शैलियों के समन्वय का प्रयत्न करते हैं। वे अपनी समीक्षा में नए नए या बाहरी विचारों को पचाकर इस ढंग से मिलाना चाहते हैं कि

१—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २६२.

२— वही पृ० २६९, २६८, २७०.

३—हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ६५७, ६५८ के आधार पर।

वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। इस कारण वे भारतेन्दु-साहित्य में इस विशेषता को देखकर उसकी सराहना मुक्त कंठ से करते हैं।

शुक्ल जी की समीक्षा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी राष्ट्रीय प्रकृति है। इसीलिए वे अपनी इस व्यावहारिक समीक्षा में भारतीय समीक्षा के अङ्गी सिद्धान्त, रस सिद्धान्त का मुख्य रूप से आश्रय लेते हैं, रस-परिपाक में ही काव्य का मुख्य सौष्ठव मानते हैं, रस और उसके अंग-प्रत्यंगों को अपनी विवेचना का मुख्य आधार बनाते हुए दिखाई पड़ते हैं। अलंकार-सौन्दर्य, रीति-तत्व आदि की उपेक्षा न करते हुए उन्हें अपनी समीक्षा में गौण स्थान देते हैं, औचित्य-विवेचना में भारतीय समाज तथा संस्कृति को ही मानदण्ड-रूप में स्वीकार करते हैं, वस्तु-व्यंजना तथा चरित्र-चित्रण के विवेचन में भारतीय आदर्श को प्रधान स्थान देते हैं तथा भारतेन्दु की कविता तथा नाटकों में अभिव्यक्त राष्ट्रीय विचारधारा, स्वाधीनता की पुकार, जातीय एकता, सामाजिक सजीवता तथा देश-भक्ति के स्वर की प्रशंसा करते हैं।

इस व्यावहारिक समीक्षा में उनका प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी सिद्धान्त भी अभिव्यक्त हुआ है जो काव्य में प्रकृति के आलम्बन-रूप-चित्रण को सर्वाधिक महत्व देता है। शुक्ल जी अपनी समीक्षा में सर्वांगीणता के सिद्धान्त को अपनाकर चलते हैं। इसलिए वे केवल परम्परागत सिद्धान्तों के आधार पर केवल स्थूल गुण-दोष-निरूपण की पद्धति को अपनाकर नहीं चलते। विवेचन-क्षेत्र संकुचित होने पर भी वे विषय-निरूपण इस प्रकार करते हैं कि कवि की आत्मा का दर्शन भली भांति हो जाय तथा साथ ही उसके अवान्तर विषयों की चर्चा भी हो जाय। इस छोटे से निबन्ध में भी आलोचक ने भारतेन्दु के किसी अङ्ग को छोड़ा नहीं है। यह दूसरी बात है कि उनका उल्लेख सूत्रवत् हुआ है।

इनकी समीक्षा-पद्धति में विवेचनात्मक पद्धति का ही प्राधान्य है किन्तु आवश्यकतानुसार प्रभावामत्क, निर्णयात्मक तथा तुलनात्मक शैलियों का भी उपयोग दिखाई पड़ता है। ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति का उपयोग युग की पृष्ठभूमि स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक व्यावहारिक समीक्षा-कृति में दिखाई पड़ता है।

शुक्ल जी की आलोचना के अन्तर्गत उनकी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि का भी दर्शन हो जाता है। जैसे, इस निबन्ध में उनकी काव्य-प्रियता सम्बन्धी रुचि तथा प्रकृति-वर्णन को आलम्बन-रूप में रखने की प्रवृत्ति का दर्शन होता है। इसी लिए भारतेन्दु की विशेषताओं का उल्लेख करते समय उनकी दृष्टि उनकी कविताओं पर ही विशेष रूप से जमी रही तथा उनकी कविता के दोषों तथा अभावों की चर्चा करते समय विशुद्ध प्राकृतिक वर्णनों के अभाव-उल्लेख की ओर।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास

प्रकाशन-काल—आषाढ़ कृष्ण ५; १९८६ वि० तदनुसार १९२९ ई०

इतिहास के प्रथम संस्करण के वक्तव्य[1] के अन्तर्गत आई हुई शुक्ल जी की उक्ति से यह विदित है कि उन्होंने इतिहास की रचना सर्वप्रथम १९२४-२५ के लगभग संक्षिप्त नोट-रूप में विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ने वाले छात्रों के उपयोग की दृष्टि से की थी। इसी नोट का अधिकांश भाग कुछ परिवर्धित रूप में सं० १९८५ तदनुसार १९२८ ई० की नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में क्रमशः तीन निबन्धों में—'हिन्दी साहित्य का वीरगाथा काल' तथा 'हिन्दी-साहित्य का पूर्व मध्यकाल:' दो भागों में प्रकाशित हुआ था। इसके अनन्तर विद्यार्थियों के उपयोग के लिये तैयार किया हुआ संक्षिप्त नोट ही अपने विस्तृत तथा संशोधित रूप में 'हिन्दी-साहित्य का विकास' शीर्षक से सन् १९२९ ई० की जनवरी में हिन्दी-शब्दसागर की भूमिका में छपा। यह अलग पुस्तकाकार रूप में सर्व प्रथम १९२९ जुलाई में प्रकाशित हुआ। इस अलग पुस्तकाकार संस्करण में बहुत सी बातें बढ़ायी गई हैं—विशेषतः आदि और अन्त में। किन्तु मूल साहित्य-सिद्धान्तों के प्रयोग की दृष्टि से कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास की सामग्री का विभाजन तथा उसके युगों का नामकरण तिथियों, राजाओं, लेखकों तथा साहित्य-शाखाओं के आधार पर न करके उस युग की प्रमुख लोक-प्रवृत्तियों तथा साहित्य-रचना की प्रमुख धाराओं एवं विशेषताओं के आधार पर किया है तथा ग्रन्थों की प्रसिद्धि को लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि माना है[2]। काल-विभाजन के इस सिद्धान्त का उल्लेख उन्होंने वक्तव्य के आरम्भ में स्पष्ट रूप से कर दिया है[3]।

शुक्ल जी ने आदिकाल की मुख्य काव्य—धारा वीरगाथा काव्य तथा उस युगकी जनता की मुख्य प्रवृत्ति वीरता मानी है, इसलिए उन्होंने उसे वीरगाथा काल कहा है[4]। हिन्दी—साहित्य के पूर्व मध्य काल में जनता में भक्ति-भावना की प्रधानता थी, हिन्दू जनता की 'चित्त—वृत्तियां भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर अधिक लगीं थीं'[5]। उस काल की मुख्य काव्यधारा भक्ति सम्बन्धी

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० २.

२— वही —वक्तव्य पृ० ३.

३— वही — ,, पृ० २.

४— वही — ,, पृ० ३-४. और इतिहास—पृ० ८-३३.

५— वही — ,, पृ० ६८

काव्यों की थी; प्रायः भक्ति से प्रेरित होकर उस युग के हिन्दी-कवियों ने अपने-अपने काव्यों की रचना की, इसलिए आचार्य शुक्ल उस युग को भक्ति-काल की संज्ञा देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके काल-विभाजन के सिद्धान्त के अनुसार ये दोनों नाम युक्तियुक्त तथा सुसंगत कोटि के लगते हैं।

रीतिकाल के नामकरण की सार्थकता इस तथ्य में निहित है कि उसके घेरे के भीतर आने वाले कवियों की एक बड़ी संख्या ने आचार्यत्व का आवरण ओढ़कर रीतिबद्ध कविता की। इन रीतिबद्ध कवियों के अतिरिक्त उस काल के अन्य रीतिमुक्त कवि संख्या में थोड़े थे। इसलिए वर्णन-पद्धति की दृष्टि से शुक्ल जी ने उत्तरमध्यकाल का नामकरण रीतिकाल किया है। वीरगाथाकाल एवं भक्तिकाल का नामकरण जिस सिद्धान्त पर हुआ है उससे विशेष-सुसंगति शृंगारकाल नाम की ही बैठती है। इसी कारण पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इसे शृंगारकाल कहना ही अधिक उचित समझते हैं[1]। शृंगारकाल नाम देने से उस युग के समाज तथा साहित्यकार दोनों की प्रवृत्ति का ज्ञान हो जाता है। रीति-ग्रन्थों में जो विवेचना हुई है और जितने उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं प्रायः उन सभी का लक्ष्य शृंगार ही है। इसके अतिरिक्त रीति-काल के अंतर्गत जो रीतिमुक्त कवि हुए हैं वे भी प्रेम ही को लेकर चले हैं। इसलिए शुक्ल जी के सिद्धान्तानुसार इस काल को शृंगारकाल कहना विशेष सुसंगत प्रतीत होता है। कदाचित इसीलिए शुक्ल जी ने स्पष्ट कह दिया है कि यदि इस काल को कोई शृंगारकाल कहे तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं[2]।

वर्तमान युग को शुक्ल जी ने गद्य-युग इसलिए कहा है कि उसमें गद्य का प्राधान्य रहा है। गद्य-साहित्य के विभिन्न रूप—निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना आदि इस काल में विकसित रूप में तथा प्रचुर मात्रा में हिन्दी-साहित्य में ही नहीं वरन् भारतीय-अभारतीय सभी साहित्यों में उपलब्ध होते हैं। इसलिए उन्होंने आधुनिक काल में गद्य के आविर्भाव तथा विकास को उस युग की हिन्दी की प्रधान साहित्यिक घटना मानकर शैली के आधार पर उस युग को गद्यकाल के नाम से अभिहित किया[3]।

किन्तु आधुनिक काल को केवल गद्यकाल कहने से उसका सम्पूर्ण रूप शैली की दृष्टि से भी स्पष्ट नहीं होता क्योंकि आधुनिक काल में पद्य की रचना

१—वाङ्मय–विमर्श–विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—पृ० २८७.

२—हिन्दी-साहित्य का इतिहास —पृ० २६८.-

३— वही — —पृ० ७

भी पर्याप्त मात्रा में हुई और वह कम महत्वपूर्ण कोटि की नहीं है। इसीलिए आधुनिक काल के एक तत्वाभिनिवेशी साहित्य-मीमांसक ने गद्य तथा पद्य सभी प्रकार की रचनाओं में प्रेम की प्रधानता देखकर आधुनिक काल को प्रेम काल के नाम से अभिहित किया है[1]। यह दूसरी बात है कि वे प्रेम को बहुत ही व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। यहां यह कह देना आवश्यक है कि वीरगाथा काल तथा भक्तिकाल के नामकरण में शुक्ल जी ने वर्ण्य की ओर अधिक ध्यान दिया है एवं रीतिकाल तथा गद्यकाल के नामकरण में वर्णन-शैली की ओर। किन्तु वे विषय के महत्व को काल-विभाजन के मुख्याधार में कहीं अस्वीकार नहीं करते इसीलिए रीतिकाल का विकल्प शृंगारकाल उन्हें मान्य है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि शुक्ल जी ने काल-विभाजन में जहाँ किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता को मुख्याधार बनाया है वहाँ उन्होंने उनके उद्भव का मूल स्रोत जनता की चित्तवृत्तियों में दिखाकर अपने काल-विभाजन के मुख्य सिद्धान्त लोक-प्रवृत्ति के निर्वाह का पूर्ण प्रयत्न किया है।

आचार्य शुक्ल को काल-विभाजन के सिद्धान्त की मूल प्रेरणा ग्रियर्सन के इतिहास से मिली किन्तु उनकी मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने उस प्रेरणा को आत्मसात् कर अपने सिद्धान्त के अनुरूप बना लिया। प्रत्येक काल अथवा काल-खण्ड की विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण तथा तत्प्रसूत साहित्य की धाराओं तथा सामान्य विशेषताओं का निरूपण तथा कवियों की विशेषताओं और उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन अपने ढंग से अपने सिद्धान्तों के अनुसार किया। अतः इस कृति के विवेचन में हमें अपने प्रबन्ध के विषय की दृष्टि से शुक्ल जी के उन सिद्धान्तों के उल्लेख की ओर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करनी है, जिनके आधार पर उन्होंने अपने इतिहास का निर्माण किया, उसमें नाना प्रकार की साहित्यिक स्थापनायें कीं; जिनके सहारे उन्होंने अपने इतिहास के विभिन्न युगों एवं कवियों तथा लेखकों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया तथा जिनके कारण इसमें नाना प्रकार की विशेषताओं का समावेश हुआ; जिससे यह इतिहास अद्यावधि लिखे हुए हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है[2]।

शुक्ल जी के इतिहास-लेखन की प्रणाली उनके जीवन, जगत तथा साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों से निर्मित हुई है, अतः उनके इतिहास के निर्माण में

१—वाङ्मय-विमर्श—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ३०८.

२—'आज' काशी विशेषांक—१७ फरवरी १९५७.-महान आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र. पृ० १४.

सहायक सिद्धान्तों का उल्लेख उपर्युक्त तीन प्रमुख सिद्धान्तों के आधार पर किया जायगा:—

शुक्ल जी के जीवन का साधन सिद्धान्त लोक-धर्म तथा साध्य-सिद्धान्त-लोक मंगल है। अतः उन्होंने लोक-मंगल की कसौटी पर अपने इतिहास में हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों तथा कवियों को परखा है, सच्चे कवि की कसौटी लोक-धर्म की पहचान मानी है, लोक-धर्म के प्रमुख तत्व लोक–प्रवृत्तियों के आधार पर काल-विभाजन किया है, युग विशेष की विशिष्ट साहित्य-धाराओं, सामान्य साहित्य-लक्षणों तथा कवियों की सामान्य विशेषताओं का स्रोत लोक-चेतना के भीतर दिखाने का प्रयत्न किया है। लोक-धर्म अथवा लोक-मङ्गल के विरुद्ध पड़ने वाले पूर्व तथा पश्चिम के विविध साहित्य-वादों–रीतिवाद, अलंकारवाद, कलावाद, रहस्यवाद, छायावाद, हालावाद, स्वप्नवाद, अन्तश्चेतनावाद, प्रतीक-वाद, अभिव्यंजनावाद, व्यक्तिवैचित्र्यवाद आदि का अपने इतिहास में शुक्लजी ने यथा प्रसंग खंडन किया है[1]। लोक-मङ्गल को साध्य-रूप में अपनाने के कारण ही शुक्ल जी ने हिन्दू-मुसलमान, ऊँच-नीच सभी जातियों के कल्याण के मार्ग को निकालने वाले भक्त कवियों के युग को हिन्दी का सर्व-श्रेष्ठ युग कहा है[2]; लोक-धर्म को सर्वाधिक व्याप्ति के साथ सर्वाधिक सुन्दर रूप में निरूपित करने वाले कवि तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया है[3]; इतिहास के समाजोन्मुख तथा समाज-पराङ्मुख युगों का प्रभाव बलपूर्वक स्पष्ट किया है; देश की तत्कालीन समस्याओं को भुलाकर शाश्वत साहित्य रचने वाले कवियों की निन्दा की है एवं साहित्य को सामाजिक शक्ति तथा समाज के विकास में योग देने वाली वस्तु के रूप में ग्रहण किया है तथा साहित्य के विविध स्वरूपों के निरूपण में लोक-धर्म तथा लोक-प्रवृत्तियों की अनुरूपता का ध्यान रखा है। जैसे, निबन्ध, उपन्यास आदि के निरूपण में[4]। साहित्य-स्वरूपों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन लोक-धर्म के चित्रण के सामर्थ्य तथा व्याप्ति के आधार पर किया है। जैसे, लोक-धर्म के चित्रण की व्याप्ति तथा सामर्थ्य अधिक रखने के कारण उन्होंने प्रबन्ध काव्य को अन्य साहित्य-रूपों से श्रेष्ठ माना है[5]। इतिहास में लोक-मङ्गल पर सदैव दृष्टि रखने के

---

१ — हिन्दी साहित्य का इतिहास-रीतिकाल तथा आधुनिक काल—

२— वही पृ० २१६, २२१, २५८.

३— वही पृ० १४८, १५५.

४— वही पृ० ५५१, ५९३, ५९४.

५— वही पृ० २७५.

कारण शुक्ल जी साहित्य के प्राणवान, प्रगतिशील तथा चेतनावर्द्धक तत्वों के निराकरण में सजग हैं तथा युग विशेष की साहित्य-धाराओं तथा कवियों की सामाजिक महत्ता एवं सांस्कृतिक संदेश के उद्घाटन में समर्थ।

समन्वयवादी होने के कारण शुक्ल जी ने अपने इतिहास में ज्ञान, उपासना और कर्म इन तीनों के समन्वय में मनुष्य के व्यक्तित्व-विकास का दर्शन किया है [१] तथा उसी साहित्य को श्रेष्ठ माना है जिसमें इस समन्वय-भावना को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया हो [२]। इसी प्रकार उन्होंने अपनी समीक्षा-शैली में आवश्यकतानुसार कवियों, लेखकों तथा काव्यधाराओं[३] की आलोचना करते समय प्राचीन तथा नवीन, प्राच्य तथा प्रतीच्य दोनों प्रकार के सिद्धान्तों के समन्वय का प्रयत्न किया है।

जीवन में सर्जना का सिद्धान्त अपनाने के कारण शुक्ल जी किसी जाति के साहित्य का इतिहास कवियों के इतिवृत्तात्मक संग्रह, उनकी कृतियों के निर्देश, उनकी तिथियों एवं घटनाओं के स्थूल उल्लेख अथवा शोध में ही न मानकर उनके निर्माण में निहित अनुभूतियों, प्रवृत्तियों, आदर्शों, परम्पराओं के विश्लेषण में अधिक मानते हैं जिनसे भावी पीढ़ी भी जीवन-सम्बल की शक्ति संचित कर सके[४]। इतिहास लिखते समय सर्जना का सिद्धान्त अपनाने के कारण ही उन्होंने कवियों एवं लेखकों की दुर्बलताओं को प्रकाश में लाने का प्रयत्न कर उनके दूरीकरण का सुझाव भी उपस्थित किया है; साहित्य के किसी विशिष्ट क्षेत्र के भीतर क्या कार्य हो सकता है, इसका भी निर्देश किया है[५]। अपने इतिहास द्वारा सर्जनात्मक संदेश देने के कारण ही सबल एवं दुर्बल सफल एवं असफल साहित्य के भेद को बलपूर्वक स्पष्ट किया है तथा आरम्भ से लेकर अन्त तक इतिहास में यही दिखाना चाहा है कि किस युग अथवा कवि के साहित्य में अकर्मण्य मनुष्य को कर्मण्य बनाने की कितनी शक्ति है। इस प्रकार शुक्ल जी का इतिहास कर्म के आग्रह का सर्जनात्मक संदेश देता है।

शुक्ल जी में जातीय तथा सांस्कृतिक सम्मान की भावना बहुत अधिक थी[६]। इसीलिए उन्होंने अपने इतिहास को जातीय सम्मान के अनुकूल बनाने

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास— पृ० ७६९.
२— वही पृ० १५८.
३— वही पृ० ५९१, ६०१, ६४१.
४— वही पृ० १.
५— वही पृ० ५९६, ६०१, ६०६, ७२२.
६—साहित्य-संदेश-शुक्लांक-अप्रैल-मई १९४१ ई०—साहित्य की परिभाषा. आचार्य शुक्ल

का प्रयत्न किया है, जातीय जीवन की सांस्कृतिक पीठिका को कहीं ओझल नहीं होने दिया है। जातीय तथा सांस्कृतिक सम्मान की भावना का ठीक विकास किसी जाति अथवा व्यक्ति में तब होता है जब एक ओर वह अपने रूढ़िवाद का विरोध करे,[१] दूसरी ओर अपने स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा में समर्थ हो, और तीसरी ओर उसकी भावना राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता से जुड़ी हो[२]। शुक्ल जी के इतिहास में उक्त तीनों बातें पाई जाती हैं। एक ओर उन्होंने दरबारी काव्य परम्परा, अलंकारवाद, रीतिवाद की जर्जर रूढ़ियों का खंडन किया है,[३] दूसरी ओर हर बात में अन्धे बनकर यूरोप की नकल करने का विरोध किया है[४] तथा उनके रूपों को लेकर रूपवान बनने के बदले अपने साहित्य के स्वतन्त्र स्वरूप की रक्षा पर बल दिया है[५]। जातीय सम्मान की भावना से अनुप्राणित होने के कारण शुक्लजी का इतिहास पाठकों में जातीय स्पन्दन, जातीय जागरण की प्रेरणा तथा सांस्कृतिक सम्मान की भावना जगाने में समर्थ है।

शुक्ल जी राष्ट्रीय विचारधारा के आलोचक थे। इसीलिए उन्होंने अपने इतिहास में सर्वत्र राष्ट्र की स्वतन्त्रता-प्राप्ति में सहायक विचारों एवं धारणाओं की उपयोगिता का बल पूर्वक विवेचन किया है; सबल एवं निर्बल, राष्ट्रीय एवं अराष्ट्रीय साहित्य का अंतर यथाप्रसंग बल पूर्वक स्पष्ट किया है; प्रगतिशील राष्ट्रीय साहित्य, राष्ट्रीय साहित्यिक परम्पराओं तथा राष्ट्रीय कवियों का समर्थन किया है; प्रगति-विरोधी धाराओं का सर्वत्र खण्डन किया है, राष्ट्र के स्वाधीनता-संग्राम को अंतर्राष्ट्रीय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है[६]; स्वतन्त्रता के उन्मत्त उपासक कवियों का गुण-गान किया है[७]; देश की तत्कालीन समस्याओं के सुलझाव में योग देनेवाले कवियों एवं लेखकों की आशंसा की है[८]; देशी भाषा एवं देशी शिक्षा का सदैव समर्थन किया है[९]; देश-प्रेम के बिना मानवतावाद को

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना—डा० रामविलास शर्मा पृ० २१५.

२— वही पृ०२१५.

३—हिन्दी-साहित्य का इतिहास—रीतिकाल.

४— वही पृ० ६४०, ६४१.

५— वही पृ० ५९१.

६— वही पृ० ७१९.

७— वही पृ० ६१८.

८— वही पृ० ६५५, ६५६, ६५७, ६८७ ६८८.

९— वही पृ० ५२५, ५२८.

झूठा कहा है[1]; तथा आधुनिक गद्य के विकास को अंग्रेजों की कृपा का फल न मानकर उस युग के सामाजिक विकास का परिणाम माना है[2] एवं साहित्य के प्रत्येक स्वरुप को राष्ट्रीय परम्परा तथा प्रकृति के अनुकूल बनाने का आदेश दिया है[3]।

जीवन तथा साहित्य में सम्पूर्णता के सिद्धान्त को अपनाने के कारण शुक्ल जी अपने साहित्य के इतिहास में प्रत्येक युग की प्रमुख तथा गौण सभी प्रकार की साहित्य-धाराओं, उसकी सभी प्रवृत्तियों, उसके सभी उल्लेखनीय व्यक्तियों आदि के विषय में ऐसी सुस्पष्ट रोचक विवेचना उपस्थित करते हैं जिससे हिन्दी साहित्य की रूप-रेखा तथा उसका विकास स्पष्ट हो जाता है। इतिहास की सार्थकता इस बात में है कि वह साहित्य में प्रचलित प्रत्येक धारा तथा परम्परा को स्पष्ट करता चले। शुक्ल जी का इतिहास पढ़ने से यह विदित होता है कि उनकी दृष्टि इस परमावश्यक इतिहास-लेखन-प्रणाली की ओर सर्वत्र सजग है। उन्होंने अपने इतिहास में प्रत्येक युग की साहित्यिक धारा का उद्गम सामान्य परिचय में विवृत किया है। साहित्य-परम्परा का विकास दिखाने के लिए उन्होंने कवियों का संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय दिया है; उसके स्वरूप की स्पष्टता के लिए उन्होंने यथा स्थान साहित्य, दर्शन आदि के के सिद्धान्त-पक्ष की विवेचना की है।

निर्भीकता का सिद्धान्त जीवन में अपनाने के कारण शुक्ल जी पर किसी कवि, लेखक, साहित्य-सेवी अथवा आलोचक के व्यक्तित्व का आतंक नहीं है; किसी कवि, लेखक अथवा आलोचक का व्यक्तित्व अपने युग में चाहे कितना ही प्रभावशाली क्यों न रहा हो, उन्हें उसके विषय में अपने इतिहास में जो कुछ कहना था उसको कहने में उन्होंने संकोच या भय का अनुभव कहीं नहीं किया है[4]।

जगत के प्रति शुक्ल जी का दृष्टिकोण वस्तुवादी तथा विकासवादी ढंग का है[5]। विकासवादी कोटि का वस्तुवादी दृष्टिकोण रखने के कारण वे साहित्य के इतिहास की किसी घटना, किसी कवि की विशेषता, किसी साहित्यिक धारा

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास— पृ० ४९५, ४९६.

२— वही पृ० ४५०.

३— वही पृ० ५६०, ५९०.

४—कबीर, केशव, टालस्टाय, रवीन्द्र, क्रोचे, ब्रैडले, श्यामसुन्दरदास, प्रसाद आदि. के विषय में।

५—चिन्तामणि पहला भाग पृ० ३२९.

तथा किसी युग के सामान्य अथवा विशिष्ट लक्षणों को कारणहीन, आकस्मिक, असम्बद्ध, स्वयंभूत अथवा अदृष्टनिर्मित नहीं मानते, प्रत्युत उसे जीवन की विविध परिस्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया, घात-प्रतिघात की उपज मानते हैं। वे सामाजिक जीवन की विविध परिस्थितियों को युग विशेष की साहित्यिक धाराओं, विचारों, धारणाओं का उद्भावक मानने के कारण इतिहास की गति-विधि की नियमन शक्ति को सामाजिक जीवन की विविध परिस्थितियों में देखते हैं; काव्य-कला के सम्बन्ध-सूत्रों को सामाजिक जीवन में ढूंढ़ते हैं। इस प्रकार वे इतिहास का अध्ययन सामाजिक जीवन-सत्य जानने के रूप में तथा उसके विकासशील नियमों के उद्घाटित करने के रूप में करते हैं। इसी कारण उन्होंने अपने इतिहास में किसी युग के निर्माण में किसी व्यक्ति को महत्व नहीं दिया; किसी व्यक्ति को किसी युग का इतिहास-निर्माता नहीं माना, चाहे वह कितना ही बड़ा सम्राट क्यों न रहा हो; किसी महान् प्रतिभा को इतिहास की संचालिका शक्ति नहीं कहा और इसी कारण किसी काल अथवा काल-खण्ड का नामकरण किसी सम्राट, सुधारक अथवा लेखक के नाम पर नहीं किया।

जगत के प्रति वस्तुवादी सिद्धान्त रखने के कारण शुक्ल जी की दृष्टि इतिहास लिखते समय केवल तथ्यपरक व्यौरों के ही अन्वेषण में कम रमती है। वे इतिहास को केवल कवियों तथा लेखकों की वैयक्तिक जीवनी, घटनाओं, तिथियों, कृतियों आदि के शोध-रूप में ही नहीं देखते; वे हिन्दी साहित्य को उसके पूर्ववर्ती साहित्य तथा दर्शन से अलग एक विच्छिन्न तथा असम्बद्ध इकाई के रूप में नहीं परखते वरन् उसे उसके पूर्ववर्ती साहित्य तथा दर्शन की परम्पराओं से सुसम्बद्ध करके देखते हैं; उसे जातीय जीवन की पूर्ववर्ती संस्कृतियों के उत्थान-पतन एवं विकास-ह्रास के प्रतिबिम्ब रूप में मानते हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वस्तुवादी सिद्धान्त अपनाने के कारण ही शुक्ल जी अपने इतिहास में जातीय जीवन की सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण, विश्लेषण तथा मूल्यांकन में समर्थ हुए हैं तथा उसकी अन्य [illegible]त सामग्री को सुव्यवस्थित एवं सुसम्बद्ध रूप देने में अन्य इतिहासकारों की अपेक्षा अधिक सफल।

विकासवादी होने के कारण शुक्ल जी वस्तुओं को गतिशील एवं विकासमान दृष्टि से देखते हैं[1]। इसीलिए उन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास को सतत प्रवहमान धारा के रुप में देखा है तथा विकास क्रम में पतनशील एवं प्रगतिशील तत्वों के निराकरण का प्रयत्न किया है।

१–हिन्दी-साहित्य का इति०– पृ० १. तथा विश्वप्रपंच की भूमिका-पृ० ९१

शुक्ल जी की दृष्टि में प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किञ्चित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है[1]। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी ने साहित्य-इतिहास की लेखन-प्रणाली सम्बन्धी अपनी उपयुक्त धारणा के अनुसार अपने इतिहास का प्रणयन करके हिन्दी साहित्य के इतिहास का ही नहीं वरन् साहित्य-इतिहास विधायक सामान्य दृष्टिकोण का भी निर्माण किया है। इस प्रकार का ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखने के कारण उनका इतिहास एक ओर जातीय जीवन के सारे उत्थान-पतन तथा विकास-ह्रास का साक्षी बन गया है तो दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के विकास की कथा।

शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य को उसकी प्राप्त मूल परम्परा की कसौटी पर परखने का प्रयत्न किया है क्योंकि वे साहित्य में परम्परा का महत्व बहुत मूल्यवान कोटि का मानते थे। उनकी ऐतिहासिक चेतना अतीत तथा वर्तमान की एकसूत्रता तथा उनके अनवरत स्पन्दन शील विकास में विश्वास करती थी। उनका विचार था कि कोई भी कला-वस्तु चाहे कितनी ही नई क्यों न हो वह अपने आप अकस्मात् अथवा एकाकी रूप में घटित नहीं होती। वह अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं के वर्तमानकालीन सजीव रूप के साथ घटित होती है। इसीलिए वे प्रत्येक नई रचना, प्रत्येक नये युग, प्रत्येक नई विचारधारा का सम्बन्ध उसकी पूर्ववर्ती परम्परा के प्राणवान रूप के साथ स्थापित करते हैं; उसकी तुलना में उसका सापेक्ष्य मूल्य तथा महत्व आंकते हैं। परम्परा के साथ वर्तमान का सम्बन्ध-स्थापन ही अथवा उसकी कसौटी पर नवीन वस्तु का मूल्यांकन ही महत्वपूर्ण नहीं है, वरन् महत्व इस बात को दिखाने में है कि परम्परा की गतियुक्त प्रवहमानता कितने सजीव रूप में वर्तमान के माध्यम से व्यक्त हो रही है। कहनें की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी ने हिन्दी की उस मूल परम्परा को वर्तमान ही में सजीव सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया वरन् उसकी निरन्तर प्रवहमानता को भी सिद्ध किया।

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास— पृ० १.

साहित्य को साहित्य की ही परम्परा में प्रधान रूप से परखने के कारण शुक्ल जी ने साहित्येतर क्षेत्रों के वाद-विवाद के आरोप से अपनी साहित्यिक आलोचना को विकृत नहीं होने दिया[1]; आधुनिक युग में राजनीति, मनोविज्ञान, दर्शन, समाज-शास्त्र आदि साहित्येतर विषयों के पूर्वग्रहों से उद्भूत विभिन्न वादों के वितण्डावादो से अपनी साहित्यिक धारणा को कभी कलुषित नहीं होने दिया। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में उन्होंने साहित्य की सिद्धि के लिए ही दर्शन, मनोविज्ञान, राजनीति आदि का सहारा लिया, उनके किसी विशिष्ट वाद से अभिभूत होकर नहीं[2]। इस प्रकार भारतीय चिन्तन-धारा ही उनके इतिहास में उनकी साहित्यिक आलोचना की मूल धारा है, पाश्चात्य साहित्य-धारा उसमें स्रोत के रूप में मिली है[3]।

इतिहास के वक्तव्य में अंकित शुक्ल जी की उक्ति से यह विदित होता है कि इतिहासगत उनकी आलोचना मुख्यतः रस-सिद्धान्त पर आधारित है[4]। इतिहास में कवियों अथवा कृतियों की आलोचना करते समय यत्र तत्र यथा-प्रसंग उनके द्वारा उठाये गये प्रश्नों तथा उनके दिये हुए उत्तरों से भी यही सिद्ध होता है कि उनकी आलोचना मुख्यतः भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों पर आश्रित है। जैसे, यह रचना सूक्ति है या काव्य? यदि काव्य है तो मुक्तक है या प्रबन्ध? यदि मुक्तक है तो उसमें रस के मधुर छींटे उड़े हैं या नहीं? यदि प्रबन्ध है तो कथा की धारा टूटी हैं या नहीं? कवि मार्मिक स्थलों को पहचानने में समर्थ हुआ है या नहीं? बाह्य दृश्य-वर्णन और स्वभाव-चित्रण स्वाभाविक है या नहीं? रस और अलंकारों का निर्वाह कुशलता से हुआ है या नहीं? छन्द का चुनाव उपयुक्त है या नहीं? उसमें कहां तक नाद-सौन्दर्य है? भाषा प्रौढ़ और प्रसंगानुकूल है या नहीं? कवि कहां तक राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित है या उसने इन परिस्थितियों को कहां तक प्रभावित किया है? कवि ने अपनी सामग्री कहां से ली है और कहां तक उसमें मौलिकता है? जनता के हृदय में कवि ने कहां तक घर किया है? एक प्रसिद्ध कवि दूसरे प्रसिद्ध कवि के सामने साहित्यिक दृष्टि से कितना हल्का एवं भारी है[5]?

१—'आज', काशी विशेषांक–१७ फरवरी १९५७. महान आलोचक रामचन्द्र शुक्ल–आ० वि० प्र० मिश्र.—पृ० १४.

२–३ वही.

४—हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आ० शुक्ल–वक्तव्य—पृ० ७.

५— वही पृ० १४८–१६४; २३३-२३६, २७४-२८०, ३६९-३७४।

जहां तक आधुनिक कविताओं का सम्बन्ध है वहां उन्होंने यह भी दिखाया है कि इन पर पश्चिम का कितना प्रभाव है, काव्य के विश्लेषण में कवि की अन्तर्वृत्ति का दिग्दर्शन अधिक कराया गया है।

शुक्ल जी का इतिहास हिन्दी के अन्य पूर्ववर्ती इतिहासकारों—शिवसिंह, ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु आदि के इतिहासों के समान विवरणात्मक, इतिवृत्तात्मक अथवा सूचनात्मक न होकर साहित्यिक अधिक है। इसका मूल कारण यह है कि रसवादी होने के कारण उनका मन कवियों के इतिवृत्तात्मक विवरण, संग्रह, सूचना आदि में उतना नहीं रमा जितना उनकी अनुभूति, अन्तर्दृष्टि, जीवन-संदेश, साहित्यिक महत्व, साहित्यिक सामर्थ्य, भाषा-शैली आदि के निरूपण में लगा। यद्यपि शुक्ल जी की मान्यता यह है कि साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ में किसी कवि अथवा लेखक की पूरी क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती[1]। इस धारणा की सीमा के भीतर रहकर इतिहास लिखते हुए उन्होंने कवियों तथा लेखकों के विषय में जो संक्षिप्त विचार प्रकट किये हैं वे ऐसी प्रौढ़ कोटि की आलोचना संक्षिप्त में पाठकों के समक्ष रखते हैं कि वैसी प्रौढ़ तथा मौलिक कोटि की आलोचना हिन्दी के किसी अन्य इतिहास-ग्रन्थ में साधारणतः नहीं मिलती। एक आधुनिक साहित्य-मीमांसक की दृष्टि में शुक्ल जी ने अपने इतिहास में जो स्थापनायें की हैं अथवा जो आलोचना की है अथवा जो साहित्य सम्बन्धी विश्लेषण कर दिया है वैसा आज के किसी इतिहास-ग्रन्थ में नहीं मिलता, न प्राचीन साहित्य के विवेचन में न नवीन साहित्य के विवेचन में[2]।

शुक्ल जी रस की विस्तृत व्याप्ति समझने के कारण परिस्थितियों को विभाव के भीतर परिगणित करते थे और किसी भाव या विचार को उत्पन्न करने में विभाव को सर्वाधिक महत्व देते थे। इसीलिए उन्होंने किसी विशिष्ट युग की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण उस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों, विशेषताओं तथा विचारधाराओं के उद्भावक रूप में किया है। लोक-प्रवृत्ति के आधार पर किये हुए उनके काल-विभाजन सम्बन्धी सिद्धान्त की संगति भी रस के भीतर बैठ जाती है; क्योंकि प्रवृत्ति स्थायी भाव के निर्माणकारी तत्वों में एक प्रमुख तत्व है। रस-सिद्धान्त पर आस्था रखने के कारण ही शुक्ल जी हिन्दी के निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक, प्रगीत, आलोचना आदि आधुनिक साहित्य-विधाओं का स्वरूप हिन्दी-परम्परा के अनुकूल निरूपित करने

१—हि० सा० का इति०—आचार्य शुक्ल—वक्तव्य पृ० ७.

२—'आज', काशी विशेषांक—१७ फरवरी, १९५७. महान् आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्लपं—० वि० प्र०, मिश्र।

में सफल हुए। यदि उन्हें रस की व्यापक दृष्टि न मिली होती तो कदाचित् साहित्य की विभिन्न शाखाओं की उद्भावनापूर्ण मीमांसा में, साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी मौलिक स्थापनाओं में, कवियों के साहित्यिक विश्लेषण तथा मूल्यांकन में, हिन्दी-साहित्य की प्रगति तथा विकास के ऊपर कुप्रभाव डालने वाले स्वदेशी तथा विदेशी वादों के खण्डन में, साहित्य एवं असाहित्य के भेद-निराकरण में तथा साहित्य को सामाजिक शक्ति के रूप में ग्रहण करने में अन्य इतिहासकारों की अपेक्षा जो अधिक सफलता उन्हें मिली वह न मिलती। प्राचीन कवियों तथा प्राचीन काव्य-धाराओं एवं काव्य-प्रवृत्तियों के विश्लेषण में शुक्ल जी ने प्राय: भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों का आश्रय लिया है, किन्तु आधुनिक काल में निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक, प्रगीत काव्य तथा आलोचना के स्वरूप तथा विकास के विवेचन के अवसर पर भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों के साथ-साथ पश्चिमी सिद्धान्तों का भी सहारा लिया है किन्तु उनका स्थान भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों की मूल धारा में स्रोत के समान है।

शुक्ल जी की धारणा में साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है[१]। इसीलिए वे साहित्य के ऊपर अन्य वाङ्मयों तथा कलाओं का आतंक उचित नहीं समझते। हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखते समय भी उनकी दृष्टि इस सिद्धान्त पर थी। इसी कारण उन्होंने हिन्दी के अन्य साहित्य-इतिहासकारों[२] के समान अपने इतिहास में साहित्य के अतिरिक्त अन्य ललित तथा उपयोगी कलाओं का इतिहास नहीं प्रस्तुत किया; साहित्य को इन कलाओं के साथ रखकर नहीं देखा। वस्तुत: साहित्य के साथ अन्य कलाओं का इतिहास प्रस्तुत करने में इतिहास की सामग्री सुसंगठित न होकर बिखरी-बिखरी सी प्रतीत होती है। दूसरे, शुक्ल जी साहित्य को कला के भीतर परिगणित करना कभी उचित नही समझते थे[३]। इसलिए उन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कलाओं का इतिहास नहीं प्रस्तुत किया।

शुक्ल जी हिन्दी-साहित्य की स्वतन्त्रत सत्ता में विश्वास रखते थे[४]। इसलिए उन्होंने अपने इतिहास के आधुनिक काल में हिन्दी-साहित्य की प्रगति को अपनी संस्कृति की प्रवहमान परम्परा के अनुकूल रखकर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को सुरक्षित करने का प्रयत्न किया है। यूरोप के साहित्यिक वादों में

१—अभिभाषण, पृ० २, ३

२—बाबू श्यामसुन्दर दास, हिन्दी भाषा और साहित्य

३—अभिभाषण, पृ० ३२ ४— वही पृ० ११२

छिपे सत् सिद्धान्तों को ग्रहण करने के लिए तैयार रहने पर भी उन्होंने उनमें निहित उन प्रवृत्तियों, प्रभावों तथा विशेषताओं को ग्रहण नहीं किया जो अपनी संस्कृति की प्रवहमान परम्परा के विरुद्ध पड़ते थे। शुक्ल जी अपने साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास करने के कारण ही दूसरे देशों की आलोचनात्मक दृष्टि से अपने साहित्य को देखना घोर मानसिक दासता समझते थे। इस कारण उन्होंने अपने इतिहास के आधुनिक काल में भारतीय आलोचनात्मक दृष्टि से दूसरे साहित्य के विविध वादों को मूल्यांकित करने का प्रयत्न किया है।

जीवन तथा साहित्य में लोक-धर्म को कसौटी मानने के कारण शुक्ल जी जीवित तथा प्रचलित जन-भाषा के हिमायती थे। इसीलिए उन्होंने भारतेन्दु के भाषा-आदर्श की प्रशंसा की है जिन्होंने जन-समाज में प्रचलित भाषा का फिर उत्थान किया तथा रीतिकाल के कवियों की रूढ़िबद्ध भाषा की निन्दा की जो अलंकारो के कृत्रिम प्रयोग के कारण जनता से दूर हो गई थी। उनके इतिहास की एक बहुत बड़ी विशेषता उनके भाषा संबंधी शोध-विवेचन एवं सिद्धान्त-निरूपण की है[१]। आदि काल एवं आधुनिक काल में की गई उनकी भाषा सम्बन्धी खोज बहुत ही महत्वपूर्ण है। तुलसी, सूर, विद्यापति एवं हिन्दी गद्य की भाषा सम्बन्धी उनकी विवेचना बहुत ही विशद, स्वस्थ, स्पष्ट एवं प्रामाणिक कोटि की है।

शुक्ल जी जीवन तथा साहित्य के समान ही इतिहास में भी सामाजिक तत्व के अध्ययन पर सर्वाधिक बल देते हैं और उसी को इतिहास का प्राणतत्व मानते हैं। इतिहास सम्बन्धी उनकी अनुदित कृतियों[२] तथा उनके आरम्भ में दी हुई भूमिकाओं से यह विदित होता है कि उनकी वृत्ति सामाजिक इतिहास में सर्वाधिक मात्रा में रमती थी। अतीत के खंडहरों, दृश्यों, तथा स्मृतियों[३] में वे स्वतन्त्र रस उत्पन्न करने की क्षमता मानते थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इतिहास के सामाजिक पक्ष से उनका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो गया था। शशांक उपन्यास का अनुवाद करते हुए मूल में परिवर्तन करते समय उनकी दृष्टि शशांक कालीन भारतीय इतिहास की रीति-नीति के वर्णन पर अधिक है[४]। हिन्दी-साहित्य के इतिहास द्वारा भी उनके विषय में यही

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ७, ८, ३१, ३२.

२—प्राचीन पारस का इतिहास, मेगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण।

३—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ३५१ से ३५७

४—शशांक, भूमिका, पृ० १५; १६-१७ तथा अनुदित उपन्यास के पृ० ३०७, ३०८

ात स्पष्टतः कही जा सकती है। यदि आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य की वेशेष रुचि न रखते तो इतिहास के प्रमुख लक्ष्य—विभिन्न युग अपने समय प्त्तियों के निर्धारण में सफल न होते; उनकी विशेषताओं के मार्ग-को सामाजिक जीवन में ढूंढ़ने की ओर अग्रसर न होते तथा तथा प्रवृत्ति के आधार पर हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन करने में समर्थ न होते।

साहित्य का इतिहास विशुद्ध इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किये बिना सफल नहीं हो सकता। वह विशुद्ध इतिहास से अपना सम्बन्ध तिथियों, घटनाओं तथा शासकों के माध्यम से उतना नहीं स्थापित करता जितना सामाजिक जीवन के माध्यम से स्थापित करता है। शुक्ल जी भी साहित्य के इतिहास का सम्बन्ध विशुद्ध इतिहास से तथ्यपरक ब्यौरों द्वारा उतना नहीं स्थापित करते जितना सामाजिक इतिहास द्वारा। वे साहित्य के इतिहास को अर्थात् किसी युग की साहित्यिक धाराओं, प्रवृत्तियों, तथा विशेषताओं को सामाजिक इतिहास अर्थात् विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों की उपज मानते हैं। अर्थात् सामाजिक इतिहास को साहित्य के इतिहास का उद्भावक समझते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब है। जनता की चित्तवृत्तियां बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार होती हैं। अतः ये सामाजिक परिस्थितियां साहित्य-इतिहास के कारण रूप में वर्णित होती हैं। इस प्रकार सामाजिक इतिहास साहित्य के इतिहास का कारण बनकर उसमें अपना विशिष्ट स्थान निरूपित कर लेता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सामाजिक इतिहास को इस रूप में अपनाने के कारण शुक्ल जी अपने इतिहास को तार्किक, सुसंगठित एवं सुशृंखलित रूप में निर्मित करने में सफल हुए हैं।

शुक्ल जी की सैद्धान्तिक प्रवृत्ति को एक शब्द में हम अभिनवपरम्परावादी अथवा पुनरुत्थानवादी कह सकते हैं। इतिहास-प्रणयन में इस प्रवृत्ति का विशेष योग दिखाई पड़ता है। इसीलिए उन्होंने पुराने कवियों के संदेश, साहित्यिक महत्व तथा साहित्य की पुरानी परम्पराओं के अभिनव उत्थान पर बल दिया है। पुनरुत्थानवादी दृष्टि रखने के कारण शुक्ल जी ने इतिहास में संस्कृत साहित्य के प्रमुख प्राचीन साहित्य-सिद्धान्त—रस-सिद्धान्त का युग के अनुसार पुनरुत्थान करके उसी की कसौटी पर प्राचीन तथा नवीन कवियों को परखने का प्रयत्न किया है, विदेशी साहित्य-सिद्धान्तों की तुलना में इसे अधिक गौरवशाली सिद्ध किया है, एवं कवियों तथा लेखकों के व्यक्तित्व के सहारे

छिपे सत् सिद्धान्तों ...ाति के तत्कालीन ऐतिहासिक कार्य-कलाप एवं गौरवपूर्ण निहित उन प्र... दिखाने का प्रयास किया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से पुनरुत्थानवादी संस्कृति की रखने के कारण ही शुक्ल जी ने युग विशेष के साहित्य-निर्माण के स्वतन्त्र्य में निहित दर्शन की मीमांसा करके अन्ततोगत्वा उसकी जीवनी-शक्ति के रहस्यों की आधुनिक उपयोगिता का उद्‌घाटन किया है तथा राष्ट्रीय इतिहास लेखक के रूप में उन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास की पुरानी काव्य-धाराओं, विशेषताओं, लक्षणों, घटनाओं तथा अनुभूतियों से उठते हुए युगोपयोगी पुर्नजागरण के संदेशों को निरूपित करने का प्रयत्न किया है।

शुक्ल जी के इतिहास में उनके समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों तथा तज्जन्य विशेषताओं को देखने के पश्चात् उनके आधार पर उनके इतिहास के साहित्यिक महत्व पर विचार करना चाहिए। व्यापक सिद्धान्त अपनाने के कारण उनकी दृष्टि भाषा आदि के विषय में भी बहुत व्यापक कोटि की रही है। इस व्यापक दृष्टि को अपनाने के कारण ही उन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का तात्पर्य उन सभी बोलियों के प्रतिनिधि साहित्यकारों, साहित्यिक कृतियों, साहित्यिक धाराओं के क्रमबद्ध इतिहास से लिया जिनकी समष्टि को हम हिन्दी की संज्ञा देते हैं। इतिहास लिखते समय उन्होंने हिन्दी शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थ में किया है कि उसके अंतर्गत पुरानी हिन्दी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, खड़ीबोली सबका सन्निवेश हो जाता है। केवल साहित्यिकता की सुरक्षा के लिए उन्होंने किसी काल विशेष में उसी विशिष्ट बोली के कवियों एवं कृतियों के इतिहास का सन्निवेश किया है जो उस काल में साहित्यिक रचना में सबसे आगे रही अथवा जिसमें प्रसिद्ध साहित्यिक कवि उत्पन्न हुए। इस व्यापक दृष्टि की रक्षा करते समय उन्होंने लोक-साहित्य तथा विशुद्ध साहित्य के अंतर का ध्यान सदैव रखा है।

लोक-धर्म एवं रस-सिद्धान्त को समीक्षादर्श-रूप में ग्रहण करने के कारण शुक्ल जी के इतिहास में संकीर्णता नहीं आने पाई, उसका निर्माण मानवतावादी पृष्ठभूमि पर हुआ।

इतिहास में समीक्षा की एक सर्वमान्य कसौटी अपनाने से उनके साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संदेश सुसंगठित होकर एक समन्वित प्रभाव पाठकों के ऊपर डालने में समर्थ होते हैं।

रस की व्यापक दृष्टि अपनाने के कारण तथा उसके प्रति अनन्य रहने के कारण शुक्ल जी को अपने इतिहास में साहित्यिक तथा असाहित्यिक कृतियों के निराकरण में जितनी सफलता मिली है उतनी अन्य इतिहासकारों को नहीं मिली।

भारतीय समीक्षा की रस-दृष्टि अपनाने के कारण वे हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधियों, विभूतियों के संरक्षण में ही समर्थ नहीं हुए वरन् अपने समय की साहित्यिक रुझानों, उलझनों, समस्याओं तथा प्रश्नों को रस-पद्धति के मार्ग-प्रदर्शन में हल करते हुए उनकी आधुनिक गति-विधि के पथ-प्रदर्शन तथा नियंत्रण में भी सफल हुए। इस प्रकार शुक्ल जी ने अपने इतिहास द्वारा न्दी-साहित्य तथा भाषा की प्रकृति तथा सम्पत्ति को पहचानना सिखाया तथा रक्षा एवं विकास का मार्ग बताया।

तहास लिखते समय जीवन-क्षेत्र में लोक-धर्म को तथा साहित्य-क्षेत्र सिद्धान्त को अपनाने के कारण उनकी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि व्यापक कोटि की हो गई है।

द्धान्तिक दृष्टि से इस ग्रन्थ की महत्ता इस बात में है कि इसमें लेखक स्त प्रमुख साहित्यिक, दार्शनिक तथा सांस्कृतिक विचारधाराओं की मिलती है।

तेहास-लेखन में भारतीय समीक्षा के प्रमुख सिद्धान्त—रस-सिद्धान्त के प्रति अनन्य रहने के कारण, युग के अनुसार उसके पुनरुत्थान का स्वरूप बताने के कारण, उसकी व्याप्ति के भीतर सांस्कृतिक, दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक तत्वों को सन्निहित करने के कारण शुक्ल जी के इतिहास का संदेश राष्ट्रीय होते हुए भी सम्पूर्ण मानवता के अनुकूल सिद्ध हुआ है। शुक्ल जी के इतिहास का जीवन-सम्बन्धी संदेश यही है कि इस देश के साहित्यकार प्रस्तुत परिस्थितियों में देश अथवा समाज से उदासीन अथवा निरपेक्ष न रहकर जीवन तथा जगत् से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हुए अपनी वैयक्तिक साधना का लोक-साधना के साथ सामंजस्य स्थापित करके देश तथा विश्व के नवनिर्माण में योग दें। कौन कह सकता है कि शुक्ल जी के इतिहास के उपर्युक्त संदेश में राष्ट्रीयता के साथ मानवता का तत्व संश्लिष्ट नहीं है।

स्काट जेम्स की दृष्टि में[1] इतिहास और आलोचना दो भिन्न वस्तुयें हैं। अतः इतिहासकार एवं आलोचक का कार्य प्रायः भिन्न कोटि का होता हैं। साहित्य के इतिहासकार का कार्य संकलन, परीक्षण, टिप्पण, संपादन, शोधन आदि का होता है। इस कार्य में उसे निम्न कोटि की कृतियों का भी संकलन, सम्पादन तथा परीक्षण करना पड़ता है; किन्तु तत्वाभिनिवेशी तथा विवेकी आलोचक में निम्नश्रेणी की ग्रन्थराशि की परीक्षा या विवेचना की न तो वृत्ति होती है और न वह उसके लिए श्रम ही करता है। इसी कारण साहित्य के श्रेष्ठ इतिहास-

---

1—The Making of Literature: R. A. Scott James, 24, 25. P.

कार तथा श्रेष्ठ आलोचक के व्यक्तित्वों का सम्मिलन किसी किसी व्यक्ति में अपवाद रूपमें यदा कदा ही देखने को मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी इस अपवाद के उदाहरण थे। उन्हें ऐतिहासिक एवं आलोचक दोनों प्रकार की दृष्टियां प्राप्त थीं। इसीलिए वे अपने इतिहास-लेखन में शोध-वृत्ति एवं आलोचक-वृत्ति का समन्वय उपस्थित करने में समर्थ हुए तथा साहित्य के श्रेष्ठ इतिहासकार के साथ साथ श्रेष्ठ समालोचक बनने में सफल। शुक्ल जी के इतिहास का सर्वाधिक महत्व शोध-वृत्ति एवं आलोचना-वृत्ति के समन्वय द्वारा साहित्य के इतिहास के अध्ययन की एक व्यवस्थित पद्धति निश्चित करने में है। उनके इतिहास की सफलता एवं श्रेष्ठता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनके द्वारा स्थापित हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन की व्यवस्था ही भविष्य के हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों में प्रचलित हुई। उनके द्वारा स्थापित काल-विभाजन का सिद्धान्त प्राय: सर्वमान्य सा हो गया है। केवल इतिहास के अन्तर्गत उनके द्वारा की गई कवियों की व्यावहारिक आलोचना, साहित्य-रूपों की विवेचना; आधुनिक विभिन्न वादों की समीक्षा तथा यथा प्रसंग उनके द्वारा किये गये भारतीय एवं पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों के विश्लेषण के बल पर उन्हें श्रेष्ठ आलोचक का पद मिल सकता है। इतिहासगत उनकी व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक आलोचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्हें भारतीय समीक्षा की आत्मा का सच्चा दर्शन प्राप्त हुआ था; इसीलिए वे भारतीयता तथा भारतीय समीक्षा की आत्मा का सच्चा दर्शन अपने इतिहास के पाठकों को हिन्दी-कवियों तथा लेखकों की आलोचना के माध्यम से कराने में समर्थ हुए।

किसी भी साहित्य के इतिहासकार को इतिहास-प्रणयन में सच्ची सफलता प्राप्त करने के लिए केवल ऐतिहासिक एवं आलोचक-दृष्टि ही पर्याप्त नहीं होती वरन् उसके लिए राष्ट्रीय दृष्टि भी आवश्यक ही नहीं अनिवार्य होती है। उपर्युक्त विवेचित तथ्यों से यह बात स्पष्ट है कि इतिहास लिखते समय शुक्ल जी के पास ऐतिहासिक एवं आलोचक-दृष्टि के साथ-साथ राष्ट्रीय दृष्टि भी वर्तमान थी। इसीलिए हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन में उन्हें उत्कृष्ट कोटि की सफलता मिली।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी का इतिहास अभी तक के हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उसमें किसी प्रकार का अभाव या दोष नहीं है।

साहित्य के इतिहास-प्रणयन में सच्ची सफलता तभी मिल सकती है जब इतिहासकार साहित्य का इतिहास दिग्दर्शन कराने के अवसर पर तत्कालीन

मानव जीवन के समस्त विभागों को स्पष्ट करके दोनों के अन्योन्य संबंध को स्थापित कर दे। शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विभिन्न युगों की विशेषताओं को तत्कालीन मानव-जीवन की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थितियों की उपज बताकर दोनों में कारण-कार्य-सम्बन्ध द्वारा अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित किया है तथा कारण रूप में तत्कालीन मानव-जीवन के उक्त विभागों की विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है किन्तु इस अवसर पर उन्होंने न तो आर्थिक जीवन की परिस्थितियों तथा विशेषताओं को विवृत किया है और न उस युग के साहित्य-निर्माण के ऊपर उन परिस्थितियों तथा विशेषताओं के प्रभाव को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस तथ्य की उपेक्षा साहित्य-निर्माण तथा साहित्य-परिवर्तन में आर्थिक परिस्थिति, अर्थनीति तथा उत्पादन-व्यवस्था को महत्व देने वाले आधुनिक आलोचकों को खटकती है।

साहित्य-रूपों में शुक्लजी को सर्वाधिक प्रिय कविता थी। इसीलिए इतिहास में कवियों के विवेचन में उनका मन अधिक रमा है। उनके सैद्धान्तिक विवेचन का आधार भी कविता ही है[1]। काव्य से सम्बन्धित रस-सिद्धान्त को उन्होंने अपने इतिहास में अंगी सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया है। काव्य के रूपों तथा तत्वों का विवेचन उन्होंने यथा प्रसंग इतिहास में अपेक्षाकृत अन्य साहित्यरूपों के अधिक विस्तार से किया है। साहित्य के अन्य रूप-जैसे, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि का उन्होंने सिंहावलोकन ही किया है।

शुक्ल जी ने इतिहास में अपने पूर्व निरूपित सिद्धान्तों के आधार पर प्रत्येक कवि को परखना चाहा है, जिससे उनकी समीक्षा तथा विश्लेषण सर्वत्र वस्तु-न्मुखी नहीं हो सका है। बहुत से कवियों की प्रवृत्ति तथा परिस्थिति के साथ सहानुभूति रखकर उनके काव्य की परख नहीं की गई है[2]। पूर्वग्रह का सर्वथा परित्याग शुक्ल जी अपने इतिहास में नहीं कर पाये हैं। इसका सबसे कठोर दण्ड कबीर, केशव तथा आधुनिक काल के छायावादी कवियों को सहना पड़ा है[3]।

कहीं कहीं पर किसी कवि के विषय में उनके द्वारा अतिरंजित धारणा भी व्यक्त हो गई है। उदाहरणार्थ, घनानंद की भाषा के विषय में उनके ये वाक्य— 'इनकी सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में और कोई

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना-डा० रामविलास शर्मा, पृ० २२१.

२—आधुनिक साहित्य-आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पृ० २६९.

३—वीणा-मई १९५७. हिन्दी-साहित्य में इतिहास का दृष्टिकोण: प्रो० आनन्दनारायण शर्मा।

कवि समर्थ नहीं हुआ। भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं[1]", विचारणीय है; क्योंकि घनानंद की भाषा को सूर एवं तुलसी जैसे सिद्धहस्त कवियों की काव्य-भाषा से उत्कृष्ट बताना तथा ब्रजभाषा पर उनके अधिकार को उक्त दोनों कवियों से अधिक मानना किसी अंश तक अति-रञ्जित कथन ही कहा जायगा[2]।

वर्तमान युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके समसामयिक साहित्यकारों की चर्चा जितने सुन्दर तथा विस्तृत रूप से की गई है उतने सुन्दर तथा विस्तृत रूप में द्विवेदी-युग का विवेचन नहीं हुआ है।

काव्य में रहस्यवाद

प्रकाशन-काल-विजयादशमी सं० १९८६, तदनुसार सन् १९२९ ई०।

इस पुस्तक के वक्तव्य से विदित है कि शुक्ल जी ने इसकी रचना तत्कालीन युग में रहस्यवाद या छायावाद सम्बन्धी हिन्दी-कविता के विषय में फैले हुए अज्ञान तथा भ्रांति के निवारण के लिए की[3]। इस विस्तृत निबन्ध में शुक्ल जी ने अपने साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि तत्कालीन हिन्दी-काव्य में प्रचलित रहस्यवाद अथवा छायावाद सम्बन्धी कवितायें काव्य के सामान्य स्वरूप को व्यक्त नहीं कर सकतीं[4]। वे हिन्दी-काव्य की एक शाखा के रूप में चल सकती हैं किन्तु हिन्दी- काव्य की एक शाखा के रूप में चलने के लिए यह आवश्यक है कि वे विशिष्ट वाद-ग्रस्त होकर न चलें, स्वाभाविक रहस्य-भावना का आश्रय लेकर चलें[5]।

शुक्लजी ने अपने विविध साहित्य-सिद्धान्तों-रस, अलंकार, रीति[6], वक्रोक्ति[7], औचित्य[8], अभिव्यक्ति-सिद्धान्त[9], जीवन एवं साहित्य की अविच्छिन्नता का सिद्धान्त[10], प्रबन्धकाव्यरूप-सम्बन्धी सिद्धान्त[11], विविध काव्य-तत्वों, सूक्ष्म सत्य[12]

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल, पृ० ३६६, ३७१.

२—आधुनिक साहित्य--आचार्य वाजपेयी, पृ० २६९.

३—काव्य में रहस्यवाद		पृ० १४४.	४—	वही	पृ०२,५७,५९,६०,८२.
५—	वही	पृ० १४५,	६—	वही	पृ० १४६.
७—	वही	पृ० ७१, ७२.	८—	वही	पृ० ७९.
९—	वही	पृ० ५.	१०—	वही	पृ० ८, ८४.
११—	वही	पृ० ९२.	१२—	वही	पृ०१३२.

गत्यात्मक सौन्दर्य[१], गत्यात्मक मंगल[२], शील-निरूपण[३], कल्पना[४], प्रतीक-विधान[५], प्रकृति-वर्णन[६], संश्लिष्ट वर्णन[७] लोक-मंगल की साधनावस्था[८], छंद-विधान[९], भाषा की प्रकृति[१०]; विविध काव्य-विशेषताओं—भावना की सचाई[११], व्यंजना की स्वाभाविकता[१२], रमणीयता[१३], प्रेषणीयता[१४], प्रभविष्णुता[१५]; कवि की विविध विशेषताओं—मार्मिक स्थलों की पहचान[१६], भावुकता[१७] आदि तथा अपनी काव्य-परिभाषा[१८]; काव्य-व्याप्ति[१९], काव्य-प्रयोजन[२०], काव्य-लक्ष्य[२१], काव्य-पक्ष[२२], प्रकृत काव्य-भूमि[२३], काव्य का प्रकृत स्वरुप[२४], काव्य-सम्बन्ध,[२५] कवि-कर्म-कसौटी[२६] एवं हिन्दी-साहित्य की स्वतन्त्र प्रगति, स्वतन्त्र विकास[२७]-सिद्धान्त की दृष्टि से तत्कालीन हिन्दी-काव्य की रहस्यवादी अथवा छायावादी कविताओं को परख कर यह निष्कर्ष निकाला है कि वे काव्य के सामान्य स्वरूप को प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं[२८]।

काव्य-सम्बन्धी अपने विविध मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों तथा धारणाओं—भाव-चक्र का लौकिक आधार तथा उसमें ज्ञानात्मक अवयवों का समावेश,[२९] काव्य-प्रेरणा का आधार—इन्द्रियज ज्ञान,[३०] कल्पना का लौकिक आधार,[३१] काव्य में मानव-अन्तः-प्रकृति की विविधता,[३२] प्रेम का आधार—गोचर या व्यक्त-

---

१—काव्य में रहस्यवाद		पृ० ३, ४६	२—	वही	पृ० १०,
३—	वही	पृ० १२७.	४—	वही	पृ० ६६.
५—	वही	पृ० ८७.	६—	वही	पृ० १७.
७—	वही	पृ० १२७, १३२	८—	वही	पृ० १०.
९—	वही	पृ० १३३.	१०—	वही	पृ० १४१.
११—	वही	पृ० ९८, १०३	१२—	वही	पृ० २१, १०३.
१३—	वही	पृ० ५७	१४—	वही	पृ० १३५.
१५—	वही	पृ० ५७.	१६—	वही	पृ० ६७.
१७—	वही	पृ० ८९.	१८—	वही	पृ० १.
१९—	वही	पृ० १५.	२०—	वही	पृ० १.
२१—	वही	पृ० ७१,९०,१०४.	२२—	वही	पृ० ५.
२३—	वही	पृ० ३७	२४—	वही	पृ० १६.
२५—	वही	पृ० ११.	२६—	वही	पृ० ७९.
२७—	वही	पृ० ७०, १४८.	२८—	वही	पृ० १४२, १४४.
२९—	वही	पृ० ५८, ९१.	३०—	वही	पृ० ७७, ११२.
३१—	वही	पृ० ९१,९५,९८.	३२—	वही	पृ० १३, ११०.

जगत्[1], प्रेम का उद्भावक–परिचय अथवा साहचर्य[2] तथा काव्य में रागात्मिका प्रकृति को स्पर्श-एवं प्रभावित करने की शक्ति[3] के आधार पर शुक्लजी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि काव्यगत रहस्यवाद स्वाभाविक भावना की अभिव्यक्ति के रूप में ही काव्य की एक विशिष्ट शाखा का रूप धारण कर सकता है, किसी विदेशी काव्यगत वाद के अनुकरण–रूप में नहीं[4]।

शुक्ल जी ने अपने धार्मिक सिद्धान्त—सगुणोपासना[5], लोक-संग्रह[6] तथा मर्यादावाद[7] एवं दार्शनिक सिद्धान्त— अद्वैत-सिद्धान्त[8], अभिव्यक्ति सिद्धान्त[9] समन्वय सिद्धान्त[10]: शक्ति, शील तथा सौन्दर्य का समन्वय एवं कर्म, ज्ञान तथा भक्ति का समन्वय:, वस्तुवादी सिद्धान्त,[11] लोक-धर्म सम्बन्धी सिद्धान्त[12] तथा लौकिक जीवन की पूर्णता[13] के सिद्धान्त के आधार पर तत्कालीन हिन्दी-काव्य में प्रचलित रहस्यवाद तथा छायावाद की परीक्षा करके यह निष्कर्ष निकाला है कि वह विशिष्ट वादग्रस्त रूप में काव्य के प्रकृत स्वरूप को उपस्थित करने में असमर्थ है।

शुक्ल जी की उक्ति से यह विदित है कि उन्होंने यह सारा निबन्ध हिन्दी की तत्कालीन छायावादी अथवा रहस्यवादी कविताओं में पाई जाने वाली विलायती अन्धाधुन्ध नकल से घबड़ा कर ही लिखा है। उनकी उक्ति में प्राप्त 'घबरा कर' शब्द यह व्यक्त करने में समर्थ है कि इस कृति को लिखते समय उनकी मानसिक अवस्था कुछ क्षुब्ध कोटि की थी। अतः तत्कालीन छायावादी अथवा रहस्यवादी हिन्दी कविताओं पर उन्होंने जो दोष अथवा आरोप लगाये हैं उनमें से एकाध यदि कुछ दूर तक अतिरंजित अथवा असंतुलित कोटि के हों तो कोई आश्चर्यजनक अथवा अस्वाभाविक बात नहीं। जैसे, उन्होंने अपने युगमें हिन्दी में लिखी जानेवाली सभी छायावादी कविताओं को कितनी विलायती चीजों का मुरब्बा[14] कहा है। शुक्ल जी की इस धारणा में निश्चय ही कुछ अतिरंजना का समावेश है। इस मत को व्यक्त करते समय उनके दृष्टि पथ में न तो सभी छायावादी कवि थे और न सभी छायावादी काव्य-विशेषतायें ही थीं।

१-२—काव्य मे रहस्यवाद—पृ० ५०, ४२ · ३— वही पृ० १७-११२
४— वही पृ० ५२.   ५— वही पृ० ४७.
६— वही पृ० २, ५.   ७— वही पृ० ७५
८— वही पृ० ११२   ९— वही पृ० १०९,१११
१०— वही पृ० ५,१४,१५१.   ११— वही पृ० १२.
१२— वही पृ० ५५.   १३— वही पृ० १५.१६
१४— वही पृ० १२८

इस अवसर पर छायावादियों पर वाद विशेष से बंध जाने का दोष लगाते हुए उन्होने स्वयं छायावाद को संकुचित वाद—रहस्यवाद के अर्थ में लिया है[१]। क्योंकि उस युग की हिन्दी की सभी छायावादी कवितायें विलायती छायावादी अथवा रहस्यवादी कविताओं के अनुकरण-स्वरुप ही नहीं लिखीं गई थीं। सभी छायावादी कवि केवल अंग्रेजी रहस्यवादी कवियों का ही अनुकरण नहीं कर रहे थे। इन छायावादी कवियो की काव्य-शैलियों, अनुभूतिवों एवं कल्पनाओं में स्वच्छन्दतावादी धारा के अंग्रेजी कवियों—वर्डसवर्थ, शेली, कीटस आदि की कविताओं की अनुभूतियों, कल्पनाओं एवं काव्य-शैलियों की बहुत कुछ समानताओं के उपलब्ध होने का कारण दोनों देशों के कवियों की सामाजिक परिस्थितियो एवं युगादर्शों की समानता[२] है। काव्य का प्रेरक तत्व अनुभूति है, उसकी अनुपस्थिति में किसी देश में एक समय में इतनी अधिक कवितायें इतने अधिक कवियों द्वारा किसी एक विशिष्ट शैली में नहीं लिखीं जा सकतीं। उस युग की अनेक छायावादी कवितायें[3] युग की सामाजिक परिस्थितियों एवं लोक-प्रवृत्तियों के प्रभाव के फल-स्वरूप लिखी गई थीं; उनमें कवियो की निजी अनुभृतियाँ थीं जो युग-परिस्थितियों तथा प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात से उत्पन्न हुई थीं; उस युग के सामाजिक उपकरण उनकी कविताओं के प्रेरक तत्व थे[४]। छायावादी कवियों ने भी प्रायः उन्हीं प्रेरणाओं से परिचालित होकर बहुधा उन्हीं सामाजिक परिस्थितियों में अपनी रचनायें की हैं जिनमें अन्य नव्यतर साहित्यिकों ने अपनी रचनायें कीं[५]। जहां तक इनकी रचनाओं में भावों एवं कल्पनाओं का प्रश्न है उनमें वैसी ही नवीनता, प्रत्यग्रता एवं परिष्कृति वर्तमान है जैसी इतर हिन्दी-कवियों में पाई जाती है। जहां तक दार्शनिक विचारों का प्रश्न है छायावादी काव्य इस देश की दार्शनिक बुनियाद को स्वीकार करके चला है और उसमें उसी के अनुरूप शब्दों का संचय है[६]। छायावादी काव्य में उस युग के प्रति विद्रोह, देश-स्वातंत्र्य, जीवन-निष्ठा एवं सजगता का भी स्वर है[७]। छायावादी

१—काव्य मे रहस्यवाद—पृ० १२६.

२—नया साहित्यः नये प्रश्न—आचार्य वाजपेयी — पृ० १४६.

३—छायावादी कवितायें—प्रलय की छाया (प्रसाद), तुलसीदास (निराला), आदि

४—आधुनिक साहित्य-आचार्य वाजपेयी — पृ० ३४४.

५— वही — पृ० ३४४.

६— वही — पृ० ३४४.

७— वही — पृ० ३४३.

काव्य की उपर्युक्त विशेषताओं के प्रमाणार्थ प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी आदि छायावादी कवियों की कवितायें उपस्थित की जा सकती हैं। छायावादी काव्य तथा कवियों की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर शुक्लजी द्वारा छायावादी काव्य के ऊपर लगाया हुआ आरोप अथवा दोष ऐतिहासिक तथ्य-स्थापन की दृष्टि से असमाधानकारक प्रतीत होता है। किन्तु जिस साहित्यिक दृष्टि से उन्होंने यह पुस्तक लिखी है, जिन सिद्धान्तों के प्रति उन्होंने इसमें अपनी आस्था तथा अनन्यता प्रगट की है, उनसे शुक्ल जी के असाधारण पांडित्य, स्वतन्त्र प्रतिभा, मौलिक चिन्तन तथा प्रभावशाली तार्किक विवेचन का प्रमाण मिलता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य के संरक्षक तथा नियंत्रणकर्ता के रूप में छायावाद अथवा रहस्यवाद को ही हिन्दी-कविता का प्रकृति रूप समझने वालों[1], वर्तमान युग की हिन्दी-कविता की सम्पूर्ण व्याप्ति को उसी के भीतर सीमित करने वालों[2], उसीके भीतर वर्तमान युग की आकांक्षाओं की निहिति मानने वालों[3] के अज्ञान के निवारणार्थ यह निबन्ध लिखा है। निबन्ध के अंत में निष्कर्ष रूप में शुक्ल जी ने यह स्पष्ट कह दिया है कि वे हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में रहस्यवाद की भी एक शाखा चलने के विरोधी कभी नहीं हैं[4]; उनका कहना केवल यही है कि वह साम्प्रदायिक वाद अथवा विलायती काव्य के अनुकरण रूप में न चले[5], स्वाभाविक रहस्यभावना का आश्रय लेकर चले[6]; हिन्दी कविता केवल उसीके भीतर सीमित न की जाय; हिन्दी-कविता का विकास केवल रहस्यवाद के मार्ग पर न हो[7]; उसका हृदय, उसकी वाणी तथा उसकी दृष्टि भारतीय हो[8]।

छायावादी या रहस्यवादी कवि जहाँ वाद विशेष से मुक्त होकर[9], अलौकिक कल्पना-लोक छोड़कर,[10] स्वाभाविक रहस्यभावना का आश्रय लेकर[11], वास्तविक जगत की ओर आते हैं; देश की समस्याओं पर ध्यान देते हैं, लोक-पक्ष को समन्वित करके चलते हैं;[12] वर्णन में गोचर एवं प्रत्यक्ष को अपनाते

१—काव्य में रहस्यवाद—वक्तव्य — २— वही — पृ० १४७.
३— वही —वक्तव्य — ४.— वही — पृ० १४४.
५— वही — पृ० १४२. ६— वही — पृ० १४४.
७— वही — पृ० १४८. ८— वही — पृ० १४२.
९— वही — पृ० १४२. १०— वही — पृ० ६६,६७,११२,११७
११— वही — पृ० १४२. १२— वही — पृ० ४५

हैं[1], लाक्षणिक[2] प्रयोगों में सावधानी रखते हैं; बंगला, अंग्रेजी आदि की अनुकरण-वृत्ति छोड़कर अपनी भाषा की स्वाभाविक शक्ति से काम लेते हैं[3], वहाँ शुक्ल जी उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहते। इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने रहस्यवाद अथवा छायावाद को अपने सिद्धान्त की कसौटी पर कसते हुए निष्कर्ष रूप में प्राप्त उसके मूल्यवान वस्तु को स्वीकार करके तथा उसके गुणों की प्रशंसा करके एक ओर गुण-ग्राहकता के सिद्धान्त का परिचय दिया है तो दूसरी ओर उसके दोषों का निरूपण करते हुए उनके निराकरण का उपाय बताकर अपनी क्षीर-नीर विवेकी प्रकृति का परिचय कराया है।

शुक्लजी ने वादग्रस्त अथवा विलायती अनुकरण पर चलने वाले अध्यात्म-वादी, अलोकोन्मुखी छायावाद अथवा रहस्यवाद का जो विरोध किया उसके पीछे भी उनकी दृढ़ सिद्धान्त-निष्ठा; जातीय काव्य-परम्परा, यथार्थ मानव जीवन तथा राष्ट्र के प्रति उनका प्रकृष्ठ प्रेम प्रतिबिम्बित होता है। वे वाल्मीकि, कालि-दास, भवभूति, तुलसी आदि कवियों द्वारा निर्मित भारतीय साहित्य की जातीय परम्परा को छायावाद के परोक्ष चिन्तन, पलायनवाद, भाग्यवाद, निराशा-वाद, वेदनावाद, अटपटी एवं दुरूह शैली आदि से बचाना चाहते थे; वे इस लोक के यथार्थ मानव जीवन से रागात्मक सम्बन्ध रखने के कारण, लोकहितैषी मनोवृत्ति को प्रधानता देने के कारण इससे दूर हटाने वाली या इसकी सम-स्याओं से विमुख करने वाली रहस्यवादी कविताओं को काव्य का प्रकृत रूप कहने से अस्वीकार करते थे। देश जब परतन्त्रता की बेड़ियों में कराह रहा हो; जनता लौकिक वस्तुओं के अभाव में तड़प रही हो तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वालों पर जब नाना प्रकार के अत्याचार हो रहे हों उस समय वहाँ के कवियों का क्षितिज के उस पार झांकना; लौकिक प्रणयी का रूप-चित्रण अथवा प्रेम वर्णित कर असीम, अनन्त, अरूप आदि कुछ शब्दों को लगाकर उसे अलौकिक कहते हुए काव्य-जगत में आडम्बर एवं पाखण्ड फैलाना; राष्ट्र अथवा जनता को आलम्बन बनाने के बदले असीम तथा अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अपनी कविता को परोक्ष चिन्तन की ओर उन्मुख करना; न्याय के आग्रह के बदले वेदना के स्वर भरना; आदेश और उत्साह के बदले खिन्नता, अकर्मण्यता तथा अवसाद के गीत गाना उन्हें सह्य नहीं।

१—काव्य में रहस्यवाद वक्तव्य—पृ० ५६.

२— वही — पृ० १४०

३— वही — पृ० १४०.

शुक्लजी ने अपने युग में छायावादी अथवा रहस्यवादी कविताओं के जिन प्रमुख दोषों पर आक्रमण किया वह राष्ट्र की परिस्थिति देखते हुए उपयुक्त हो था, उसमें अतिरंजना भले ही कहीं रही हो। शुक्ल जी द्वारा छायावाद के विरोध की चर्चा के प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने छायावाद के अतिरिक्त उसकी अन्य पूर्ववर्ती हिन्दी काव्यधाराओं का भी विरोध किया था। जैसे, उन्होंने चमत्कारवादी रीतिकालीन काव्यधारा का घोर खण्डन किया है; उसकी पतनोन्मुखी विचारधारा की भर्त्सना की है। इसी प्रकार उन्होंने द्विवेदी युग के उथले नैतिकवादी कवियों, गद्यात्मक निबन्ध-कोटि की इतिवृत्तात्मक कविताओं का विरोध किया है तथा द्विवेदीकालीन देशभक्ति सम्बन्धी उन कविताओं की भी निन्दा की है जिनमें तत्कालीन विदेशी शासन-पद्धति के प्रति केवल असन्तोष व्यक्त किया जाता था अथवा केवल विदेशी शासकों से स्वतन्त्रता याचना की अभिव्यक्ति की जाती थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्लजी द्वारा उपर्युक्त काव्यधाराओं के विरोध में उनकी लोक-धर्म-साधन तथा राष्ट्रीय हित-चिन्तन की दृष्टि ही प्रमुख थी। अतएव उनके द्वारा किये गये उपर्युक्त कोटि के विरोध, उनके आलोचकों को उन्हें राष्ट्रीय समीक्षक, साहित्य-नियन्ता एवं साहित्य-संरक्षक के पद पर आसीन करने के लिए बाध्य करते हैं। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक की आलोचना-पद्धति में एकांगिता नहीं है। क्योंकि उन्होंने उसकी परीक्षा अपने साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर की है। उसके वर्ण्य एवं वर्णन-प्रणाली, भाव एवं कला पक्ष—दोनों प्रकार की विशेषताओं की आलोचना की है; दोनों पक्षों के गुणों तथा दोषों का विवेचन किया है; साथ ही एक साहित्य-नेता के रूप में उन दोषों को दूर करने का मार्ग भी बताया है।

अभिभाषण या काव्य में अभिव्यंजनावाद:—

प्रकाशन काल—सं० १९९२ तदनुसार सन् १९३५ ई०.

आचार्य शुक्ल ने यह अभिभाषण चौबीसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से इन्दौर में दिया था। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी के शब्दों में 'इसे भाषण का रूप कुछ वाक्यों ने आदि, मध्य और अन्त में जुड़कर दिया है। यदि यह वाक्यावली हटा ली जाय तो यह वर्तमान हिन्दी साहित्य का सिंहावलोकन करने वाला निबन्ध ही दिखाई देगा। वस्तुतः साहित्य की अन्य शाखाओं का अवलोकन तो इसमें नाममात्र को है, कविता और काव्य-क्षेत्र में फैले अभिव्यंजनावाद की विस्तृत मीमांसा ही इसमें प्रमुख है[1]।'

१—चिन्तामणि, द्वितीय भाग—पृ० १. — दो बोल

त: 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के नियमानुसार उन्होंने इस कृति का नाम
ाव्य में अभिव्यंजनावाद' रखकर चिन्तामणि द्वितीय भाग में इसे संकलित
िया है। भाषण-बोधिनी पदावली छोटे अक्षरों तथा छोटे कोष्ठकों ( ) में
न्द कर दी गई है। जो अंश पादटिप्पणी में बड़े कोष्ठकों [ ] से घिरे हैं वे
ाश्र जी के हैं।

में ढले हुए केवल छोटे से सम्प्रदाय का जीवन-चित्रण हिन्दी-उपन्यास में पसंद नहीं है[१]। उस समय हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में उन्हें ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव खटका था। इस अभाव की पूर्ति के लिए उन्होंने उस समय प्रसाद जी को प्रेरित किया था[२]।

तत्कालीन हिन्दी-कहानी-क्षेत्र की गति-विधि पर शुक्ल जी ने हर्ष प्रगट किया है। उन्हें योरोपीय छोटी कहानियों के ढंग पर लिखी हुई हिन्दी की छोटी कहानियाँ पसन्द हैं[३]।

हिन्दी में नये ढंग के गद्य काव्य का एक विशिष्ट स्थान मानते हुए भी उसकी भरमार शुक्ल जी को पसन्द नहीं है, क्योंकि उनकी दृष्टि में गद्य काव्य के आधिक्य से प्रकृत गद्य का विकास रुक जायगा तथा भाषा की शक्ति की वृद्धि में बाधा पड़ेगी[४]।

हिन्दी-निबन्ध की गति-विधि पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने उसमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों के योग पर बल दिया है[५]।

साहित्य के विविध रूपों की गति-विधि पर विचार करने के पश्चात् शुक्ल जी ने हिन्दी-भाषा की तत्कालीन गति-विधि पर भी संक्षेप में विचार किया है। भाषा पर विचार करते हुए उन्होंने लेखकों एवं कवियों को हिन्दी-भाषा में अंग्रेजी पदों के अनुवाद लाने की प्रवृत्ति तथा व्याकरण की अशुद्धि की असावधानी की ओर सावधान किया है एवं हिन्दी भाषा के स्वतन्त्र स्वरूप के विकास की ओर उन्हें सजग किया है[६]।

चिन्तामणि, पहला भाग:—प्रकाशनकाल १९३९ ई०

आचार्य शुक्ल के निबन्धों का संग्रह पहले 'विचार-वीथी' नाम से सन् १९३० ई० में निकला था; पीछे वही परिवर्धित तथा परिष्कृत होकर चिन्तामणि पहला भाग के रूप में प्रकाशित हुआ था। विचार-वीथी अथवा चिन्तामणि के मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध सन् १९१२ से १९१८ तक नागरी प्रचारिणी पत्रिका में धारावाहिक रूप में 'मनोविकारों का विकास' शीर्षक से प्रकाशित हुए। इन मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में प्रथम निबन्ध 'भाव या मनोविकार' पर है; शेष में से सात—'उत्साह,' 'श्रद्धा-भक्ति' 'करुणा', 'लोभ-

---

१—अभिभाषण पृ० १०६. २+३— वही पृ० १०७.
४— वही पृ० १०७, १०८. ५— वही पृ० १०९, ११०.
६— वही पृ० ११०,१११.

प्रीति,' 'घृणा,' 'भय' तथा 'क्रोध' का सम्बन्ध रस के मूल स्थायी भावों से है तथा अवशेष दो—'लज्जा और ग्लानि' एवं ईर्ष्या' का सम्बन्ध संचारी भावों से है। चिन्तामणि के अन्य अवशेष निबन्धों में से तीन 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,' 'तुलसी का भक्ति-मार्ग' तथा 'मानस की धर्म-भूमि' व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्ध रखते हैं तथा शेष चार—'कविता क्या है,' 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था,' 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' एवं 'रसात्मक बोध के विविध रूप' का सम्बन्ध सैद्धान्तिक समीक्षा से है।

मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में विषय का प्रसार मानस-शास्त्र की स्वीकृत गति-विधि तथा सीमा के अनुसार नहीं है, वरन् तद्विषयक अध्ययन, अनुभूति तथा प्रेरणा के अनुसार है। भाव-सम्बन्धी जो कुछ भी मनोवैज्ञानिक सामग्री शुक्ल जी को अध्ययन से मिली उसका प्रयोग उन्होंने रस-व्याख्या की दृष्टि से भाव-निरूपण के सन्दर्भ में किया है। शुक्ल जी ने अपने अध्ययन में अपनी अनुभूति का मणिकांचन संयोग करके, साहित्य तथा जीवन की तत्कालीन समस्याओं को सुलझाने की प्रेरणा को निबन्धों का उत्स बनाकर रस की शास्त्र-जड़ीभूत यंत्रगतिक व्याख्या को नव जीवन तथा नये आदर्शों से प्रदीप्त कर इन निबन्धों द्वारा रससिद्धान्त का नव-निर्माण, पुनर्प्रतिष्ठा तथा स्थापना बहुत ही सुदृढ़ भूमिका पर करने का प्रयत्न किया है। इन निबन्धों में साहित्य के मूल भावों का विवेचन साहित्य की दृष्टि से विशेषतः नव रस-विवेचन की दृष्टि से मनोविज्ञान का सहारा लेकर लोकगत व्यावहारिक जीवन की पृष्ठभूमि पर किया गया है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उन्होंने इन मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों द्वारा आधुनिक मनोविज्ञान, अपनी निजी अनुभूति, तथा चिन्तनकी सहायता से रस की अधुनातन व्याख्या करने की चेष्टा की है।

इन निबन्धों को लिखते समय इनकी दृष्टि मूलतः साहित्य पर, गौणतः जीवन पर केन्द्रित रही, मानस शास्त्र के किसी सैद्धान्तिक अथवा तथ्य सम्बन्धी अनुसंधान पर नहीं। इसीलिए इनमें न तो मानस शास्त्र के समान प्रयोगों द्वारा अथवा कोरे तथ्य-संग्रहों द्वारा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की चर्चा की गई है और न किसी मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय अथवा सिद्धान्त-विवेचना की पद्धति पर मनोविकार के अवान्तर रूपों का स्पष्टीकरण। मनोविज्ञान की दृष्टि से किसी मनोविकार के जितने संभावित भेदोपभेद हो सकते हैं, उन सबका विवेचन किसी भी मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध में नहीं है, वरन् भाव या रस की दृष्टि से लोक-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में किसी मनोविकार के जितने प्रमुख भेद हो सकते हैं, केवल उन्हीं का विवेचन रस-सिद्धान्त की पद्धति पर जीवन तथा

साहित्य के उदाहरणों द्वारा किया गया है, जो व्यावहारिक जीवन के भीतर सामान्य जनों को भी दिखाई दे सकते हैं। मानव जीवन के ये मूल भाव किस प्रकार समग्र जीवन व्यापिनी सत्ता रखते हैं, किस प्रकार त्रिकालवर्तिनी अशेष सृष्टिव्यापिनी अनुभूति अपने भीतर समाहित करते हैं, किस प्रकार व्यक्ति-जीवन तथा लोक-जीवन की सभी घटनाओं, चेष्टाओं तथा क्रियाओं के मूल स्रोत हैं, किस प्रकार शील के आदि संस्थापक हैं, किस प्रकार जीवनशक्ति के केन्द्र-विन्दु हैं, किस प्रकार उसके भिन्न-भिन्न अवयव साहित्यात्मा के निर्माणकर्ता हैं—वे किस प्रकार जीवन तथा साहित्य के अविच्छेद्य सम्बन्ध को स्थापित करते हैं मूल रूप से इन्हीं उक्त बातों को दिखाने का प्रयत्न इन निवन्धों में किया गया है। प्रत्यक्ष रूप से इन मनोविकारों का सम्बन्ध रस के प्रधान अवयवों—स्थायी तथा संचारी भावों से है।

इन मनोवकारों के सामाजिक स्वरूप की व्याख्या इनका प्रतिपाद्य विषय है; इनके वैयक्तिक अथवा तद्भव स्वरूप तुलना के लिए लाये गये हैं। साहित्य तथा जीवन में किसी भावका कौन सा स्वरूप उचित है, कौन सा अनुचित; कौन स्वरूप रस के भीतर आता है, कौन स्वरूप भाव, भावाभास अथवा रसाभास के भीतर जाता है; किसी मनोविकार का कौन स्वरूप लोकमंगल की स्थापना में समर्थ है तथा कौन स्वरूप मानसिक रोग का रूप धारण कर लेता है, जीवन-सन्तुलन को चर जाता है, मनुष्यता को नष्ट कर देता है—आदि बातों की बलपूर्वक व्याख्या इन निबन्धों में की गई है। इन मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में स्थायी तथा संचारी भावों के सामाजिक स्वरूप की प्रशंसा, वैयक्तिक स्वरूप की निन्दा, उनके सुख-शान्ति-स्थापक स्वरूप की आशंसा, मानसिक व्याधि उत्पन्न करने वाले स्वरूप की कुत्सा इस बात को प्रमाणित करती है कि उन्होंने रस के सामाजिक आधार को बलपूर्वक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इन निबन्धों में रस के दार्शनिक सिद्धान्त—अद्वैत सिद्धान्त का उल्लेख प्रसंगानुसार अनेक स्थलों पर हुआ है[1]। इस प्रकार शुक्ल जी के निबन्ध रस के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा दार्शनिक आधार को स्पष्ट करने में समर्थ हैं।

शुक्ल जी की दृष्टि में सामान्य रूप से रस के अन्तर्गत वे सब प्रकार की उक्तियाँ, चेष्टायें, विचार, प्रवृत्तियाँ, मानसिक वेग आदि आते हैं जिनका सम्बन्ध मन के किसी विश्वात्मक भाव या भावात्मक वृत्ति से होता है[2]। किसी

१—चिन्तामणि, पहला भाग—पृ० ७, १०५, ११०.

२—रस-मीमांसा —पृ० १६८,

मनोविकार पर विचार करते समय शुक्ल जी ने तत्सम्भूत उक्तियों, चेष्टाओं, विचारों, प्रवृत्तियों, मानसिक वेगों, तद्भव भावों आदि रस के सभी अवयवों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जीवन तथा साहित्य में रस की व्याप्ति स्पष्ट करना इन निबन्धों का एक मुख्य उद्देश्य जान पड़ता है।

भावों की गति-विधि पर विचार करते समय अनुभावों का तथा उनके कारणों पर विचार करते समय विभावों का भी इन निबन्धों में विवेचन हो गया है। इस प्रकार रस-सिद्धान्त की पूरी सामग्री शुक्ल जी के मनोविकार संबंधी निबन्धों में छिपी है। इन निबन्धों में भावों तथा रसों की ऐसी अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है जो किसी पुराने शास्त्रीय ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हैं। जैसे, रौद्र रस के विवेचन के प्रसंग में राजकोप, धर्मकोप, लोककोप का विवेचन।[1] क्रोध के इतने सूक्ष्म भेदों का विवेचन शास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं मिलता। चिढ़-चिड़ाहट को क्रोध का एक हलका रूप कहना शुक्ल जी की मौलिक वस्तु है[2]। भावों की भाव दशा, स्थायी दशा, शीलदशा तथा उनके अन्य भेदोपभेदों का जैसा तुलनात्मक विवेचन इन निबन्धों में मिलता है वैसा संस्कृत अथवा हिन्दी के किसी शास्त्रीय ग्रन्थ में नहीं मिलता। किसी भाव-विवेचन के प्रसंग में तज्जन्य प्रकृतिगत जिन-जिन मानसिक अवस्थाओं का उल्लेख शुक्ल जी ने किया है वे रस की बंधी लीक पीटने वाले हिन्दी या संस्कृत के ग्रन्थों में नहीं मिलतीं। शुक्ल जी इन निबन्धों में भाव की उच्चता, सर्वत्र सामाजिक भूमि पर, औचित्य तथा लोक-धर्म की कसौटी पर निरूपित करते हैं। इसलिए इन निबन्धों में मूल रूप से रस-सिद्धान्त पर, गौण रूप से नीतिवाद, लोकधर्म, मानवतावाद, तथा उदात्तता के सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ता है। रस सम्बन्धी अनेक भ्रांतियों, त्रुटियों एवं गुत्थियों के निराकरण का प्रयत्न शुक्लजी ने इन निबन्धों में किया है। जैसे, किसी भाव दशा या रस-स्थिति के समय उत्पन्न छोटे छोटे भाव संचारी कहलाते हैं, किन्तु ये ही भाव स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होने पर संचारी नहीं कहलाते। जैसे, शृङ्गार रस में रति-भाव के कारण उत्पन्न व्रीड़ा संचारी भाव है, परन्तु किसी बुरे काम के करने पर उत्पन्न व्रीड़ा स्वतन्त्र भाव है[3]। सपत्नी के प्रति व्यंजित ईर्ष्या शृङ्गार के संचारी के अन्तर्गत आती है किन्तु किसी आदमी के ऐश्वर्य की जलन से उत्पन्न होने वाली ईर्ष्या स्वतन्त्र भाव है। काव्य में प्रकृति-वर्णन उद्दीपन रूप में ही हो सकता है अथवा आलम्वन रूप में भी

१—चिन्तामणि, पहला भाग—पृ० १८८. २— वही पृ० १९०.

३— वही पृ० ७०, ९२.

उसके लिए स्थान है। शुक्ल जी ने काव्य में प्रकृति-वर्णन के आलम्बन रूप को सैद्धान्तिक ढंग से प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध में किया[१] है। रसों की प्रधानता के प्रश्न पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने शृङ्गार को रस-राज सिद्ध किया है[२]। रसों की संख्या के प्रश्न पर विचार करते हुए वे नव से अधिक रसों की संख्या मानने के पक्षपाती नहीं जान पड़ते। भक्ति को स्वतन्त्र रस मानने की उनकी उक्ति 'श्रद्धा-भक्ति' नामक निबन्ध में मिलती है[३]। किन्तु वहाँ भक्ति शृङ्गार का ही एक भेद जान पड़ती है। क्योंकि भक्ति का स्थायीभाव राग माना गया है। रस की व्याप्ति की समस्या पर विचार करते हुए उन्होने उसका विस्तार प्रत्यक्ष जीवन की अनुभूति तक कर दिया है। जीवन-प्रयत्नो[४], उक्तियों,[५] एवं चेष्टाओं[६] में भी रस की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य उन्होंने मानी है।

शुक्ल जी अपने इन निबन्धों में शास्त्रीय तथा शाश्वत कोटि के विषयों को लेकर भी अपने युग की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक तथा साहित्यिक समस्याओं पर व्यंग्य रूप में आलोचना करना नहीं भूले हैं; साथ ही उनका सुझाव भी संकेत रूप में देते गये हैं। इससे उनके रस-सिद्धान्त के विवेचनमें राष्ट्रीय तत्व समाहित हो गया है।

प्रथम निबन्ध में स्थायीभाव के मूल में रहने वाले मनोविकार या भाव की परिभाषा; उत्पत्ति, स्वरूप, उपयोगिता, देन आदि पर संक्षेप में सूत्रात्मक ढंग से विचार किया गया है। जीवन या साहित्य में भाव की महत्ता, व्यापकता, उपयोगिता, कार्य, देन आदि पर प्रकाश डालने से, प्रकारान्तर से, रस की महत्ता, कार्य, व्यापकता, उपयोगिता, देन आदि पर भी लेखक का विचार स्पष्ट हो जाता है।

स्थायी तथा संचारी भाव सम्बन्धी प्रत्येक निबन्ध में उस भाव की परिभाषा, लक्षण, साहित्य तथा जीवन में उसकी महत्ता, उपयोगिता तथा आवश्यकता, उत्पत्ति का आधार, उसकी गति-विधि, क्रमिक-विकास, विशेषतायें, उसके निर्माणकारी अवयव, प्रत्यक्ष व्यावहारिक जीवन तथा साहित्य में पाये जाने वाले उसके उचित-अनुचित, उपयोगी-अनुपयोगी, असली-नकली, स्वाभाविक, सांस्कृतिक

१—चिन्तामणि, पहला भाग—पृ० १०४-१०७ तक.

२— वही पृ० १२१ ३— वही पृ० ४४.

४— वही पृ० ८, ९. ५— वही पृ० ४.

६— वही पृ० ५.

तथा प्रमुख-गौण भेदोपभेद उदाहरण सहित दिये गये हैं; तथा साथ ही स्पष्टता के लिए व्याख्या के समय विरोधी तथा समानवर्ती भावों से उनकी तुलना भी की गई है। उचित-अनुचित कोटि के भावों के भले-बुरे प्रभावों का विवेचन भी किया गया है। अन्त में इन मनोभावों को सर्वाधिक रूप में नियमन करने वाली वस्तु के रूप में साहित्य का उल्लेख है। शुक्ल जी इन निबन्धों में भावों के परिष्कार की भी बात करते हैं किन्तु वहां भी मानस-शास्त्री के समान उचित भौतिक परिस्थितियों के निर्माण द्वारा भाव-परिष्कार की बात नहीं करते वरन् एक विशुद्ध साहित्यिक के समान कविता द्वारा भावों के परिष्कार का पथ बताते हैं[1]। जो मनोविकार या भाव दब गये हैं या दब रहे हैं, उनको जगाने का साधन भी वे सत्साहित्य ही मानते हैं[2]। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी के मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में उनके रस-सिद्धान्त संबंधी विचार वर्तमान हैं। रस के अवयव, रस के आधार, रस का कार्य, रस-व्याप्ति, जीवन तथा साहित्य में रस की महत्ता एवं उपयोगिता, रस के जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्त आदि पर उनके मौलिक विचार इन निबन्धों में भरे पड़े हैं।

शुक्ल जी मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों द्वारा साहित्यशास्त्र को इतने कलात्मक ढंग से व्यावहारिक जीवन की सामग्री के माध्यम से व्यक्त करते हैं कि इनके पाठकों को इन्हें पढ़ते समय साहित्यशास्त्र पढ़ने या समझने का रंचमात्र श्रम प्रतीत नहीं होता। उन्हें इन निबन्धों को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे व्यावहारिक जीवन का एक उदात्त एवं व्यापक चित्र देख रहे हों। वस्तुत: शुक्ल जी ने जीवन-सामग्री से साहित्यशास्त्र को विवेचित कर जीवन तथा साहित्य दोनों को एक कर दिया है। स्थायी तथा संचारी भावों की ऐसी जीवन-सम्बन्धी साहित्यिक तथा सामाजिक व्याख्या शुक्ल जी के पूर्व हिन्दी अथवा संस्कृत साहित्य के किसी शास्त्रीय ग्रन्थ में नहीं मिलती। संस्कृत-ग्रन्थों में तो केवल संचारियों का नाम-गिना दिया गया है। स्थायी भावों के निरूपण के समय उनका स्वरूप-विवेचन प्राय: एक सा है। स्थायी भावों में से प्रत्येक के लक्षण, भेदोपभेद, तुलना आदि की सामग्री संस्कृत ग्रन्थों में नहीं मिलती। भावों या मनोविकारों पर आचार्य शुक्ल द्वारा इन निबन्धों का प्रस्तुत किया जाना हिन्दी-साहित्य में एक ऐतिहासिक घटना है। शुक्ल जी के पूर्व हिन्दी के निबन्धकारों ने भावों या मनोवेगों को अपने निबन्ध का विषय तो बनाया पर वे इन पर मनोविज्ञान का आधार लेकर साहित्यिक दृष्टि से विचार नहीं

१—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ७, ४७. २— वही पृ० ६.

कर सके। उदाहरणार्थ, श्री माधव प्रसाद मिश्र 'धृति और क्षमा' नामक भावों को अपने निबन्ध का विषय बनाकर भी मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक ढंग से उनका प्रतिपादन नहीं कर सके। उक्त दोनों भावों का उनका सम्पूर्ण विवेचन धर्मशास्त्रीय कोटि का है। भावों या मनोविकारों का प्रतिपादन आचार्य शुक्ल ने जिस रूप में किया उस रूप में इस विषय पर विचार कदाचित् ही किसी देश के साहित्य में मिले।

चिन्तामणि, पहला भाग में संग्रहीत शुक्ल जी के व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी तीन निबन्धों-'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' 'तुलसी का भक्तिमार्ग' तथा 'मानस की धर्म भूमि' का विवेचन इसके पूर्व 'भारतेन्दु-साहित्य' तथा 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक कृतियों के विवेचन के प्रसंग में हो चुका है अतः उनके सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी चार निबन्धों में से प्रथम 'कविता क्या है' पर अब विचार किया जायगा।

कविता क्या है:—प्रकाशन-काल—सन् १९०८ ई०.

यह निबन्ध पहले सन् १९०८ ई० में सरस्वती में छपा। फिर 'हिन्दी-निबन्धमाला' भाग २ में १९२१ ई० में छपा। तदनन्तर 'चिन्तामणि, पहला भाग' में सन् १९३९ ई० में संग्रहीत हुआ। इसमें शुक्लजी ने अपनी रस दृष्टि से काव्य-परिभाषा[1], काव्य-लक्षण[2], प्रयोजन[3], लक्ष्य[4], कार्य[5], उपादान[6]-तत्व, काव्य[7]-प्रक्रिया, काव्य[8]-दृष्टि, काव्य[9]-सौन्दर्य, काव्य-स्वरूप[10], काव्य-अधिकारी[11], कवि-कल्पना[12], कवि-कर्म[13], कविता की कसौटी[14], कविता की शक्ति[15], कविता का सम्बन्ध[16], कविता की विशेषताओं[17], कविता की आवश्यकता[18], कविता के महत्व[19] आदि पर विचार किया है।

१—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० १९३. २— वही पृ० २३०

३— वही पृ० २१४. २१६, २१७. ४— वही पृ० २०४,२२१.

५— वही पृ० १९६,२१६,२१७,२१९,२२२,२२६ ६—वही-२०७,२१४,२२०,२२१.

७— वही पृ० २२६. ८— वही पृ० १९९, २००, २१०,

९— वही पृ० २२४. १०— वही पृ० २२८,. २४८.

११— वही पृ० २५२. १२— वही पृ० २१६; २२०.

१३— वही पृ० २५२.-२ १४— वही पृ० २३४.

१५— वही पृ० २२२. १६— वही पृ० २२८.

१७— वही पृ० २२१-९. १८— वही पृ० २४३.

१९— वही पृ० २१६

इसके अतिरिक्त 'सभ्यता के आवरण और कविता' अनुशीर्षक में शुक्ल जी का वर्ण्य सम्बन्धी[१] सिद्धान्त तथा बिम्ब-ग्रहण[२] का सिद्धान्त अभिव्यक्त हुआ है। इसी प्रकार 'कविता और सृष्टि-प्रसार' में उनका प्रकृति-वर्णन[३] सम्बन्धी सिद्धान्त, समन्वय सिद्धान्त[४], प्रबन्ध काव्य संबन्धी सिद्धान्त[५], प्रत्यक्ष जीवन में रसानुभूति[६] सम्बन्धी सिद्धान्त, संश्लिष्ट[७] चित्रण का सिद्धान्त तथा साहचर्य[८] सिद्धान्त व्यंजित हुआ है। 'मार्मिक तथ्य' अनुशीर्षक में उनका जीवन सम्बन्धी मर्यादा[९] सिद्धान्त, समन्वय सिद्धान्त तथा उदात्तता[१०] का सिद्धान्त व्यक्त हुआ है। 'मनुष्यता की उच्च भूमि' नामक अनुशीर्षक में काव्य-प्रयोजन के अतिरिक्त उनका उदात्तता, लोकमंगल[११] तथा मानवता[१२] का सिद्धान्त निरूपित हुआ है। 'सौन्दर्य' अनुशीर्षक में उनका वस्तुवादी[१३] सिद्धान्त तथा सौन्दर्य[१४] सम्बन्धी सिद्धान्त अभिव्यक्त हुआ है। 'चमत्कारवाद तथा अलंकार' अनुशीर्षक में उनका अलंकार[१५] सिद्धान्त तथा वक्रोक्ति[१६] सिद्धान्त निरूपित हुआ है। 'कविता की भाषा' पर विचार करते समय उनका रीति-सिद्धान्त[१७] परिपुष्ट हुआ है।

'कविता क्या है' निबन्ध में शुक्ल जी ने कविता के विषय में जो बातें कहीं हैं वे प्राय: सब की सब साहित्य के दूसरे रूपों या अगों पर लागू होती हैं। इस प्रकार उनका एक ही निबन्ध उनके सम्पूर्ण साहित्य-दर्शन को निरूपित करने में समर्थ है।

काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था:—

यह निबन्ध रस-मीमांसा में काव्य-विभाग के एक अंश रूप में संग्रहीत है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रस-मीमांसा के निबन्धों का रचना-काल १९२२ के पूर्व माना है[१८]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस निबन्ध

१—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० १९७,१९८ २— वही पृ० १९८
३— वही पृ० २०० ४— वही पृ० १९९,२०७
५— वही पृ० २०० ६— वही पृ० १९९.
७— वही पृ० २०२ ८— वही पृ० २०५.
९— वही पृ० २१२ १०— वही पृ० २११.
११— वही पृ० २१८ १२— वही पृ० २१९.
१३— वही पृ० २२५. १४— वही पृ० २२८.
१५— वही पृ० २२६,२२७ १६— वही पृ० २२७,२२८.
१७— वही पृ० २२८-२४१ १८— रस-मीमांसा-प्रस्तावना-पृ० ४

का रचना-काल १९२२ के पूर्व ही होना चाहिए। यह निबन्ध सन् १९३२ ई० में मालवीय कमेमोरेशन वालूम में प्रकाशित हुआ था तदनन्तर सन् १९३९ ई० में यह शुक्लजी द्वारा-चिन्तामणि (पहला भाग) में संग्रहीत हुआ। इसके पश्चात् यह सन् १९३९ ई० में आनन्द की सिद्धावस्था तथा माधुर्य पक्ष के साथ सूरदास नामक पुस्तक में काव्य में लोक-मंगल नाम से पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र द्वारा संकलित हुआ।

इस निबन्ध में काव्य में लोक-मंगल का सिद्धान्त मुख्य रूप से प्रतिपादित है। काव्य में लोक-मंगल के विधान की कौन कौन विधियाँ[1] हैं ? उनमें कौन सर्वोत्तम[2] है ? वह किस प्रकार के काव्यों में उचित रूप से प्रतिष्ठित[3] हो सकती है ? शिव या मंगल का सुन्दर से किस प्रकार का सम्बन्ध है[4] ? शक्ति-काव्य किसे कहते हैं ? उसकी प्रमुख विशेषतायें कौन कौन सी हैं ? आदि प्रश्न इस निबन्ध में मुख्य रूप से विवेचित हैं; तथा प्रसंग रूप में गौण रूप से—पूर्ण कवि[6] कौन हैं ? काव्य का सामान्य दार्शनिक[7] आधार क्या है ? काव्य में कला की क्या आवश्यकता[8] है ? काव्य का धर्म या नीति से किस प्रकार का सम्बन्ध[9] है ? उपदेश नामक प्रयोजन काव्य में वांछनीय[10] है या नहीं ? काव्य-कला का मूल प्रेरक[11] तत्व क्या है ? आदि प्रश्न भी इस निबन्ध में अपना उत्तर सूत्रात्मक रूप में पाते हैं। इस निबन्ध में शुक्ल जी ने काव्य की परिपुष्टि के लिए बल पूर्वक यह बतलाया है कि काव्य या कला में अध्यात्म[12] शब्द की कोई आवश्यकता नहीं है, उसका सम्बन्ध इसी जगत के जीवन के मंगल से है। इस निबन्ध की सामग्री का विस्तृत विवेचन सूरदास नामक पुस्तक के विवेचन के अवसर पर हो चुका है, अतः पुनरुक्ति से बचने के लिए इसका प्रसंग यहीं समाप्त किया जाता है।

साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद:—

इस निबन्ध की सामग्री रस-मीमांसा में प्रस्तुत रूप-विधान शीर्षक के अंतर्गत पृष्ठ २०८ से ३२४ तक बिखरी हुई मिलती है। इसके कुछ अंश जैसे,

---

१—चिन्तामणि, प० भा० पृ० २९२. २— वही पृ० २९५, ३०९.
३— वही पृ० २९२-४,३०९. ४— वही पृ० २९७.
५— वही पृ० २९२,२९३. ६— वही पृ० २९२. ३०१.
७— वही पृ० २९१. ८— वही पृ० २९३.
९— वही पृ० २९९. १०— वही पृ० २९७.
११— वही पृ० ३०९. १२— वही पृ० ३०६.

साधारणीकरण की परिभाषा, उसकी उत्तम स्थिति आदि रस-मीमांसा के ८६, ९०, ९२, ९६, ४१५ तथा ४१६ पृष्ठों पर भी यथा प्रसंग विवेचित हुए हैं। उपर्युक्त निबन्ध की सामग्री ही नहीं पदावली भी प्रायः ज्यों की त्यों रस-मीमांसा के 'प्रस्तुत रूप-विधान' वाले अंश के उक्त पृष्ठों में मिलती है, केवल कहीं कहीं कतिपय प्रघट्टकों का क्रम परिवर्तित दिखाई पड़ता है। अतः रस-मीमांसा के सम्पादक के रचनाकाल सम्बन्धी मत के अनुसार इस निबन्ध का रचना-काल भी १९२२ ई० के पूर्व ही निश्चित होता है। सर्व प्रथम यह निबन्ध द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ में सम्बत् १९९० वि० तदनुसार सन् १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ। तदनन्तर सन् १९३९ ई० में शुक्ल जी द्वारा चिन्तामणि (पहला भाग) में संग्रहीत हुआ।

इस निबन्ध का सम्बन्ध मुख्यतः रस-प्रक्रिया से है। इसमें लेखक ने मुख्य रूप से रस-प्रक्रिया सम्बन्धी भारतीय मत—साधारणीकरण का समर्थन करते हुए उसके सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। साधारणीकरण के सैद्धान्तिक पक्ष की स्पष्टता के लिए लेखक ने साधारणीकरण की परिभाषा[1], अभिप्राय[2], कारण[3], महत्व[4], उसके मुख्य तत्व[5], साधारणीकरणवेला में कवि, पाठक या श्रोता कीमन स्थिति[6] आदि को सूत्रात्मक ढंग से विवेचित करने का प्रयत्न किया है। व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करने के लिए शुक्ल जी ने काव्य में साधारणीकरण की विभिन्न अवस्थाओं तथा स्वरूपों के विवेचन के साथ साथ उसकी अपवादीय अवस्थाओं तथा स्वरूपों को भी स्पष्ट किया है[7]। पुराने आचार्यों ने प्रायः शृङ्गार तथा वीर को ही लेकर साधारणीकरण सिद्धान्त का प्रयोग किया था किन्तु शुक्ल जी ने इससे आगे बढ़कर अन्य रसों के साथ इसके प्रयोग की विधि बताई है[8]। प्राचीन आचार्यों ने साधारणीकरण सिद्धान्त का प्रयोग प्रायः प्रबन्ध काव्य तथा नाटक के ही प्रसंग में किया था; शुक्लजी ने इससे आगे बढ़कर अन्य आधुनिक भारतीय साहित्य-रूपों तथा योरोपीय काव्य-रूपों के साथ इसका प्रयोग करके इसे समीक्षा का एक सार्वभौम सिद्धान्त सिद्ध करने का प्रयत्न किया है[9]।

१—चिन्तामणि, प० भा० पृ० ३०८, २— वही पृ० ३१२.
३— वही पृ० ३०८, ३१२. ४— वही पृ० ३०४, ३२३-४.
५— वही पृ० ३१२. ६— वही पृ० ३१२-३, ३०९.
७— वही पृ० ३१४. ८— वही पृ० ३०९,
९— वही पृ० ३१५, ३१६, ३१७, ३१९.

सैद्धान्तिक रूप में शुक्ल जी ने मूलतः साधारणीकरण की पुरानी परम्परा का अनुसरण करते हुए युग के अनुकूल उसका विकास किया है। साधारणीकरण के सिद्धान्त के प्रतिपादन में उन्होंने आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर विशेष बल देकर काव्य में लोक-धर्म की आवश्यकता एवं महत्ता विशेष रूप से प्रतिपादित की हैं। इस निबन्ध में गौण रूप से प्रसंग वश आचार्य शुक्ल ने अनेक साहित्यिक सिद्धान्तों, मतों तथा वादों पर अपना विचार सूत्रात्मक रूप में प्रगट किया है। जैसे, सच्चा कवि कौन है[१]? रसदशा तथा भाव-दशा में क्या अंतर[२] है? काव्य का मुख्य कार्य[३] क्या है? काव्य का विषय विशेष होता है या सामान्य[४]? साहित्य क्षेत्र में कोरी नवीनता, कोरी मौलिकता, व्यक्ति-वैचित्र्य-वाद तथा प्रभाववादी समीक्षा का उन्होंने खण्डन[५] किया है। साहित्य को समग्र रूप में देखने के कारण उन्होंने साहित्य या समीक्षा में क्षेत्र के वाद मात्र का विरोध किया है; साधारणीकरण-सिद्धान्त अपनाने के कारण शुक्ल जी ने भारतीय काव्य-दर्शन को योरोपीय काव्य-दर्शन से श्रेष्ठ घोषित[७] किया है। साधारणीकरण सिद्धान्त की विशेषता तथा महत्ता स्पष्ट करने के लिए निबन्ध के अन्त में व्यक्ति-वैचित्र्यवाद से उसकी तुलना की गई है तथा रस-सिद्धान्त के आधार पर व्यक्तिवाद से सम्बन्ध रखने वाले सभी योरोपीय वादों का खण्डन किया गया है।[८]

रसात्मक बोध के विविध रूपः—

यह निबन्ध भी रस-मीमांसा में रसात्मक बोध नाम से संग्रहीत है। रस-मीमांसा के उक्त अंश की सामग्री ही नहीं प्रायः पदावली भी चिन्तामणि के उक्त निबन्ध की सामग्री से मिलती जुलती है। दो एक प्रघट्टकों को छोड़कर रस-मीमांसा में पृ० २५५ से २६६ तक की सामग्री ज्यों की त्यों है। निबन्ध के अंत में लगभग डेढ़ पृष्ठों की सामग्री चिन्तामणि की सामग्री से अधिक है। रस-मीमांसा के निबन्धों के रचनाकाल के अनुसार इस निबन्ध का रचनाकाल भी सन् १९२२ ई० के आस पास ही निश्चित होता है।

१—चिन्तामणि, प० भाग—पृ० ३०८.   २— वही पृ० ३०९.
३— वही पृ० ३०९, ३१०.   ४— वही पृ० ३०९.
५— वही पृ० ३२०, ३२१, ३२२, ३२६, ३२७.
६— वही पृ० ३२२.   ७— वही पृ० ३२४.
८— वही पृ० ३२३-३२८.

इस निबन्ध में शुक्ल जी रस की व्याप्ति तथा स्वरूप स्पष्ट करते हुए रस को काव्य की सीमा से आगे ले जाकर प्रत्यक्ष जीवन तक विस्तृत करते हैं। शुक्ल जी का कहना है कि कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित अनुभूति काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों में रसानुभूति के रूप में विवेचित की गई थी; किन्तु प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति कोटि की होती है–रसात्मक बोध के इस तथ्य की ओर आचार्यों का ध्यान नहीं गया था। रसात्मक बोध के इन्हीं दो स्वरूपों—प्रत्यक्ष रूप-विधान तथा स्मृत रूप-विधान की ओर पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करते हुए शुक्ल जी अपने रस-सिद्धान्त की व्याप्ति प्रत्यक्ष जीवन तक ले जाकर रस द्वारा साहित्य तथा जीवन के एकीकरण के सिद्धान्त पर बल देते हुए यह बताना चाहते हैं कि साहित्य शास्त्र का अध्ययन, विवेचन एवं अध्यापन जीवन से विच्छिन्न करके यथार्थ कोटि का नही हो सकता अर्थात् जीवन की भूमिका पर ही साहित्य अथवा साहित्यशास्त्र की वास्तविकता, समग्रता तथा पूर्णता का अध्ययन एवं विवेचन ठीक ढंग से हो सकता है। इस प्रकार इस निबन्ध का उद्देश्य रस-स्वरूप तथा रस-व्याप्ति का स्पष्टीकरण है।

इस निबन्ध में भी प्रसंग रूप से गौणरूपेण शुक्ल जी के साहित्य तथा जीवन सम्बन्धी कई सिद्धान्त, मत तथा विचार सूत्रात्मक ढंग से व्यक्त होते हैं। जैसे, जीवन का वस्तुवादी[1] सिद्धान्त, विभाव के निमार्णकारी[2] तत्व, रसानन्द का अर्थ[3] सच्चे कवि एवं सहृदय के लक्षण[4], रसानुभूति की विशेषतायें[5], सफल जीवन के लक्षण[6], अतीत के प्रति लेखक का विशेष प्रेम[7], उस प्रेम में रसानुभूति सदृश अनुभूति मानने की धारणा[8] तथा ब्रैडले के 'कला के लिए कला[9]', एवं फ्रायड के 'स्वप्न सिद्धान्त[10]' का खण्डन।

चिन्तामणि, दूसरा भागः—

प्रकाशन काल–सं० २००२वि० तदनुसार सन् १९४५ ई०, सम्पादकः— पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र.

इस पुस्तक में शुक्ल जी के तीन निबन्ध—काव्य में प्राकृतिक दृश्य, काव्य में रहस्यवाद तथा काव्य में अभिव्यंजनावाद संकलित किये गये हैं। काव्य में

१—चिं० प० भा० पृ० ३२९. २— वही पृ० ३६२.
३— वही पृ० ३४२. ४— वही पृ० ३३१.
५— वही पृ० ३३६, ३३९. ६— वही पृ० ३६०.
७— वही पृ० ३५२ से ३५४ ८— वही पृ० ३५५.
९— वही पृ० ३३५, ३३७ १०— वही पृ० ३६३, ३६४,

रस-मीमांसा:—

रचना-काल—सन् १९२२ ई० के आसपास।

प्रकाशन—काल—सं० २००६ वि० तदनुसार सन् १९४९ ई०।

सम्पादक —आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र.

सम्पादक के मतानुसार रस-मीमांसा के प्रायः सभी निवन्धों का रचना-काल सन् १९२२ ई० के आस पास है। हस्तलिखित सामग्री के केवल कुछ फटे तथा कुछ अधूरे अंशों की पूर्ति अखंडता स्थापित करने के लिए अन्यत्र से की गई है। अखंडता स्थापित करने वाली सामग्री के कतिपय अंश सन् १९२२ के पश्चात् के हो सकते हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के बहुत पूर्व ही मूल हस्तलेख के कई निबन्ध परिमार्जित एवं प्रवर्धित होकर अन्य ग्रन्थों, पत्रों तथा पुस्तकों में छप चुके थे। अतः वे परिमार्जित एवं प्रवर्धित रूप में ही इस ग्रन्थ में संकलित किये गये हैं जैसे, काव्य वाला अंश 'कविता क्या है,' नाम से स्वतन्त्र निवन्ध के रूप में सरस्वती में सन् १९०८ में प्रकाशित हुआ था; तदनन्तर हिन्दी-निबन्ध-माला भाग २ में सन् १९२१ में संकलित हुआ। फिर उसी रूप में शुक्ल जी द्वारा चिन्तामणि (पहला भाग) में संग्रहीत हुआ। 'काव्य के विभाग' वाले अंश का 'साधनावस्था' वाला भाग सन् १९३२ ई० में मालवीय कमेमोरेशन वालूम में प्रकाशित हुआ। तदनन्तर वही अंश सन् १९३९ में चिन्तामणि (पहला भाग) में शुक्ल जी द्वारा संग्रहीत हुआ। अपने सम्पूर्ण रूप में वह सन् १९४३ ई० में 'काव्य में लोक-मंगल' नाम से 'सूरदास' में संकलित हुआ। 'विभाव' वाला अंश 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नाम से सर्व प्रथम माधुरी में सन् १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ; तदनन्तर चिन्तामणि (दूसरा भाग) में सन् १९४५ ई० में पं० विश्वनाथ प्रसादजी मिश्र द्वारा संकलित हुआ। रस-मीमांसा में संकलित इस निबन्ध के आदि तथा अंत में कुछ सामग्री वढ़ा दी गई है। रस अर्थात् रसात्मकबोध वाला अंश 'रसात्मक बोध के विविध रूप' नाम से चिन्तामणि (पहला भाग) में सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ था। रस-मीमांसा में संकलित इस निवन्ध में अंतिम दो पृष्ठों में कुछ सामग्री बढ़ा दी गई है।

इसी प्रकार 'प्रस्तुत रूप-विधान, वाले अंश की पृ० ३०८ से ३२४ तक की सामग्री 'साधारणीकरण तथा व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' निवन्ध में पहले छप चुकी थी। जिसका उल्लेख चिन्तामणि (पहला भाग) के विवेचन में उक्त निबन्ध के विश्लेषण के अवसर पर हो चुका है।

अब रस-मीमांसा के उन अंशों का विवेचन किया जायगा जो इसके पूर्व किसी ग्रन्थ में विवेचित नहीं किये गये हैं।

काव्य का लक्षण:—

इस निबन्ध में शुक्ल जी ने मुख्य रुप से काव्य-लक्ष्य[१] तथा काव्य-लक्षण[२] का निरूपण करते हुए गौण रूप से यथा प्रसंग साधारणीकरण[३], पूर्ण रस का स्वरूप[४], कवि का कार्य,[५] काव्य-प्रभाव[६] काव्योद्देश्य[७]; काव्य-हेतु,[८] काव्यानुभूति[९], कवि-कल्पना[१०], काव्यात्मा[११] तथा रस की सामाजिक भूमि[१२] आदि पर भी अपने विचार सूत्रात्मक ढंग से व्यक्त किये हैं। शुक्ल जी काव्य का लक्ष्य रस-संचार या लोक-धर्म मानने के कारण उन रीतिवादी काव्यों से सहानुभूति स्थापित करने में असमर्थ हो गये हैं जिनका लक्ष्य रस-निरुपण या लोक-कल्याण न होकर रीतिवादी परम्परा का अन्धानुसरण था[१३]। इसलिये उन्हों ने रीति-ग्रन्थों के कुप्रभाव को विस्तार से[१४] उद्घाटित किया है। काव्य-लक्षण में स्पष्टता लाने के लिये शुक्ल जी ने तुलना पद्धति का अवलम्बन लेकर सूक्ति और काव्य की विशेषताओं तथा लक्षणों का अन्तर विस्तार से स्पष्ट किया है[५]।

अपने विवेचन में परम्परावादी न होने के कारण ही शुक्ल जी नायक, नायिका, उद्दीपन, अलंकार, रस आदि के निर्दिष्ट भेदों से सहमत नहीं हैं। इनके विचार से इनकी संख्या और बढ़ सकती है। शुक्ल जी के मत से संस्कृत या हिन्दी के साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में नायिकाओं के भेद मुख्यतः शृङ्गार की दृष्टि से किये गये हैं, सर्व व्यापार व्यापी प्रकृति-भेद की दृष्टि से नहीं। उनके विचार से हमारे यहाँ के नायक-नायिका भेद, चरित्र-चित्रण में सहायक नहीं हो सकते[१६]।

१—रस-मीमांसा	पृ० ८८,९७.	२—	वही	पृ० ९८, १०४.
३—	वही	पृ० ८९, ९०, ९२.	४—	वही	पृ० ९९.
५—	वही	पृ० ८९, ९०, १०३.	६—	वही	पृ० १०१, १०४.
७—	वही	पृ० ८९, ९०.	८—	वही	पृ० ९९, १००
९—	वही	पृ० १०५.	१०—	वही	पृ० १०३,१०५.
११—	वही	पृ० १०५.	१२—	वही	पृ० ९२.
१३—	वही	पृ० ९४.	१४—	वही	पृ० ९४ से ९९.
१५—	वही	पृ० १०१,१०२.	१६—	वही	पृ० ९५, ९६.

भावः—

इस अध्याय में रस के प्रमुख अवयवों-स्थायी भाव[१], भाव[२], संचारी भाव[३] तथा अनुभाव[४] कीं विशेताओं, निर्माणकारी तत्वों; तथा कार्यों कामनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भाव के स्वरूप के भीतर अंग रूप में अनुभाव भी आ जाते हैं[५] इसलिये अनुभाव का विवेचन भाव-शीर्षक के भीतर किया गया है। शुक्ल जी का भाव-निरूपण रस की दृष्टि से किया गया हैं, पर उसकी कसौटी आधुनिक मनोविज्ञान है। इस परिच्छेद में सर्व-प्रथम भाव की परिभाषा[६], लक्षण[७], कार्य[८], महत्व[९], सम्बन्ध[१०], उत्पत्ति[११], विकास[१२], भाव-संघटन[१३], भाव-व्यवस्था[१४] तथा उसके निर्माणकारी तत्वों[१५] पर विचार किया गया है। भावों की उत्पत्ति और विकास बताते समय विकासवाद का सहारा लिया गया है[१६]। उस स्थल पर शुक्ल जी के विकासवादी सिद्धांत का परिचय मिलता है। तुलनात्मक पद्धति का अवलम्बन लेकर भाव, वासना तथा संवेदन का अन्तर भी बताया गया है[१७]। तदनन्तर भावों अथवा रसों की मुख्य संख्या तथा वर्गीकरण पर मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है। इसके पश्चात् भाव की प्रमुख तीन दशाओं—भाव-दशा, स्थायी-दशा तथा शील-दशा की पहचान, विशेषताओं, लक्षणों तथा इनके प्रमुख अन्तर का सूक्ष्म विवेचन प्रत्येक प्रमुख भाव को लेकर उपस्थित किया गया है[१८]। काव्य में इन तीनों दशाओं का उपयोग कहाँ, किस प्रकार होता है, किन-किन काव्य-रूपों में कौन-कौन भाव-दशायें प्रमुख रूप से आती हैं आदि का विवेचन सोदाहरण किया गया है[१९]। भाव के विषय या आधार[२०], आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन,

---

१—रस-मीमांसा पृ० १७२से१६७ तक   २— वही पृ० १६१ से १७१.

३— वही पृ० १६८ से २३८ तक   ४— वही पृ० १७३,२१६,२३३,२३४.

५— वही पृ० २३०   ६— वही पृ० १६४.

७— वही पृ० १६४,१६८,१६१.   ८— वही पृ० १७०, १९६, २११.

९— वही पृ० १६१.   १०— वही पृ० १६६.

११+१२ वही पृ० १६२   १३— वही पृ० १७०.

१४— वही पृ० १६३, १६८,   १५— वही पृ० १६४.

१६— वही पृ० १६१.   १७— वही पृ० १६२.

१८— वही पृ० १८२ से १८७.   १९— वही पृ० १८८ से १९०.

२०— वही पृ० १६५.

उसके निर्माणकारी तत्वों तथा उसकी विभिन्न दशाओं के विवेचन से रस-व्याप्ति बहुत ही स्पष्ट हो गई है।

भावों का वर्गीकरण:—

भावों का वर्गीकरण अनुभूति की दृष्टि से सुखात्मक तथा दुखात्मक वर्गों में किया गया है[1]। फिर सभी प्रमुख स्थायी भावों के लक्षण, गति, प्रवृत्ति, इच्छा, संकल्प तथा आलम्बन तालिका-रूप में प्रस्तुत किये गये हैं[2]। तदनन्तर सुखात्मक तथा दुखात्मक भावों के स्वरूप तथा विशेषताओं का विवेचन किया गया है[3]। कोई भाव सुखात्मक अथवा दुखात्मक श्रेणी में क्यों परिगणित किया गया है, उसका उत्तर तार्किक तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से दिया गया है[4]। इसके पश्चात् प्रधान-प्रधान स्थायी भावों के सम्बन्ध में कुछ कुछ मनोवैज्ञानिक बातें कही गई हैं[5]। साहित्य के कौन-कौन भाव मूल भाव हैं? कौन-कौन तद्भव? आदि पर मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है[6]। शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिकों की मूल तथा तद्भव भाव की व्यवस्था एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध से, भारतीय साहित्यिकों की स्थायी तथा संचारी की व्यवस्था तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को अधिक वैज्ञानिक घोषित किया है[7]। इसके पश्चात् आनन्द, ईर्ष्या, लज्जा तथा ग्लानि भाव स्थायी के भीतर क्यों नहीं आते इसका कारण बताया गया है[8]। तदनन्तर मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से मन के वेग और भाव का अन्तर स्पष्ट किया गया है[9]। प्रमुख स्थायी भावों के विवेचन के पश्चात् संचारी भावों का विवेचन किया गया है[10]। भाव की विशेषताओं की स्पष्टता के लिए पहले स्थायी और संचारी भाव का अन्तर बताया गया है[11]; फिर अनुभूति की दृष्टि से संचारियों का वर्गीकरण—सुखात्मक, दुखात्मक, उभयात्मक तथा उदासीन वर्गों में करके उन्हीं के भीतर सम्पूर्ण संचारियों का समावेश दिखाया गया है[12]। इसके पश्चात् संचारी भाव के लक्षण, कार्य, विशेषता, स्वरूप तथा भेद पर मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से विचार किया गया

१—रस-मीमांसा पृ० १६१. २— वही पृ० १६२,१६३.
३— वही पृ० १६४ से १६८. ४ — वही पृ० १६४.
५— वही पृ० १६४ से १९८. ६— वही पृ० १९७.
७— वही पृ० १९८. ८— वही पृ० १९७, १९८.
९— वही पृ० १९५. १०— वही पृ० १९८, १९९.
११— वही पृ० १९९. १२— वही पृ० २००.

है[१]। कोई भाव प्रधान क्यों माना गया तथा कोई संचारी क्यों कहा गया— इसका तर्क-सम्मत उत्तर दिया गया है[२]। इसी प्रसंग में स्थायी तथा संचारी का अंगागि सम्बन्ध भी स्पष्ट किया गया है[३]। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रसंग में शुक्ल जी का संचारियों का वर्गीकरण[४] तथा उनका विवेचन[५] बहुत ही मौलिक ढङ्ग का है।

भाव-विवेचन वाले अध्याय में शुक्ल जी ने प्रसङ्ग रूप से अन्य कई महत्व-पूर्ण बातें कही हैं। जैसे, रस-प्रतीति पानकरसन्याय से होती है[६]। क्रोध का स्थायी भाव बैर है[७], शृङ्गार का राग[८]। उन्होंने इस अध्याय में हिन्दी में भाव-निरूपण सम्बन्धी ग्रन्थों के प्रणयन की दिशा का संकेत किया है और साथ हीं यह विश्वास प्रगट किया है कि भारतीय भाव-निरूपण सम्बन्धी कार्य पाश्चात्यों से अधिक श्रेष्ठतर ढङ्ग का कर सकते हैं[९]।

असम्बद्ध भावों का रसवत् ग्रहण:—

इस परिच्छेद में शुक्ल जी ने भावोदय,[१०] भावशान्ति,[११], भावशबलता[१२] तथा भावसन्धि[१३] पर रस की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है और उन्हें एक नया अस्तित्व प्रदान किया है। और साथ ही यह बताया है कि श्रोता या पाठक पर इनका प्रभाव रसतुल्य ही होता है[१४] संस्कृत के आचार्यों ने इनके अपवादीय पक्षों को स्पष्ट नहीं किया था। शुक्ल जी ने उसे स्पष्ट कर दिया है। जैसे, बुद्धि या विवेक द्वारा निष्पन्न भावशान्ति काव्य के उतने काम की नहीं[१५]। भावोदय, भावशान्ति, भावशबलता तथा भावसन्धि का कारण कोई प्रबल भाव या वेग होना चाहिए, बुद्धि नहीं[१६]। इसके अतिरिक्त इस प्रसङ्ग में शुक्लजी ने यह भी बताया है कि इनका प्रयोग किस प्रकार की भावात्मक परिस्थितियों में किस प्रकार के पात्र के साथ उपयुक्त होता है।

१—रस मीमांसा पृ० २०१ से २०५. २— वही पृ० २०३.
३— वही पृ० २१०. ४— वही पृ० २०६.
५— वही पृ० २०७ से २३६ ६— वही पृ० १७५.
७— वही पृ० १७५. ८— वही पृ० १७५.
९— वही पृ० १७३. १०— वही पृ० २४१.
११— वही पृ० २४१, २४२. १२— वही पृ० २४३.
१३— वही पृ० २४३. १४— वही पृ० २३६, २४५.
१५— वही पृ० २४२. १६— वही पृ० २४२.

रसविरोध-विचारः—

रसविरोध-विचार में आश्रय[१], आलम्बन[२] एवं श्रोता[३] की दृष्टि से उत्पन्न होने वाले रस-विरोधों का विचार मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। इस प्रसंग में भी शुक्ल जी ने पुराने आचार्यों की रस-विरोध सम्बन्धी सामग्री को मनोविज्ञान की कसौटी पर परखने का प्रयत्न किया है; पुरानी सामग्री में जहां कहीं कमी दोष या अभाव दिखाई पड़ा है—उसका संशोधन किया है। उन्होंने आलोचकों को रस-विरोध-विचार के सिद्धान्त को बौद्धिक ढंग से प्रयुक्त करने का आदेश दिया है। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से बताया है कि रसविरोध-विचार कहां ठीक है कहां नहीं[४]।

प्रस्तुत रूप-विधानः—

प्रस्तुत रूप-विधान पुराने आचार्यों का विभावन पक्ष ही है जिसके अन्तर्गत आलम्बन और उद्दीपन दोनों आते हैं[५]। उद्दीपन २ प्रकार के होते हैं—आलम्बन-गत और आलम्बन-बाह्य। आलम्बन-बाह्य कतिपय उद्दीपनोंका विचार विभाव के अन्तर्गत किया गया है। इसीलिए शुक्ल जी ने प्रस्तुत रूप-विधान का विचार मुख्यतः आलम्बन की दृष्टि से किया है[६]। इस विचार में आलम्बन गत या आलम्बन से बाहर, पर किसी न किसी प्रकार आलम्बन से लगाव रखने वाली वस्तुओं का भी विवेचन किया गया है। शुक्ल जी का आलम्बन से अभिप्राय केवल रस-ग्रन्थों में गिनाये आलम्बनों से ही नहीं है, वरन् उन सब वस्तुओं तथा व्यापारों से है जिनके प्रति हमारे मन में किसी भाव का उदय होता है[७]। इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं[८]। काव्य का विषय सदा विशेष मानने के कारण ही वे काव्य का काम कल्पना में बिम्ब या मूर्त भावना उपस्थित करना मानते हैं[९], और काव्य की शक्ति सामान्य तथ्य-कथन या सिद्धान्त-कथन के रूप में न मानकर वस्तुओं या व्यापारों के बिम्ब-ग्रहण करने में समझते हैं[१०]। शुक्ल जी का निजी विचार है कि

१—रस-मीमांसा	पृ० २५२.	२—	वही	पृ० २५३.
३—	वही	पृ० २४८.	४—	वही	पृ० २५६.
५—	वही	पृ० ३०१.	६—	वही	पृ० ३०२.
७—	वही	पृ० ३०२.	८—	वही	पृ० ३०६.
९—	वही	पृ० ३१०.	१०—	वही	पृ० ३१०.

जीवन के मूल एवं सामान्य स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले विषय ही मुख्य रुप से काव्योपयुक्त हैं[१]। आधुनिक सभ्यता द्वारा प्रस्तुत किये हुए नये पदार्थों, नई वस्तुओं या उनके वर्णनों में रसात्मक प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति अभी उतनी नहीं आई है जितनी पुराने विषयों में है[२]। अतः वे आलम्बन-रूप में अभी काव्य के लिये उपयुक्त नहीं है। हाँ, गौण रूप में काव्य के भीतर उनका स्थान हो सकता है, पर वैसा ही जैसा, काव्य में सरस वाक्यों के भीतर नीरस वाक्यों का होता है[३]। प्रस्तुत अध्याय के मुख्य विषय की दृष्टि से शुक्ल जी ने बतलाया है कि काव्य में किस प्रकार के प्रस्तुत रूप-विधान में साधारणी-करण की क्षमता होती है? किस प्रकार के प्रस्तुत रूप-विधान में कौन सी रस-दशा उत्पन्न होती है[४]?

रसात्मक बोध की दृष्टि से प्रस्तुत रूप-विधान के मुख्य तत्व—वस्तु वर्णन, भाव व्यंजना तथा चरित्र-चित्रण पर उन्होंने विचार किया है, और स्पष्ट रूप से बतलाया है कि किस किस प्रकार का वस्तु वर्णन, भाव-व्यंजना तथा चरित्र चित्रण किस किस प्रकार का रसात्मक बोध करायेगा। किस प्रकार के प्रस्तुत रुप-विधान में व्यक्ति-वैचित्र्य अथवा शील-वैचित्र्य की दशा उत्पन्न होगी[५]?। अन्त में वादके अनुसार लिखी जाने वाली कविता के प्रस्तुत रुप-विधानों पर उन्होंने विचार किया है और बतलाया है कि वाद के वशीभूत होकर लिखी जाने वाली कविताओं में प्रस्तुत रूप-विधान का रूप कृत्रिम, अनुभूति रहित तथा संकुचित हो जाता है और इस प्रकार काव्य-क्षेत्र में किसी वाद का प्रचार उसकी सारसत्ता को चर जाता है, कवि लोग कविता न लिख कर वाद लिखने लगते हैं[६]। कविता की उच्ची कला किसी वाद में प्रगट नहीं होती; वह वाद विमुक्त होने पर प्रगट होती है[७]। उदाहरण के लिए उन्होंने अन्त में बीसवीं सदी के प्रमुख साहित्यिक वादोंतथा आन्दोलनों—प्रतीकवाद, व्यक्ति वैचित्र्यवाद, रहस्यवाद, कलावाद, मुक्तछन्दवाद कल्पनावाद, अभिव्यंजनावाद, प्रकृतिवाद, मूर्तिमत्तावाद, संवेदनावाद, नवीन मर्यादावाद आदि के अन्तर्गत किये जाने वाले प्रस्तुत रूप-विधानों पर संक्षेप में विचार किया है[८] और बताया है कि वाद के वशीभूत होकर लिखी जाने वाली कविताओं के प्रस्तुत रूप—विधानों

१—रस-मीमांसा	पृ० २०४,	२—	वही	पृ० २०५.
३— वही	पृ० २०९.	४—	वही	पृ० २१४.
५— वही	पृ० २१५ से २१६	६—	वही	पृ० २२१.
७— वही	पृ० २२१.	८—	वही	पृ० २२६ से २३९.

में कविता का रूप संकुचित एवं नकली हो जाता है[१]। अध्याय के अन्त में निष्कर्ष-रूप में यह बताया गया है कि कविता या समीक्षा को वाद-जन्य भेद-भाव' का आधार छोड़कर अभेद भाव के आधार पर प्रतिष्ठत होना चाहिए, तब साहित्य का सत्स्वरूप खड़ा होगा।[२]

अप्रस्तुत रूप-विधानः—

इस अध्याय में काव्यगत अप्रस्तुत रूप-विधान के विविध वेशों, (अलंकार, प्रतीक तथा लाक्षणिक प्रयोग) प्रकारों, उद्देश्यों, दृष्टियों विशेषताओं, विधियों एवं व्यावहारिक समीक्षा की कसौटियों पर विचार किया गया है[३]। काव्य में अप्रस्तुत रूप-विधान मुख्यत: अलंकारों, प्रतीकों एवं लाक्षणिक प्रयोगों के रूप में होता है; अत: काव्य में इनके प्रयोगों के आधार[४], लक्ष्य,[५] इनके वास्तविक स्वरूप[६], प्रयोग की विधियों[७], प्रयोगकालीन कवि की मानसिक स्थितियों[८], इनके प्रयोगजन्य विविध लाभों[९] तथा इनकी परीक्षा की विविध दृष्टियों का विवेचन किया गया है[१०]। काव्य में अप्रस्तुत रूप-विधान सबसे अधिक मात्रा में अलंकार-रूप में रहता है; अत: अलंकारों के स्वरूप प्रकार, वर्गीकरण के आधार आदि पर विस्तार से विचार किया गया है[११]। उपमान और प्रतीक एक ही वस्तु नहीं हैं, अतः प्रतीकों के आधार, स्वरूप तथा प्रयोग-विधि पर भी सूत्रात्मक ढंग से विचार व्यक्त किया गया है।[१२]

काव्य में सभी प्रकार के अप्रस्तुत, कल्पना-रूप में रहते हैं। अत: शुक्ल जी काव्य में बिम्बस्थापना को प्रधान वस्तु मानते हैं, और वहीं व्यावहारिक समीक्षा के रूप में कल्पना-परीक्षा की कसौटी भी निरूपित करते हैं[१३]। इस अध्याय में शुक्लजी ने गौण रूप से प्रसंग रूप में काव्य-वर्ण्य,[१४] काव्याधार,[१५]

१—रस-मीमांसा पृ० ३३३. २— वही पृ०३३३,३३५.
३— वही पृ० ३३६, ४— वही पृ० ३४०,३४४.
५— वही पृ० ३३६, ३५२ ६— वही पृ०३४०,३४६,३४६,३५०
७— वही पृ० ३४१ ३४२. ८— वही पृ० ३४८.
६— वही पृ० ३४६. १०- वही पृ० ३५०,३५१,३५८.
११- वही पृ० ३५८ से ३६२. १२- वही पृ० ३३६.३४०,३५६.
१३- वही पृ० ३५१. १४- वही पृ० ३३६,३३८.
१५- वही पृ० ३३६.

काव्य-लक्ष्य[१], काव्य-शक्ति[२], काव्य-पक्ष[३], रसानुभूति के मार्मिक तत्व[४] तथा काव्यानुभूति के लाभों[५] पर सूत्रात्मक ढङ्ग से विचार किया है। शुक्ल जी के पूर्व हिन्दी के समीक्षक अलंकार की परिभाषा तथा नामावली से संतोष कर लेते थे, या बहुत अधिक हुआ तो एकाध अलंकार आविष्कृत कर देते थे; किन्तु अलंकार के प्राण-तत्व—कल्पना के विवेचन की ओर नहीं जाते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी ने अलंकार के प्राण-तत्व—कल्पना का विवेचन विस्तार से किया है।

शब्द-शक्ति:—

शुक्ल जी शब्द-शक्ति का विचार टिप्पणियों में ही कर पाये थे। वे टिप्पणियां भी अंग्रेजी में हैं। सम्पादक ने उन्हें हिन्दी में रूपान्तरित कर दिया है। शब्द-शक्ति की टिप्पणियों में व्यंजना-स्थापना सम्बन्धी तर्कों,[६] रसोत्पत्ति में व्यंजना-प्रक्रिया की निहिति की मान्यता[७] तथा रस को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य मानने वाली उक्ति[८] देखकर यह निश्चित होता है कि शुक्ल जी ध्वनि-सिद्धान्त को अंग सिद्धान्त के रूप में मानते थे।

रस-मीमांसा के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसमें शुक्ल जी के अंगी सिद्धान्त—रस-सिद्धान्त का ही विवेचन नहीं है, वरन् काव्य-सामान्य के भी प्रायः सभी सिद्धान्त इसमें आ गये हैं, कदाचित् इसीलिए शुक्ल जी ने इसका नाम पहले 'काव्य-मीमांसा' रखा था। शुक्ल जी की काव्य-मीमांसा सम्बन्धी विचार धारा रसोन्मुखी है। इनकी समीक्षा का सैद्धान्तिक आधार भारतीय रसवाद ही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस ग्रन्थ द्वारा शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों का सम्पूर्ण रूप से बोध हो सकता है।

१—रस-मीमांसा पृ० ३३६. २— वही पृ० ३३७.
३— वही पृ० ३३५. ४— वही पृ० ३३७.
५— वही पृ० ३३८, ६— वही पृ० ४६४ से ४८०,
७— वही पृ० ४७४, ८— वही पृ० ४७१,

तीसरा अध्याय

आचार्य शुक्ल के जीवन-सिद्धान्त

साध्य तथा साधन–सिद्धान्तों का निर्णय:—

मीमांसकों ने किसी ग्रन्थ के तात्पर्य-निर्णय के जो साधन[1] बताये हैं वे किसी लेखक के मूल तात्पर्य-निर्णय में भी सहायक हो सकते हैं यदि वह कृतिकार इस कोटि का है कि उसकी कृतियों में बार-बार जीवन-सिद्धान्तों का परिवर्तन न होकर आदि से अंत तक एक ही प्रकार के जीवन-दर्शन का विकास हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य शुक्ल की कृतियों में आदि से अंत तक एक ही प्रकार के जीवन-दर्शन का विकास हुआ है। अब हमें तात्पर्य-निर्णय के साधनों को अपनाकर उनकी कृतियों के आधार पर यह देखना चाहिए कि उनका मूल सिद्धान्त क्या है? उसके साधन तथा सहायक सिद्धान्त कौन-कौन से हैं?

इस सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम हमें यह देखना चाहिए कि शुक्ल जी ने अपनी प्रारम्भिक कृतियों में किस जीवन-सिद्धान्त को साध्य रूप में अपनाया है; उसको सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपनी विकासकालीन अन्य कृतियों में स्थान-स्थान पर कैसा प्रयत्न किया है? अभ्यास-रूप में बार-बार उन्होंने किस सिद्धान्त की चर्चा की है;-उनके किस जीवन-सिद्धान्त में अपूर्वता अधिक मात्रा में दिखाई पड़ती है; उसकी पुष्टि-हेतु उपस्थित किये गये तर्कों तथा प्रतिपादन में नवीनता किस कोटि की है; उनके सिद्धान्तों का फल तत्कालीन अथवा उत्तरकालीन अन्य लेखकों पर तथा उनके जीवन पर किस प्रकार का दिखाई पड़ता है? अर्थवाद पर विचार करते समय हमें यह देखना होगा कि उनकी प्रसंगान्तरित आगन्तुक बातों–जैसे, दृष्टान्त, तुलना आदि से किस मूल सिद्धान्त का स्पष्टीकरण होता है; कौन विषय प्रधान तथा कौन अप्रधान दिखाई पड़ते हैं। उपपत्ति में हमें यह देखना होगा कि किस विशेष बात को सिद्ध करने के लिए उनकी कृतियों में बाधक प्रमाणों का खंडन तथा साधक प्रमाणों का तर्कशास्त्रानुसार मंडन किया गया है तथा किस विरोधी पक्ष का निराकरण किया गया है।

१—उपक्रमोपसंहारो अभ्यासोऽपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्तौ च लिंगं तात्पर्यनिर्णये॥

उपसंहार में यह विचार करना होगा कि इनकी सैद्धान्तिक कृतियों में जीवन का कौन सा सिद्धान्त निष्कर्ष रूप में बताया गया है तथा कौन सिद्धान्त व्यावहारिक समीक्षा-कृतियों के मूल मानदण्ड-रूप में दिग्दर्शित किया गया है।

शुक्ल जी समीक्षक होने के साथ साथ कवि भी हैं। कविताओं के भीतर उनकी आन्तरिक भावनाओं एवं दृष्टियो के दर्शन होते हैं, उनके साहित्यिक एवं जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों की कुंजी उनकी कविताओं में भरी पड़ी है, अतएव उनके जीवन-सिद्धान्त के निर्णय एवं निरूपण के समय स्थान स्थान पर उनकी कविताओं के उद्धरण भी आवश्यकतानुसार मत-पुष्टि-हेतु दिये जायेंगे। शुक्ल जी के अनुवादों में उनकी आलोचनात्मक प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है; अतः जीवन-प्रवृत्ति के निर्णय के समय यत्र तत्र उनकी भी सहायता ली जायेगी।

विचारधारा की दृष्टि से शुक्ल जी की कृतियों को हम चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। पहली श्रेणी में उनकी प्रारम्भिक रचनायें आती हैं, जिनका समय सन् १९०१ से १९११ तक है। इस काल को साधना-काल कह सकते हैं। दूसरी श्रेणी में उनकी विकासकालीन रचनायें आती हैं, जिनका समय सन् १९११ से १९२२ तक है। तीसरी श्रेणी में हम उनकी प्रौढ़कालीन रचनाओं को लेते हैं, इनका समय सन् १९२२ से १९३० तक है। चतुर्थ श्रेणी में उनकी वे रचनायें आती हैं जिनमें वे साहित्य-नियन्ता एवं संरक्षक के रूप में प्रगट होते हैं, इनका समय सन् १९३० से १९४१ तक है। क्रम के अनुसार हमें सर्वप्रथम उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में उनके मूल जीवन-सिद्धान्त का निर्णय करना है।

प्रारम्भिक रचानाओ के अंतर्गत 'साहित्य', 'उपन्यास', 'भारतेन्दु-समीक्षा', 'भाषा की शक्ति' आदि मौलिक निबन्ध, 'कल्पना का आनन्द', 'आदर्श जीवन', नामक अनुदित पुस्तकें, कुछ अनुदित निबन्ध और 'मनोहर छटा', 'भारत और बसन्त' 'देश द्रोही को दुतकार', तथा 'फूट', नामक कवितायें आती हैं। जीवन-सिद्धान्त के निर्णय के लिए इस काल की रचनाओ में 'साहित्य एवं 'उपन्यास' नामक निबन्ध, 'आदर्श जीवन' नामक पुस्तक तथा कविताओं में 'देश द्रोही को दुतकार' 'फूट', 'भारत और बसन्त' महत्वपूर्ण हैं। शुक्ल जी अपने प्रथम साहित्यिक निबन्ध में साहित्य का प्रभाव[1]

१–हम लोगों को यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि जितना ही हम इसमें (साहित्य में) 'चाहे जिस भाषा द्वारा हो, अधिकार प्राप्त करेंगे और इसके रसका आस्वादन करेंगे उतना ही हम दूसरों को लाभ पहुंचाने में समर्थ होंगे।—'साहित्य' सरस्वती, जून-१९०४, भाग ५. संख्या ६, पृ० १९२.

तथा प्रयोजन[1] लोक-मंगल निरुपित करते हैं। उपन्यास वाले निबन्ध में उपन्यास का लाभ समाज-कल्याण[2] घोषित करते हैं, उनके अध्ययन से देव-जीवन प्राप्त करने की सम्भावना[3] बताते हैं। सामाजिक उपन्यासों में पाठकों की आंख खोलने की क्षमता सिद्ध करते हैं[4]। आदर्श जीवन नामक पुस्तक की भूमिका[5] यह प्रमाणित करती है कि आचार्य शुक्ल के भीतर भरी हुई लोक मंगल की भावना ने ही इस पुस्तक को अनूदित करने के लिये बाध्य किया। उनकी साहित्य-साधना-काल की प्रारम्भिक रचनायें—जैसे, 'फूट[6]' 'देश द्रोही को दुतकार[7]' 'भारत और बसन्त[8]' देश-सेवा अथवा जाति-सेवा की भावना से

१—जब शब्दों को सारगर्भित और उन्नत भावों को प्रगट करने के लिए, प्रयोग करना होता है. जब उन्हें सृष्टि के अंत तक स्थायी रखना आवश्यक होता है और जब उनके द्वारा भावी संतति का उपकार वांछित रहता है, तब उन्हें लिखना पड़ता हैं अर्थात् साहित्य के रूप में ढालना पड़ता है।—'साहित्य', सरस्वती, भाग ५, पृ० १५४.

२—अतः अच्छे 'उपन्यासों' से भाषा की बहुत कुछ पूर्ति और समाज का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है।—'उपन्यास', नागरी प्रचारणी सभा पत्रिका, जून १६१०.

३—और सामाजिक उपन्यास कहीं उन सम्भावनाओं की सूचना देते हैं जिनसे यह मनुष्य-जीवन देव-जीवन और यह धराधाम स्वर्गधाम हो सकता है। —'उपन्यास' नागरी प्रचारिणी सभा-पत्रिका, जून १६१०.

४—कथा के मिस से मनुष्य जीवन के बीच भले और बुरे कर्मोंकी स्थिति दिखाकर जितना ये लेखक आंख खोल सकते हैं उतना अहंकार से भरे हुए नीतिके कोरे उपदेश देनेवाले नहीं।—वही.

५—किस प्रकार के आचरण से मनुष्य अपना जन्म सफल कर सकता है, किस रीति पर चलने से वह संसार में सुख और यश का भागी हो सकता हैं, यदि ऐसी बातों को जानना आवश्यक हैं तो ऐसी पुस्तक का पढ़ना भी आवश्यक है। हिन्दी में ऐसी पुस्तकें देखने की चाह अब लोगों को हो चली है। —आदर्श जीवन, वक्तव्य, पृ० १.

६—किन्तु आज बाइस वर्ष तक कितने झोंके खाती,
अन्यायी को लज्जित करती न्याय छटा छहराती,
यह जातीय सभा हम सबकी समय ठेलती आई,
हाय फूट! तेरे आनन वह भी आज समाई।—आनन्द कादम्बिनी, सं० १६६४, पौष-माघ,

७—रे स्वार्थ-अंध मतिमन्द कुमार्गगामी; क्यों देश से विमुख हो सजता सलामी। कर्त्तव्यशून्य हलके कर को उठाता। दुर्भाग्य भार हत, भाल भले झुकाता।—आनन्द कादम्बिनी, सं० १६६४ ज्येष्ठ से अग्रहायण.

८—सहि चुके जननी बहु यातना, वचन ना कबहूं अब टारि हैं।
प्रण करें, पर आस किये बिना, अवसि आपुहि आप उबारिहैं।— वही सं० १६६२ ज्येष्ठ वैषाख।

ही प्रेरित होकर लिखी गई हैं, किसी व्यक्तिवादी वासना अथवा इच्छा की तृप्ति के लिये नहीं। कहने की आवश्यता नहीं कि उपर्युक्त सभी कविताओं का प्रभाव लोक-मंगल कोटि का ही दिखाई पड़ता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि उनकी प्रारम्भिक कृतियों में लोक-मंगल साध्य रूप में तथा लोक-धर्म साधन-रूप में गृहीत हुआ है।

जीवन-सिद्धान्त-निर्णय की दृष्टि से शुक्ल जी की विकासकालीन कृतियों के अन्तर्गत उनके मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध, रस-मीमांसा के अधिकांश निबन्ध, 'विश्व-प्रपंच' तथा 'बुद्ध-चरित' नामक अनूदित पुस्तकें एवं 'अछूत की आह' नामक कविता महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इन मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में साहित्य तथा जीवन की व्याख्या लोक-धर्म की विशद भूमिका पर की गई है[१]। इन निबन्धों में शुक्ल जी साहित्य द्वारा जीवन की सहज प्रवृत्तियों को परिष्कृत करने का पथ बताते हैं जिस पर चल कर वे सामाजिक कोटि की हो सकें तथा लोक-मंगल की स्थापना में योग दान कर सकें। इन निबन्धों द्वारा साहित्य तथा जीवन दोनों में मंगल की प्रतिष्ठा लोक-धर्म द्वारा ही सिद्ध की गई है। 'भाव या मनोविकार' नामक प्रथम निबन्ध में लेखक ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि काव्य का सम्बन्ध सहज प्रवृत्तियों से नहीं है, जिनकी तृप्ति की साधना मनुष्य को लोक-धर्म से विमुख करती है। इसका सीधा सम्बन्ध सांस्कृतिक प्रवृत्तियों तथा निवृत्तियों से है, जिनसे लोक धर्म या लोक मंगल की स्थापना होती है[२]। इसी प्रसंग में शुक्ल जी ने काव्य को योग कहा है[३] और इसकी साधना का उद्देश्य जगत का सच्चा प्रतिनिधि बनना बताया है, विश्व के साथ अपने जीवन का प्रकृत सामंजस्य स्थापित करना घोषित किया है[४], अर्थात् दूसरे शब्दों में लोक-धर्म को अपनाने की ओर संकेत किया है। मनोविकारों के स्वरूप-विवेचन के समय उनके सामाजिक स्वरूप को सर्वश्रेष्ठ बताया है[५], जिनको अपनाने से साहित्य तथा समाज में व्यवस्थित, मर्यादित तथा लोक-मंगलकारी जीवन की प्रतिष्ठा हो सकती है। रस-मीमांसा के काव्य-विवेचन सम्बन्धी निबन्धों में काव्य की परिभाषा, लक्षण, धर्म, उद्देश्य, विशेषतायें, इनके प्रमुख जीवन-सिद्धान्त—लोक-धर्म एवं प्रमुख जीवनोद्देश्य-लोकधर्म मङ्गल के आधार पर निरूपित की गई हैं[६]। शुक्ल जी ऐसे सौन्दर्य को स्वीकार

१—चिन्तामणि, प्रथम भाग—मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध।

२— वही पृ० ६. ३— वही पृ० ७.

४— वही पृ० ७

५— वही —मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध।

६—रस-मीमांसा—काव्य-विवेचन सम्बन्धी परिच्छेद.।

नहीं करते जिसका प्रभाव नितान्त वैयक्तिक अथवा असामाजिक हो[१]। इनके सामान्य जीवन का व्यापक उद्देश्य—लोक-मंगल ही काव्य क्षेत्र में रस का रूप धारण कर लेता है[२]। रस-मीमांसा में रस का सम्पूर्ण विवेचन लोक-धर्म की भूमिका पर प्रतिष्ठित है। बुद्ध-चरित का वक्तव्य यह स्पष्ट कर रहा है कि यह अनूदित-ग्रन्थ लोक-धर्म के प्रतीक गौतम बुद्ध को स्मरण कराने का लघु प्रयत्न है[३]।

अब हमें यह देखना है कि शुक्ल जी की कृतियों में अभ्यास-रूप में बार बार कौन सिद्धान्त कहा गया है। काव्य के धर्म, लक्षण, उद्देश्य, परिभाषा तथा विशेषताओं के कथन के समय[४]; कविता तथा कवियों की उच्चता के मान-दण्ड के निरूपण के समय[५]; जीवन का उद्देश्य, धर्म, लक्षण, जागर्ति तथा प्रगति का मानदण्ड बताते समय[६]; प्रकृति-दर्शन[७], समाज-व्यवस्था[८] तथा देश-प्रेम[९] सम्बन्धी धारणाओं में; क्षात्र-धर्म; राज-धर्म, कुल-धर्म, गृहधर्म[१०] आदि के विवेचन में; मुक्तक तथा प्रगीत की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य के श्रेष्ठत्व के प्रति-पादन में[११] हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन के सिद्धान्त[१२] में;

१—चिन्तामणि पहला भाग—पृ० २२८.

२-अ-जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है कवि उसके सौन्दर्य-पक्ष पर आप भी मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध करता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टिके अनुसार शुभ या मंगल समझता है उसीं को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुन्दर कहता है। वही पृ० २२८,

२-ब-लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है। वही पृ० ३०९.

३—बुद्ध-चरित वक्तव्य—पृ० २.

४—चिन्तामणि पहला भाग—'कविता क्या है'—पृ० १९२, २५३.

५— वही ,, पृ० २१६, ३०८,

६— वही ,, पृ० ६३, २४, २८, १११,

७— वही ,, पृ०-२११,

८—गोस्वामी तुलसीदास—पृ० २५, ९—चिन्तामणि पहला भाग पृ० १०७,

१०— वही पृ०-५८, २८२. २८३.

११—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ०-२७५,

१२— वही वक्तव्य पृ०-१-२,

अलंकारवाद, रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद[1], अभिव्यंजनावाद, संवेदनावाद, प्रतीकवाद[2] आदि के खण्डन में लोक-मंगल एवं लोक-धर्म का सिद्धान्त दिखाई पड़ता है।

अब हमें शुक्ल जी के सिद्धान्त की अपूर्वता पर विचार करना चाहिए। शुक्ल जी ने लोक-धर्म का सिद्धान्त भारतीय दर्शन से लिया है[3]। इसमें तत्कालीन भारतीय जागर्ति की चेतना का तत्व भरकर[4], इसमें मानवता को समाहित करने वाला व्यावकता का तत्व प्रविष्ट कर[5]; इसके अन्तर्गत द्विवेदी-कालीन समीक्षा की परिणति प्रगट कर, इसके द्वारा सभी देशों के श्रेष्ठ साहित्य की सम्पत्ति परखने का मानदण्ड निर्मित कर, इसमें अन्तश्चेतनावाद, रहस्य-वाद, कलावाद, व्यक्ति-वैचित्र्यवाद[6] आदि विभिन्न साहित्यिक संकुचित वादों के विरोध करने की विचारसामग्री भरकर उन्होंने इसे अपूर्व तथा नवीन बनाने का प्रयत्न किया है। शुक्ल जी के लोक-मंगल के सिद्धान्त में चरम सुख के साथ चरम धर्म का सामंजस्य[7] उसकी बहुत बड़ी विशेषता है।

तात्पर्य-निर्णय में फल पर विचार करते समय यह देखना चाहिए कि शुक्ल जी के जीवन-सिद्धान्त का उनके वैयक्तिक जीवन तथा उनके अनुयायियों पर क्या फल पड़ा। अपने पिता के बार-बार कहने पर भी शुक्ल जी वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण न कर सके, क्योंकि वे वकालत के पैसे को लोक-धर्म से विरत करने वाला मानते थे[8]। उनका विचार था कि रुपया मिलने पर वकील किसी भी पक्ष की ओर से बहस करने के लिये तैयार हो जाता है; उससे न्याय का समर्थन होगा या अन्याय का—इसकी चिन्ता वह नहीं करता। लोक-धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा रखने के कारण ही उन्होंने लोक-धर्म से च्युत करने वाली सरकारी नौकरियों को भी कभी पसन्द नहीं किया[9]। वे जीवन भर आर्थिक-कष्ट सहते हुए लोक-धर्म-अनुगामिनी सहकुटुम्ब प्रणाली से दूर नहीं हटे[10]। लोक-धर्म को अपने वैयक्तिक जीवन में सबसे अधिक महत्व देने के कारण ही वे

१—चिन्तामणि पहला भाग पृ० २३७, २४८, २४९.

२—अभिभाषण पृ० ३२, ३९, ६८, ३—इसी अध्याय में आगे पृ० १५८, १६१,

४—इसी अध्याय में आगे पृ० १४२, १४३, १४४, ५—गोस्वामी तुलसीदास पृ० २४,

६—चिन्तामणि पहला भाग पृ० २६४, २२८, २६५ ७— वही पृ० २६९.

८—साहित्य सन्देश शुक्लांक आचार्य शुक्ल —एक झांकी—पृ० ३७३.

९—साहित्य संदेश शुक्लांक—जीवन परिचय —डा० श्यामसुन्दर दास पृ० २६८.

१०-आचार्य के गोकुल पुत्र पं० चन्द्र शुक्ल जी द्वारा प्राप्त जीवन सामग्री के आधार पर।

स्वार्थसनी राजनीति से सदा दूर रहे[1]। लोक-धर्म अथवा लोक-मंगल की रक्षा के लिये ही वे खोटे सिक्कों को कभी दूसरों के हाथ नहीं जाने देते थे, स्वयं उन्हें दो टुकड़ों में काट कर व्यर्थ कर देते थे, जिससे घर वाले भी दूसरों को धोखा न दे सकें[2]। उनके अनुयायी हिन्दी-समीक्षक जो उनके शिष्य भी रह चुके हैं, हिन्दी-समीक्षा में लोक-धर्म के पक्ष का ही अनुगमन करते हुए दिखाई पड़ते रहें हैं। उनमें पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी डा० केसरी नारायण शुक्ल, पं० कृष्ण शंकर शुक्ल, पं० चन्द्रवली पाण्डेय, पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

सिद्धान्त-निर्णय का छठाँ और सातवां साधन है—अर्थवाद और उपपत्ति। अर्थवाद का तात्पर्य है—आगन्तुक बातें, जो प्रसंगानुसार कही जाती हैं—जैसे, प्रतिपादन के प्रवाह में दृष्टान्त, उद्धरण, तुलना, युक्तिपोषक अन्य तत्व। अर्थवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि कौन विषय प्रस्तुत अथवा प्रधान है, कौन अप्रस्तुत अथवा अप्रधान। जैसे, मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में मनोविकारों का सामाजिक स्वरूप स्पष्ट करना, उन निबन्धों का प्रस्तुत विषय है। तुलना-रूप में प्रस्तुत किये गए उनके वैयक्तिक स्वरूप अप्रस्तुत अथवा आगन्तुक विषय हैं। जैसे; सामाजिक क्रोध की स्पष्टता के लिए वैर का स्वरूप उस निबन्ध का आगन्तुक विषय है। शुक्ल जी ने मनोविकारों के वैयक्तिक स्वरूप का सदैव खंडन किया है तथा उनके सामाजिक स्वरूप का समर्थन। शुक्ल जी प्रायः व्यंग्य एवं हास्य के स्थलों द्वारा अपने निबन्धों में विषयान्तरिता लाते हैं; उन स्थलों पर उन्होंने प्रायः लोक-धर्म से विरत रहने वाले लोभियों, लम्पटों, स्वार्थियों, आलसियों, कामचोरो, शोषकों, धर्मध्वजियों, पाखन्डियों की निन्दा की है[3]। लेखक अपने मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में विषय-विवेचन तक ही अपने को सीमित नहीं रखता वरन् अपनी रुचि-अरुचि, प्रवृत्ति-निवृत्ति की बातों को भी यत्र तत्र कहता चलता है। यथा स्थान अपनी सर्वप्रिय कविताओं, कवियों, व्यक्तियों का उदाहरण भी देते चलता है। जैसे, सच्चे कवियों की वाणी के उदाहरण-स्वरुप शुक्ल जी ने अपने प्रिय कवि ठाकुर का जो उदाहरण[4] दिया है वह लोक-धर्म का मार्मिक स्वरुप उपस्थित करता है—

१—हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष-काल में भी शुक्ल जी ने विश्वविद्यालय की राजनीति में कभी भाग नहीं लिया।

२—आचार्य के सुपुत्र पं० गोकुलचन्द्र जी द्वारा प्राप्त जीवन-सामग्री के आधार पर।

३—चिन्तामणि, पहला भाग—'लोभ-प्रीति' पृ०—११६, ११७ 'उत्साह'–१२, १६, 'श्रद्धा-भक्ति'–२८, ३६, ४०, ४४, ५१. ४—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ७.

'विधि के बनाये जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ,
खेलत-फिरत तिन्हें खेलन-फिरन देव:'

शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में यत्र तत्र तत्कालीन जीवन की अनेक समस्याओं पर अपना विचार तथा उनका समाधान लोक-धर्म के आधार पर किया है। प्रस्तुत विषय से इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने के कारण इनकी गणना भी आगन्तुक विषयों के भीतर ही होगी। शुक्लजी के जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तों के समर्थन के युक्तिपोषक तत्व प्राय: लोक धर्म अथवा लोक-मंगल पर ही आधारित हैं; जैसे, उनके जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों—वर्णाश्रम-सिद्धान्त, सगुणोपासना, मर्यादा, आदर्शवाद, गृहधर्म, कुल-धर्म, समाज—धर्म, शील-सिद्धांत आदि का समर्थन लोक-धर्म के ही तत्वों द्वारा किया गया है [1]; प्रमुख साहित्य-सिद्धात रसवाद का समर्थन भी लोक-धर्म के ही आधार पर हुआ है [2]; रहस्यवाद, कलावाद, अलंकारवाद, रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद आदि के खण्डन की अनेक युक्तियां लोक-धर्म पर आधारित हैं [3]।

उपपत्ति में साध्य सिद्धांत के बाधक पक्षों का खण्डन तथा साधक पक्षों का मंडन देखा जाता है। शुक्ल जी लोक-धर्म के विरुद्ध पड़ने वाले व्यक्तिवैचित्र्य-वाद का खण्डन करते हैं [4]; सौन्दर्य के वैयक्तिक अथवा असामाजिक स्वरुप को अस्वीकार करते हैं [5]; व्यक्तिवादी साहित्यिक धाराओं का विरोध करते हैं [6]; समाज-विरोधी मनोविकार के स्वरूपों को व्याधि कहते हैं; लोक-धर्म-विरोधी पुरानी प्रथाओं, प्रवृत्तियों तथा परम्पराओं को तोड़ने की अनुमति देते हैं [7]; लोक-धर्म से विमुख करनेवाली नवीन मनोवृत्तियों तथा नवीन सिद्धांतों का निषेध करते हैं [8]; कोरी भावुकता को प्रश्रय देने वाले अथवा उच्छृंखलता को महत्व देने वाले निबन्ध-स्वरूप का खण्डन करते हैं [9]। शुक्ल जी लोक-धर्म के साधक पक्षों के मंडन में सहायक, साहित्य के विभिन्न सिद्धांतों—रमणीयता,

---

१—इसी अध्याय में आगे देखिये—पृ० १२१, १२७, १२८, १२६.

२—समीक्षा-सिद्धांतो का निरूपण वाला अध्याय, देखिये—पृ० १७८.

३— { अ:—अभिभाषण—पृ० ३३, ३४, ३५, ३७, ३८.
 { ब:—रस-मीमांसा—पृ० ५०, ५१, ४०, ५१, ३७०.

४—चिन्तामणि, पहला भाग—पृ० ३३२, ५— चि० प० भा० पृ० २२८,

६— वही पृ० ३२०, ३२८.

७—अभिभाषण—पृ० ६३. ८—अभिभाषण पृ० ११२.

९—हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ५२१,

उदात्तता, प्रेषणीयता, उपयोगिता, साधारणीकरण, औचित्य आदि का सदा समर्थन करते हुए दिखाई पड़ते हैं[1]; धर्म, श्रद्धा, शिक्षा, शिष्टाचार, नियम, आदि का निरूपण लोक-धर्म के साधक रूप में करते हैं[2] तथा वर्णों की श्रेष्ठता भी लोक-धर्म के पालन पर सिद्ध करते हैं[3]।

उपसंहार में यह देखना पड़ता है कि लेखक के जीवन-सम्बन्धी विभिन्न निष्कर्ष उसके मुख्य सिद्धांतके अनुकूल हैं या नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्लजी के जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी सभी निष्कर्ष उनके मुख्य सिद्धांत लोक॰ मंगलके अनुकूल हैं। प्रमाणार्थ कुछ निष्कर्ष नीचे दिये जाते हैं:—सबके अभ्युदय तथा निःश्रेयस-सिद्धि के रूप में धर्म की परिभाषा[4]; पर दुख-निवारण तथा जन-सुख-सम्बर्धन के रूपमें कर्मोच्चता की कसौटी[5]; लोक-सुख-स्थापन तथा जन-दुख-निवारण के रूप में जीवनोद्देश्य का निरूपण[6], धर्मकी रसात्मक अनुभूति के रूपमें भक्तिका लक्षण-कथन[7]; देशबद्ध मनुष्यत्व की सच्ची अनुभूति के रूपमें देश-भक्ति की स्थापना[8]; अन्तःकरण की सभी शक्तियों के संस्कार-रूप में शिक्षा उद्देश्यका निरूपण[9]; मानव-जीवन के व्यवहार-पथमें आश्रय-प्राप्तिके निमित्त-उसकी अनुभूति से संबंध रखने वाले भावोंके परम रूपमें ईश्वर की धारणा[10]; सौन्दर्य के अवान्तर रूपमें मंगलका कथन[11]; सामान्य धर्म के तत्वों—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह आदि का लोक-सापेक्ष रूप में मूल्यांकन[12]; श्रद्धा के भेदों में शील सम्बन्धिनी श्रद्धा को श्रेष्ठ मानने वाला मत[13] आदि जीवन संबंधी शुक्ल जी के निष्कर्ष उनके साध्य सिद्धान्त लोक-मंगल के अनुकूल हैं।

अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक संबंध की रक्षा तथा निर्वाह के साधन-रूप में कविता की परिभाषा[14]; लोक-व्यवहार के साधक-रूप में काव्य-प्रयोजन का उल्लेख[15]; लौकिक शिवत्व को काव्यादर्श मानने वाला इनका दृढ़ सिद्धान्त[16];

१—चिन्तामणि पहला भाग—पृ० ४७, २१६, २२२, ३१२. अभिभाषण—पृ० ३६, ३७. गो० तुलसीदास पृ० ४९, ७५.

२—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ६५.

३—चि० पहला भाग पृ० ४८.

४— वही पृ० २९५.

५— वही पृ० ६३.

६— वही पृ० ६३.

७— वही पृ० ६

८— रस-मीमांसा पृ० १५१.

९—आदर्श जीवन पृ०—१८२

१०—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ५२,

११—चि० प० भा० पृ०—२२८

१२— वही पृ०—६५ के आधार पर।

१३— वही पृ०— ३७

१४—अभिभाषण पृ०—७०.

१५—चि० प० भाग पृ०—२१६.

१६—चि० प० भा० पृ० २९५-३०६ के आधार पर।

लोक-जीवन के कोमल-कठोर, मधुर-तीक्ष्ण परस्पर विरोधी भावों के सामंजस्य में काव्य-कला की पूरी रमणीयता मानने वाला इनका विचार[1]; लोक-हृदय के पहचान को कवि-कसौटी मानने वाला इनका मत[2]; हृदय की मुक्तावस्था अथवा लोक-दशा के रूप में इनके द्वारा निरूपित रस की परिभाषा[3], रस को अंगी सिद्धान्त मानने वाला इनका समीक्षात्मक निष्कर्ष[4]; भारतीय रस-सिद्धान्त में संसार भर के साहित्यों को जांचने की क्षमता में इनका विश्वास[5]; लोक-जीवन की प्रशस्त भूमि के भीतर इनके द्वारा निरूपित रस की व्याप्ति[6]; लोक-जीवन से अलग शाश्वत भाव-सत्ता का खण्डन[7]; साहित्य की सामाजिक सार्थकता पर सर्वाधिक बल देने वाला इनका विचार[8]; काव्य-रूपों में प्रबन्ध काव्य को श्रेष्ठ कहने वाला इनका मत[9]; देश की समस्याओं तथा सामाजिक प्रश्नों को भुला कर निर्लिप्त भाव से शाश्वत साहित्य रचने के सिद्धान्तों का विरोध[10]; लोक-धर्म की कसौटी पर तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि कहने वाला[11] तथा हिन्दू-मुसलमान, ऊंच-नीच सभी जातियों के लिए लोक-कल्याण का मार्ग निकालने वाले भक्त कवियों के युग को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ युग मानने वाला इनका निर्णय[12]; देश-भक्ति[13], जातीयता[14], तथा जनहित[15] के आधार पर निर्मित इनके समीक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण इनके साध्य सिद्धान्त लोक-मंगल के अनुकूल हैं। उपर्युक्त विवेचन में तात्पर्य-निर्णय के साधनों के प्रयोग से यह बात स्पष्ट हो गई कि शुक्ल जी का प्रमुख जीवन-सिद्धान्त लोक-मंगल है और उनका साधन है लोक-धर्म।

साध्य तथा साधन सिद्धान्तों के अपनाने का कारण:—

शुक्ल जी के लोक-मंगल तथा लोक-धर्म के दार्शनिक आधार तथा स्वरूप-विवेचन के पूर्व यह जान लेना उचित होगा कि शुक्लजी ने इन्हें अपनाया क्यों?

१—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २०१. २— वही पृ० २०८.

३— वही पृ० १९२, २०९. ४—काव्य में रहस्यवाद, पृ० १५१

५—अभिभाषण-पृ० ४२, ८४, ९३ के आधार पर, ६—रस-मीमांसा-पृ० २७३.

७—रस-मीमांसा पृ० १६३. ८—अभिभाषण पृ० ४०.

९—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २७५, गोस्वामी तुलसीदास पृ०-६७.

१०—रस-मीमांसा पृ० २४. ११—गोस्वामी तुलसीदास पृ० १७५.

१२—गोस्वामी तुलसीदास पृ० ३, हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ७१.

१३—अभिभाषण पृ० ८३, १०४. १४—साहित्य-सन्देश-शुक्लांक सन् १९५१.

अप्रैल-मई, साहित्य की परिभाषा पृ० ३६३. १५—अभिभाषण पृ० १११. ११२.

आधुनिक मनोवैज्ञानिक[१] किसी भी व्यक्ति द्वारा विशेष जीवन-सिद्धान्त के अपनाये जाने का कारण उसकी आनुवंशिक विशेषता[२] तथा वातावरण[3] में ढूँढ़ते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सर्व प्रथम शुक्ल जी की आनुवंशिक विशेषता पर विचार करना चाहिए। शुक्ल जी का जन्म ऐसे उदात्त ब्राह्मण-कुल में हुआ था जिनके पूर्वज किसी अन्यायी, अत्याचारी के अन्याय, अत्याचार का आशुफल देने के लिए तुरत तत्पर रहते थे[४]। इनके पितामह पं० शिवदत्त शुक्ल बड़ी ही उदात्त वृत्ति के व्यक्ति थे[५]। इसीलिए बस्ती की रानी ने प्रसन्न होकर इनकी दादी को पितामह के मरने के पश्चात् बस्ती नगर से दो मील दूर अगोना[६] नामक ग्राम में भरण-भोषण के लिए यथेष्ठ भूमि दी थी, और वहीं उनके रहने के लिए अलग घर भी बनवा दिया था। इनकी दादी भी रामभक्त थीं। नित्य बड़ी सुन्दर रीति से वे तुलसी के भजन गातीं तथा पूजा-पाठ में निमग्न रहती थीं। इनके उदात्त चरित्र से बस्ती की रानी बहुत ही प्रसन्न होकर इन्हें अपनी कन्या के समान मानती थीं[७]। इनकी दादी की मृत्यु जब ये नवीं कक्षा में थे, तब हुई थीं[८]। इनके पिता भी हिन्दी-कविताके बड़े प्रेमी

1—Any characteristic of the individual is the product of heredity and environment,

Psychology (Heredity & Environmnt) Page 191

By Woodworth and Marquis-

Heredity plays an important part in the turn that character takes The environment influences the development of the individual in many different ways. Ibid. P. 158.

२–वंश परम्परा का यह नियम है कि जो विशेपता किसी जीव में उत्पन्न हो जाती है वह पीढ़ी दर पीढ़ी चली जाती है और क्रमशः अधिक स्पष्ट होती जाती है। विश्व प्रपंच, भूमिका पृ० २७

३–जिस परिस्थिति में जो जीव पड़ जाते हैं उसके अनुकूल उनके अंग और उनका स्वभाव क्रमशः होता जाता है। वही — पृ० २७

४–साहित्य-संदेश-शुक्लांक, १९४१ अप्रैल मई, जीवन परिचय श्यामसुन्दरदास।

५– वही आचार्य शुक्ल एक झांकी, केशवचन्द्र शुक्ल।

६–यहीं आचार्य शुक्ल आश्विन-पूर्णिमा सं० १९४१ में पैदा हुए थे और ४ वर्ष की अवस्था तक इसी ग्राम में रहे। वही, जीवन-परिचय-श्यामसुन्दरदास। पृ० ३६७.

७–जीवन-परिचय-श्यामसुन्दरदास पृ० ३६७.

८–साहित्य-सन्देश जीवन-परिचय आचार्य शुक्ल, एक झांकी पृ० ३७३.

थे। प्रायः रात को तुलसी का रामचरित मानस, भारतेन्दु के नाटक, केशव की रामचन्द्रिका बड़े ही चित्ताकर्षक ढंगसे पढ़ा करते थे[१]। इनकी माता गाना के एक पुनीत मिश्र घराने की कन्या थीं। इनके बड़े पुत्र पं०केशवचन्द्र शुक्ल का कहना है कि भक्तशिरोमणि तुलसीदास जी इसी गाना के मिश्र-कुल में उत्पन्न हुए थे[२]। इनकी माताके तुलसीदास सम्बन्धी कुल-निर्णय के विवादास्पद प्रश्नके निराकरण को यहां अप्रासंगिक समझकर अपने प्रस्तुत विषय के हेतु इतना ही निष्कर्ष उचित है कि इनकी माताका जन्म उदात्त कुल में हुआ था और उनका चरित्र भी उदात्त कोटि का था। इस प्रकार पितामह, पितामही, पिता तथा माता के उदात्त चरित्रका प्रभाव आनुवंशिक विशेषता तथा वातावरण सम्बन्धी दोनों तत्वों के रूपमें शुक्लजी के मस्तिष्क पर पड़ा होगा[3]। इसी कारण शुक्ल जी के चिन्तक-स्वरूप की निर्माणावस्था के आरंभिक क्षणों से ही तुलसीका सबसे अधिक प्रभाव उनके मस्तिष्क पर दिखाई पड़ता है[४]। बाल्यकाल से ही तुलसी के लोक-मंगल तथा लोक-धर्म के सिद्धांतों ने उन्हें सबसे अधिक प्रभावित किया था। उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई कि शुक्ल जी की उदातत्ता तथा सत्वगुण की विशेषता बहुत मात्रा में आनुवंशिक विशेषता से प्राप्त हुई थी।

वातावरण के भीतर निरीक्षण, अध्ययन, श्रवण, व्यक्ति अथवा संस्था-सम्पर्क, व्यक्ति अथवा संस्था-प्रभाव, युग-परिस्थितियों, प्रवृत्तियों आदि उन वाह्य तत्वोंका समावेश किया जाता है जो इन्द्रियज ज्ञान (Impressions) अथवा संवेदन उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं[५]। ये इन्द्रियज ज्ञान अथवा संवेदन ही वे मूल उपादान हैं जिनके पुनरुद्भावन, मिश्रण, समाहार, परिपाक आदि

१— वही — जीवन-परिचय, श्यामसुन्दरदास पृ० २६७

२— वही — आचार्य शुक्ल, एक झांकी पृ० २७०

3—A—The child receives a great many of his physical and mental traits form his parents. :-Elements of Educational psychology, L. R. Shukla. P. 20

B—The child possesses a number of traits of the parents not necessarily because he inherits them from the parents' but because he is brought up with them. वही P. 21

४-साहित्य-संदेश,शुक्लांक, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक झांकी पं० केशवचन्द्रशुक्ल पृ० २७०.

5—Environment covers all the out side factors that have acted on him since birth. Psychology.-Woodworth & MarquisP. 153

से किसी व्यक्ति में जाति या सामान्य की भावना, विचार, तर्क, संकल्प, विकल्प आदि की योजना होती है[1]। वातावरण के तत्वों का विवेचन हमारे यहां व्युत्पत्ति के भीतर किया गया है[2]। लोक-धर्म को जीवन-सिद्धान्त-रूप में अपनाने की प्रेरणा वातावरण के इन तत्वों से शुक्ल जी को किस रूप में मिली—इस पर संक्षिप्त रूप से विचार करना चाहिए।

वातावरण के तत्वों में क्रम के अनुसार निरीक्षण पर सर्व प्रथम विचार करना चाहिए। शुक्ल जी के चिन्तक-स्वरूप के निर्माण-क्षणों में कांग्रेस जैसी लोक-धर्म-निष्ठ संस्था बन चुकी थी। शुक्ल जी कांग्रेस की राष्ट्रीय भावना तथा लोक-हितैषणा से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित थे। इसलिए सूरत-कांग्रेस में नेताओं की 'फूट' पर उन्होंने एक सुन्दर कविता की रचना की है[3]। हमारे देश के लोक-हित-सम्पादन में समर्थ बड़े बड़े नेता स्वामी दयानन्द, तिलक, गोखले, रानाडे, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, मालवीय, सुभाष, गान्धी, अरविन्द आदि का व्यक्तित्व शुक्ल जी के दार्शनिक व्यक्तित्व के निर्माण-क्षणों में प्रभावशाली हो चुका था। इनमें से बहुतों को देखने एवं सुनने का अवसर भी उन्हें प्राप्त हुआ था। उपर्युक्त नेताओं की देश-भक्ति में मानव-जाति के ऐक्य एवं कल्याण की भावना निहित थी। इनकी लोक-धर्म की चेतना को गान्धी जी के लोकवादी व्यक्तित्व ने बहुत ही प्रबल बनाया होगा। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में भी लोक-धर्म की भावना निहित थी, केवल संकुचित राष्ट्र-प्रेम की नहीं। उस समय भारतीय जनता की सामाजिक दृष्टि संकुचित घेरे से निकल कर विस्तृत हो रही थी। बंग-भंग-विरोधी आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन, विश्व के प्रथम महायुद्ध से उत्पन्न जनता की पीड़ा, पराधीनता-जनित भारत की विपन्नता एवं वेदना को देखने का अवसर शुक्ल जी को अपनी प्रत्यक्ष आंखों से मिला था। इन सबका सम्मिलित प्रभाव शुक्ल जी पर ही नहीं वरन् उस युग के सभी प्रमुख लेखकों के मस्तिष्क पर लोक-धर्म के ग्रहण की प्रेरणा दे रहा था। 'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र 'बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि द्वारा निर्मित उस युग की साहित्यिक परम्परा लोक-दृष्टि को अपनाकर चल रही थी। इस परम्परा को केवल पढ़ने

१—विश्व प्रपंच की भूमिका पृ० ८६.

२—साहित्य-सन्देश; आलोचनांक-नवम्बर सन् १६५१. आलोचक की प्रतिभा डा० जगन्नाथ शर्मा पृ० १४२.

३—'फूट' आनंद कादम्बिनी; माघ; पौष सम्वत् १६६४ वि०.

एवं सुनने का ही अवसर शुक्ल जी को नहीं मिला वरन् उसके निर्माण-कर्त्ताओं से सम्पर्क प्राप्त करने का अवसर भी मिला[१]। इस प्रकार शुक्ल जी के वातावरण सम्बन्धी निरीक्षण-तत्व ने भी उन्हें लोक-धर्म की ओर उन्मुख किया।

शुक्ल जी के अध्ययन ने भी उन्हें लोक-धर्म की ओर ही प्रेरित किया। उन्होंने भारतीय तथा पश्चिमी कवियों, लेखकों, आलोचकों, दार्शनिकों एवं मनोवैज्ञानिकों का अध्ययन गम्भीर रूप में किया था; उन सबमें लोक-धर्म का संदेश निहित था। संस्कृत वाङ्मय में वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, पुराण, स्मृति, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य आदि दर्शन, साहित्य-ग्रन्थों में रघुवंश कुमारसंभव, शाकुन्तल, उत्तररामचरित, शिशुपालबधम्, किरातार्जुनीयम्, हर्षचरित; हिन्दी ग्रन्थों में रामचरित मानस, सूरसागर पद्मावत, रामचन्द्रिका आदि सभी प्रतिनिधि ग्रन्थों का; अंग्रेजी लेखकों में—लाक, रूसो, कान्ट, शेलिंग, हीगेल, शोपेनहावर, पालसन, ह्यूम, मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर, हैकल, शैन्ड, डारविन, स्माइल्स, बेकन, एडिशन, शेली, वर्डसवर्थ, कालरिज, कीट्स, ब्राउनिंग, टेनीसन, न्यूमन, रस्किन, आर्नोल्ड, टालस्टाय[२], सेन्टबरी, एवरक्राम्बे, वर्सफोल्ड, मोल्टन, रिचर्ड्स आदि का अध्ययन इन्होंने किया था। संस्कृत समीक्षकों में उन्होंने भरत मुनि, भामह, दंडी, रूद्रट, आनन्दवर्धन, भट्टनायक, भट्टतौत, राजशेखर, मुकुलभट्ट, अभिनव गुप्त, कुन्तक, धनंजय और धनिक, महिम भट्ट, भोजराज, क्षेमेन्द्र, मम्मट, वाग्भट्ट, जयदेव, भानुदत्त, विश्वनाथ, जगन्नाथ, आदि का सूक्ष्म अध्ययन किया था[३]। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनकी उक्त सम्पूर्ण अध्ययन-सामग्री लोक-धर्म के ही अनुकूल पड़ने वाली थी; कोई भी कृति अथवा कृतिकार व्यक्तिवैचित्र्य की ओर प्रेरित करने वाला नहीं था।

श्रवण-तत्व ने भी उन्हें लोक-धर्म की ओर ही उन्मुख किया। बचपन में दादी से तुलसी, सूर, मीरा, केशव; किशोरावस्था में पिता से रात को रामचरितमानस चित्ताकर्षक स्वर में सुनने का सुअवसर तथा मिर्जापुर में पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद से भवभूति, कालिदास, वाल्मीकि के श्लोकों को रमणीय ढंग से

१—'प्रेमघन' तथा द्विवेदीजी से सम्पर्क प्राप्त करनेका अवसर शुक्लजी को कई बार मिला था।

२—उपर्युक्त ग्रन्थों एवं लेखकों की सूची शुक्ल जी के ग्रन्थों में आये उद्धरणों, पाद-टिप्पणियों तथा अन्त में दी गई अनुक्रमणिका के आधार पर तैयार की गई है।

३—उपर्युक्त आचार्यों का खण्डन अथवा मण्डन शुक्ल जी ने अपने समीक्षा संबन्धी ग्रन्थों तथा इतिहास में किया है।

सुनने का अवसर इन्हें मिला था[1]। इस प्रकार श्रवण-तत्व द्वारा भी उनकी मन की प्रवृत्तियों का विकास लोक-धर्म की ही ओर हुआ।

अब वातावरण सम्बन्धी सम्पर्क एवं प्रभाव-तत्वों पर विचार करना चाहिए। शुक्लजी का हाई स्कूल का शिक्षण मिर्जापुर के लन्दन मिशन स्कूल में हुआ[2] जिसमें विदेशी संस्कृति, सभ्यता एवं क्रिश्चियन धर्म के प्रचार का वातावरण इन्हें मिला। इस विद्यालय के वातावरण की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप शुक्ल जी में अपने धर्म, संस्कृति एवं सभ्यता के प्रति अगाध आस्था-उत्पन्न हुई। इस आस्था के फलस्वरूप उन्होंने भारतीय साहित्य, संस्कृति तथा दर्शन का गहन अध्ययन किया, इनमें से प्रत्येक के अध्ययन से इन्हें लोक-धर्म का तत्व मिला। नागरी प्रचारिणी सभा एवं काशी-विश्वविद्यालय में कार्य करने का अवसर उन्हें बहुत दिनों तक मिला[3]। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों संस्थायें लोक-धर्म की ही प्रेरणा देने वाली थीं। कांग्रेस का सम्पर्क सक्रिय रूप में तो उन्हें नहीं मिला किन्तु कांग्रेस-सम्बन्धी सभा-समितियों में भाषण सुनने का अवसर उन्हें अवश्य मिला होगा अन्यथा कांग्रेस से प्रभावित होकर वे कविता न लिखते[4]। व्यक्ति-सम्पर्क में उन्हें, सबसे अधिक लोक-चेतना वाले मालवीय जी का सम्पर्क मिला[5]। साहित्यिकों में सबसे अधिक सम्पर्क बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन', प्रेमचन्द, बाबू श्यामसुन्दरदास, 'हरिऔध' लाला भगवानदीन, प्रसाद आदि का मिला। कहने की अवश्यकता नहीं कि उक्त सभी साहित्यिक लोक-धर्म की चेतना से समन्वित थे। इस प्रकार सम्पर्क एवं प्रभाव-तत्व भी शुक्लजी में लोक-धर्म की भावना को पुष्ट करने में समर्थ हुए।

अब युग की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों पर विचार करना चाहिए। परिस्थितियों में राजनीतिक दृष्टि से उस समय हमारे देश की सबसे प्रधान परिस्थिति पराधीनता की थी। स्वतन्त्रता के अभाव में हमारी शिक्षा, संस्कृति, धर्म, साहित्य एवं भाषा पर आवरण डाले जा रहे थे। भारतवासियों में हीनता की भावना उत्पन्न की जा रही थी। लोगों को स्वार्थी बनाने की परिस्थिति उत्पन्न की जा रही थी। विदेशी शासक भारतीय जनता पर नाना प्रकार के अत्या-

---

१—साहित्यिक-सदेश—शुक्लांक, सन् १९४१, अप्रैल-मई, जीवन-परिचय, श्यामसुन्दरदास,

२—समीक्षक-प्रवर श्रीरामचन्द्र शुक्ल–गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' पृ० २.

३—ना० प्र० स० में हिन्दी-विश्व कोष के सहायक सम्पादक के रूप में १९०८ से १९४१, का० वि० वि० में हिन्दी-विभाग के अध्यापक तथा अध्यक्ष रूप में।

४—'फूट'-सूरत कांग्रेस की फूट पर—आनन्दकादम्बिनी सं० १९६४ पौष-माघ।

५—शुक्लजी के वि० वि० के अध्ययन-काल में प्रायः मालवीय जी वि० वि० के कुलगुरु थे।

चार कर रहे थे[1]। इस प्रकार उस युग की परम आवश्यकता स्वतन्त्रता थी, और देश को स्वतन्त्र करने के लिए स्वार्थ-त्यागियों अर्थात् लोक-धर्म की दृष्टि रखने वालों की आवश्यता थी। युग की इस सामाजिक, राजनीतिक आवश्यकता का प्रभाव आलोचक शुक्लजी पर पड़ा और इससे प्रेरित होकर उन्होंने अंग्रेजी में 'What has India to do'. नामक निबन्ध भी लिखा। १९ वीं शदी का अंतिम चरण जिसमें शुक्ल जी का शैशव एवं किशोर-जीवन निर्मित हुआ, सुधार का युग कहा जाता है[2]। सच्चा सुधार सदैव लोक-दृष्टि को अपनाकर किया जाता है। इस प्रकार सुधार का युग भी लोक-प्रेरणा देने में ही समर्थ था। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी अनेक दृष्टियों से और अधिक मात्रा में सुधारवादी ही थे, क्रान्तिकारी नहीं। अतएव उनके सुधारवादी दृष्टिकोण से भी उनमें लोक-धर्म की भावना का उत्पन्न होना ही स्वाभाविक था।

सांस्कृतिक दृष्टि से शुक्ल जी का युग भारतवर्ष के लिए सांस्कृतिक पुनरुत्थान[3] का युग कहा जाता है। इस दृष्टि से इस युग की प्रमुख विशेषता प्राचीन आदर्शों एवं सिद्धान्तों की पुनर्स्थापना[4] थी। वे प्राचीन आदर्श निश्चय ही लोक-धर्म-समन्वित थे। उस युग के प्रमुख लेखक भारत के स्वर्णिम अतीत के उदात्त आदर्शों एवं धारणाओं का पुनर्निर्माण कर रहे थे। इस प्रकार लोकधर्मी व्यक्ति के निर्माण की ध्वनि शुक्ल-युग के अणु अणु से प्रादुर्भूत हो रही थी। युग की पुकार का प्रभाव शुक्ल जी ऐसे गम्भीर लेखक पर बिना पड़े नहीं रह सकता था। इस प्रकार युग की परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों ने भी लोक-धर्म की ही दृष्टि शुक्ल जी को प्रदान की।

ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि शुक्ल जी का साध्य-सिद्धान्त लोक-मंगल तथा उसका साधन लोक-धर्म है। क्रम के अनुसार, सर्वप्रथम लोक-मङ्गल के स्वरूप पर विचार करना चाहिए। शुक्ल जी के लोक-मङ्गल-सिद्धा त का आधार भारतवर्ष का वह पुराना सिद्धान्त है जिसमें सारी वसुधा, कुटुम्ब तथा

1—An Advanced history of India,
Modern Iindia Part III. R.C. Majumdar P. 867.868.

2—Ibid P. 882.

३—संस्कृति के चार अध्याय: दिनकर पृ. ४६१, ४६२.

4—An Advanced history of India, pt. 3, p. 883.

तीनों भुवन स्वदेश माना जाता था; जिसमें सबके सुखी, निरोग, दुखरहित एवं विकसित होने की कामना की जाती थी[१क]। शुक्लजी ने इस पुराने सिद्धान्त को अपने युग के अनुरूप बना कर उसे आदर्श एवं यथार्थ के सामंजस्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। शुक्लजी इसी लोक को सत्य मानते हैं[१]। इसलिए इसी लोक के मंगल को जीवन का साध्य मानते हैं[२]। शुक्ल जी की दृष्टि में लोक-मंगल का अर्थ इसी लोक का सुख-विधान है जिसमें व्यक्ति अपनी ही रक्षा, सुख तथा कल्याण से तृप्ति नहीं पाता वरन् परिवार, समाज, देश, विश्व—सबकी रक्षा तथा कल्याण से तृप्ति चाहता है[3], वह अपनी ही सभ्यता तथा संस्कृति के विकास से सन्तुष्टि नहीं पाता वरन् दूसरों की सभ्यता तथा संस्कृति के विकास से सच्चा सुख पाता है। इस प्रकार लोक-मङ्गल सम्पादित करने की प्रक्रिया में व्यक्ति के हृदयका विकास हो जाता है; व्यक्ति-जीवन लोक- जीवन में लय हो जाता है; जगत के साथ उसके हृदय का पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है; व्यक्ति-हृदय में विश्व-हृदय का आभास मिलने लगता है;। उसकी वृत्ति सात्विक हो जाती है, उसे कर्म-पथमें ही आनन्द मिलने लगता है। शुक्ल जी के अनुसार लोक-मङ्गल मनुष्य-जीवन की वह स्थिति है जिसमें एक व्यक्ति दूसरों का खाद्य नहीं बनता, निर्बल सबल का आहार नहीं बनता, केवल शक्ति की ही पूजा नहीं होती वरन् मनुष्यके उदात्त गुणों तथा वृत्तियोंका सर्वाधिक मूल्यांकन होता है[६]। उपर्युक्त वाक्य यह बात स्पष्ट कर देता है कि शुक्लजी भी शोषण के विरोधी हैं। ब्राउनिंग के समान शुक्लजी मानव जीवन की महत्ता तथा सार्थकता लोक-मङ्गल या परदुखनिवारण में मानते हैं[७]। यदि भ्रम से उसने अपने पेट-पालन अपने सुख-संचय में ही अपना सारा समय लगा दिया तो उसका जीवन पशु-पक्षी के जीवन से किसी प्रकार बढ़कर सिद्ध नहीं होगा[८]।

वसुधैव कुटुम्बकम्। स्वदेशो भुवनोत्रयम् ॥

१—क.— सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद् दुखभाग्भवेत् ॥

१—काव्य में रहस्यवाद पृ० ४६.

२—काव्य में रहस्यवाद पृ० १०.

३— वही पृ० ५ के आधार पर

४—विश्व-प्रपंच की भूमिका पृ० १२५.

५—काव्य में रहस्यवाद पृ० २.

६—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ५१.

७—काव्य में रहस्यवाद—पृ० ५.

८—काव्य में रहस्यवाद पृ० ६.

इस प्रकार शुक्ल जी के लोक-मङ्गल का सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति से, रक्षा से, तथा विकास से है; सबके सुख से है। मनुष्य से लेकर कीट-पतंग-वृक्ष-पुष्प, लता-पादप, तृण-गुल्म—सभी से है[१], किन्तु मार्क्स के समान वर्ग-विहीन समाज कायम करके नहीं[२]; क्रान्ति को जीवन का नित्य अंग बना करके नहीं[३]। शुक्ल जी द्वारा निरूपित लोक-मङ्गल में आवश्यकतानुसार क्रान्ति का उपयोग होगा, किन्तु जीवन के अनित्य अथवा अस्थायी अंग के रूप में[४]-शुक्ल जी के लोकमङ्गलकारी समाज में, समाज के भिन्न भिन्न वर्ग तथा श्रेणियां रहेंगी, पर उनका सम्बन्ध आपस में कल्याणप्रद तथा सुखावह रहेगा।[५] सब लोग अपनी अपनी मर्यादा तथा कर्त्तव्य का पालन करेंगे। समाज की व्यवस्था बनी रहेगी[६]; सभी लोग व्यावहारिक जगत के अनेक रूपात्मक सम्बन्ध की रक्षा मन, वचन तथा कर्म से करेंगे[७], उच्च वर्ग केवल अपनी ही सुख-सुविधा का प्रयत्न नहीं करेगा[८]। इस प्रकार के लोक-मंगल में आत्म-कल्याण लोक-कल्याण, श्रेय एवं प्रेय, अभ्युदय तथा निःश्रेयस, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति शक्ति, शील तथा सौन्दर्य का सामंजस्य रहेगा।

शुक्ल जी जीवन का सौन्दर्य केवल अपने पेट भरने या अपने आनन्द से तृप्त होने के प्रयत्न में नहीं मानते; वरन् लोक में उपस्थित बाधा, क्लेश, विषमता आदि से भिड़ने के प्रयत्न में मानते हैं[९]। इस प्रकार इनकी दृष्टि में जीवन-सौदर्य लोक-मङ्गल का दूसरा नाम है[१०]। कलापक्ष से देखने में जो सौन्दर्य है वही धर्म-पक्ष से देखने में मङ्गल है। कवि मङ्गल का नाम न लेकर सौन्दर्य का ही नाम लेता है, और धार्मिक सौन्दर्य की चर्चा बचा कर मङ्गल ही का ज़िक्र करता है[११]। इस प्रकार शुक्ल जी जीवन को प्रयत्न रूप तथा लोक-मङ्गल को उसका साध्य मानते हैं[१२]। उनकी

१—चिन्तामणि, पहला भाग ७ पृ० के आधार पर। २—गोस्वामीतुलसीदास पृ० २१,
३—चिन्तामणि, प० भा० पृ० २१२. ४—चिं० प० भा० पृ० २१२.
५—गोस्वामी तुलसीदास पृ० २५, ४०. के आधार पर। ६—चिन्तामणि प० भाग पृ० १५४.
७—गोस्वामी तुलसीदास पृ० ४८. के आधार पर। ८— गो० तुलसीदास पृ० ४२
९—काव्य में रहस्यवाद पृ० ५। १०—काव्य में रहस्यवाद पृ० १०,
११— वही पृ० १०. १२— वही पृ० १०.

दृष्टि में लोक-मंगल के लिए किय—
पीड़न एवं ध्वंस जगत की साधना या है—त्याग एवं लोक-कल्याण की भित्ति
लोक-मंगल को उसका साध्य, तथा उसक निष्ट करना[1]; व्यवहारिक जीवन के
हुए कष्ट को तप मानकर गीता के कर्मयोग सामाजिक जीवन को व्यवस्थित;
हैं। अब तक जो कुछ कहा गया उससे यह वि किसी एकके अतिरेक से उत्पन्न
विरोधी तथा लोकवाद के समर्थक हैं, किन्तु उनके शोषण आदि का उन्मू-
दायें हैं जिनसे व्यक्ति के आचरण पर प्रतिबन्ध र क एवं सबल बनाने का
जीवन-मार्ग में बाधक न हो कर अपने व्यक्तित्वका र कल्याण एवं विकास
उसके स्वतंत्र चिन्तन का अधिकार सुरक्षित रहे; वह अपने दो सदैव विकास-
सम्बन्धों के अनुकूल अपने तथा उनके निर्वाह के लिए अपने
कर्म की व्यवस्था कर सके।

लोक-धर्म की परिभाषा:—

गों के

शुक्लजी के लोक-धर्म का स्वरूप जानने के लिए उनके अनुसार उसकी परिभाषा, साध्य, साधन, अवयव, अंग, तत्त्व तथा सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है। शुक्ल जी की दृष्टि में जनता की विविध प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्मका जो मान निर्धारित होता है वही लोक-धर्म है[2]। लोक-धर्म, संसार जैसा है वैसा मानकर उसके बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ निकलता है[3]; जीवन के किसी एक अंग मात्र को स्पर्श करने वाला धर्म लोक-धर्म नहीं;[4] इसमें जन-जीवन के सभी रूपों—पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक; राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय का सौन्दर्य निहित है[5]। शुक्ल जी के मत में जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरने वाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिए छोड़दे, उनकेलिए कोई व्यवस्था न करे, वह लोक-धर्म नहीं, व्यक्तिगत-साधना है[6]। यह साधना मनुष्य की वृत्ति को ऊँचे से ऊँचे ले जासकती है, जहाँ वह लोक-धर्म से परे हो जाती है, पर सारा समाज इसका अधिकारी नहीं[7]। शुक्लजी के अनुसार यह धर्मका चलता हुआ मार्ग है। यह परम्परा का स्पर्श करते हुए भी अत्यन्त प्रगतिशील है, इसमें धर्मका जीवन-व्यापी स्वरूप निहित है। इसमें मानव-जीवन

१—काव्य में रहस्यवाद पृ० १०   २—गोस्वामी तुलसीदास—पृ० २९.

३—गो० तुलसीदास पृ० २४.   ४— वही पृ० २४.

५— वही पृ० ४८. तथा काव्यमें रहस्यवाद-पृ० २,४,५,८,के आधार पर।

६— वही पृ० २७.   ७—गो० तुलसीदास पृ० २९.

इस प्रकार शुक्ल जी के लोक-मङ्गल का ३ग, उदात्तता ४घ, यथार्थता ५च,
से, रक्षा से, तथा विकास से है; सबके सुख, भीषणता और सरलता, कोमलता
वृक्ष-पुष्प, लता-पादप, तृण-गुल्म—स, प्रचण्डता और मृदुता आदि विविध
विहीन समाज कायम करके नहीं[२]; सामंजस्य में निहित है[६]। लोक-धर्म के
नहीं[३]। शुक्ल जी द्वारा निरूपित का ऐसा सामंजस्य होता है जिससे समाज
उपयोग होगा, किन्तु जीवन नी प्रकृति एवं विद्या-बुद्धि के अनुसार धर्म का
शुक्ल जी के लोकमङ्गलक । लोक-धर्म के आचरण से पहले तो किसी को
रहेंगी, पर उनका स , यदि कभी पहुँचता है तो विरुद्ध आचरण करने से
सब लोग अपनी पहुँचता उससे कम ही लोगों को दुख पहुँचाता है[८]। शुक्लजी
व्यवस्था बनी लोक-धर्मानुयायी वे हैं जो अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार
सम्बन्ध की तत्व का स्वतन्त्र विकास लोक-कल्याणार्थ करते हैं[९]; जो लोक-
सुख-सुवि और अपने जीवन की गति, विधि तथा चेष्टाओं का संचालन करते हैं[१०];
लोक- अपने विचार, वाणी तथा कर्म से दूसरे के जीवन-मार्ग में बाधक न हो कर
साधक सिद्ध होते हैं[११]; जो समाज की मर्यादा, व्यवस्था, रक्षा एवं विकास में
तत्पर रहते हैं[१२]; जो समाज के भिन्न भिन्न वर्गों के साथ अपने व्यावहारिक
सम्बन्ध को मर्यादित, सुखावह एवं कल्याणप्रद बनाने की चेष्टा में रत रहते
हैं[१३] तथा जो पापी, अन्यायी एवं अत्याचारी के पाप, अन्याय तथा अत्याचार
के फल को ईश्वर के ऊपर न छोड़ कर उनका आशुफल उत्पन्न करने के लिए
तैयार रहते हैं[१४]।

१–शुक्ल जी द्वारा रीति ग्रन्थों के विरोध का मूल आधार मानव-जीवन की विविधता है।
हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २६४,

२–गोस्वामी तुलसीदास पृ० २४,२५, ३–गोस्वामी तुलसीदास पृ० २१,

४–लोक-धर्म का सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति तथा रक्षा से है जो धर्म की सबसे ऊँची सीढ़ी है। चिन्तामणि प्र० भा० पृ० २८३,

५–लोक धर्म में जनता की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का औसत मान होने के कारण यथार्थ का समावेश है। गोस्वामी तुलसीदास पृ० २५,

६—गोस्वामी तुलसीदास पृ० २४ के आधार पर। ७—गो० तुलसीदास पृ० २२.

८— वही पृ० २५, २३ ९— वही पृ० ४८.

१०— वही पृ० २५ के आधार पर। ११— वही पृ० ४८.

१२— वही पृ० २६. १३— वही पृ० २५.

१४–चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ५१.

लोक-धर्म का आदर्शः—

शुक्ल जी के लोक-धर्म का आदर्श है—त्याग एवं लोक-कल्याण की भित्ति पर व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध को घनिष्ट करना[१]; व्यवहारिक जीवन के विविध रूपात्मक सम्बन्धों की रक्षा करते हुए सामाजिक जीवन को व्यवस्थित; मर्यादित रखना[२], ज्ञान, कर्म तथा उपासना में से किसी एकके अतिरेक से उत्पन्न सामाजिक विषमता[३], पाखण्ड, अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि का उन्मूलन[४] करते हुए लोक-जीवन के प्रवाह को सदा सशक्त एवं सबल बनाने का प्रयत्न करना[५]; व्यक्ति, समाज, देश, विश्व सबकी रक्षा, कल्याण एवं विकास का प्रयत्न करते हुए[६] उनकी सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य को सदैव विकासशील दिशा की ओर उन्मुख करना[७]।

लोक-धर्म का स्वरूपः—

शुक्ल जी का लोक-धर्म साधारण जनता के जीवन की औसत प्रवृत्तियों के आधार पर बना है[८]; इसीलिये वे साहित्य में जनता के प्रति उदासीनता एवं तटस्थता की प्रवृत्ति का घोर खण्डन करते हैं[९]। उनकी दृष्टि में वह साधारण जनता का धर्म है, असाधारण व्यक्तियों का नहीं[१०]। इसी कारण वे व्यक्तिवादी साधना[११], मानव जीवन से परे अव्यक्त सौन्दर्य की उपासना[१२], अध्यात्मवाद[१३], रहस्यवाद[१४], आदि का समर्थन नहीं करते। उनका लोक-धर्म व्यक्तिवादी संस्कृतियों का विरोधी है, इसीलिए उन्होंने व्यक्तिवाद के आश्रय में

१—चिन्तामणि पहला भाग—पृ० ७ के आधार पर।

२—काव्य में रहस्यवाद पृ० ५, ६ के आधार पर।

गोस्वामी तुलसीदास पृ० ४८ के आधार पर। ३—गो०तुलसीदास पृ० २१ के आधार पर।

४— वही पृ० २९६ के आधार पर ५—चिन्तामणि प० भा० पृ० २१२.

६—चि०प०भा० पृ० २८४. ७—'वि० प्र० की भूमिका'—पृ० ४५,

में काव्य रहस्यवाद—पृ० १४६साहित्य की परिभाषा-शुक्लांकः साहित्य-संदेश.

८—गोस्वामी तुलसीदास—पृ० २५. ९—रसमीमांसा—पृ० २४ काव्य में रहस्यवाद—पृ०-८४.

१०—गोस्वामी तुलसीदास—पृ० २४, २५ के आधार पर।

११—चिन्तामणि प० भा०—पृ० ५ के आधार पर।

१२—काव्य में रहस्यवाद—पृ० ४५, ४७.

१३— वही पृ० ८२, चिन्तामणि प० भा०—पृ० ३०६.

१४—काव्य में रहस्यवाद—पृ० ३९, ४२, ९८.

पत्ती दरबारी सभ्यता[1], अर्थवादी,[2] साम्राज्यवादी एवं सामन्तवादी[3] संस्कृतियों का सदा विरोध किया है। शुक्ल जी का लोक-धर्म जन-जीवन की अन्तः प्रकृति के आधार पर बना है। अतः वह प्रवृत्ति-निवृत्ति, आदर्श-यथार्थ दोनों के सामंजस्य को अपना कर चलता है[4]। इस कारण उसमें एकांगिता का अभाव है। शुक्लजी की लोक-धर्म सम्बन्धी सामाजिक धारणा में समाज के अन्तर्गत कर्म के आधार पर भिन्न-भिन्न वर्ग तथा श्रेणियाँ रहेंगी[5], पर उनका सम्बन्ध आपस में कल्याणप्रद तथा सुखावह रहेगा[6]। सबको अपनी प्रवृत्ति, शक्ति तथा रुचि के अनुसार विकास का अवसर रहेगा; सब अपने दायित्व तथा कर्त्तव्य का पालन करेंगे। उच्च वर्ग केवल अपनी ही सुख-सुविधा का प्रयत्न नहीं करेगा; निम्न वर्ग को हीनता तथा अपमान की दृष्टि से नहीं देखेगा। लोक-संचालन-सम्बन्धी भिन्न भिन्न कार्यों में विभिन्नता मानी जायगी किन्तु उनकी छोटाई बड़ाई का ढिंढोरा नहीं पीटा जायगा[7]। इस प्रकार शुक्लजी अपने लोक-धर्म में भारतीय संस्कृति के लोकवादी स्वरूप को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करते हैं।

लोक-धर्म के साधनः—

शुक्ल जी के लोक-धर्म के स्वरुप को सम्यक् ढंग से समझने के लिये उनके द्वारा विवेचित उसके साधनों पर विचार करना चाहिये। शुक्ल जी लोक-धर्म की स्थापना में टालस्टाय अथवा गाँधीजी के निष्क्रिय प्रतिरोध का समर्थन नहीं करते[8]; क्योंकि निष्क्रिय प्रतिरोध की प्रवृत्ति जनता की क्रान्तिकारी भावना को रोकती है; उसकी स्वाभाविक औसत प्रवृत्ति के विरुद्ध पड़ती है; अर्थात् शुक्लजी अन्यायी एवं अत्याचारी के अन्याय तथा अत्याचार के प्रति सक्रिय विरोध के समर्थक हैं। शुक्लजी के अनुसार लोक-धर्म की प्राप्ति के दो प्रकार के साधन हैं—प्रवृत्यात्मक तथा निवृत्यात्मक[9]। उनकी दृष्टि में लोक-धर्म की लीक मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की दिशाको लिये हुए चलती है[10]। लोक-धर्म मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों—प्रेम, उत्साह, करुणा, श्रद्धा-भक्ति, नम्रता-उदारता, क्षमा

१—चिन्तामणि प० भा०—पृ० १०३. १०४. २—चि० प० भा०—पृ० १७६, १७७.

३—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना-रामविलास शर्मा—पृ० १४.

४—काव्य में रहस्यवाद पृ० ५, ५—गोस्वामी तुलसीदास—पृ० ५१.

६—गो० तुलसीदास पृ० २५. ७—चिन्तामणि प० भा०—पृ० १५४.

८—काव्य में रहस्यवाद पृ० ३,४,५ ९—गोस्वामी तुलसीदास—पृ० २४.

१०—गो० तुलसीदास —पृ० ३५.

समन्वय आदि प्रवृत्तियों में ही नहीं वरन् क्रोध, घृणा, भय ईर्ष्या, लज्जा, ग्लानि, शोक, ध्वंस आदि निवृत्तियों में भी प्रस्फुरित होता है[१]। लोकोपयोगी कठिन कर्तव्यों के पालन सम्बन्धी वीरता में, दीन-दुखियों के प्रति प्रगट की गई करुणा में, सुन्दर रूप के प्रति प्रगट किये गये प्रेम में, लहलहाते हुए खेतों एवं जंगलों को देखकर प्रगट की गई प्रसन्नता में; अत्याचारियों एवं अन्यायियों के प्रति प्रगट किये गये क्रोध में, असाध्य दुर्जनों के प्रति प्रगट की गई घृणा में, अपनी मूर्खता, तुच्छता अथवा बुराई के प्रति प्रगट की गई ग्लानि में, आततायियों के ऊपर की गई हिंसा में, विषमता को मिटाने, नई शक्ति अथवा नये जीवन के निर्माण के लिए की गई क्रान्ति अथवा ध्वंस में लोक-धर्म का मनोहर रूप दिखाई पड़ता है[२]।

शुक्ल जी की दृष्टि में जहाँ लोक-धर्म एवं व्यक्ति-धर्म में विरोध उपस्थित हो वहाँ कर्म-मार्गी गृहस्थों के लिए लोक-धर्म का ही अवलम्बन श्रेष्ठ है[३]। यदि किसी अत्याचारी का दमन सीधे न्याय-संगत उपायों से न हो रहा हो तो वहाँ कुटिल-नीति का अवलम्बन लोक-धर्म की दृष्टि से उचित है। किसी अत्याचारी द्वारा समाज को जो हानि पहुँच रही है, उसके सामने वह हानि कुछ नहीं है; जो किसी एक व्यक्ति के बुरे दृष्टान्त से होगी। लक्ष्य यदि व्यापक और श्रेष्ठ है तो साधन का अनिवार्य अनौचित्य उतना खल नहीं सकता[४]; अर्थात् लोक-धर्म के पालनार्थ अनुचित साधन का प्रयोग आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि अनुचित साधनों के प्रयोग का आदेश शुक्ल जी एक विशेष परिस्थिति में ही देते हैं और वहाँ भी साधन का अनौचित्य उन्हें खलता ही है। इसी कारण वे इन अनुचित साधनों के प्रयोग की स्थिति को जीवन का नित्य स्वरूप नहीं मानते; उदाहरणार्थ, ध्वंस का कार्य अनुचित है किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में लोक-निर्माण से सम्बन्ध रखने पर आवश्यक हो जाता है[५]। उनकी दृष्टि में लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द की ज्योति, भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है, और फिर लोक-मंगल तथा लोक-रंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है[६]। रस-मीमांसा में एक स्थान पर क्रान्ति को आवश्यक बतलाते हुए वे कहते हैं—"जब जीवन-प्रवाह क्षीण

१—गोस्वामी तुलसीदास — पृ० २३, २४ के आधार पर।

२— वही पृ० २४ और चिन्तामणि, पहला भाग पृ० १९९, २१२.

३— वही पृ० २३. ४— वही पृ० २३.

५—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २१२ ६— वही पृ० २६१.

और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है, तब नई शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है जिसके वेग की उच्छृंखलता के सामने बहुत कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृंखल वेग जीवन या जगत् का नित्य स्वरूप नहीं है"[1]।

लोक-धर्म के अवयव:—

शुक्ल जी की दृष्टि में कर्म, ज्ञान और उपासना लोक-धर्म के तीन अवयव हैं। उनके मतानुसार इन तीनों अवयवों के मेल से मानव-जीवन में समग्रता आती है[2]। उपासना के अभाव में मनुष्य का जीवन दम्भी, अहंकारी, भाव-रहित तथा विश्वासरहित हो जाता है; ज्ञान के अभाव में विवेक रहित होकर अंधा हो जाता है तथा कर्म के अभाव में लूला-लंगड़ा होकर गतिहीन हो जाता है[3]। ये तीनों अवयव उन्हें भारतीय दर्शन से प्राप्त हुए। शुक्ल जी के अनुसार अब कर्म, ज्ञान तथा उपासना में से प्रत्येक का स्वरूप जानना चाहिए।

कर्म का स्वरूप:—

शुक्ल जी का कर्म-सिद्धान्त गीता के कर्म-योग से प्रभावित है। गीता के समान ही शुक्ल जी कर्म-सौन्दर्य के उपासक हैं[4]। वे पूरी कर्म-शृंखला पर ध्यान रखने का आदेश देते हैं; केवल फल पर नहीं[5]। वे चाहते हैं कि कर्त्ता को कर्म-पथ अच्छा लगे; उसे कर्म में रुचि हो, प्रयत्न में आसक्ति हो[6]। इनके मतानुसार गीता में श्रीकृष्ण ने कर्म-योग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया है[7]। आपके मत से फल में विशेष आसक्ति रखने से कर्त्ता में कर्म-लाघव की वासना उत्पन्न होती है;[8] उसके चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या सरल करना पड़े और फल बहुत सा मिल जाय[9]। इस प्रकार की प्रबल फलासक्ति से मनुष्य केवल फल-लोभी ही नहीं वरन्, कामचोर, बेइमान, आलसी, स्वार्थी, धूर्त, कूटनीतिज्ञ आदि हो जाता है। वह अपना संकुचित स्वार्थ भले ही कुछ क्षण के लिए हल कर ले परन्तु वह लोक के लिए हर तरह से हानिकारक सिद्ध होता है[10]।

१—रस-मीमांसा पृ० १६ २—गोस्वामी तुलसीदास पृ० २१, चिन्तामणि प्र०भा० पृ० २८९

३—गोस्वामी तुलसीदास पृ० २७४ के आधार पर। ४—चिन्तामणि प्र०भा० पृ० ८

५—चि० प्र० भा० पृ० १४ ६— वही पृ० १७, १८

७— वही पृ० १६ ८— वही पृ० १६

९— वही पृ० १६ १०— वही पृ० १६ के आधार पर।

शुक्ल जी के अनुसार जीवन-प्रयत्न, कर्म, चेष्टा आदि में आनन्द अनुभव करने वाले का नाम ही कर्मवीर है[१]। इनके मतानुसार लोक-धर्म सम्बन्धी उच्च कर्मों के प्रयत्न में एक ऐसा दिव्य आनन्द भरा रहता है कि कर्त्ता को कर्म ही, फल-स्वरूप प्रतीत होने लगता है[२]। इसकी पुष्टि के लिए शुक्ल जी का उदाहरण देखिए—

"अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्तमें जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्मवीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय; वल्कि उसी समय से थोड़ा थोड़ा मिलने लगता है जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है[३]। इस प्रकार कर्मवीर को कर्म ही फल-स्वरूप लगने लगते हैं। यदि कभी वह अपना मनोभिलषित फल किसी कारण से न प्राप्त कर सका तब भी अकर्मण्य की अपेक्षा उसका जीवन अधिक सुख, सन्तोष, शांति तथा उत्साह के साथ व्यतीत होता है[४]।" शुक्ल जी के अनुसार मानव-जीवन के समस्त कर्मों का उद्देश्य लोक के सुख-विधान एवं दुख के निराकरण में योग-दान देना है[५]। इस उद्देश्य में सफलता लोकधर्मानुयायी कर्मवीर को ही मिल सकती है। इसी कारण शुक्ल जी कर्मों की उच्चता की कसौटी लोक-सुख-स्थापन तथा दुख का निराकरण मानते हैं।

शुक्ल जी के कर्म-सिद्धान्त में बौद्धिक, भाविक एवं नैतिक तीनों तत्व मिलते हैं[६]। उनके अनुसार कर्म में पूर्व योजना या पूर्वरूप में निश्चित की हुई परम्परा होनी चाहिए[७]। इससे उनके कर्म में बुद्धि तत्व आ जाता है। शुक्ल जी कर्म में भावना की सचाई चाहते हैं[८], इसीलिए आजकल के धन्यवाद (thanks) को वे गाली या बदमाशी कहते हैं, क्योंकि वह भावना-शून्य होता है[९]। इसी प्रकार वे आधुनिक सभ्यता की अनेक प्रकार की भावना-शून्य शिष्टता की निंदा करते हैं[१०]। इसी कारण शुक्ल जी कर्ममात्र के सम्पादन में कर्ता के अन्तर्गत तत्परतापूर्ण आनन्द, कार्य करने की उत्कंठा, साहसपूर्ण उमंग, पूरी कर्म-शृंखला में रुचि तथा कष्ट सहने की दृढ़ता देखना चाहते हैं[११]। शुक्ल जी के

१—चिन्तामणि प० भा० पृ० २०   २— वही पृ० २०

३— वही पृ० २०   ४— वही पृ० २०

५— वही पृ० ६३   ६— वही पृ० १२, १३, २०

७— वही पृ० २०   ८— वही पृ० १२, १३

९–हिन्दी-साहित्य का इतिहास, वक्तव्य पृ० ६   १०–चिन्तामणि प०भाग पृ० ७१

११—चि० प० भा० पृ० १२.

कर्म का आधार सदैव नैतिक रहता है। इसका पहला कारण यह है कि वह सदैव लोकोन्मुख रहता है, दूसरे वह सदैव आदर्श की भित्ति पर प्रतिष्ठित रहता है, तीसरे शुक्ल जी दुर्वृत्तियों द्वारा स्थापित व्यवस्था में जीवन-विकास संभव नहीं मानते[१]। इसी कारण वे मनोवैज्ञानिक निबन्धों में स्थान स्थान पर अनैतिक व्यक्तियों एवं कार्यों की निंदा करते हुए दिखाई पड़ते हैं[२]। शुक्ल जी कर्म करने की स्वतंत्रता मनुष्य में निश्चित करके, उसके ऊपर किसी बाह्य नियंत्रण—समाज, भाग्य अथवा ईश्वर को नहीं लादते। इसी कारण वे फल को पहले से बना बनाया पदार्थ नहीं मानते। उनकी दृष्टि में अनुकूल प्रयत्न-क्रम के अनुसार उसके एक-एक अंग की योजना होती है[३]। इस प्रकार वे कर्म-फल को कर्म-सिद्धान्त का आधारभूत तत्व मानकर मनुष्य के जीवन में फलरूप में जो भी सुख या दुख मिलता है उसमें औचित्य की प्रतिष्ठा करते हैं। इस सिद्धान्त को मानने से व्यक्ति अपने जीवन में दुर्भाग्य अथवा दुख के आने पर समाजवादियों की तरह समाज अथवा शासन-पद्धति की कुत्सा नहीं करता; भाग्य-वादियों के समान अपने भाग्य की निन्दा नहीं करता, ईश्वरवादियों के समान ईश्वर को दोषी नहीं मानता वरन् सारा दोष अपनी प्रयत्न-विधि में मान लेता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी का कर्म-सिद्धान्त व्यवस्थाहीन अथवा जड़ीभूत कोटि का नहीं है। उनके कर्म-सिद्धान्त की जड़ इस मत में जमी हुई है कि फल की अनिवार्यता से जीवन जकड़ा हुआ है, विश्व नैतिक व्यवस्था से ठीक ढंग से परिचालित होता है[४]। तात्पर्य यह कि शुक्ल जी के कर्म-सिद्धान्त में नीति का महत्वपूर्ण स्थान है।

शुक्ल जी के कर्म-सिद्धान्त में मर्यादा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उनका यह दृढ़ मत है कि लोक की व्यवस्था मर्यादा से ही होती है। लोक को व्यवस्थित करने वाली यह मर्यादा भारतीय आर्य धर्म का प्रधान लक्षण है[५]। शुक्ल जी के मत के अनुसार मर्यादा का तत्व व्यक्ति के कर्म में ही नहीं वरन् मन एवं वचन में भी व्यवस्था लाता है[६]। शुक्ल जी के अनुसार समाज का अर्थ है—वह व्यवस्थित मानव समुदाय जिसमें सब लोग सम्यक् प्रकार से अपने कर्तव्यों का सम्पादन करते हुए व्यवस्थित ढंग से रह सकें[७]। इस प्रकार शुक्लजी के कर्म-सिद्धान्त में मर्यादा का अर्थ हुआ उनके लोक-धर्म से सम्बन्ध रखने वाले

१—गोस्वामी तुलसीदास पृ० ४४ २—चिन्तामणि प्र० भा० पृ० १२, ३८, ३६, ४६, ४७ १०१, १०५. ३—चि० प० भा० १६, २०. ४— वही पृ० ३७ के आधार पर।

५—गोस्वामी तुलसीदास पृ० २२. ६—गोस्वामी तुलसीदास पृ० ४८ के आधार पर।

७—विश्व प्रपंच की भूमिका पृ० ६३ के आधार पर।

कर्तव्यों दायित्वों एवं अधिकारों के नियम जिनके अभाव में समाज व्यक्तिवादी होकर अन्ततोगत्वा नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ।

शुक्ल जी मर्यादा द्वारा व्यक्ति के आचरण पर इतना ही प्रतिबन्ध चाहते हैं जिससे वह दूसरों के जीवन-मार्ग में बाधक न हो सके; अपने लौकिक सम्बन्धों का सम्यक् निर्वाह कर सके; ऊंच-नीच, धनी-दरिद्र, सबल-निर्बल, शास्य-शासक मूर्ख-पंडित, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र इत्यादि भेदों के कारण समाज में जो अनेक रूपात्मक संबंध प्रतिष्ठित होते हैं उनके निर्वाह के अनुकूल मन, बचन, कर्म की व्यवस्था कर सके; क्योंकि इन सम्बन्धों के सम्यक् निर्वाह से ही लोक-मंगल की स्थापना हो सकती है[1] । शुक्ल जी का मर्यादावाद एकांगी नहीं है, साम्प्रदायिक नहीं है; वह सर्वत्र सामाजिक है, बुद्धिवाद की भूमिका पर प्रतिष्ठित है, उसमें औचित्य को सब प्रकार से स्थान है ।

ज्ञानः—

लोक-धर्म को अंगीधर्म मानने के कारण शुक्ल जी ज्ञान को लौकिक मानते हैं, उसे भौतिक जीवन से उद्भूत मानते हैं[2]; उसके अलौकिक आधार का खण्डन करते हैं[3]; शिक्षा अथवा जागरण की कसौटी लोक-धर्म-पालन की तत्परता मानते हैं[4] । इससे जान पड़ता है कि शुक्ल जी कोरे शास्त्र पढ़ने वाले को, केवल उपाधि संचित करने वाले को, केवल सूचना-भाण्डार विस्तृत करने वाले को ज्ञानी मानने के लिए तैयार नहीं थे । वे क्रियावान् को ही पंडित मानते थे । पर क्रिया कैसी ? जो लोक-धर्म से सम्बन्ध रखने वाली हो; लोक-धर्म के पालन में तत्परता उत्पन्न करने वाली हो । शुक्ल जी ज्ञान की वणिग्वृत्ति से बहुत चिढ़ते थे[5]; क्योंकि ज्ञान में वणिग्वृत्ति के आने से लोक-धर्म का नाश हो जाता है ।

शुक्ल जी की दृष्टि में ज्ञानसे मनुष्य को कर्मों की व्यवस्था तथा दक्षता-बुद्धि प्राप्त होती है[6]; उसके चिन्तन, मनन, विवेचन, परीक्षण, अन्वीक्षण की शक्ति विकसित होती है[7] तथा उसकी कल्पना-शक्ति विकसित होकर सूक्ष्म होती है[8] ।

—गोस्वामी तुलसीदास पृ० ४८ के आधार पर ।

२—चिन्तामणि प० भा० पृ० २२५, ३२६, और विश्व-प्रपंच की भूमिका पृ० ५४, ६१ ९२ ३—काव्य में रहस्यवाद पृ० ४०

४—चिन्तामणि प० भा० पृ० २८, ५—चि० प० भा० पृ० ४०

६—आदर्श जीवन पृ० १६०, १६४, १६५ के आधार पर ।

७— वही पृ० १६४, १६५. ८—आदर्श जीवन पृ० १८७ के आधार पर ।

इसलिए वे लोक-धर्म सम्बन्धी कर्त्तव्यों को सम्यक् विधि से संपादित करने के लिए ज्ञान को आवश्यक समझते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में ज्ञान, धर्म- अभ्यास के साधनों में एक प्रमुख साधन है[१]। शुक्ल जी जीवन का उद्देश्य लोक-धर्म का पालन मानते हैं। लोक-धर्म के पालन से जीवन में पूर्णता आती है जीवन में पूर्णता लाने के लिए मनुष्य की सभी शक्तियों का समान रूप से संस्कार तथा विकास आवश्यक है। जीवन में पूर्णता प्राप्त करने के लिए शुक्लजी शिक्षा का उद्देश्य अन्तःकरण की सभी शक्तियों का समान अभ्यास, संस्कार एवं विकास मानते हैं, जिससे जब जिस शक्ति की आवश्यकता पड़े उससे काम लिया जा सके[२]; शिक्षित व्यक्ति का जीवन संतुलित रूप से विकसित होते हुए सर्वांगीण बन सके[३], जिससे वह मनुष्यका एक पूर्ण एवं सफल जीवन व्यतीत कर सके[४]। शुक्ल जी की दृष्टि में विद्या के भिन्न भिन्न अंगों का सम्बन्ध एक दूसरे से लगा हुआ है; वे एक दूसरे के आश्रित हैं[५]। इसी कारण शुक्ल जी एकांगी ज्ञान का समर्थन नहीं करते; अपनी सैद्धान्तिक समीक्षाओं में साहित्य की स्पष्ट विवेचना के लिए अवान्तरार्थी विषयों का भी विच्छेद करते चलते हैं; अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में साहित्य से अनुबंधित विषयों की सहायता से अपने विवेचन को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उनकी दृष्टि में वही ज्ञान श्रेष्ठ है जो अनेक विषयों से संबंध रखता है[६], वही समीक्षा उत्तम है जो अनेक विषयों की सहायता से सर्वांगीण बनाई गई हो। शुक्ल जी की दृष्टि में सच्चा विद्यानुरागी, ज्ञान-प्राप्ति की साधना इसलिए करेगा कि जिससे वह अपना तथा दूसरों का हित-साधन कर सके। उसका मुख्य उद्देश्य उन शक्तियों की वृद्धि एवं परिष्कार होना चाहिए जो उसे प्राप्त हैं[७]। उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई कि शुक्ल जी की ज्ञान संबंधी धारणा में व्यक्ति-हित एवं लोक-हित दोनों का समन्वय है।

भक्ति का स्वरूप:—

शुक्ल जी अपने अंगी-धर्म के अनुसार भक्ति को सामाजिक तथा लोक-हितकारिणी मानते हैं[८]। उनकी दृष्टि में भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है। उसमें व्यक्ति-कल्याण तथा लोक-कल्याण दोनों का संगम है[९]। शुक्ल जी के मत

१—आदर्श जीवन पृ० १६३ २— आदर्श जीवन पृ० १८४

३— वही पृ० १८४, १८६, १८७ के आधार पर।

४— वही पृ० १८६ के आधार पर। ५— वही पृ० १८६.

६— वही पृ० १९०. ७— वही पृ० १८६.

८—चिन्तामणि प० भा० पृ० ४६. ९— चि० प्र० भा० पृ० ६.

से भक्ति एक रागात्मिका वृत्ति है, हृदयका एक भाव है। उनकी दृष्टि में प्रेमभाव उसी स्वरूप और उसी गुण-समूह पर टिकता है जो दृश्य जगत में हमें आकर्षित करता है। इसी जगत के बीच भासित होता हुआ स्वरूप ही प्रेम या भक्ति का आलम्बन हो सकता है। इस जगत् से सर्वथा असम्बद्ध किसी अव्यक्त सत्ता से प्रेम करना मनोविज्ञान के विरुद्ध है[1]। शुक्ल जी की दृष्टि में भक्ति-भावना मनुष्य में प्रकृति की ओर से उसके विकसित भावों की चरितार्थता के लिए दी गई है। इसलिए वह अपने आराध्य में अपने भावों की चरम कल्पना करके अपनी स्थिति, रक्षा तथा विकास संबंधी भावों को परभावस्था[2] में पहुँचा कर उस परम भाव में ईश्वर की कल्पना करता है। उनके अनुसार भक्ति-साधना के पथ पर बढ़ते हुए मनुष्य ने परमेश्वर का प्रेममय स्वरूप उसी प्रकार का माना है जैसा मनुष्य-जाति में दिखाई पड़ता है, अथवा जिस रूप की मनुष्य को आवश्यकता पड़ती है[3]। इसी प्रकार उसके प्रमुख भाव—दया, दाक्षिण्य प्रेम, क्रोध आदि जो उसकी स्थिति, रक्षा एवं विकास से सम्बन्ध रखने वाले हैं—उन्हीं की परम कल्पना ईश्वर में की गई है। अर्थात् भक्तों ने स्वानुभूति द्वारा ही अपने व्यवहार-पथ में आश्रय-प्राप्ति के निमित्त उस परमानुभूति-स्वरूप ईश्वर की धारणा निर्मित की है। इसीलिए वह धर्मक्षेत्र या व्यवहार- पथ में अपने मतलब भर ही ईश्वरता से प्रयोजन रखता है[4]। इसी कारण अपने जीवन द्वारा कर्म-सौन्दर्य-संघटित करने वाले, संसार के भीतर घुस कर मानव-जीवन के व्यवहारों के बीच सात्विक विभूति जगाने वाले, जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाले व्यक्ति हमारे यहाँ अवतार माने गये हैं[5]। संसार से तटस्थ रहकर शान्ति-सुखपूर्वक उपदेश देने वाले नहीं, दूर से रास्ता दिखाने वाले नहीं[6]। लोक-धर्म सम्बन्धी कर्मों के सौन्दर्य के योग से उनके स्वरूप में इतना माधुर्य आ गया है कि हमारा हृदय उनकी ओर आप से आप खिंच जाता है। इन अवतारिक पुरुषों में शील, शक्ति, सौन्दर्य आदि को पूर्ण रूप में प्रतिष्ठित देखकर हमारे हृदय की शुभ वृत्तियाँ उनकी ओर आप से आप दौड़ पड़ती हैं। इस प्रकार ये अवतार शुक्ल जी की दृष्टि में लौकिक जीवन-पथ के लिए दीपक-तुल्य सिद्ध होते हैं[7]। सत्वोन्मुख प्राणियों अथवा भक्तों के लिए ऐसे प्रकाश-पुंज आलम्बन के सामीप्यलाभ की

१—गोस्वामी तुलसीदास पृ० ६. २—चिन्तामणि प० भा० पृ० ४३, ४४ के आधार पर।

३—चि० प० भा० पृ० ५३. ४— वही पृ० ४३, ४४ के आधार पर।

५— वही पृ० ४७. ६— वही पृ० ४७ के आधार पर।

७— वही पृ० ५४, ४६. के आधार पर।

कामना करना स्वाभाविक ही है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि भक्ति के नव भेद[1] आलम्बन की सामीप्य-प्राप्ति के विभिन्न विधान हैं। राम-लीला, कृष्णलीला आदि भी सामीप्य-सिद्धि की विभिन्न प्रणालियां[2] हैं। कभी-कभी अपने आराध्य के सामीप्य का अलौकिक आनन्द लेने के लिए भक्त उनके अलौकिक रूप-सौन्दर्य की कल्पना करता है[3]। शुक्ल जी की दृष्टि में हिन्दू जाति इन्हीं अवतारिक पुरुषों की भक्ति के बल से इतनी प्रतिकूल अवस्थाओं के बीच अपना स्वतंत्र अस्तित्व बचाती आई है, इन्हीं की अद्भुत आकर्षण शक्ति से वह इधर-उधर ढलने नहीं पाई है[4]। इस प्रकार शुक्ल जी की दृष्टि में भारत की प्राचीन भक्ति का आधार भगवान का लोक-रक्षक एवं लोक-रंजक स्वरूप है, इसमें वह शक्ति निहित है जो किसी गिरी जाति को उठा कर खड़ा कर सकती हैं[5]। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने शील के असामान्य उत्कर्ष को भक्ति का आलम्बन स्थिर कर सदाचार और भक्ति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित किया। उनके सदाचार का सम्बन्ध सामाजिकता से है; अतः उनकी भक्ति का सम्बन्ध लोक-धर्म से स्थापित हो जाता है।

शुक्ल जी लौकिक भक्ति में श्रद्धा एवं प्रेम का योग मानते हैं[6]। उनका मत है कि जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए[7]। इस भावना को जब हम मुक्त हृदय से मुग्ध होकर धारण करेंगे तब हम सामाजिक महत्व वाले व्यक्ति पर केवल श्रद्धा ही नहीं करेंगे वरन् उसके महत्व के सतत् साक्षात्कार के लिए, अनेक रूपों में परिचय के लिए, उसके सामीप्य की इच्छा करते हुए उस श्रद्धा में प्रेम का भी मिश्रण करेंगे और अपने बहुत से क्रिया-कलाप को अपने पूज्य प्रेम पात्र के अधीन करके स्वयं महत्व के अभ्यास में प्रवृत्त होंगे। जन साधारण को इस प्रकार के आश्रय द्वारा सामाजिक महत्व की प्राप्ति सुगम होती है[8]। लौकिक भक्ति में भक्त ऐसे सामाजिक व्यक्तिका सान्निध्य प्राप्त करता है तो धर्मका प्रतीक रहता है। इसके कार्यों को देख या सुनकर धर्म की रसात्मक अनुभूति होती है। व्यक्ति में धर्म की रसात्मक अनुभूति होने के कारण वह अपने आराध्य के

१—चिन्तामणि प० भा० पृ० ४६   २— वही पृ० ५५.

३— वही पृ० ५४.   ४— वही पृ० ५६.

५—गोस्वामी तुलसीदास पृ० २.   ६—चिन्तामणि प्र० भा० पृ० ४४.

७—चि० प० भा० पृ० ४४.   ८— वही पृ० ४७.

गुणों के अनुसार अपने जीवन-क्रम में कांट-छांट करने लगता है, जिससे सामाजिक महत्व के अनुकूल उसकी गति का प्रसार एवं प्रतिकूल गति का संकोच्च होने लगता है। इस प्रकार का सामीप्य-लाभ करके वह अपने ऊपर पहरा बिठा देता है, अपने को ऐसे स्वच्छ आदर्श के सामने कर देता है जिसमें उसके कर्मों का प्रतिबिम्ब ठीक ठीक दिखाई पड़ता है, उसको अपनी क्षुद्रता एवं अवगुणों का वास्तविक ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार की भक्ति करने से भक्त सामाजिक आचरण की ओर आप से आप आकर्षित होता है १।

शुक्ल जी की दृष्टि में सामाजिक महत्व के लिए आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित हो[२]। भक्ति के अधिकारी महात्मा, त्यागी, वीर, एवं देश भक्त अपने सामाजिक आचरण द्वारा ही अपने भक्तो को अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ होते हैं। भक्ति द्वारा हम भक्ति-भाजन से विशेष घनिष्ठ सम्न्वध स्थापित करते हैं; उसकी सत्ता में विशेष रूप से योग देना चाहते हैं, उसके जीवन के बहुत से अवसरों पर हम उसके साथ रहते हैं। इस प्रकार लौकिक भक्ति में भी हम अपने जीवन का बहुत अंश स्वार्थ से विभक्त करके किसी के आश्रय से किसी ओर लगा देते हैं। इस प्रकार उ०के जीवन में अपने जोवन का योग देकर उसके सामाजिक महत्व या प्रभाव को बढ़ा देते हैं और थोड़े बहुत हम भी उसके भागी होते[३] हैं। समाज, जाति एवं देश के महान् उद्धारक सदा ऐसे ही भक्तोंकी संख्या पाकर अन्याय-दमन एवं समाज के कल्याण-साधान में समर्थ हुए हैं[४]। इस प्रसंग में शुक्ल जी ने गुरु गोविन्दसिंह का उदाहरण दिया है[५]। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी द्वारा निरूपित आध्यामिक तथा लौकिक भक्ति आत्म-कल्याण एवं लोक-कल्याण दोनों ओर साथ साथ ले जाने वाली है। आध्यात्मिक भक्ति के आलम्बन अवतारिक पुरुष हैं। उनसे आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर होने वाले व्यक्ति काम, क्रोध आदि शत्रुओं से बहुत दूर रहने का मार्ग पा सकते हैं, इसी प्रकार लोक-कल्याण की साधना करने वाले; उनसे लोक-धर्म पालन करने वाले कर्म, वचन और भाव का संकेत पा सकते हैं। इसी प्रकार शुक्ल जी ने लौकिक भक्ति में लोक-धर्मी व्यक्ति को भक्ति का आलम्बन बनाकर उसमें व्यक्ति-धर्म एवं लोक-धर्म दोनों का सामन्जस्य कर दिया है।

१—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ४७, ४८. २— वही पृ० ४६.

३— वही पृ० ४५, ४६. ४— वही पृ० ४६.

५— वही पृ० ४६

अब शुक्ल जी की धर्म सम्बन्धी दृष्टि से उनकी भक्ति पर विचार करना चाहिए और देखना चाहिए कि वह कहां तक लोक-धर्म के अनुकूल है। शुक्ल जी की दृष्टि में धर्म वह व्यवस्था या वृत्ति है जिससे लोक में मङ्गल का विधान होता है; अभ्युदय की सिद्धि होती है; और धर्म की रसात्मक अनुभूति भक्ति है[१]। इस प्रकार शुक्लजी के अनुसार भक्ति का सम्बन्ध लोक-मङ्गल से स्वयमेव स्थापित हो जाता है। उनके अनुसार धर्म ब्रह्म के सत् स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति है[२]। परिवार और समाज की रक्षा में, लोक के परिचालन में तथा अखिल विश्व की स्थिति, रक्षा तथा विकास से सम्बन्ध रखने वाले कर्मों में सत् की इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। सत्स्वरूप की इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार जितने ही विस्तृत क्षेत्र के बीच हम करते हैं भगवत्स्वरूप की ओर उतनी ही बढ़ी हुई भावना हमें प्राप्त होती है[२]। इस प्रकार लोक-धर्म का पालन व्यापक से व्यापकतर रूप में करना भगवान् के सत्स्वरूप के व्यापक से व्यापकतर रूप का दर्शन करना है। कुल-धर्म के पालन के भीतर ही जो इस प्रवृत्ति का अनुभव करेंगे उनकी भावना कुल-नायक या कुल-देवता तक ही पहुँचेगी। किसी जाति या देश विशेष की रक्षा, उन्नति आदि में जो इस प्रवृत्ति का दर्शन करेंगे उनकी भावना उस जाति या उस देश के नेता अथवा उपास्य देवता तक पहुँच कर रह जायगी[३]। सच्चे भक्त की भावना उतनी ही दूर जाकर सन्तुष्ट नहीं होती, वह तो अखिल विश्व की स्थिति-रक्षा से सम्बन्ध रखने वाले धर्म— पूर्ण धर्म अथवा विश्व धर्म की मार्मिक अनुभूति करने में समर्थ होती है[४]। इस साधना द्वारा वह भगवान का सामीप्य लाभ करता चलता है। इसी अनुभूति के अनुरूप उसके आचरण का उत्तरोत्तर विकास होता है। अन्ततोगत्वा वह समस्त चराचर से अभेद सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ होता है। वह मनुष्य मात्र की रक्षा में ही नहीं वरन् कीट-पतंग की रक्षा में भी आनन्द का अनुभव करता है[५]। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी के अनुसार लोक धर्म की दृष्टि से किया गया कर्म सच्ची भक्ति है और लोक-धर्म का सम्पादक सच्चा भक्त।

शुक्ल जी के अंग-धर्मः—

ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि लोक-धर्म शुक्ल जी का अंगी-धर्म है। उनके अंगी-धर्म के पूर्ण परिज्ञान के लिए उनके अंग-धर्मों को भी

१—चिन्तामणि प० भाग पृ० २८२, २६५. २— वही पृ० २८२. ३— वही पृ० २८२
४— वही पृ० २८३. ५— वही २८३. ६— वही पृ० २८४, २८६.

जानना आवश्यक है। शुक्ल जी की दृष्टि में गृह-धर्म, कुल-धर्म, समाज-धर्म, देश-धर्म, अंग-धर्म हैं।

गृह-धर्म :—

शुक्ल जी का गृह-धर्म हिन्दू-सम्मिलित परिवार का धर्म है जिसकी प्रेरणा उन्हें रामचरित मानस में राम-परिवार से[1] तथा तत्कालीन कतिपय सम्मिलित हिन्दू परिवारों से मिली जिनमें पति-पत्नी पिता-पुत्र, भाई-बहिन, भाई-भाई, स्वामी-सेवक आदि एक सम्बन्ध-सूत्र में अनुशासन के साथ प्रेमपूर्वक रहते हुए एक दूसरे के प्रति अपने सम्बन्धों तथा कर्त्तव्यों की रक्षा करते हुए अपना जीवन-यापन करते थे। शुक्ल जी की दृष्टि में थोड़े से जीवों के एक साथ खाने-पीने, सोने-उठने-बैठने तथा एक ही घर में रहने से परिवार नहीं बनता। पारिवारिक जीवन के सच्चे अंग-पारस्परिक स्नेह, सद्भाव, मंगलकामना, सहानुभूति, प्रेम-पूर्वक स्मरण आदि हैं। इस प्रकार के परिवार के भिन्न भिन्न अंश चाहे पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागों में रहते हों पर उसे सच्चा परिवार कह सकते हैं[2]। विलायती शब्दावली में जिसे सम्मिलित परिवार (Joint family) कहते हैं, उससे भारतीय सम्मिलित परिवार की भावना बहुत व्यापक है। विलायती सम्मिलित परिवार की सीमा छोटी है जिसमें पति-पत्नी तथा उनके बच्चे ही समाविष्ट हो सकते हैं। वहां भाई-भाई तथा उनके प्रौढ़ लड़के एक साथ नहीं रहते, किन्तु भारतीय सम्मिलित परिवार में भाई-भाई ही नहीं भाइयों के प्रौढ़ लड़के भी अपने बाल-बच्चों सहित परस्पर साथ रहते हैं। भारतीय परिवार की संघटन-शैली के द्वारा घर में ही बाहर की, व्यष्टि में ही समष्टि की, स्व में ही पर की— संक्षेप में लोक-धर्म की शिक्षा मिल जाती है[3]। लोक-धर्म के सम्पादन में सहायक विभिन्न वृत्तियों—करुणा, उदारता, सेवा, सहानुभूति, त्याग, प्रेम, श्रद्धा, आत्मनिग्रह आदि का स्वाभाविक विकास गृह-धर्म वाले पारिवारिक जीवन में ही संभव है[4]। संयुक्त परिवार का आमोद-प्रमोद, आशा, आकांक्षा, योजना-विकास सम्मिलित कोटि का होता है[5]। इस प्रकार पारिवारिक जीवन में बालक हृदय-विस्तार का पाठ बचपन में ही सीखने में समर्थ होता है। इसीलिए शुक्ल जी गृह-धर्म वाले सम्मिलित परिवार को एक पाठशाला मानते हैं जिसमें लोक-धर्म की प्रारंभिक शिक्षा उस परिवार के बालक को गुरुजनों के चरित्र के माध्यम

१—आदर्श जीवन पृ० ४ के आधार पर। २— वही पृ० १४ के आधार पर।

३—तुलसीदास और उनका युग पृ० ६३. डा० राजपति दीक्षित.

४—आदर्श जीवन पृ० १०, १६, २१, २५, २६, २६ के आधार पर।

५— वही पृ० ३०

से मिलती है[१]। इस प्रकार के परिवार में रहने से बालक लोक-धर्म सम्बन्धी संस्कारों के अर्जन में समर्थ होता है। इसी कारण लोक-धर्मानुयायी शुक्ल जी गृह-धर्म को लोक-धर्म अथवा विश्व-धर्म पर पहुँचने की प्रथम सीढ़ी मानते हैं।

कुल-धर्मः—

शुक्ल जी का कुल-धर्म गृह-धर्म से विशालतर क्षेत्र रखता है। उसका पालन करने वाला अपने परिवार की सीमा से आगे बढ़कर अपने कुल से सम्बन्ध रखने वाले समस्त परिवारों के प्रति त्याग करता है; सबके मंगल एवं विकास से संबंध रखने वाले कर्मों की ओर प्रयत्नवान रहता है। इस प्रकार कुल धर्म विस्तृततर जन-समूह के कल्याण से सम्बन्ध रखने के कारण गृह-धर्म से श्रेष्ठ है[२]।

समाज-धर्मः—

शुक्ल जी का समाज-धर्म कुल-धर्म से श्रेष्ठ है। वह वैदिक हिन्दू वर्णाश्रम धर्म के आधार पर बना है, तुलसी के वर्णाश्रम धर्म के आधार पर नहीं जिसमें जाति अधिकांश मात्रा में जन्मना मानी जाती है। वैदिक काल में समाज के व्यक्ति-गुण तथा कर्म के आधार पर चार वर्णों में बँटे हुए थे। किन्तु एक वर्ण तथा दूसरे वर्ण के व्यक्ति में जन्मना कोई विशेष अन्तर नहीं माना जाता था[३]। एक वर्ण के व्यक्ति को अपनी क्षमता एवं विशेषता के अनुसार दूसरे वर्ण के व्यवसाय को अपनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी[४]। समाज का विभिन्न वर्णों में विभाजन उनके कार्य के आधार पर समाज की अधिकाधिक सेवा के लिए था जिससे प्रत्येक नागरिक अपने व्यक्तित्व द्वारा अधिकाधिक कल्याण समाज को पहुँचा सके। वर्णों की उच्चता एवं श्रेष्ठता लोक-धर्म के पालन की शक्ति, कार्य एवं गुण की मात्रा पर अवलंबित थी; जन्म या परम्परा पर नहीं[५]। इस प्रकार समाज का ढाँचा त्याग एवं सेवा के सिद्धान्त पर बना था—एक शब्द में लोक-धर्म पर अवलम्बित था[६]।

वेदान्ती वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त को अपना कर शुक्ल जी भारतीय समाज-व्यवस्था का प्रतिपादन अपने ढंग से करते हैं। यदि उनके सामने केवल हिन्दू-समाज व्यवस्था का ही प्रश्न रहता तो विश्व में इस समाज-व्यवस्था के स्थापन की बात वे न करते[७]। शुक्ल जी गीता के गुण-कर्म के अनुसार

१—आदर्श जीवन पृ० १४ के आधार पर।

२—चिन्तामणि प्र० भा० पृ० २८३ के आधार पर।

३—ऋग्वेद १०।९९।४. ४—ऋग्वेद ९।११२।३. ५—ऋग्वेद ७।१०४।१२.

६—चिन्ता,मणि, पहला भाग १७८. ७—गोस्वामी तुलसीदास पृ० २६.

भगवान-कृष्ण द्वारा चातुर्वर्ण्य की रचना वाले सिद्धान्त को नहीं मानते। इनका कहना है कि वर्णों की रचना भारतवर्ष में सभ्यता के विकास के साथ हुई। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ी त्यों त्यों समाज में वर्णों की रचना भाव तथा कर्म के आधार पर लोक-संचालन की सुविधा की दृष्टि से हुई[१]। प्रथमतः पारिवारिक जीवन में लोगों का विभाजन चार वर्णों में हुआ, फिर आगे चलकर समाज में अनेक रूपों में इनकी प्रतिष्ठा हुई। लोक-संचालन के लिये आरम्भ में मुख्यतः चार बलों—ज्ञानबल, बाहु-बल, धन-बल तथा सेवा-बल की आवश्यकता थी, अतः प्रारम्भ में चार ही वर्ण बने[२]। लोक-संचालनार्थ इन चार बलों में सामंजस्य की आवश्यकता होती है। अतः प्रारम्भ में बहुत दिनों तक इन वर्णों में सामंजस्य रहा[३]। शुक्ल जी ने वर्ण-व्यवस्था के प्रतिपादन में सदैव धर्म शब्द का प्रयोग किया है और इस धर्म के ३ प्रमुख तत्व उन्होंने निर्धारित किये हैं। वे हैं—कर्म, गुण तथा भाव। इनका विश्वास है कि वचन-व्यवस्था और भाव-व्यवस्था के बिना कर्म-व्यवस्था निष्फल होती है। हृदय का योग जब तक न होगा तब तक न कर्म सच्चे होंगे और न अनुकूल वचन निकलेंगे। इसलिये वे प्रत्येक वर्ण के धर्म में केवल कर्म की ही नहीं वरन् वाणी, बुद्धि तथा भाव की भी व्यवस्था आवश्यक मानते हैं[४]। जिस प्रकार ब्राह्मण के धर्म—पठन-पाठन, तत्व-चिन्तन, यज्ञादि हैं उसी प्रकार शांत और मृदु वचन तथा उपकार-बुद्धि, नम्रता, दया, क्षमा आदि भावों का अभ्यास भी। क्षत्रियों के लिये जिस प्रकार शस्त्र-ग्रहण धर्म है उसी प्रकार जनता की रक्षा, उसके दुख से सहानुभूति आदि भी। अन्य वर्णों के लिये जिस प्रकार अपने नियत व्यवसायों का दायित्वपूर्ण सम्पादन धर्म है उसी प्रकार अपने से ऊँचे कर्त्तव्य वाले अर्थात् लोक-रक्षा द्वारा भिन्न-भिन्न व्यवसायों का अवसर देने वालों के प्रति आदर तथा सम्मान का भाव भी[५]। शुक्ल जी इन सभी वर्णों को समाज- धर्म के पालनार्थ अपने अपने अधिकार, कर्त्तव्य तथा दायित्व का सम्पादन करते हुये देखना चाहते हैं[६]। इनका विचार है कि यदि ऐसी व्यवस्था स्थिर हो जाय तो विश्व की अशांति दूर हो सकती है[७]। शुक्ल जी विश्व में इस व्यवस्था को स्थापित करने की बात करते हैं, इससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में हिन्दू-समाज की ही व्यवस्था का प्रश्न नहीं वरन् देश तथा विश्व की भी समाज–व्यवस्था का प्रश्न है। इसीलिये वे वैयक्तिक भाव, प्रवृत्ति तथा रुचि के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का

१—गोस्वामी तुलसीदास पृ० ३९. २— वही पृ. ३९. ३— वही ३९, ४०

४— वही पृ० ३९,४०. ५— वही पृ० ३९. ६— वही पृ० ४३,४४. के आधार पर।

७—चिन्तामणि प० भा० पृ० १७८. के आधार पर।

कर्म निश्चित करना चाहते हैं और उसके द्वारा उस कर्म सम्बन्धी दायित्वों एवं अधिकारों का पालन होते हुए देखना चाहते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी यही बात कहते हुए दिखाई देते हैं कि मनुष्य का व्यवसाय यदि उसकी रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुसार निश्चित किया जाय तो समाज की बहुत कुछ विषमता मिट सकती है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी वर्ण-विभाजन कर्म, भाव तथा प्रवृत्ति के आधार पर मानते थे, केवल जन्म के आधार पर नहीं, अन्यथा वे आज भी वर्ण-व्यवस्था को विश्व में स्थापित करने की बात न करते[1]। यदि शुक्ल जी वर्ण-व्यवस्था की केवल जन्म-परम्परा को मानते तो क्षात्र-धर्म की सब से अधिक प्रशंसा न करते, उसे सर्व श्रेष्ठ न मानते; शूद्र शब्द से केवल जाति की नीचता का अर्थ लेते; विद्या, बुद्धि, शील, शिष्टता, सभ्यता की हीनता का अर्थ न लेते[2]। अर्थात् शुक्ल जी वर्णों की उच्चता केवल उच्च कुल में जन्म लेने पर ही नहीं वरन् लोक-धर्म के पालन की शक्ति में मानते हैं[3]। इसी कारण वे क्षत्रिय वर्ण की प्रशंसा न करके क्षात्र-धर्म की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में उसका सम्बन्ध अन्य वर्ण-धर्मों की अपेक्षाकृत लोक-रक्षा से सबसे अधिक मात्रा में है; वह जनता के सम्पूर्ण जीवन को सर्वाधिक मात्रा में स्पर्श करने वाला है; कर्म-सौन्दर्य की योजना उसमें सर्वाधिक मात्रा में है[4]। शुक्ल जी का विश्वास है कि समाज में ऊँची-नीची श्रेणियाँ बराबर थीं और रहेंगी। रूस के वर्ग-विहीन समाज की कल्पना में उनकी आस्था नहीं है[5]। लोक-व्यवस्था के भीतर भिन्न भिन्न कार्यों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति एवं रुचि वाले व्यक्तियों की सदा आवश्यकता रहेगी। इन भिन्न भिन्न कार्यों के कर्ताओं का वर्ग उनके कार्यों की भिन्नता के अनुसार क्रमशः बनता रहेगा। जिस वर्ग के कार्य में लोक-धर्म का जितना अधिक अंश रहेगा, उसके सम्पादन में जितना अधिक त्याग रहेगा; उस वर्ग को अन्य वर्ग के लोग लोक-धर्मानुसार उतना ही बड़ा मानेंगे, उतना ही अधिक सम्मान देंगे, पर इस बड़े वर्ग के लोगों को दूसरों को छोटा मानने का अधिकार नहीं रहेगा। जहां उन्होंने ऐसा किया कि सम्मान का स्वत्व खोया[6]। क्योंकि जन्म के आधार पर किसी ऊंचे वर्ण के व्यक्ति का अपनी उच्चता का अभिमान, जन्मना अपने से निम्न व्यक्ति को नीच समझने की भावना शुक्ल जी की दृष्टि में

१—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० १७८ के आधार पर।

२—गोस्वामी तुलसीदास पृ० २६, ४०, ५१. के आधार पर।

३— वही पृ० ४३. ४—चिन्तामणि, प० भा० पृ० ५८.

५—गोस्वामी तुलसीदास पृ० ४४,५१ के आधार पर। ६—चिन्तामणि, प०भा० पृ० १५४.

अहंकार की भावना है, जो लोक-धर्म की वृत्ति को नष्ट कर देती है। जिस जाति या वर्ग में इस छोटाई या बड़ाई का अभिमान जगह जगह जमकर दृढ़ हो जाता है उसके भिन्न भिन्न वर्गों के बीच ऐसी स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है कि संघ-शक्ति का विकास कम हो जाता है[1]; ऊंचे कहे जाने वाले कर्मों की ओर ही लोग विशेष प्रवृत्त होते हैं; फलतः समाज के कार्य-विभागों में विषमता आ जाती है; कुछ विभाग सूने पड़ जाते हैं[2]। इसलिए शुक्ल जी का कहना है कि समाज में उन कार्यों की जिनके द्वारा भिन्न भिन्न प्राणी अपना जीवन-निर्वाह करते हैं, परस्पर छोटाई बड़ाई का ढिंढोरा न पीटा जाय, बल्कि विभिन्नता ही स्वीकार की जाय[3]। किन्तु कार्य की भिन्नता के आधार पर स्थापित होने वाली वर्णों की छोटाई बड़ाई का यह अर्थ कदापि नहीं कि छोटी श्रेणी के लोग सदा दुख में रहें और जीवन के सारे सुभीते बड़ी श्रेणी के लोग अपने ही पास रक्खें[4]। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी के समाज-धर्म के विवेचन के प्रत्येक तत्व में लोक-धर्म का समावेश है।

देश धर्म शुक्ल जी की दृष्टि में देश बद्ध मनुष्यत्व की अनुभूति से सच्ची देश-भक्ति या देश-प्रेम की स्थापना होती है। देशबद्ध मनुष्यत्व की अनुभूति अपने देश के बाह्य तथा आन्तरिक स्वरूप की स्वतन्त्र सत्ता के प्रत्यभिज्ञान तथा अनुराग से उत्पन्न होती है[5]। जिसको अपने देश के सच्चे स्वरूप तथा स्वतंत्र सत्ता का ज्ञान हो गया तथा उससे सच्चा प्रेम उत्पन्न हो गया वह अपने देश के मनुष्य, पशु-पक्षी, तृण-गुल्म, पेड़-पत्ते, वन-पर्वत आदि सबसे सच्चा प्रेम करेगा, सबकी रक्षा तथा विकास का प्रयत्न करेगा, सबको चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुख-समृद्धि का प्रयत्न करेगा[6]। सच्चे देश-प्रेम का सम्बन्ध सम्पूर्ण देश के हित-चिन्तन तथा हित-साधन की प्रवृत्ति से है, जो देश के रूप-परिचय से उत्पन्न होती है। देश का रूप-परिचय या सान्निध्य देश-प्रेम का प्रवर्तक है। बिना प्रेम के देश के लिये उत्साह या त्याग नहीं हो सकता, देश-वासियों के सुख-दुख से सहानुभूति नहीं हो सकती, सबकी रक्षा तथा समृद्धि की भावना नहीं जग सकती[7]। इसीलिये उन्होंने देशके मनुष्यों और उसकी प्रकृति को देखने, जानने, पहचानने और प्यार करने पर जोर दिया था[8]। शुक्ल जी का सामाजिक दृष्टि-

१—चिन्तामणि, प० भा० पृ० १५४. २— वही पृ० १५५.
३— वही पृ० १५४. ४— गोस्वामी तुलसीदास पृ० ४३.
५—रस-मीमांसा पृ० १५१. ६—रस-मीमांसा पृ० १५२.
७— वही पृ० १५२, और चिन्तामणि प्र० भा० पृ० १०५, १०६.
८— वही पृ० १५३ और वही पृ० १०६.

कोण धनी वर्ग के हितों को देखकर नहीं बना था, उसका आधार साधारण जनता का जीवन हैं। इसीलिये उन्होंने धनी वर्ग के झूठे देश-प्रेम का स्थान स्थान पर मखौल उड़ाया है[१]। वे देश प्रेम को विश्व-प्रेम की सीढ़ी पर पहुँचने की पूर्वागत सीढ़ी मानते हैं; इसलिये वे देश-प्रेम तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता से उदासीन रहकर विश्व नागरिकता की डींग मारने वालों की कड़ी आलोचना करते हैं[२]। देश-प्रेम की भावना से अनुप्रेरित होकर उन्होंने अंग्रेजों के साम्राज्यवादी उत्पीड़न से भरे शासन की निन्दा की है[३]; उसके जघन्य राक्षसी स्वरूप को जनता के सामने अपनी कविताओं तथा निबन्धों के माध्यम से व्यक्त किया है[४]; पश्चिमी देशों की व्यक्तिवादी संस्कृति की कुत्सा की है[५]; गाँधी जी के निष्क्रिय प्रतिरोध का खण्डन किया है[६]; स्वतंत्रता के उन्मत्त उपासक तथा घोर क्रान्तिकारी कवि शेली की सराहना की है[७]; देश-भक्ति के मूल भाव—स्वतंत्रता की प्रशसा क्या साहित्य, क्या संस्कृति, क्या धर्म—सर्वत्र की है[८]। देश-भक्ति की भावना से प्रेरित होने के कारण ही उन्होंने कई कवितायें[९] तथा निबन्ध[१०] लिखे हैं। अपने मनोविकार तथा साहित्य सम्बन्धी निबन्धों में यथा प्रसंग उन्होंने देश की तत्कालीन लगभग सभी प्रमुख समस्याओं तथा प्रश्नों पर व्यंग्य करते हुए उनका समाधान लोक-धर्म की दृष्टि से उपस्थित किया है तथा देश की समस्याओं से उदासीन रहने वाले कवियों की निन्दा की है[११]। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी का देश-धर्म सच्ची देश-भक्ति का पर्याय है, जिसमें अपने देश की स्वतन्त्र संस्कृति के प्रति अभिमान तथा निष्ठा, उसमें बसने वाले प्राणियों की रक्षा, सुख एवं समृद्धि के प्रति सच्चे प्रयत्न तथा त्याग की भावना निहित है। इस प्रकार शुक्ल जी का देश-धर्म उनके लोक-धर्म के अनुकूल है।

१—चिन्तामणि, प० भा० पृ०१०५. २— वही पृ० १७७ के आधार पर।

३— वही पृ० १०१, १५६, १५७, १७४, १७५, १७७.

४—भारत और वसन्त (कविता) ५—चिन्तामणि, प० भाग पृ० १०१, १७७.

६—काव्य में रहस्यवाद पृ० ५ के आधार पर।

७—रस-मीमांसा पृ० ६८, ६९. ८—काव्य में रहस्यवाद पृ० १४८, १४६.

९—फूट, भारत और वसंत, देश-द्रोही को दुतकार, अछूत की आह आदि।

10—What has India to do

Noncooperation movement and Nonmercantile classes.

११—हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० २८४ के आधार पर।

शुक्ल जी के जीवन-सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तः—

शुक्ल जी के जीवन-सम्बन्धी अन्य सिद्धान्त उनके अंगी-धर्म लोक-धर्म के ही आधार पर निर्मित हुए हैं। इसकी स्पष्टता के लिए उनके ईश्वर, धर्म, मोक्ष, शिक्षा, संस्कृति, सौन्दर्य, प्रकृति-प्रेम, विकासवाद आदि सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। शुक्ल जी की दृष्टि में ईश्वर विश्व-धर्म का सेवक है। उन्होंने उसमें अन्तिम श्रेणी के धर्म—लोक-धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा की है[1]। उन्हीं के शब्दों में 'पूर्ण धर्म जिसका सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति-रक्षा से रहता है, वस्तुतः पूर्ण पुरुष या पुरुषोत्तम में ही रहता है[2]'। शुक्ल जी ने भक्ति-विवेचन के प्रसंग में ईश्वर का निरूपण लोक-धर्म के साधक तत्वों के परम प्रतीक[3] रूप में तथा धर्म-रक्षक के रूप में किया है[4]। इनकी मान्यता है कि मनुष्य ने अपनी स्थिति-रक्षा सम्बन्धी भावों को परमावस्था तक पहुंचाकर ही उस परम भावमय ईश्वर की धारणा निरूपित की है[5]। उसने दया, दाक्षिण्य प्रेम, क्रोध आदि भावों का परम रूप ईश्वर में लोक-धर्म की रक्षा के हेतु ही प्रतिष्ठित किया है। विश्वात्मा की विशेष कला के अवतार की आवश्यकता उन्होंने धर्म के अभाव में ही निरूपित की है[6]। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी की ईश्वर-सम्बन्धी धारणा लोक-धर्म के अनुरूप है।

शुक्ल जी का धर्म-सिद्धान्त लोक-धर्म की भित्ति पर आधारित है। इसी कारण वे धर्म की परिभाषा साम्प्रदायिक दृष्टि से न कर के लोक-मंगल के साधन रूप में करते हैं। शुक्ल जी की दृष्टि में धर्म वह व्यवस्था या वृत्ति है जिससे लोक में मंगल का विधान होता है; अभ्युदय की सिद्धि होती है[7]। इनके मत से धर्म ही से मनुष्य समाज की स्थिति, रक्षा तथा विकास संभव है[8]। अतः उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का रुचि-भेद या मत-भेद नहीं हो सकता[9]। धर्म का सामान्य लक्षण संसार के प्रत्येक सभ्य जन-समुदाय में प्रतिष्ठित है[10]। शुक्ल जी के विचार से धर्म अपने में एक मूलगत मूल्य नहीं वरन् साधक है; और उसका साध्य है लोक-मंगल। इसीलिए वे सत्य, दम, अहिंसा, बड़ों के

१—चिन्तामणि पहला भाग पृ० २८३. २— वही पृ० २८२.
३— वही पृ० ५४. ४— वही पृ० ५०.
५— वही पृ० ५२. ६— वही पृ० ५०.
७—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० २८५, २९५.
८— वही पृ० ३१. विश्व प्रपंच पृ० ६४ भूमिका
९—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० ३१. १०—चि० प० भाग, पृ० ३०, ३१.

आज्ञापालन आदि का सापेक्ष्य मूल्य मानते हैं, निरपेक्ष नहीं[१]। वह सापेक्ष्यता शील है। नियम शील का साधक है[२]; और शील-रक्षा का सम्बन्ध लोक-धर्म से है[३]। इस प्रकार उनके द्वारा निरूपित साधारण धर्म का सम्बन्ध लोक-धर्म से स्थापित होता है। शुक्ल जी श्रद्धा को धर्म की पहली श्रेणी अभिहित करके उसका सम्बन्ध लोक-धर्म से अटूट रूप में स्थापित कर देते हैं[४]। आचार्य शुक्ल के अनुसार धर्म का सबसे उच्च, विशुद्ध तथा सच्चा स्वरूप विश्व धर्म है[५]; जिसका सम्बन्ध मनुष्य मात्र की रक्षा से ही नहीं वरन् कीट-पतंग मात्र की रक्षा से भी है[६]। भक्ति-विकास के प्रसंग में उन्होंने यह बताया है कि जो लोग स्वर्ग-सुख के लोभ अथवा नरक-दुख के भय से दुष्कर्मों से हाथ खींचते हैं वे नीची श्रेणी के धार्मिक हैं[७]। उत्तम श्रेणी के लोग वे हैं जो लोक-धर्म अथवा लोक-मंगल की स्थापना के लिए दुष्कर्मों से हाथ खींचते हैं। इस प्रकार शुक्ल जी द्वारा निरूपित धर्म की उच्चता एवं नीचता का मानदण्ड भी लोक-धर्म है। उनकी दृष्टि में धर्माधर्म की नींव भी आत्मरक्षा तथा लोक-रक्षा की भावना पर डाली हुई है[८]; स्वर्ग-नरक अथवा इह लोक से परे किसी अलौकिक स्वतन्त्र सत्ता पर नहीं[९]। शुक्ल जी हर्बर्ट स्पेन्सर के इस मत से सहमत हैं कि परस्पर साहाय्य की प्रवृत्ति, धर्म की मूल प्रवृत्ति है जो सजीव सृष्टि के साथ ही व्यक्त हुई; और समाज के आश्रय से उत्तरोत्तर विकसित होती हुई व्यापकतर एवं व्यापकतम होती गई[१०]। इस प्रकार शुक्ल जी ने सर्वत्र लोक-व्यवहार एवं समाज-विकास की दृष्टि से ही धर्म की व्याख्या की है, परलोक अथवा निरपेक्ष अध्यात्म-दृष्टि से नहीं।

शुक्ल जी की दृष्टि में मोक्ष का मार्ग धर्म-मार्ग से बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता[११]। धर्म-विवेचन के प्रसंग में हम यह देख चुके हैं कि उनकी धर्म-दृष्टि सदैव लोक-धर्म की भित्ति पर प्रतिष्ठित है। इस प्रकार प्रकारान्तर से यह सिद्ध हुआ कि उनकी दृष्टि में मोक्ष की सिद्धि लोक-धर्म के पालन से ही सम्भव है; और वह इसी जीवन में तथा इसी लोकमें प्राप्त हो सकती है, यदि मनुष्य में अपने व्यक्तित्व को लोक में लय करने की क्षमता है तो। उनकी दृष्टि में अपने

१—चिन्तामणि पहला भाग पृ० ६५. २—चिंतामणि पहला भाग पृ० ६९.
३— वही ३७, ४२. ४— वही पृ० ३१.
५.— वही पृ० २८३. ६— वही पृ० २८४.
७—सूरदास. भक्ति का विकास, पृ० ३. ८—विश्व प्रपंच की भूमिका, पृ० ६९.
९—विश्व प्रपंच की भूमिका, पृ० ६६. १०— वही पृ० ६६, ९७.
११—चिंतामणि प० भाग, पृ० २८५.

व्यक्तित्व को लोक में लय करना, राम में अपने को लय करना है, क्योंकि यह जगत "सिया-राम मय" है और वे आगे कहते हैं कि ऐसे ही लोगों को जीवन-मुक्त समझना चाहिये जो अपने व्यक्तित्व को लोक में लय करने में समर्थ हों[1]। तात्पर्य यह निकला कि शुक्लजी की दृष्टि में व्यक्ति-व्य[illegible] दशा का परिहार ही अर्थात् लोक-धर्म का पालन ही मोक्ष-प्राप्त करने का एक मात्र मार्ग है।

आचार्य शुक्ल अपनी कृतियों में यथा प्रसंग आधुनिक शिक्षा की वणिग्वृत्ति, एकांगी दृष्टि; स्वार्थ-भावना, परप्रत्ययनेयता आदि प्रवृत्तियों से क्षुब्ध दिखाई पड़ते हैं[2]। इस क्षुब्धता से यही निष्कर्ष निकलता है कि वे सर्वांगीण शिक्षा जीवन को पुष्ट करने वाली तथा लोक-धर्म की दृष्टि प्रदान करने वाली दूसरे के समर्थक हैं। यह हम पहले कह चुके हैं कि शुक्ल जी की दृष्टि में शिक्षा कार्य मनुष्य के अन्तः करण में निहित सभी शक्तियों का सम्यक् रूप से संस्कार करना है[3], सुविकसित कोटि की सामाजिक दृष्टि उत्पन्न करना है, जिससे उसका जीवन संतुलित रूप से सामाजिकता की उदात्ततम दिशा की ओर विकसित हो सके। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि आचार्य की दृष्टि में शिक्षा वह दिव्यतम साधन है जिससे मनुष्य लोक-धर्म के सम्पादन में समर्थ होता है। इसी कारण वे शिक्षा की कसौटी लोक-धर्म का पालन मानते हैं। आप की दृष्टि में सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध प्रगट करने वाले जितनी ही अधिक संख्या में किसी समाज में पाये जायेंगे उतना ही वह समाज जाग्रत या शिक्षित समझा जायगा[4]। शुक्ल जी उन देश-भक्त लेखकों में थे जो अपने युग में इस मत के कठोर समर्थक थे कि देशी भाषा में उच्च शिक्षा आवश्यक है, इसके बिना सब शिक्षा अधूरी है[5]। इस प्रकार शुक्ल जी का शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण उनके लोक-धर्म के अनुकूल होते हुए राष्ट्रीय भी है।

शुक्ल जी आधुनिक सभ्यता तथा संस्कृति में स्वार्थ-वृत्ति, भोग-प्रवृत्ति, शोषण दृष्टि, शक्ति-पूजा आदि शीलहीन तत्वों को देखकर उसपर बहुत रोष प्रगट करते हैं और उसे मत्स्य एवं मर्कट सभ्यता के नामसे अभिहित करते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य की संस्कृति को अभिव्यक्ति की ठीक स्थिति वही है जहां एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का खाद्य नहीं बनता, तथा जहां मनुष्य की उदात्त वृत्तियां सर्वाधिक मूल्यवान मानी जाती हैं[6]। शुक्ल जी की दृष्टि में कोई मनुष्य

१—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ५८. २—क चिन्तामणि प० भाग, पृ० ४०

३—आदर्श जीवन, पृ० १८४, १८६, १८७ के आधार पर।

४—चिन्तामणि प० भाग, पृ० २८. ५—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ४६७.

६—चि० प० भाग, पृ० ५१,५२.

आज्ञापालन आदि का सापेक्ष्य मूल जब वह अपने परिजन, पुरजन, सम्बन्धी,
शील है। नियम शील का साधके साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए जगत के
से है[3]। इस प्रकार उनके द्वार सकेगा; अशेष सृष्टि के साथ अपने रागात्मक
स्थापित होता है। शुक्ल र्वाह कर सकेगा अर्थात् जो जितनी अधिक मात्रा में
सम्बन्ध लोक-धर्म से अ सके वह शुक्ल जी के मत से उतना ही अधिक सभ्य
अनुसार धर्म का

सम्बन्ध मनुष्य
है[6]। जी ऐसे सौन्दर्य को स्वीकार नहीं करते जिसका प्रभाव नितान्त वैय-के लोग्हो[1]। इसीलिये वे सौन्दर्य को व्यक्तिनिष्ठ कहने वाले आचार्यों के सौन्दर्य के बन्धी मतों का खण्डन करते हैं। इनकी दृष्टि में साहित्यिक अथवा कलात्मक सौन्दर्य केवल वस्तुनिष्ठ होता है। सुन्दर वस्तु से पृथक सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं; जैसे वीर कर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं[2]। सौन्दर्य की अनुभूति सहृदय की अन्तःस्सत्ता की तदाकारपरिणति है[3]। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष दर्शन या भावना से हमारी तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिये सुन्दर कही जायगी। जिस वस्तु के दर्शन से हमारी वैयक्तिक सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव हो उतनी ही हमारी सौन्दर्यानुभूति बढ़ी हुई मानी जायगी[4]; अर्थात् शुक्ल जी के सौन्दर्य की कसौटी व्यक्ति-सत्ता का तिरोभाव अथवा रस-दशा है। शुक्ल जी सौदर्य को दिव्य विभूति के नाम से अभिहित करते हैं[5]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उनकी सौन्दर्य-धारणा में उदात्तता का तत्व निहित है। आचार्य की दृष्टि में सौन्दर्य की निहिति वस्तुओं के रूप-रंग अवयव-संगति, मनुष्यों के मन, वचन, कर्म, भाव, प्रवृत्ति, शरीर—सबमें हैं[6]। वह प्रवृत्ति मूलक एवं निवृत्ति मूलक—सभी प्रकार के भावों के भीतर बसता है, बस उसकी कसौटी है—सहृदय में तदाकार परिणति लाने की क्षमता। शुक्ल जी की दृष्टि में सौन्दर्य का सामान्य आदर्श सभी जातियों में एकसा है। भेद अधिकतर अनुभूति की मात्रा में पाया जाता है। न सुन्दर को एक बारगी कोई कुरूप कहता है और न बिल्कुल कुरूप को सुन्दर। उनके विचार से आदर्श सौन्दर्य वही है जिसमें बाह्य तथा आभ्यन्तर—दोनों प्रकार के सौन्दर्य का

१–चि० प० भाग, पृ० २२४ के आधार पर। २– वही पृ० २२४.
३– वही पृ० २२५. ४– वही पृ० २२५.
५– वही पृ० २२६. ६– वही पृ० २२६.

योग हों[१]। शुक्ल जी की दृष्टि में धर्मज्ञ जिसे शुभ या मंगल कहता है उसी को कवि अपनी दृष्टि से सुन्दर कहता है[२]। कविता का सीधा सम्बन्ध नीति से नहीं, सौन्दर्य से है। धर्म सौन्दर्य का रूप धारण करके कविता में आता है। इसीलिए उनकी दृष्टि में कविता एवं सौन्दर्य की कसौटी एक है—व्यक्ति सत्ता का तिरोभाव। इससे तात्पर्य यह निकला कि सुन्दर को शुभ या मंगलकारी होना ही चाहिए; । दूसरे शब्दों में सौन्दर्य एवं मंगल में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कलापक्ष से देखने में जो सुन्दर है वही धर्म-पक्ष से देखने में मंगलकारी है। इसीलिए शुक्ल जी सौन्दर्य और मंगल को एक दूसरे का पर्याय भी मानते हैं[३]। इस प्रकार इनकी सौन्दर्य-धारणा लोक-मंगल के अनुकूल सिद्ध होती है। यह दूसरी बात है कि वह अत्यधिक वस्तुवादी कोटि की है।

शुक्ल जी का जीवन सम्बन्धी सौन्दर्य सांस्कृतिक मूल्यों के समान देश-काल की बदलती हुईं परिस्थितियों में संतुलन के व्यापक मानदण्ड के रूप में विकसित होता है। इसी प्रकार उनके द्वारा निरूपित साहित्य का अन्तः और बाह्य सौन्दर्य व्यक्ति और समाज के समुचित सामंजस्या के साथ जीवन को इतने समग्र रूप में ग्रहण करता है कि वह अपनी देश-कालगत सीमाओं के बावजूद भी सार्वभौम और सर्वकालीन बन जाता है। शुक्ल जी का सौन्दर्य-बोध मानव-जीवन की समस्त सीमाओं से मर्यादित हैं। और वह अपने आप में निरपेक्ष या असम्पृक्त न होकर युग युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों को अर्थवान भी करता है। इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि उनकी सौन्दर्य-धारणा भी लोक-धर्म के अनुसार ही निर्मित है।

शुक्लजी का प्रकृति-प्रेम, प्रकृति-पर्यटन सम्बन्धी विचार तथा प्रकृति सम्बन्धी दार्शनिक तथा साहित्यिक धारणायें लोक-धर्म के अनुरूप हैं। आपका प्रकृति-प्रेम साहचर्यजन्य[४] है, अतः स्वाभाविक कोटि का है। साहचर्यजन्य प्रेम उन्हीं के शब्दों में हेतु-ज्ञान-शून्य कोटि का होता है[५]। इससे यह निष्कर्ष निकला कि उनका प्रकृति प्रेम हेतु-ज्ञान-शून्य कोटिका है। वे सुख, शोभा, सजावट, विलास, मनोरंजन आदि के लिए प्रकृति-सम्पर्क स्थापित करने वालों की निन्दा करते हैं[६]; प्रकृति के कतर-ब्योंत रूपों के उपासकों को अहं का पुजारी तथा राजसी चित्त-वृत्ति का मानते हैं[७] तथा तमाशे की दृष्टि से प्रकृति के भीतर घूमने वालों तथा

१—चि० प० भा० पृ० २२७. २— वही पृ० २२८.

३—काव्य में रहस्यवाद पृ० १० ४—साहित्य संदेश-शुक्लांक, पृ० ३७१.

५—रस-मीमांसा, पृ० ११३. ६—रस-मीमांसा, पृ० ११४.

७—रस-मीमांसा, पृ० ११५, ११८.

केवल असाधारण तथा अनोखे दृश्यों पर मुग्ध होने वालों को हृदय-हीन कहते हैं[1] एवं केवल उद्दीपन रूप में प्रकृति-वर्णन करने वाले कवियों को संस्कार-सापेक्ष समझते हैं[2]। इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी के प्रकृति-प्रेम में न तो विलास की गन्ध है, न तमाशबीन की राजसी वृत्ति का स्पर्श, और न अपनी अहं वृत्ति की तृप्ति का प्रयत्न। उनका कहना है कि प्रकृति से हमारा साहचर्य बहुत ही प्राचीन है। हमारे पूर्वजों के जीवन का सर्वाधिक अंश प्रकृति की गोद में व्यतीत होता था। इस कारण प्रकृति-प्रेम हमारे अन्तःकरण में वासना के रूप में वंश-परम्परा से विद्यमान है[3]। इसीलिए वे प्रकृति को हमारे प्रेम-भाव का आलम्बन मानते हुए उसे रस की अनुभूति कराने में समर्थ मानते हैं और इसी हेतु वे स्वतंत्र रूप में प्रकृति-वर्णन की पद्धति का समर्थन करते हैं[4]। शुक्ल जी द्वारा निरूपित प्रकृति की साहित्य सम्बन्धी धारणा, उसके काव्य-गत आलम्बन रूप की प्रतिष्ठा के समर्थन तथा उसमें स्वतन्त्र रस निष्पत्ति कराने की क्षमता को सिद्ध करने में निहित है[5]। वे रसानुभूति की कसौटी लोक-धर्म मानते हैं[6]। इस प्रकार प्रकारान्तर से यह सिद्ध हुआ कि उनकी प्रकृति सम्बन्धी साहित्यिक धारणा लोक-धर्म के अनुकूल है।

देश-भक्ति के विवेचन के अवसर पर हम यह बता चुके हैं कि शुक्ल जी की दृष्टि में देश-प्रेम का आलम्बन उस देश का प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक रूप ही हो सकता है। देश के रूप से परिचित होने के लिए उसकी प्रकृति-श्री से स्वाभाविक प्रेम आवश्यक है। देश की प्रकृति से प्रेम करने पर ही देश का रूप-रंग आँखों में समा सकेगा[7]; देश का रूप-रंग आँखों तथा हृदय में समा जाने पर ही यह स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न होगी कि यह देश हमसे न छूटे; इसके सब प्राणी सुखी रहें; इसकी प्राकृतिक शोभा सदा सुरक्षित रहे तथा देश सदा स्वतन्त्र रहे[8]। इस प्रकार शुक्ल जी का प्रकृति-प्रेम देश भक्ति की उत्पत्ति का एक प्रमुख कारण है और उनकी देश-भक्ति लोक-धर्म का एक अंग-धर्म है। इस प्रकार प्रकारांतर से यह सिद्ध हुआ कि साँस्कृतिक दृष्टि से शुक्ल जी का प्रकृति प्रेम लोक-धर्म के अनुकूल है।

शुक्ल जी का कहना है कि एक भावुक हिन्दू को प्रकृति-पर्यटन के समय यह स्मरण होता है कि राम ने ऐसे ही किसी वन में चौदह वर्ष का समय

१—रस-मीमांसा, पृ० ११४. २— वही पृ० १११
३— वही पृ० ११८. ४— वही पृ० १३२-१४२.
५— वही पृ० १४३. ६—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० ३०६.
७—रस-मीमांसा, पृ० १५२. ८—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० १०७.

व्यतीत किया था; कृष्ण नन्द का महल छोड़कर ऐसी ही प्रकृति की गोद में कहीं क्रीड़ा करते थे[१]। ऊबड़ खाबड़ पहाड़ी रास्तों में जब झाड़ियों के कांटे उसके शरीर में चुभते हैं तब उसके हृदय में यह मधुर भाव बिना उठे नहीं रहता कि ये झाड़ उन्हीं प्राचीन झाड़ों के वंशज हैं जिनके काँटे राम, लक्ष्मण, सीता को कभी चुभे होंगे[२]। जिन वस्तुओं तथा व्यापारों के प्रति हमारे पूर्वज अपने भाव अंकित कर गये हैं; उनके सामने अपने को पाकर वह उन पूर्वजों के निकट पहुंच जाता है; और उसी प्रकार के भावों का अनुभव कर उनके हृदय से अपना हृदय मिलाते हुए उनका सगा बन जाता है[३]। जंगलों, पहाड़ों, मैदानों तथा गांवों में जाने पर वह अपने को वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति के समय में खड़ा कल्पित कर लेता हैं[४]। पर्वतों की दरा-कन्दराओं में, प्रभात के प्रफुल्ल पद्मजाल में, छिटकी चांदनी में, खिली कुमुदिनी में उसकी आंखें कालिदास, भवभूति आदि की आंखों से जा मिलती हैं[५]। इस प्रकार प्रकृति-पर्यटन के समय सम्बन्ध-भावना से जगी इष्ट देवों एवं पूर्वजों की मधुर स्मृति तथा वाल्मीकि, कालिदास एवं भवभूति जैसे लोक-धर्मी कवियों की उदात्त भावनाओं का स्मरण उसे लोक-धर्म के भाव-सागर में निमग्न कर देता है! सम्यक् दृष्टि से विचार करने पर यह विदित होता है कि शुक्ल जी का प्रकृति संबंधी विचार लोक-धर्म के अनुकूल है।

शुक्ल जी दार्शनिक दृष्टि से प्रकृति में वही सत्ता मानते हैं जो मनुष्य में है[६]। अतः उसके चेतन-अचेतन सभी रूपों की रक्षा चाहते हैं। उसके सभी जीवों को जो जहां हैं वे उन्हें वहीं सुखपूर्वक खेलने देना चाहते हैं[७]। उसके अंगों का विच्छेद देखकर वे क्षुब्ध होते हैं[८]। लोक-धर्म की पूर्णता मनुष्य से लेकर कीट-पतंग, तृण-गुल्म आदि सबके प्यार में मानते हैं[९]। इस प्रकार उनकी प्रकृति-दृष्टि तथा प्रकृति-प्रेम उनके लोक-धर्म के अनुकूल है। शुक्ल जी प्रकृति का एक विशेष दार्शनिक प्रयोजन मानते हैं—वह है सृष्टि-विकास[१०]। इसलिए अपनी कविताओं में उन्होंने प्रकृति को एक लौकिक शक्ति-सम्पन्न सच्ची धर्म-

---

१—रस-मीमांसा पृ० १४६. २— वही पृ० १४६,

३— वही पृ० १४६. ४— वही पृ० १४६.

५— वही पृ० १५०.

६—विश्व-प्रपंच की भूमिका पृ० ३३, ३६ के आधार पर।

७—चिन्तामणि प्रथम भाग पृ० ७. ८— वही पृ० २०८.

९— वही पृ० ७.

१०—विश्व-प्रपंच की भूमिका पृ० २८, २६ के आधार पर।

माता[१] के रूप में निरूपित किया है। वह केवल मनुष्य की ही माता न होकर समस्त चराचर की माता है। इसीलिए वह आम और बबूल में भेद-भाव नहीं लातीं; और मनुष्य द्वारा बहिष्कृत पेड़-पत्ती को फिर से लाकर उनके बीच में बसाती है[२]। उनकी दृष्टि में जैसे माता द्वारा बच्चे को जीवन-दान मिलता है; उसके अंगों की रचना होती है; उसका भरण-पोषण तथा संरक्षण होता है; उसकी मानसिक, शारीरिक आदि अनेक विशेषताएँ बच्चे में आती हैं; तद्वत् शुक्ल जी की दृष्टि में प्रकृति द्वारा जगत की रचना हुई; उसके अंग-प्रत्यंग का विकास हुआ; नवीन प्राकृतिक परिस्थितियों से जीव में नई विशेषतायें आईं[३]। प्रकृति के अन्तर्गत व्याप्त शक्ति से जगत की स्थिति है। उनकी दृष्टि में जात्यन्तर परिणाम में भी प्राकृतिक ग्रहण का सबसे महत्वपूर्ण योग है[४]। इस प्रकार वे वातावरण सम्बन्धी विशेषताओं को ही नहीं वरन् आनुवंशिक विशेषताओं को भी अन्ततोगत्वा प्रकृति की देन मानते हैं। इस प्रकार वे जगत का विकास प्रकृति के कार्यों, सम्पर्कों तथा प्रभावों द्वारा सिद्ध करते हैं। इसी कारण वे नर के विकास हेतु नरता को ही पर्याप्त नहीं मानते वरन् प्रकृति का योग तथा सान्निध्य भी बहुत आवश्यक समझते हैं[५]। यही कारण है कि वे भौतिकवादी व्यावसायिक सभ्यता में प्रकृति के प्रति उपेक्षा देख कर क्षुब्ध होते हैं[६], रहस्यवादी तथा छायावादी कवियों द्वारा प्रकृति का दुरुपयोग देखकर रुष्ट होते हैं[७]

१-२.-मानव के हाथ से निकाले जो गये कभी,
धीरे धीरे फिर उन्हें लाकर बसाती हैं।

फूलों के पड़ोस में धमोय बैर औ बबुल,
बसे हैं, न रोक टोक कुछ भी की जाती है,।

सुख के या रति के विरुद्ध एक जीव के ही,
होने से न माता कृपा अपनी हटाती है।

देती है पवन, जल, धूप सबको समान,
दाख और बबूल में न भेद-भाव लाती है।-हृदय का मधुर भार, द्वितीय झलक, २४,

३—विश्व-प्रपंच की भूमिका, पृ० २७ के आधार पर।

४— वही पृ० २७. के आधार पर।

५-- माता धरती की भरी गोद यह सूनी कर,
प्रेत सा अकेला पांव अपने पसार ले।

विश्व बीच नर के विकास हेतु नरता ही,
होगी किन्तु अलम् न, मानव विचारले।-हृदय का मधुर भार, झलक २. १.

६—हृदय का मधुर भार, झलक २. ११. ७— वही झलक ६. १२.

मनुष्य को प्रकृति से दूर भागते देरिक्त और कुछ नहीं; उसका विकास उसी
ओर लौटने का संदेश देते हैं, क्योंकि गुणों का। शरीर के साथ ही वह
हटने पर मनुष्य अपनी बहुत वड़ी जीवन। इस प्रकार वे लोग सिद्ध करते हैं
एकांगी हो जायगा; वह अनेक प्रकार की विशे।
उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि प्रकृति के। इसलिए वे स्थिर योनि-
लोक-सम्बन्धी विशेषतायें वर्तमान हैं, जैसे सच्ची मय सृष्टि पर जितने जीव
प्रभावों में लोक-धर्म समाहित रहता है। सलिए वे जात्यन्तर

विकासवादः—

जिसके अनुसार एक

शुक्ल जी की दृष्टि में एकरूपता या निर्विशेषता से अनेकरू का जीव हो
षता की ओर, अव्यक्त से व्यक्त की ओर गति का नाम विकास है एक जाति
का कारण हैकल, हर्बर्ट स्पेन्सर आदि भौतिकवादी दार्शनिक, द्रव्य में -भेद के
वेत मानते हैं[3], भौतिक शक्ति के व्यापक नियमों द्वारा ही उसका विधान नि जिससे
करते है; उसके परे किसी शक्ति की प्रेरणा अपेक्षित नहीं समझते। उनकी दृष्टि के
जगत के सम्पूर्ण व्यापार, द्रव्य और उसकी गति-शक्ति द्वारा आपसे आप होते
हैं[4]। इस प्रकार आधिभौतिक विकासवादी भूतातीत नियंता का अस्तित्व स्वीकार
नहीं करते। परमाणुओं के आकर्षण एव अपसारण शक्ति तथा उनकी
प्रवृत्ति का मूल अन्यत्र नही ढूंढते। उनका कहना है कि वह शक्ति एवं प्रवृत्ति
परमाणुओं में स्वयं आ गई[5]। शुक्ल जी आकर्षण एवं अपसारण शक्ति का मूल
तथा परमाणुओं की प्रवृति का रहस्य आत्मा अथवा चैतन्य में मानते हैं[6]।
शक्ति के स्फुरण-व्यापार में शुक्ल जी चैतन्य की सत्ता का आभास पाते हैं।

१—नर ! भव-शक्ति की अनंत रूपता है बिछी
तुझे अंध-कूपता से बाहर बढ़ाने को।
चारों ओर फैले महा-मानस की ओर देख
गर्त में न गड़ा गड़ा, हंस? कुछ पाने को।
अपनी क्षुद्र छाया के पीछे दौड़ मार ने से
सच्चा भाव विश्व का न एक हाथ आने को।
रूप जो अभास तुझे सत्य सत्य देंगे बस
उन्हीं को समर्थ जान अन्तस जगाने को। हृदय का मधुर भार. झलक; २,७.

२—विश्व प्रपंच की भूमिका पृ० १०६ के आकार पर।

३—४— वही पृ० १०६. ५— वही पृ० १०५.

६— वही पृ० १३२,१३६ के आधार पर।

-वतन्त्र क्रिया मानते हैं[1]। शुक्ल जी
माता[1] के रूप में निरूपित किया है। का ही लक्षणाभास है[2]। अनात्मवादियों
समस्त चराचर की माता है। इसी त का आभास है। जगत को रचने वाली
लाती; और मनुष्य द्वारा बहिष्क शक्तियों से हुई है। प्रकृति का सूक्ष्म तत्व
बसाती है[2]। उनकी दृष्टि में र्षण एवं विकर्षण की शक्ति है। परमाणु जब
उसके अंगों की रचना ह ओं से मिलते हैं तब द्रव्य प्रादुर्भूत होता है। एक
उसकी मानसिक, शारी य की सृष्टि हुई है[3]। अनात्मवादी परमाणु की शक्ति
शुक्ल जी की दृष्टि ोत बतलाने में असमर्थ हैं। शुक्ल जी परमाणु की शक्ति
विकास हुआ; न स्रोत ब्रह्म या चैतन्य मानते हैं[4]। उनकी दृष्टि में ब्रह्म अनन्त
प्रकृति के अन्त-शक्तिमान दोनों है। इस शक्ति को वे ब्रह्मका संकल्प मानते हैं,
न्तर प अभिव्यक्ति सर्गोन्मुख गति या क्रिया के रूप में होती है। इस अर्थ में वे
प्रका चैतन्यको कारण ब्रह्म कहते है। ज्ञाताज्ञेय रूपसे अपना अवस्थान कर क्रिया-
त, अपनी संकल्प शक्ति को व्यक्त करता है[5]। चारों ओर क्रम-व्यवस्था उसी
तन्य के कारण है[6]। आधिभौतिक विकासवाद केवल यही बताकर रह जाता है
कि जगत के नाना व्यापार किस प्रकार होते हैं; उस गति का विधान कैसा है, जिससे ये सब व्यापार सम्भव होते हैं, जगत के नाना पदार्थ अस्तित्व में आते हैं[7]। किन्तु जगत की मूल सत्ता किस प्रकार की है, इसपर वह कुछ नहीं कहता[8]।

शुक्ल जी की दृष्टि में आत्मा एक सत्ता है, द्रव्य-गुण या वृत्तिमात्र नहीं। आत्म सत्ता भूतों से परे और स्वतन्त्र है। आत्मसत्ता संकल्प द्वारा भौतिक शरीर में संचित गति-शक्ति की मात्रा में वृद्धि या न्यूनता नहीं करती, केवल निर्मित रूप से यह भर निश्चय कर देती है कि वह कौन सा रूप धारण करे; किस ओर प्रवृत्त हो। आत्मा केवल विधि का निर्माण करती है, गति की न तो वृद्धि करती है और न क्षय। इस प्रकार आत्मा अकर्ता है, उसमें व्यापार नहीं। वह परिणाम-रहित सत्ता है जो सब अवस्थाओं में एक सी बनी रहती है[9]। हैकल आदि अनात्मवादी विकासवादियों की दृष्टि में आत्मा भूतों से परे कोई नित्य एवं अपरिच्छिन्न सत्ता नहीं। वह मस्तिष्क की ही वृत्ति है। चैतन्य या चेतना द्रव्य का ही परिणाम है जिसका विकास जन्तुओं के मस्तिष्क में होता है।

१—विश्व प्रपंच की भूमिका पृ० १२०, १२४ के आधार पर। २— वहीं पृ० १२२.

३— वहीं पृ० ६,७,६,१०,११, के आधार पर। ४— वहीं पृ० १२२.

५— वहीं पृ० १२२. ६— वहीं पृ० १४२.

७— वहीं पृ० १११, ११२. ८— वहीं पृ० ११२.

९— वहीं पृ० ८३, ८४ के आधार पर।

इस प्रकार आत्मा शरीर-धर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं; उसका विकास उसी प्रकार होता है जिस प्रकार अन्य भौतिक गुणों का। शरीर के साथ ही वह बढ़ती, विकसित होती एवं नष्ट हो जाती है। इस प्रकार वे लोग सिद्ध करते हैं कि चेतना शक्ति भी एक भौतिक शक्ति ही है[1]।

शुक्ल जी विकासवादी कोटि के आत्मवादी हैं। इसलिए वे स्थिर योनि-सिद्धान्त को नहीं मानते। अर्थात् उनकी दृष्टि में इस समय सृष्टि पर जितने जीव हैं वे एक साथ पैदा नहीं हुए; वे क्रमशः पैदा हुए[2]। इसलिए वे जात्यन्तर परिणाम के सिद्धान्त को भी मानते हुए दिखाई पड़ते हैं[3]; जिसके अनुसार एक योनि का जीव प्राकृतिक ग्रहण के नियमानुसार दूसरी योनि का जीव हो जाता है। यहाँ पर वे डारविन महोदय के इस मत से सहमत हैं कि एक जाति के जीवों से क्रमशः दूसरी जाति के जीवों की उत्पत्ति हुई है। स्थिति-भेद के अनुसार असंख्य पीढ़ियों के बीच उनके अवयवों आदि में परिवर्तन हुआ जिससे एक योनि के जीवों से दूसरी योनि के जीवों की शाखा चली[4]। एक ढाँचे के जीव लाखों वर्षों की मृदु परिवर्तन-परम्परा से उत्पन्न हुए[5]। एक मूल रूप से अनेक रूपों की उत्पत्ति, एक ढाँचे से अनेक ढाँचों का उत्तरोत्तर विकास हुआ। विभिन्न प्रकार के परमाणुओं के मिलने से विभिन्न कोटि के पदार्थ बने। जिस गुण के परमाणु रहे उसी गुण के पदार्थ बने। छोटे और सादे ढंग के पदार्थों से क्रमशः बड़े और जटिल ढंग के पदार्थ बने। जल से जीवन तत्व की उत्पत्ति हुई[6]। जल की सृष्टि होने पर निर्जीव से सजीव पदार्थ बने[7]। जीवन तत्व के बनने पर पौधों तथा वृक्षों की उत्पत्ति हुई। जीवों में जलचारी जन्तु पहले उत्पन्न हुए। जलचारी से उभयचारी; उभयचारी से पंखवाले सरीसृपों की उत्पत्ति हुई। पंखवाले सरीसृपों से पक्षियों की उत्पत्ति हुई, एवं पक्षियों से दूध पिलाने वाले जीव उत्पन्न हुए। दूध पिलाने वाले जीवों से जरायुजों[8] की उत्पत्ति हुई जिसमें कुत्ते, बिल्ली, घोड़े, हाथी, गधे; बन्दर तथा वनमानुस आते हैं। इन्हीं वनमानुसों से मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ। प्राणियों में इन्द्रियों का विधान धीरे धीरे हुआ[9]। मनुष्यों में प्रवृत्ति; भाषा, ज्ञान, आचार, विचार; धर्म तथा सभ्यता का विकास क्रमशः हुआ[10]।

१—वि० प्र० की भू० पृ० ८२, ८३ के आधार पर। २— वही पृ० २९.
३— वही पृ० २६, ४— वही पृ० २६.
५— वही पृ० ३०. ६— वही पृ० ९२.
७— वही पृ० ३१. ८— वही पृ० २३,२४.
९— वही पृ० ५३. १०— वही पृ० ९१.

धर्म की मूल प्रवृत्ति सजीव सृष्टि के साथ उत्पन्न हुई[1]। यह प्रवृत्ति आदि में संतानोत्पादन और संतान-पालन के रूप में प्रगट हुई[2]। एक घटात्मक अणु-जीवों में स्त्री-पुरुष भेद नहीं होता। उनकी वंशवृद्धि विभाग द्वारा होती है। इस प्रकार अणु जीव अपनी सन्तान के लिए अपने शरीर को त्याग देता है। इसी प्रकार आगे के उन्नत श्रेणी के जोड़े वाले जीव अपनी सन्तान के लालन-पालन के लिए स्वार्थ-त्याग करने में प्रसन्न होते हैं। इसी त्याग की प्रवृत्ति ने विकसित होकर कुल-धर्म का रूप धारण किया। कुल-धर्म में त्याग के साथ परस्पर साहाय्य की प्रवृत्ति भी आई,। एक ही पूर्वज से उत्पन्न अनेक परिवार इसी साहाय्य एवं हित की भावना से प्रेरित होकर कुलबद्ध होकर रहने लगे[3]। व्यक्ति के जिस कर्म से सबका हित या अहित होता था उसी हिसाब से उस कर्म की स्तुति या निन्दा होती थी। इस प्रकार कुल-धर्म की स्थापना हुई[4]। पहले एक कुल को स्वरक्षार्थ दूसरे कुलों से बहुत लड़ाई-भिड़ाई करनी पड़ती थी। अतएव आदिम काल में यह धर्म स्वरक्षार्थ ही था, पर व्यापक दृष्टि में[5]। जब एक स्थान पर कई कुलों के लोग रहने लगे और उनमें परस्पर आदान-प्रदान तथा साहाय्य की प्रवृत्ति बढ़ी तो उससे समाज की सृष्टि हुई। समाज को चलाने के लिये ज्ञान-बल, बाहु-बल, धन-बल एवं सेवा-बल की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही प्रवृत्ति, गुण एवं भावना के अनुसार भिन्न भिन्न लोगों को भिन्न भिन्न कार्य सौंपे गये। समाज-संचालन की सुविधा की दृष्टि से निश्चित किये गये इन गुण-कर्मों के आधार पर ही आगे चल कर वर्णों की रचना हुई[6]। इस प्रकार वर्णों की रचना सभ्यता के विकास के साथ साथ हुई, भगवान द्वारा नहीं। तात्पर्य यह कि शुक्ल जी का वर्ण-धर्म उनकी विकासवादी व्याख्या के अनुकूल है। त्याग, सहानुभूति, साहाय्य-वृत्ति, सामाजिकता आदि धर्म के सामान्य तत्वों का चरम विकास मनुष्य की सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ साथ क्रमशः समाज के आश्रय में लोक-धर्म के रूप में हुआ[7]।

लोक-धर्म के अनुकूल पड़ने वाले साहाय्य एवं त्याग वृत्ति को शुक्ल जी ने विकासवाद की व्याख्या में धर्म की उत्पत्ति बताते समय धर्म की मूल वृत्ति

१—वि० प्र० की भू० पृ० ६२.　　२— वही पृ० ९६.

३— वही पृ० ९२.　　४— वही पृ० ६३.

५— वही पृ० ६२.　　६—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ३६ के आधार पर।

७—विश्व-प्रपंच की भूमिका, पृ० ४१,९२,६६,६७ के आधार पर।

का खण्डन[1] उन्होंने 'विश्व-प्रपंच' की भूमिका में किया है। शुक्ल जी की दृष्टि में अन्तःकरण के विकास से ब्रह्म की धारणा का उद्भव मनुष्य के मन में हुआ[2]। भेद-दृष्टि से अभेद-दृष्टि की ओर क्रमशः उन्मुख होने वाले मानसिक विकास से सभी आस्तिक देशों में ईश्वर-सम्बन्धी भावना का विकास हुआ[3]। लोक-धर्म के साधक तत्वों—दया, प्रेम, सहानुभूति, त्याग, सौन्दर्य, शक्ति, शील, ज्ञान आदि के परम रूपों से उसका स्वरूप निर्धारित किया गया[4]। इस प्रकार शुक्ल जी की ईश्वर-सम्बन्धी धारणा भी विकासवाद के अनुकूल है।

शुक्ल जी की विकासवादीय व्याख्या से निकाला हुआ सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि अभेद दृष्टि ही सच्ची तत्व दृष्टि है[5]। ज्ञान और धर्म दोनों का लक्ष्य इसी अभेद दृष्टि की प्राप्ति है[6]। अभेद दृष्टि की प्राप्ति से लोक-धर्म का पालन सहज हो जाता है। शुक्ल जी ने विकासवाद के विवेचन द्वारा यह सिद्ध किया है कि लोकधर्म मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है और उसमें यह धर्म स्वाभाविक रूप में इसलिये विकसित हुआ क्योंकि उसका लालन-पालन बहुत दिनों तक उसके माता-पिता द्वारा होता है; और जो प्राणी बहुत दिनों तक माता-पिता के स्नेह के आश्रित रहते हैं, उनमें सहानुभूति और सामाजिक वृत्ति का विकास अधिक होता है। जैसे, बन्दर, वनमानुष, चींटी, मधुमक्खी आदि में। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संघ-बुद्धि अथवा लोक-धर्म का विकास इन जीवों में क्रमशः लाखों वर्षों की परम्परा के पश्चात् हुआ है[7]। अतः इस स्वाभाविक धर्म—लोक-धर्म का पालन न करना लाखों वर्ष पीछे जाना है; चींटी, कीट, पतंग आदि छोटे जीवों से भी अधिक निम्न योनि प्राप्त करना है।

शुक्ल जी के जीवन-सिद्धान्तों के मूलाधार:—

शुक्लजी के अंगी तथा अंग सिद्धान्तों के विवेचन के पश्चात् उनके मूलाधारों को जानना आवश्यक है। उनके अंगी सिद्धान्त लोक-धर्मका मूलाधार भारतीय वैदिक दर्शन ही है कोई विदेशी दर्शन अथवा आचार्य नहीं। क्योंकि शुक्ल जी का दृष्टिकोण क्या जीवन, क्या साहित्य—सर्वत्र अभिनवपरम्परावादी कोटि का है। वे अपने युग की समस्याओं का समाधान अपने देश के प्राचीन आदर्शों के पुनरुत्थान तथा पुनर्संगठन द्वारा करना चाहते हैं। इसलिये वे अपने

१—विश्व-प्रपंच की भूमिका पृ० १२१.   २— वही पृ० १४८:१४६ के आधार पर।
३— वही पृ० १४८, के आधार पर। ४—चिन्ता० प० भाग, पृ० ९२ के आधार पर।
५—विश्व प्रपंच की भूमिका   पृ० १५५.   ६—   वही   पृ० १५५.
७—विश्व-प्रपंच की भूमिका   पृ० ५९ के आधार पर।

जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों का आधार भारतीय प्राचीन दर्शन तथा संस्कृति से प्राप्त, करते हैं; किन्तु वे उसकी व्याख्या आधुनिक बौद्धिक ढंग से युग की समस्याओं के समाधानानुसार करते हैं। भारतीय संस्कृति अथवा दर्शन की सब से पुरानी परम्परा लोक-धर्म की है। जिसका आरम्भ वैदिक दर्शन से ही दिखाई पड़ता है[1]। वैदिक यज्ञ-कर्मों का लक्ष्य लोक-हित एवं लोक-रंजन ही रहता था[2]। वेदाज्ञा है कि यज्ञ के द्वारा स्वार्थ-त्याग पूर्वक अपने को समाज में, देश में, विश्व की सम्पूर्ण मानव-जाति में और सारे प्राणियों में मिला दो[3]। वैदिक स्तुतियां अधिकांशतः लौकिक थीं, उनमें देवताओं से उन भौतिक पदार्थों की याचना की गई है जिनसे लोक-कल्याण सम्पादित होता[4] है। ऋग्वेद में प्रकृति के सुन्दर एवं शिव-रूप का गान है। प्राकृतिक शक्तियों की देवताओं के रूप में कल्पना की गई है और उनसे लोकधर्म के सम्पादन में सहायक वस्तुओं की याचना की गई है[5]। वेदों में धर्म का बहुत व्यापक स्वरूप मिलता है[6]। ऋग्वेद के विवाह सम्बन्धी सूक्तों में गृह-धर्म तथा कुल-धर्म का, और अथर्ववेद के सामनस्य सूक्तों में गृह-धर्म एवं कुल-धर्म का ही नहीं वरन् समाज-धर्म और विश्व-धर्म तक का सुन्दर रूप मिलता है[7]। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में देश-धर्म का सुन्दर रूप मिलता है[8]। समाज-धर्म का सुन्दर रूप ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में मिलता है[9]। जिसमें हिन्दू समाज का विभाजन चार श्रेणियों में पारस्परिक सहयोग एवं सामंजस्य के आधार पर है। उक्त मंत्र में स्पष्टतः आलंकारिक भाषा में ब्राह्मण आदि चार वर्णों में परस्पर अंगांगि भाव के सम्बन्ध को बतलाया गया है। यजुर्वेद, तथा अथर्ववेद के अनेक मंत्रों में सब वर्णों के प्रति ममत्व बुद्धि और

१—क-पुमान पुमांस परिपातु विश्वतः। ऋग्वेद ६।६५।१४.
ख-मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।—
यजु० ३६।१८ ग—यांश्च पश्यामि न तेषु मासुमतिं कृधि।—अथर्व०-१७।१।७.
२—सूरदास—आचार्य शुक्ल, पृ० २३, भक्ति का विकास।
३—वैदिक साहित्य, पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, पृ० ३५ भूमिका
तथा— ऋग्वेद संज्ञान सूत्र। ४—पृथिवी सूक्त अथर्ववेद.
५-अग्नि सूक्त. इन्द्र सूक्त. उषा सूक्त.सूर्य सूक्त, वरुण सूक्त — अथर्ववेदवेद.
पृथ्वी सूक्त—अथर्ववेद.
६-ध्रुवां भूमिं पृथिविं धर्मणा धृताम्—अथर्ववेद— पृथिवी सूक्त १७.
७-ऋग्वेद—१०।८५।, २४, २७, ३२, ३६, ४२, ४६, ४७, अथर्व०—३।३०, १।३.
८-ऋग्वेद—१।६६।६, यजुर्वेद—२२।२२, अथर्व० - पृथिवी सूक्त - ६२.
९-ऋग्वेद—१०।९०।१२.

हित-भावना का वर्णन मिलता है[१]। उक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि वैदिक धर्म का प्राण-तत्व लोक-धर्म है। वेदों के पश्चात् वैदिक वाङ्मय में ब्राह्मण ग्रन्थों का स्थान है[२]। ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक आचार एवं विचार का विकास देखा जाता है। उनमें प्रतिपादित दया, दान, संयम, सत्य आदि नैतिक तथ्यों में लोक-धर्म सम्बन्धी गुणों का महत्व निरूपित किया गया है। इनमें अनेक स्थलों पर लोक-धर्म के अनेक साधक तत्वों शारीरिक श्रम, उद्योग शीलता, ज्ञान, अहिंसा, अतिथि-धर्म आदि की प्रशंसा की गई है[३]। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ, कर्म-काण्ड आदि में पहले लोक-धर्म की भावना प्रधान रूप से दिखाई पड़ती है। तदनन्तर उसके उत्तरकाल में यजमान तथा पुरोहित दोनों में स्वार्थ-बुद्धि से यज्ञ की ओर प्रवृत्त होने का संकेत मिला है[४]। वैदिक-वर्ण-व्यवस्था जो वैदिक काल में व्यक्ति के विशिष्ट गुण-कर्म, भावना, प्रवृत्ति आदि पर आश्रित थी वह उत्तर ब्राह्मण काल में जन्मानुसार रूढ़ हो गई[५]। ब्राह्मण ग्रन्थों की उक्त प्रकार की व्यक्तिवादी विचारधारा की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अद्वैत-प्रतिपादक तथा लोक-धर्म--प्रतिष्ठापक औपनिषद् धारा का उदय वेदान्त के रूप में हुआ[६]। उपनिषदों के साहित्य का वैदिक-धारा से घनिष्ठ सम्बन्ध है[७]। औपनिषद धारा में मुख्यतः वैदिक सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन नये ढंग से मिलता है[८]। उपनिषद काल में नृयज्ञ, भूत यज्ञ और पूर्त यज्ञ की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई[९]। व्यक्तिगत पुण्य एवं श्रेय के लिए यज्ञ करने वालों की कुत्सा की गई। वर्ण-व्यवस्था जन्मना न मानकर गुण, कर्म, भावना तथा प्रवृत्ति के आधार पर प्रतिपादित की गई[१०], किसी व्यक्ति की जाति, शक्ति, प्रवृत्ति एवं गुण के आधार पर घोषित की जाने लगी, जन्म के आधार पर नहीं। जगत के सत्यों एवं मूल्यों की प्रतिष्ठा लोक-धर्म के अधिकाधिक सम्पादन की दृष्टि से की गई। ब्रह्म के शाश्वत सत्य में विश्व-आधार खोजने

१—यजुर्वेद—१८।४८ अथर्ववेद — १९।६२।१.

२—भारतीय संस्कृति का विकास — वैदिक धारा — डा० मंगलदेव शास्त्री पृ० ६६.

३— वही — ब्राह्मणीय सूक्ति-मंजरी—पृ० २१५-२२४.

४—भारतीय दर्शन का परिचय — डा० रामानन्द तिवारी पृ० ७८.

५— वही पृ० ७६, ६–भारतीय संस्कृति का विकास—डा० मंगलदेव शास्त्री पृ०७४.

७— भारतीय संस्कृति का विकास — वैदिक धारा. पृ० १५६

८— वही पृ० १४०, ९—सूरदास-आचार्य शुक्ल, पृ० ८३.

10-Indian Philosophy. volume-I. by Dr. Radhakrishnan, P. 222-223.

की चेष्टा की गई[1]। उत्तर वेदांत की भाँति जगत मिथ्या नहीं माना गया। त्याग, उपकार, कल्याण की प्रशंसा की गई। नैतिक कर्म एवं आचार का महत्व उपनिषदों में प्रतिपादित किया गया। नैतिक आधार तथा वैराग्य मोक्ष के उपकारक माने गये। सर्वात्मभावपूर्वक लोक-संग्रहार्थ कर्म, मोक्षार्थी व्यक्ति के लिए वांछनीय कहा गया[2]। सत्, चित्, आनन्द के रूप में ईश्वर का निरूपण हुआ[3]। इस प्रकार उपनिषद काल में लोक-धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा हुई। इसके पश्चात् चार्वाक मत में अनियंत्रित भौतिक सुखवाद का समर्थन मिलता है[4]। भारतीय चिन्तन के विकास में इस मत का कोई महत्वपूर्ण योग नहीं है[5]। चार्वाक मत के पश्चात् जैन एवं बौद्ध मत का आविर्भाव नैतिक सामाजिक एवं जनवादी सांस्कृतिक आन्दोलनों के रूप में हुआ[6]। आज भी जैन एवं बौद्ध-परम्पराओं की मान्यता लोक-धर्म के रूप में ही अधिक है[7]। जैन और बौद्ध-धर्म की सफलता से वैदिक धर्म के नेताओं तथा अधिष्ठाताओं के सम्मुख वैदिक सिद्धान्तों के संरक्षण तथा जनता में वैदिक परम्परा के प्रचार की दुहरी समस्या उपस्थित हो गई। दार्शनिक दृष्टि से वैदिक धर्म को स्थायी बनाने के लिए, उसकी परम्परा को पुष्ट करने के लिए तथा उसके सिद्धान्तों को तर्क एवं न्याय की सुदृढ़ नींव पर स्थापित करने के फलस्वरूप ही विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ[8]। इस प्रकार षड् दर्शनों का वैदिक धारा से सम्बन्ध है।

सैद्धान्तिक विवेचन मनीषियों और विद्वानों की रुचि की वस्तु है। तद्विषयक तर्क और वाद से सामान्य जनता का विशेष प्रयोजन नहीं होता। जनता को धर्म और संस्कृति का एक जीवित तथा व्यावहारिक रूप चाहिए, जो उसके जीवन में विश्वास का आधार तथा पथ-प्रदर्शन का कार्य कर सके; अतएव वैदिक धर्म एवं संस्कृति का युग के अनुकूल तथा जीवन की नवीन अपेक्षाओं के अनुरूप नवीन व्याख्या करके जनता का उद्धार करना तत्व-विवेचन से भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य समझा गया। इसी आवश्यकता के फल स्वरूप वैदिक

१—सर्वंखल्विदंब्रह्म। सर्वंह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्मसो यमात्माचतुष्पाद।—
माण्डूक्योपनिषद्.

२—भारतीय दर्शन का परिचय, उपनिषद दर्शन. पृ० ६०

३—तैत्तिरीयोपनिषद. ४—संस्कृत-साहित्य का इतिहास बलदेव उपाध्याय, पृ० ६०२.

५—भारतीय दर्शन का परिचय, पृ० ६९. ६—भारतीय दर्शन का परिचय, पृ० १४६.

७— वही पृ० १४६. ८— वही पृ० १५१.

धर्म एवं संस्कृति को लोक प्रिय रूप देने का प्रयास ऐसे साहित्य के रूप में हुआ जिसमें वैदिक विचारों का सार और वैदिक संस्कृति की आत्मा सिन्निहित होते हुएभी उसका रूप सरल एवं सुग्राह्य है। यह महान साहित्य हमें स्मृति, पुराण, महाभारत, गीता, रामायण आदि के रूप में मिलता है[1]।

भारतीय दर्शन के उपयुक्त संक्षित इतिहास दिखाने का तात्पर्य यही है कि लोक-धर्म हमारे धर्म, दर्शन एवं संस्कृति का सबसे व्यापक एवं मूल तत्व रहा है। उसकी धारा भारतवर्ष में प्राचीनतम काल से ही कभी तीव्र कभी मन्द गति से बहती चली जा रही है। शुक्ल जी ने अपनी मूलग्राहिणी प्रवृत्ति के अनुसार इसी को अपना साध्य धर्म बनाया। इनका लोक-धर्म कोई नयी या विदेशी वस्तु नहीं है। व्यक्तिवाद का यह विरोध भी वैदिक काल से चला आ रहा है। यह मिलअथवा मार्क्स की देन नहीं है, यह दूसरी बात है कि यूरोप के अभिनव-परम्परावादी आलोचकों तथा मानवतावादी दार्शनिकों के अध्ययन से उनकी लोक-धर्म सम्बन्धी धारणा को पुष्टि तथा बल प्राप्त हुआ किन्तु इसे आधार मानना ठीक नहीं।

शुक्ल जी के लोक-धर्म का मूल दार्शनिक आधार देखने के पश्चात् अब यह जानना चाहिए कि उनके लोक-धर्म के विभिन्न अंग-धर्मों, अवयवों, पक्षों तथा अन्य सिद्धान्तों का आधार एवं प्रेरणा-भूमि कहां वर्तमान है। शुक्ल जी के ग्रन्थों में आये उद्धरणों से यह विदित होता है कि लोक-धर्म की सामग्री के संचयन में उन्हें वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद, स्मृतियों, पुराणों, गीता, रामायण महाभारत, रामचरितमानस, बुद्ध चरित, आदर्श जीवन, विश्व प्रपंच आदि ग्रन्थों से सहायता मिली। लोक-धर्म की सर्वाधिक प्रेरणा उन्हें तुलसी के राम-चरित मानस तथा गीता से मिली, क्योंकि लोक-धर्म के प्रतिपादन में उन्होंने तुलसी के मानस तथा गीता से सर्वाधिक उदाहरण उद्धृत किये हैं[2]। तुलसी और लोक धर्म तथा मानस की धर्म-भूमि नामक निबन्ध इस बात की पुष्टि करने में समर्थ हैं। गीता के श्लोक उनके निबन्धों तथा आलोचनाओं में लोक-धर्म की पुष्टि-हेतु यत्र तत्र अधिक संख्या में दिये गये हैं[3]। इसके पश्चात् वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों, स्मृतियों, पुराणों, संस्कृत के महाकाव्यों, बुद्ध चरित, आदर्श जीवन तथा विश्व प्रपंच का स्थान आता है।

१—भारतीय दर्शन का परिचय, पृ० १६२

२—गो० तुलसीदास, पृ० २८, ३३, ३४, ३५ और चि० प्र० भा०, पृ० ५०, ५६, ५७, २२६, २८७, २८१.   ३—चिन्तामणि प्र० भा०, पृ० ११, ५०.

शुक्ल जी के अन्य सिद्धान्तों की प्रेरणा-भूमि तथा उनका अधार:—

शुक्ल जी ने गृह-धर्म एवं कुल-धर्म का विवेचन 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक पुस्तक की मानस की धर्म-भूमि तथा लोक-धर्म नामक अध्याय में किया है। उनकी अनूदित पुस्तक आदर्श जीवन में भी गृह-धर्म का विवेचन पारिवारिक जीवन नामक अध्याय में मिलता है[1]। कुल-धर्म की भावना का विकास विश्व-प्रपंच की भूमिका में दिखाया गया है[2]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके गृह-धर्म एवं कुल-धर्म सम्बन्धी विचारों का प्रधान स्रोत रामचरित मानस है[3]। सम्भव है इनके कतिपय विचार स्माइल्स तथा हैकल की पुस्तकों से भी इन्हें प्राप्त हुए हों। ऋग्वेद के विवाह सम्बन्धी सूक्तों तथा अथर्ववेद के सामनस्य सूक्तों में गृह-धर्म तथा कुल-धर्म का सुन्दर रूप मिलता है। ये मंत्र धर्म-परायण सुशिक्षित हिन्दू घरों में विशेषतः ब्राह्मण घरों में विवाह, विशिष्ट व्रत तथा उत्सव सम्बन्धी प्रीति-भोज आदि के अवसरों पर सुस्वर ढंग से गाये जाते हैं। उनके ग्रन्थों में भी ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के उद्धरण आये हैं। अतः शुक्लजी को इन इवं मंत्रों को पढ़ने एवं सुनने का अवसर अवश्य ही मिला होगा। अतएव यह अनुमान लगाना सरल है कि गृह-धर्म एवं कुल-धर्म की कुछ सामग्री उन्हें वैदिक ग्रन्थों से भी मिली होगी। स्रोत की स्पष्टता के लिए कुछ सूक्त नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ ऋग्वेद १०।८५।३६।
"समंजन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।" ऋग्वेद १०।८५।४७.
"ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि। ऋग् १०।८५।२४.
"अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।" ऋग्वेद १०।८५।२७,
"मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती। सुगेभिर्दुर्गमतीताम्...
ऋग्वेद० १०।८५।३२.

"सं गच्छध्वं सं वद्ध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥" ऋग्वेद—१०।१६१।२.

"समानो मन्त्र. समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।" ऋग्वेद—१०।१६१।३

१—आदर्श जीवन, पहला प्रकरण. २—विश्व प्रपंच की भूमिका, पृ० ६३.

३—सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु-मातु-बचन अनुरागी॥
तनय मातु-पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
अयोध्याकांड-३७। ९-८.

"सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जात मिवाघ्न्या। अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्। मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥" अथर्ववेद—२।३०।१-३.

शुक्ल जी के अङ्ग-धर्म के विवेचन के प्रसंग में हम यह सिद्धकर चुके हैं कि उनके समाज-धर्म का मूलाधार वेदान्ती वर्ण-व्यवस्था है। अतः पुनरुक्ति से बचने के लिए केवल उसके स्रोत सम्बन्धी वैदिक सूक्त नीचे उद्धृत कर दिए जाते हैं।

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥" ऋग्वेद—१०।९०।१२.

"रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥" यजुर्वेद—१८।४८.

"प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत् उत शूद्र उतार्ये॥" अथर्ववेद—१९।६२।१.

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याम् शूद्राय चार्याय च......॥" यजुर्वेद—२६।२.

"समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥" ऋग्वेद—१०।१९१।४.

यद्यपि शुक्ल जी की देश-भक्ति उनके प्रकृति एवं संस्कृति-प्रेम पर आधारित है किन्तु उसके विचारों का स्रोत वैदिक-ग्रन्थों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ—

"यतेमहि स्वराज्ये।" ऋग्वेद—५।६६।६.

"उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुःप्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम॥" अथर्ववेद—पृथिवी सूक्त ६२.

"आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धि-र्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्॥" यजुर्वेद—२२।२२.

आचार्य वाजपेयी जी के अनुसार शुक्ल जी के प्रवृत्ति-निवृत्ति संबन्धी विचार 'रामचरित मानस' के आदर्शों को लेकर चले हैं[1]। राम के शील सम्बन्धी गुणों एवं विशेषताओं से उनकी प्रवृत्ति का आदर्श निर्मित हुआ है

१—हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी—पृ० ८६.

तथा रावण के चरित्र संबंधी गुणों से उनकी निवृत्ति का। उनके द्वारा प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का समन्वय गीता के आधार पर निर्मित हुआ है[१]।

शुक्ल जी ने गोस्वामी तुलसीदास के लोक-धर्म के विवेचन के प्रसंग में प्रारंभ में ही यह बतलाया है कि कर्म, ज्ञान और उपासना—लोक-धर्म के तीन अवयव जन-समाज की स्थिति के लिए बहुत प्राचीन काल से भारत में प्रतिष्ठित हैं[२]। आगे के विवेचन में भी उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों आदि में भी लोक-धर्म के ये तीनों अवयव पाये जाते हैं[३]।

रामचरित मानस में उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि गोस्वामी जी ने तीनों अवयवों के सामंजस्य का प्रयत्न किया है[४]। शुक्लजी की उक्ति से प्रत्यक्ष रूप में यह प्रमाणित होता है कि कर्म, ज्ञान एवं उपासना का निरूपण लोक-धर्म के अवयव रूप में उन्हें प्राचीन भारतीय दर्शन से प्राप्त हुआ[५]।

अब शुक्ल जी द्वारा निरूपित लोक-धर्म के इन तीन अवयवों में से प्रत्येक के आधार पर विचार करना चाहिए। शुक्लजी का कर्म-सिद्धान्त मुख्यतः गीता पर आधारित है। गौण रूपमें उपनिषद, मानस तथा अन्य आर्य ग्रन्थों का आधार लिया गया है। कर्म-सिद्धान्त का नैतिक पक्ष मुख्यतः गीता तथा मानस के आधार पर, गौण रूप में वेद, उपनिषद, महाभारत आदि के आधार पर है।

"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्।"—गीता—१६।२१.

"सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यों हमारो मन मोहैं।"—कवितावली।

लोकनीति और मर्यादावाद——गोस्वामी तुलसीदास—आचार्य शुक्ल,

"परि माग्ने दुश्चरिताद्बा धस्वा मा सुचरिते मज।" यजु०—४।२८.

तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षा बल्ली——ग्यारहवाँ अनुवाक।

"अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम्।" —वनपर्व——२०६।७३.

कर्म-सिद्धान्त का बौद्धिक पक्ष मुख्यतः गीता तथा उपनिषद् के आधार पर तथा गौण रूप से शतपथ के आधार पर निर्मित हुआ है। व्याख्या में आधुनिक बुद्धिवाद का सहारा लिया गया है।

"ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना। करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥" – गीता—१८।१८.

१—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २४. गीता १८।३०, २—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २१.
३— वही पृ० २१. ४— वही पृ० २२. ५—अभिभाषण पृ० ५४.

"अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितमन्यमानाः ।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥८॥ मुण्डकोपनिषद् ।

न ह्ययुक्तेन मनसा किंचन संप्रति शक्नोति कर्तुम् । श०—ब्रा—६।३।१।१४.

शुक्ल जी के कर्म-सिद्धान्त का भावात्मक पक्ष मुख्यतः गीता तथा मानस के आधार पर निर्मित हुआ है ।

"गीता... १७। ३।१३।१७।२८.: ६।३.
अश्रद्धया हुतं दत्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ "१७।२८. गीता ।

मानस—केवट, भरत, सेवरी, हनुमान आदि पात्रों के सम्वादों तथा कार्यों में भावना की उत्कृष्ट कोटि की सचाई वर्तमान है ।

उनके कर्म का मर्यादा तत्व मुख्यतः मानस, गीता तथा चाणक्य के नीति-शास्त्र पर अवलंबित है ।

"प्रेम पुलकि केवट कहि नामू । कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू ॥
राम सखा ऋषि बरबस भेंटा । जनु महि लुटत सनेह समेटा ॥
भरत विनय सारद सुनिय करिय विचार बहोरि ।
करब साधुमत, लोकमत नृपनय निगम निचोरि ॥"—मानस—अयोध्याकांड ।
"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥ षष्ठोऽध्यायः गीता ।
"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥१६।२३. गीता ।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ "१६।१४.गीता ।
"व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥" अर्थशास्त्र, कौटिल्य ।

शुक्ल जी की फल की अनिवार्यता मुख्यतः गीता तथा गौण रूप में मानस, मनुस्मृति, महाभारत आदि के आधार पर है ।

"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥५।१४. गीता ।
"नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।" ५।१५. गीता ।
"कर्म प्रधान विस्व करि राखा । जो जस करहिं सो तस फल चाखा ॥मानस॥
...मनु०......४।१७३.   महा०.. ८०।२ आदि पर्व ।
महा०......१२६।२, २२१।४८,४६. शान्ति पर्व ।

शुक्ल जी के कर्म-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त मुख्यतः गीता के आत्म-स्वातन्त्र्य तथा गौण रूप से वेदान्त सूत्र के प्रवृत्ति-स्वातन्त्र्य पर अवलम्बित है। योग-वासिष्ठ एवं ऋग्वेद के कर्म-स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विचारों का प्रभाव भी शुक्ल जी के कर्म-स्वातन्त्र्य पर गौण रूप में दिखाई पड़ता है।

"उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ६।५. गीता.
वेदान्द सूत्र...२, ३, ४०, ४१. योग-वासिष्ठ...२, ४, ८.
ऋग्वेद...४।३३–११.

शुक्लजी के कर्म-सिद्धान्त का लोक-धर्मी-स्वरूप मुख्यतः गीता तथा मानस से तथा गौण रूप में वैदिक ग्रन्थों, महाभारत, मनुस्मृति आदि से लिया गया है।

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥" ३।२०. गीता।
"परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥" मानस।
"इन्द्रेण मन्युना वयमभिष्याम पृतन्यतः।
घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति॥ अथर्ववेद– ७।६३।१.
"धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥" म० भा० कर्ण...६६.५६.
"मनु०...१।१०८. ४।१७६. २।१२.।

शुक्ल जी के कर्म-सिद्धान्त में फलासक्ति-हीनता का स्रोत गीता है।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥"२।४७. गीता. और ३।६.५।१२.

शुक्ल जी के कर्म-सौन्दर्य की उपासना का स्रोत भी गीता ही है।

"तपस्विभ्योऽधिकोयोगीज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिकोऽयोगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥" ६।४६. गीता.

उनके कर्म-सिद्धान्त-गत उत्साह-तत्वका स्रोत भी गीता में दिखाई पड़ता है।

"मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विक उच्यते॥" १८।२६.

शुक्ल जी की शिक्षा अथवा ज्ञान का उद्देश्य—अन्तःकरण की सभी शक्तियों का विकास; जीवन में सब अर्थों की सिद्धि तथा इस लोक में जीवन की सब प्रकार की सफलता आर्य ग्रन्थों के आधार पर निर्मित है।

सभी शक्तियों के विकास का स्रोतः—

"तदर्थस्वीय शक्तीनांविकासः संचयस्तथा।

श्रमेण तपसा वृत्तिः संयमेन पुरस्कृता ॥"१०॥ 'रश्मिमाला से उद्धृत।'

जीवन में सब अर्थों की सिद्धि का स्रोत.—

"ब्रह्मचर्येण सर्वोऽर्थः सिद्धो भवति भूतले" ॥४॥ रश्मिमाला से उद्धृत।

जीवन में सफलता का स्रोतः—

जीवनं वै महान् यज्ञस् तस्य सिद्धय् मनीषिभिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यादौ ग्रहणमुपदिश्यते ॥ १ ॥ रश्मिमाला से उद्धृत।

उनके ज्ञान का लौकिक स्वरूप उपनिषद की अपरा विद्या के आधार पर[1] तथा उसका समष्ट्यात्मक व्यापक स्वरूप भारतीय आर्ष-ग्रन्थों[2] के आधार पर प्रतिष्ठित है। उनके ज्ञान का अद्वैत तथा लोक-धर्मी स्वरूप मूलतः गीता[3] तथा वैदिक[4] ग्रन्थों में मिलता है। शुक्ल जी के ज्ञान का नैतिक तथा कर्म-परक स्वरूप उपनिषद,[5] गीता[6] तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों[7] के आधार पर बना है। इनके भाव-समन्वित ज्ञान का स्रोत ब्राह्मण तथा उपनिषदों में मिलता है[8]।

शुक्ल जी के ग्रन्थों में आये उद्धरणों तथा उनकी प्रत्यक्ष उक्तियों से सिद्ध उनकी भक्ति-धारणा के विभिन्न तत्वों के स्रोत निम्नांकित ग्रन्थों से लिए जान पड़ते हैं। उनकी सगुण-उपासना का स्रोत सूरदास पुस्तक[9] में अंकित उनकी उक्तियोंके आधार पर ऋग्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद, महाभारत, गीता तथा

१—" विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तंछन्द ज्योतिषमिति ।" ४।५. प्रथम अध्याय. मुण्डकोपनिषद् ।

२—"समष्टिरूपं यद्ब्रह्म तद्रूपं ज्ञानमेव यत्। ताभ्यां सायुज्यसंपत्यं ब्रह्मचारी प्रदेप्सति ॥७॥" रश्मिमाला से.

३—"सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ॥ अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥"—गीता,–१८।२०.

४—"ब्रह्मचारी—श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।" अथर्व० ११।५।४.

५.—तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा वल्ली–।

६—गीता—४।२४, ४।३३.

७-अ–"यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ॥ यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्— गीता–१८।५.

ब—शास्त्राण्यधीत्य भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् स एव पण्डितः ॥

८—ब्राह्मण, उपनिषद । सूरदास—आचार्य शुक्ल. पृ० १३ के आधार पर।

९—सूरदास:शुक्ल जी पृ० ९, १०, २२, २५. की उक्तियों के आधार पर।

गोस्वामी तुलसीदास पुस्तक[१] एवं 'गोस्वामी जी और हिन्दू-जाति' नामक कविता[२] के आधार पर रामचरित मानस आदि ग्रन्थों में अनुमित होता है।

शुक्ल जी की दृष्टि में भक्ति-भावना का प्रादुर्भाव लोभ, भय और कृतज्ञता नामक भावों से होता है। उनके मतानुसार सात्विक भक्ति-भावना के प्रादुर्भाव का मूल आधार कृतज्ञता नामक भाव है। उनकी इस धारणा का स्रोत ऋग्वेद के प्रकृति-उपासना संबन्धी सूक्तों में मिलता है[३]। शुक्ल जी की भक्ति-साधना का आधार रागात्मिका वृत्ति है। उनके इस विचार का स्रोत गीता, मानस, भागवत-धर्म तथा वैष्णव-भक्ति मार्ग में मिलता है[४]।

मूलाधार—"क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥" १२।५. गीता।

शुक्ल जी द्वारा निरूपित उपास्य की व्यापक भावना मन के बाहर और भीतर दोनों ओर ब्रह्म को देखने का विचार उपनिषद्, महाभारत, गीता, भागवत पुराण तथा मानस के आधार पर है[५]।

मैत्रायण्युपनिषद्–४।१२।१३. मैत्र्युपनिषद्–७।७.
गीता—अध्याय १०। महाभारत—२३८।२१. २३६।२२ शान्ति पर्व.
अश्व—५५. वन. ६६. उ. १३०.
जय सगुन निर्गुन रूप राम अनूप भूप सिरोमने।—मानस।

शुक्ल जी की उपासना में उपास्य के लिए उपासक के व्यक्तित्व-योग वाला सिद्धान्त उपनिषद के आधार पर है[६]।

छान्दोग्य—३।१६।१७.

शुक्ल जी की भक्ति के लोक-धर्मी स्वरूप, समष्टि के साथ सामंजस्य-भावना अभ्युदय एवं निःश्रेयस सम्पादक कर्तव्य-बुद्धि का मूल स्रोत गीता तथा मानस है[७]।

लोक-धर्मी स्वरूप का स्रोत—

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः॥ १२।४. गीता.

समष्टि के साथ सामंजस्य-भावना का स्रोत—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एवच। १२।१३. गीता.

१—गोस्वामी तुलसीदास—शुक्ल जी—तुलसी की भक्ति-पद्धति. पृ० २-४, ६-११.
२—माधुरी (अगस्त) १६२७ ई०. ३—सूरदास आचार्य शुक्ल पृ० ८.
४—सूरदास पृ० ३६-३८ की उक्तियों पर। ५— वही पृ० १४,१७,१८,४१,४२.
६— वही पृ० ९६. ७—गोस्वामी तुलसीदास पृ० १४,१७,१८,२३,२७.

..................मद्भक्तः स मे प्रियः। १२।१४. गीता।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः। ७।१९. गीता।

कर्त्तव्य-बुद्धि का स्रोत—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।॥ १८।४६. गीता।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥१८॥४५. गीता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन। १८।६. गीता।

शुक्ल जी की उक्ति से यह स्पष्ट है कि इनकी भक्ति-धारणा में कर्म एवं ज्ञान के समन्वय का मुख्य आधार गीता है[1]।

गीता रहस्य-(हिन्दी अनुवाद)-तिलक-पृ०४१७. अनुवादक माधव राव सप्रे।

शुक्लजी की भक्ति एव शीलके सम्बन्ध का प्रमुख स्रोत तुलसीकी भक्ति-धारणा है। शील-साधना और भक्ति नामक अध्याय इसे स्पष्ट करने में समर्थ हैं[2]।

कबहुक हौं यहि रहनि रहौंगो।

श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो।

शुक्ल जी की भक्ति के लौकिक स्वरूप का आधार गीता, भागवत एवं मानस से लिया गया है[3]। आचार्य शुक्ल द्वारा निरूपित नवधा-भक्ति का स्रोत भागवत पुराण है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्। ७ ५।२३.

शुक्लजी द्वारा भक्ति को योग से श्रेष्ठ कहने का स्रोत गीता, भागवत, मानस में मिलता है[4]।

शुक्ल जी के भक्ति-मार्ग में गृहीत अभिव्यक्तिवाद का मूल स्रोत गीता एवं उपनिषद् हैं। गीता—१०.वां अध्याय.

सोऽकामयत्। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत्। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत।—तैत्तिरीयोपनिषिद. ब्रह्मानन्द वल्ली।

सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव।

समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति ॥—छान्दोग्योपनिषद्।

१—सूरदास आचार्य शुक्ल पृ० ८५.

२—गोस्वामी तुलसीदास आचार्य शुक्ल; शील-साधना और भक्ति पृ० ५०.

३—सूरदास आचार्य शुक्ल पृ० ३,१४, ६९. ८२. ८४. ४— वही पृ० ३१.

अवतार सिद्धान्त के विवेचन में शुक्लजी द्वारा उद्धृत श्लोक से यह विदित होता है कि उनकी अवतारवादी धारणा का मूल स्रोत गीता है।[1]

शुक्ल जी द्वारा निरूपित ईश्वर का सत्, चित्, आनन्द-स्वरूप उपनिषद् के आधार पर है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। २।१. तैत्तिरीयोपनिषद्।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ॥ ३।९।२८. वृहदारण्यक उपनिषद।

शुक्लजी के विचारानुसार भेद से अभेद दृष्टि के विकास द्वारा मनुष्य में ईश्वर सम्बन्धी धारणा का उद्भव हुआ। सूरदास पुस्तक में अंकित उनकी उक्तियों से यह स्पष्ट विदति होता हैं कि ईश्वर सम्बन्धी उनकी इस धारणा का स्रोत ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण एवं उपनिषद है[2]।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्ससु पर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं, यमं, मातरिश्वानमाहुः ॥
ऋग्वेद–१–२।१६४–६४.

तदेव शुक्रं तद् ब्रह ता आपः स प्रजापतिः। यजुर्वेद—३२।१.

त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः।
त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः ॥
त्वं मनुस्त्वं यमश्च त्वंपृथिवीत्वमथाच्युतः।
स्वार्थे स्वाभाविकेऽर्थे च वहुधा तिष्ठते दिवि ॥—मैत्रायण्युपनिषत्-४।१२-१३

लोक-धर्म के साधक तत्वों के परम रूप में ईश्वर की कल्पना यजुर्वेद, उपनिषद, गीता तथा मानस के आधार पर है। मुख्य आधार गीता का विभूतिवाद है।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि वलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि। यजु०-१९।९.

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर। छान्दोग्य—३–१४–२.

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः गीता—१०।५ः

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ गीता – १०।४१.

मानस—रामावतार का उद्देश्य तथा राम-राज्य वर्णन।

शक्ति–अधिष्ठान तथा चैतन्य रूप में आत्मा का निरूपण एवं विशुद्ध द्रष्टा तथा साक्षी रूप में उसका स्वरूप कथन वेदान्त तथा तैत्तिरीय भाष्य के आधार पर है[3]

१–चिन्तामणि, प० भा० पृ० ५०, २–सूरदासःआचार्य शुक्ल, पृ० ७.११,१२,१५-१७.
३–विश्व प्रपंच की भूमिका', पृ० १२७, १३२, १३६.

प्राकृतिक व्यापार शुद्ध चैतन्य के लक्षणाभास हैं। इसकी धारणा भी तैत्तिरीय भाष्य के आधार पर है[1]।

अक्षरमव्याकृतं नामरूपवीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्मम्। —शंकरभाष्य। विश्व-प्रपंच की भूमिका—पृ० १३४. पर उद्धृत।

सर्व विशेषप्रत्यस्तमित स्वरूपत्वात् ब्रह्मणो ब्राह्मसत्तासामान्यविषयेण "सत्य" शब्देन लक्ष्यते—तैत्तिरीय भाष्य। वि०प्र० की भूमिका,पृ०—१३२ पर उद्धृत

शुक्ल जी का जगत को सत्य मानने वाला सिद्धान्त उपनिषद् के "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" के आधार पर बना है। धर्म का अभ्युदय एवं निश्रेयस सम्पादित करने वाला तथा सबको धारण करने वाला स्वरूप कणाद तथा व्यास की धारणा के आधार पर निर्मित हुआ है। सब धर्मों की एकता का सिद्धान्त उन्हें गीता से मिला।

यतोऽभ्युदयनिश्रेयस्सिद्धिः स धर्म—वैशेषिक सूत्र—१।२ कणाद।

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मोधारयते प्रजा।—महाभारत—६६।५६ कर्ण पर्व।

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।

कर्मणा मनसा वाचा स धर्म वेद जाजले॥—व्यास।

सब धर्मों की एकता का स्रोत—

येऽप्यन्य देवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः। तेऽपिमामेव, कौन्तेय यजंत्य-विधिपूर्वकम्। 'विश्व-प्रपंच' की भूमिका —पृ० १५४ पर उद्धृत।

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्। वि० प्र० की भूमिका—पृ० १५५ पर उद्धृत।

शुक्ल जी की मोक्ष-धारणा जीवन-मुक्ति की है, जिसकी प्राप्ति लोक-धर्म सम्बन्धी कार्यों से बताई गई है॥ हिन्दू-चिन्तन में जीवन मुक्ति के तीन साधन माने गये हैं—कर्म, ज्ञान तथा भक्ति। इनमें से शुक्ल जी ने जीवन-मुक्ति के लिए कर्म अर्थात लोक-धर्म सम्बन्धी कार्यों को ही स्वीकार किया है। शुक्ल जी की इस मोक्ष-धारणा का मूलस्रोत गीता के मोक्ष-सम्बन्धी श्लोकों में मिलता है। 'गोस्वामी तुलसीदास' में अंकित उनकी उक्ति[2] से यह स्पष्ट विदित होता है कि उनकी मोक्ष-धारणा पर तुलसी की मोक्ष-धारणा का भी कुछ प्रभाव पड़ा है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥ गीता—१८।४७

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वधर्म निरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥—गीता—१८।४५.

१—विश्व प्रपंच की भूमिका पृ० १३२. २—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ५८.

आदि ग्रंथों में मिलता है। इस धारणा में वे जगदीशचन्द्र बसु से भी प्रभावित है[1]। शुक्ल जी के अनुसार प्रकृति के बीच दिखाई देने वाली सारी दीप्ति उसी विभूति-शाली ईश्वर के कारण है। इस विचार का स्रोत गीता का दशम अध्याय[2] है। शुक्ल जी के अनुसार प्रकृति व्यवस्था एवं नियमों से आबद्ध है। इस विचार का स्रोत अथर्ववेद है:—

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवा स्योनामनु चरेम विश्वहा॥ अथर्ववेद: पृथिवीसूक्त १७.

उनके द्वारा प्रकृति का धर्ममाता के रूपमें निरूपण अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त के आधार पर है।

यत् ते मध्ये पृथिवी यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवः।
तासु नो धेह्यभिः नः पवस्य माता भूमिः पुत्रोऽअहंपृथिव्याः १२.

उन्होंने प्रकृति-सम्पर्क का प्रभाव-निरूपण जीवन दान देने, सामाजिक दृष्टि बढ़ाने, व्यापक आनन्द प्रदान करने, नैतिक-शिक्षण देने तथा शक्ति एवं सम्पत्ति-वर्धन करने के रूप में किया है। इसमें वैदिक मंत्रों, एवं वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, तुलसी आदि भारतीय कवियों तथा एडिसन, वर्डस्-वर्थ, रस्किन आदि अंग्रेजी कवियों का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

प्रकृति के विशाल रूप मनुष्य को विकृति के बनावटी एवं संकुचित घेरे से निकाल कर उसे व्यापक एवं उदार बनाने में समर्थ हैं; प्रकृति के विभिन्न रूपों में मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को बताने वाले आन्तरिक भावों को जगाने का सामार्थ्य है तथा प्रकृति-सौन्दर्य में वैज्ञानिक-अनुसंधानों की विद्रूपमयी शक्ति से त्राण दिलाने की शक्ति है। शुक्ल जी के प्रकृति सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों में वर्डस्वर्थ का प्रभाव सर्वाधिक मात्रा में दिखाई पड़ता है[3]। अव्यक्त मूल-प्रकृति से जगत की सृष्टि हुई। प्रकृति के क्रमागत विकारों से नाना प्रकार के शरीर संघटित हुए। प्रकृति सम्बन्धी शुक्ल जी की उपर्युक्त धारणा का स्रोत सांख्य है[4]। शुक्ल जी के अनुसार विकास-सिद्धान्त दार्शनिक अनुमान के रूप में बहुत प्राचीन काल से पूर्व और पश्चिम दोनों देशों में चला जा रहा है। पर दार्शनिकों ने केवल संकेत दिया था और वह भी अनुमान के रूप में, किन्तु वैज्ञानिकों ने प्रत्येक ब्यौरे की छानबीन की है[5]। इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी को विकास-सिद्धान्त के निरूपण में भारतीय दार्शनिकों तथा आधुनिक वैज्ञानिकों

१-विश्व प्रपंच की भूमिका पृ० ३६. २—यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् १०।४१
३—रस मीमांसा: आचार्य शुक्ल पृ० ११६. के आधार पर।
४—विश्व प्रपंच की भूमिका, पृ० २९ के आधार पर। ५—वही, पृ० २८ के आधार पर।

दोनों के विचारों से सहायता मिली है। महाभूत की साम्यावस्था भङ्ग होने पर कुछ द्रव्य तो अरणवात्मक ग्राह्य रूप में आ जाते हैं कुछ सूक्ष्म होकर अपने अग्राह्य एवं अखण्ड रूप में ही रहते हैं जिसे ईथर कहते हैं। ईथर में भँवर पड़ने पर विद्युदणुओं का विधान होता है। विद्युद्णुओं के परस्पर मिलने से परमाणु, परमाणुओं के परस्पर मिलने से अणु, अणुओं के परस्पर मिलने से पिण्ड बनते हैं। शुक्लजी की उक्ति से विदित है कि विकास सम्बन्धी उपर्युक्त विचार उन्हें हैकल से मिले हैं[१]। परमाणुओं तथा द्रव्यों में गति-शक्ति का अधिष्ठान है। गति-शक्ति अपनी आकर्षण एवं अपसारण चाल से जगत की स्थिति को संभाले हैं, जगत की अनेक रूपता इसी के कारण है। शक्ति की यही दो मुहीं चाल सौर जगत के ग्रह, उपग्रह तथा नक्षत्रों को अपने पथ पर रखकर चक्कर खिलाती है। शुक्ल जी के इन उपर्युक्त विचारों का स्रोत आधुनिक भौतिक विज्ञान है[२]। शुक्ल जी द्वारा परमाणुओं की प्रकृति एवं परमाणुओं तथा मूलभूतों के सम्बन्ध का निरूपण वैशेषिक तथा आधुनिक रसायन शास्त्र के आधार पर है[३]। विभिन्न परमाणुओं के मिलने से विभिन्न पदार्थों की सृष्टि वैशेषिक तथा भौतिक-शास्त्र के आधार पर है[४]। विकास परम्परा में भूतों की उत्पत्ति का क्रम आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायुसे अग्नि, अग्नि से जल और जलसे पृथ्वी तैत्तिरीयोपनिषद् के आधार पर है[५]। शुक्ल जी को वश-परम्परा और प्राकृतिक-ग्रहण से जात्यन्तर परिणाम की धारणा मान्य है। उनकी इस धारणा के निर्माण में पातंजलि के योग-दर्शन तथा हैकल एवं डारविन के विचारों का योग है[६]। आचार्य शुक्ल के अनुसार इस पृथ्वी पर एक ढांचे तथा एक गुण वाले जीव से दूसरे ढांचे वाले तथा दो गुण वाले जीव, दो गुण वाले से तीन गुण वाले तथा तीसरे ढांचे वाले जीव लाखों वर्ष की मृदु परिवर्तन परम्परा के प्रभाव से उत्पन्न हुए[७]। शुक्ल जी के इस विचार का स्रोत हैकल एवं डारबिन हैं[८]। शुक्लजी के मतानुसार निर्जीव से सजीव की उत्पत्ति हुई। जीवन-तत्व की उत्पत्ति में अन्य परमाणुओं की अपेक्षा जल-परमाणुओं का सबसे अधिक हाथ है। इस विचार का स्रोत अध्यापक शेफर के तत्संबंधी विचारों में मिलता है[९]। शुक्ल जी का कहना है कि इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियां, तथा अन्तःकरण भी विभिन्न प्रकार के परमाणुओं के मिलने से बनें[१०]।

१—विश्व-प्रपंच की भूमिका: आचार्य शुक्ल पृ० १६. के आधार पर।
२— वही पृ० १४ के आधार पर। ३— वही पृ० ९. ४— वही पृ० ६.
५— वही पृ० १६. के आधार पर। ६— वही पृ० २६,२७.
७— वही पृ० ३० के आधार पर, ८— वही पृ० ३०,२६,२५.
९— वही पृ० ३२ के आधार पर। १०— वही पृ० ५३,५४,५५. के आधार पर।

इस विचार का स्रोत हैकल की विश्व प्रपंच नाम पुस्तक है[१]। उनके मत में इस विकास-क्रम के अनुसार मनुष्य जाति भी पूर्व युग के उन जीवों से मिलते जुलते जीवों से उत्पन्न हुई जिनसे बन्दर तथा बनमानुष उत्पन्न हुए[२]। मनुष्य में भाषा, भाव, धर्म, ज्ञान, आचरण तथा सभ्यता का विकास धीरे धीरे समाज की उन्नति के साथ हुआ।[३] उक्त विचार शुक्ल जी को डारविन से मिले[४]। शुक्लजी द्वारा निरूपित विकासवाद की परिभाषा का मूलस्रोत स्पेन्सरके तत्सम्बन्धी विचार हैं किन्तु वहां भी शुक्लजी अपनी मौलिकताका परिचय दिये बिना नहीं रहते[५]। हर्बर्ट स्पेन्सर भौतिकवादी है। वह भूत-शक्ति के परे नित्य चेतन सत्ताओं को नहीं मानता। शुक्ल जी विकासवाद को मानते हुए भी नित्य चेतन सत्ता में विश्वास करते हैं जो भौतिक शक्तियों से परे एवं स्वतन्त्र है। वह शुद्ध, द्रष्टा, साक्षी तथा अकर्ता मात्र है। उसी में शक्तिका अधिष्ठान है। आत्मा सम्बन्धी उक्त धारणा उन्होंने वेदान्त तथा गीता से ली है[६]। प्रकृति के स्फुरण व्यापार में शुद्ध चैतन्य के आभास मात्र वाली धारणा उन्हें तैत्तिरीय भाष्य से प्राप्त हुई है[७]। शुक्ल जी हैकल के समान निरे भूतवादी नहीं हैं। वे संसार का मूल कारण, प्रकृति की विकृति का कारण तथा परमाणुओं की गति-शक्ति का स्रोत विश्वात्मा अथवा चैतन्य में निरूपित करते हैं। हैकल चैतन्य को द्रव्य का एक परिणाम मानता है। उसके मतानुसार आत्मा शरीर-धर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उसका विकास अन्य भौतिक गुणों के समान ही होता है[८]। अतः चेतना या आत्मा एक भौतिक शक्ति है[९]। संसार का मूल कोई अप्रमेय सत्ता नहीं। भूत, द्रव्य एवं गति-शक्ति द्वारा ही जगत का सम्पूर्ण विकास होता है। इस प्रकार हैकल आदि भौतिकवादी वैज्ञानिक भौतिक शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता को नहीं मानते, किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में जगत की रचना का मूल नियन्ता विश्वात्मा है जो समष्टि का उद्देश्य—विधान करता है। इसी उद्देश्य द्वारा समस्त भौतिक क्रियायें प्रेरित होती हैं। समष्टि के उद्देश्य-विधान के निरूपण का स्रोत वेदान्त है[१०]।

१— वही पृ० ५३-५४ के आधार पर।
२— वही पृ० ६८ के आधार पर। ३— वही पृ० ६१-६३, ६६, ६७.
४— वही पृ० ६६. ५— वही पृ० १०६.
६— वही पृ० ८८ तथा १११. ७— वही पृ० १३२.
८— वही पृ० ७४, ८४. ९— वही पृ० ८६.
१०— वही पृ० १०४.

ी उक्त परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष लगाते हैं उनका भ्रम

को हृदय की मुक्तावस्था मानते हैं[1]। हृदय की

आचार्य शुक्ल के [ने] का कारण यह है कि शुक्ल जी साहित्य में

नियों में भी रसदशा मानते हैं[2]। बस, उसके

पर उनके समीक्षा-[i] हृदय को मुक्तावस्था में ला दे[3], उसे

उसे निर्वैयक्तिक कर दे[4], उसकी

अंगी सिद्धान्त—रस-सिद्धान्त :—

न्य भाव[7]-सत्ता में लीन कर दे

इस अध्याय के पहले दो अध्यायों में यह [स्थापित कर दे[8]।]
शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों में रस-सिद्धान्त अंग[ी] [परि]भाषा इस प्रकार से
प्रतिष्ठित है तथा अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि [र]स-[द]शा है।’
सिद्धान्त के रूप में। अतः क्रम के अनुसार सर्व प्रथम रस-सिद्धा[न्त] [व्]यक्ति-हृदय
किया जायगा। [कि]सी वस्तु

शुक्ल जी के रस-सिद्धान्त को समुचित ढंग से समझने के लिए [उनके] [त]त्व
मतानुसार रस की परिभाषा, रसावयवों का स्वरूप, उनका पारस्परिक सम्बन्ध,
रस-प्रक्रिया, रस का स्वरूप, रस की व्याप्ति, रस की प्रकृति, रस का कार्य,
काव्य में रस का स्थान, रसानुभूति की विशेषतायें तथा अन्य तत्वों से रस के
सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है।

रस-परिभाषा:—

शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस अथवा रस-दशा की परिभाषा भिन्न-भिन्न स्थलों पर कुछ भिन्न-भिन्न पदावलियों में दिखाई पड़ती है। सामान्य दृष्टि वालों को उनमें भले ही कुछ भेद दिखाई पड़े, किन्तु तात्विक दृष्टि से विचार करने पर मूलतः उनमें कोई भेद नहीं है। "हृदय की अनुभूति" का नाम लेनेवाले आधुनिक कवियों तथा समीक्षकों को रस के नाम पर मुँह बनाते देखकर शुक्ल जी ने उनके भ्रम के निवारणार्थ जो रस-परिभाषा बनाई थी, पहले उसी पर विचार किया जाता है। "भले मानुस इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में रस और भाव कहलाती है। यदि जानते तो कोई नया आविष्कार समझ कर हृदयवाद लेकर सामने न आते। सम्भव है इसका पता पाने पर कि हृदयवाद तो रसवाद ही है, वे इस शब्द को छोड़ दें[1]।"

१—अभिभाषण पृ० ४३.

निष्पत्ति-सम्बन्धी पुरानी परिभाषा[1] से शत-प्रतिशत सहमत नहीं हैं। उनकी दृष्टि में विभाव, अनुभाव, संचारी की गिनती गिनाने से अथवा वर्णन में उनका विश्लिष्ट रूप रखने से रस की कवायद भले ही पूरी हो जाय किन्तु रस या काव्य का ठीक रूप नहीं खड़ा हो सकता[2]। उन्होंने उदाहरण देकर यह भी बताया है कि विभाव, अनुभाव तथा संचारी की प्रतिष्ठा संश्लिष्ट रूप में होने पर भी कहीं कहीं रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे, लज्जा में जिस व्यक्ति से लज्जा होगी वह आलम्बन, उसका ताकना-झाँकना उद्दीपन, सिर झुकाना अनुभाव तथा अवहित्था संचारी है। किन्तु यहाँ रस की पूर्ण व्यंजना उसके सभी संयोजक तत्वों के होने पर भी नहीं होती[3] और कहीं कहीं केवल विभाव अथवा केवल अनुभाव के वर्णन से रस की निष्पत्ति हो जाती है। जैसे, प्रकृति-वर्णन में अकेले आलम्बन के चित्रण से रस की निष्पत्ति हो जाती है[4]।

साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में रस के सभी अवयवों की नियोजना के पश्चात् रस-निष्पत्ति मानने का कारण यह है कि रस की परिभाषा अथवा रस-सिद्धान्त की विवेचना करते समय आचार्यों के सम्मुख दृश्य काव्य ही थे, जिनमें रस के सभी अवयवों की नियोजना हो सकती है; पर पाठ्य-काव्यों द्वारा भी रसानुभूति होती है और अच्छी कोटि की होती है और शुक्ल जी तो इससे भी आगे बढ़कर प्रत्यक्ष जीवन में भी रसानुभूति का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। काव्यों में कभी-कभी आलम्बन-चित्रण मात्र से तथा प्रत्यक्ष जीवन में कभी-कभी आलम्बन के दर्शनमात्र से रस-निष्पत्ति हो सकती है; क्योंकि इस अवस्था में पाठक या श्रोता अथवा दर्शक रस के अन्य अवयवों का आक्षेप स्वयं कर लेता है। रस की परिभाषा लिखते समय शुक्ल जी के समक्ष दृश्य काव्य के अतिरिक्त पाठ्य-काव्य तथा जीवन दोनों थे। इसीलिए उन्होंने पुरानी परिभाषा का अभाव सूचित करते हुए उस पर मौलिक ढंग से सोचने का प्रयत्न करके नवीन परिभाषा का निर्माण किया। रस-परिभाषा सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन यह प्रमाणित करने में समर्थ है कि उनकी समीक्षा में परप्रत्ययनेयता का नहीं वरन् आत्मनेयता का सिद्धान्त निहित है।

रसावयव:—

शुक्ल जी के रस-सिद्धान्त के सम्यक् बोध के लिए उनके मतानुसार

1—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः —नाट्यशास्त्र.

2—रस मीमांसा पृ० १२३, १५७, १६८, १८७ आदि।

3—वही पृ० १५५. 4—वही पृ० १५५-१६०.

रसावयवों का स्वरूप जानना आवश्यक है। रसावयवों के भीतर साहित्य-शास्त्र में स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव का समावेश किया जाता है। अतः क्रम के अनुसार सर्वप्रथम शुक्ल जी के मतानुसार स्थायी भाव के स्वरूप पर विचार करना चाहिए।

स्थायी भावः—

स्थायी भाव के विवेचन में सर्वप्रथम शुक्ल जी ने आचार्यों के स्थायी भाव-सम्बन्धी लक्षणों की परीक्षा मनोविज्ञान की कसौटी पर की है। उदाहरणार्थ रस-मीमांसा में स्थायी भाव के विवेचन के प्रसंग में उन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा निरूपित स्थायी भाव के दो लक्षण बताये हैं[1] :—

१—स्थायी भाव शब्द से अभिप्राय किसी एक भाव का एक ही अवसर पर इस आधिपत्य से बना रहना कि उसके उपस्थिति-काल में अन्य भाव अथवा मनोवेग उसके शासन के भीतर प्रगट हों और वह ज्यों का त्यों बना रहे।

२—किसी मानसिक स्थिति का इतने दिनों तक बना रहना कि उसके कारण भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न भाव प्रकट होते रहें।

शुक्ल जी का कहना है कि उपर्युक्त दोनों लक्षण केवल रति नामक स्थायी भाव के विषय में ही घटित होते हैं[2]। शेष में केवल प्रथम लक्षण ही पाया जाता है। संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों में स्थायी का यह लक्षण किया गया है कि उसको विरुद्ध या अविरुद्ध कोई भाव संचारी रूप में आकर तिरोहित नहीं कर सकता; किन्तु यह लक्षण भी रति को छोड़ क्रोध आदि भावों में घटित नहीं होता[3]। इसी प्रकार शुक्ल जी ने मानसशास्त्रियों के स्थायी भाव-सम्बन्धी विवेचन की कमी को पूरी निर्भीकता के साथ व्यक्त किया है[4]। शुक्ल जी का कहना है कि मनोवैज्ञानिकों ने स्थायी दशा और शील-दशा के भेद की ओर ध्यान न देकर दोनों प्रकार की मानसिक दशाओं को एक हा में गिना दिया है। उन्होंने रति, वैर, धन-तृष्णा, इन्द्रिय-परायणता, अभिमान इत्यादि सबको स्थायी भावों की कोटि में डाल दिया है।[5]

स्थायी भाव की विशेषताएँ तथा उसके निर्माणकारी तत्वः—

शुक्ल जी की दृष्टि में स्थायी भाव एक भाव-कोश या भाव-प्रणाली है[6],

---

१—रस-मीमांसा पृ० १७२. २— वही पृ० १७२.

३— वही पृ० १८१, १८२. ४— वही पृ० १८७.

५—रस-मीमांसा पृ० १८७. ६—रस-मीमांसा पृ० १७०.

जिसमें एक प्राथमिक भाव[१] तथा स्थिति-भेद से अनेक साधित[२] भाव तथा सहचर भावनाओं[३] का संघटन रहता है; जिसमें वासना[४], मनोवेग[५] इन्द्रियवेग[६] प्रवृत्तियाँ[७], अन्तःकरण[८]-वृत्तियाँ, विवेकात्मक बुद्धिव्यापार[९], संकल्प,[१०] इच्छा,[११] शरीर व्यापार[१२] आदि मूल भाव के शासन के भीतर रहते हैं[१३], जिसमें भाव के संकल्प की अपेक्षा अधिक धीर एवं संयत कोटि का संकल्प रहता है[१४], जिसमें सार्वभौम कोटि की आस्वाद्यमानता रहती है[१५]; जो उचित विषय का आधार पाकर उद्भूत होता है[१६]; जो रस-स्थिति तक पहुँचने की क्षमता रखता है[१७]; जो बहुत देर तक सहृदय के चित्त में टिकने की विशेषता रखता है;[१८] जो अपने लक्ष्य-साधन के लिए भाव की अपेक्षा अधिक विवेक से काम लेता है[१९]; जो प्रकृतिस्थ होने पर एक निश्चित कोटि की इच्छा, संकल्प एवं प्रयत्न की ओर प्रवृत्त करता[२०] है; जिसका आलम्बन स्थिर तथा सामान्य कोटि का होता है[२१]; जिसका प्रकृतिस्थ संघटन एक निश्चित कोटि के आचरण या शील में समर्थ होता है[२२]; जिसका विधान भाव-विधान से उच्चतर कोटि का होता है[२३]। भाव-प्रणाली या भाव-कोश के भीतर उसकी नींव देने वाला कोई मूल भाव रहता है[२४]; अतः स्थायी भाव के स्पष्ट ज्ञान के लिए भावों के उद्भव, विकास तथा उनके निर्माणकारी तत्वों एवं विशेषताओं का ज्ञान आवश्यक है। शुक्ल जी की दृष्टि में सुख और दुख की इन्द्रियज वेदना के अनुसार पहले पहल राग और द्वेष आदिम प्राणियों में प्रगट हुए जिनके दीर्घ परम्परा के अभ्यास द्वारा आगे चलकर वासनाओं और प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। जात्यन्तर परिणाम द्वारा समुन्नत योनियों का विकास और

१— रसमीमांसा पृ० १७५. २— रसमीमांसा, पृ० १७०.
३— वही पृ० १७१. ४— वही पृ० १६१.
५— वही पृ० २०८. ६— वही पृ० ४२६.
७— वही पृ० ४२६. ८— वही पृ० २११.
९— वही पृ० १६४, २१४. १०— वही पृ० १७१.
११— वही पृ० ४०६, १२— वही पृ० १६४.
१३— वही पृ० ४२६. १४— वही पृ० १७१.
१५— वही पृ० १६७, २०२, २०३ १६— वही पृ० १७५.
१७— वही पृ० २०३. १८— वही पृ० १७१.
१९— वही पृ० १७१. २०— वही पृ० १६६.
२१— वही पृ० १६६, २०५. २२— वही पृ० १७२.
२३— वही पृ० १७१. २४— वही पृ० १७५.

मनोमय कोश का पूर्ण विधान हो जाने पर विविध वासनाओं की नींव प
रति, हास, शोक, क्रोध इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा हुई[१]।

भाव के निर्माणकारी तत्व:—

शुक्ल जी के अनुसार भाव एक वृत्ति-चक्र या मानसिक-शारीरिक विधान
व्यवस्था है, जिसके शासन के अन्तर्गत वासना[२], प्रत्यय-बोध, अनुभूति, इच्छ
वेग[३], अन्तःकरण-वृत्तियाँ[४], गति, प्रवृत्ति, संकल्प[५], लक्ष्य[६], शरीर-धर्म
विवेकात्मक बुद्धि-व्यापार सबका योग रहता है[७]।

भाव का विश्लेषण करते हुए शुक्ल जी ने उसके मुख्य तीन[८] तत
माने हैं—

१—वह अंग जो प्रवृत्ति या संस्कार रूप में अंतस्संज्ञा में रहता
(वासना)।

२—वह अंग जो विषय-बिंब के रूप में चेतना में रहता है और 'भाव
का प्रकृत स्वरूप है (भाव, आलम्बन आदि की भावना)।

३—वह अंग जो आकृति या आचरण में अभिव्यक्त होता है औ
बाहर देखा जा सकता है (अनुभाव और नाना प्रयत्न)।

शुक्ल जी के भाव-महत्व के निरूपण द्वारा प्रकारान्तर से उनके द्वार
निरूपित रस-महत्व का ज्ञान होता है। अतः उनके द्वारा विवेचित भाव क
महत्व यहाँ संक्षेप में दिया जाता है।

भाव का महत्व:—

शुक्ल जी के अनुसार मनुष्य के सारे व्यापार और वृत्तियाँ उसकी भाव
व्यवस्था के अनुसार परिचालित होती हैं[९]। उन्होंने लोक-रक्षा और लोक
रंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर ठहराया है[१०]। इनके विचारा
नुसार धर्म-शासन, राजशासन, मत-शासन—सबमें इनसे पूरा काम लिय

१—रस-मीमांसा— पृ० १६१. २— रस मीमांसा पृ० १६२, १६४.

३— वही पृ० १६८. ४— वही पृ० १६४.

५— वही पृ० १७१. ६— वही पृ० १६६.

७— काव्य में रहस्यवाद पृ० ५८. ८— रस-मीमांसा पृ० १६४.

९—रस-मीमांसा पृ० २११ १०— चि० प० भा० पृ० ५.

गया है[१]। इनकी दृष्टि में समस्त मानव-जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं[२]। शील या चरित्र का मूल भी शुक्ल जी भावों के विशेष प्रकार के संगठन में मानते हैं[३]। उनके मत में मनुष्य की सजीवता, मनोवेग या प्रवृत्ति की सजगता में अथवा भावों की तत्परता में है। शुक्ल जी के मतानुसार भाव ही मनुष्य की एकता के अनुभव-पथ के द्वार हैं।

शुक्ल जी के भावों के महत्व सम्बन्धी विवेचन से उनके मतानुसार रस-सम्बन्धी निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं :—

१—रस का आस्वादन मनुष्य की प्रवृत्तियों तथा निवृत्तियों को जगाये रखता है, इससे उसकी सजीवता तथा मनुष्यता नष्ट नहीं होने पाती।

२—रस शील-निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं।

३—रस लोक-मंगल की सिद्धि भावों द्वारा ही सम्पादित करता है।

४—रसास्वादन से मनुष्य की भाव-व्यवस्था सुसंगठित कोटि की हो जाती है।

५—रसानुभूति सहृदय को मनुष्य की एकता का ज्ञान कराती हुई उसे अद्वैत भूमिका पर पहुँचाती है।

शुक्ल जी ने अपने रस-सिद्धान्त की स्पष्टता के लिए चिन्तामणि पहला भाग में सात स्थायी भावों तथा तीन संचारी भावों को अपने निबन्धों का विषय बनाकर प्रत्येक निबन्ध में उस भाव की परिभाषा, लक्षण, साहित्य तथा जीवन में उसकी महत्ता तथा उपयोगिता, उसकी उत्पत्ति का आधार, उसकी गति-विधि, क्रमिक विकास, उसकी विशेषतायें, उसके निर्माणकारी विभिन्न अवयव तथा प्रत्यक्ष जीवन एवं साहित्य में पाये जाने वाले उसके विभिन्न रूपों, भेदों तथा दशाओं का विवेचन उदाहरण सहित किया है तथा साथ ही स्पष्टता के लिए व्याख्या के समय विरोधी तथा समानवर्ती भावों से उसकी तुलना भी की है। फलतः प्रत्येक भाव के विवेचन में उसमें निहित प्रवृत्ति, वासना, इन्द्रियवेग, मनोवेग, अन्तःकरण-वृत्ति, इच्छा, लक्ष्य, संकल्प, उसके आलम्बन, उद्दीपन, आश्रय, अनुभाव, संचारी भाव,—सभी स्पष्ट हो गये हैं। भावों के उचित-अनुचित रूपों के भले-बुरे प्रभावों का भी सोदाहरण विवेचन किया गया है। इससे रस की उपयोगिता तथा महत्व

१— चि० प० भा० पृ० ५   २— वही पृ० ५.

३— वही पृ० ४.

पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। अन्त ...क्ति को नव रसों से अलग स्वतन्त्र रस
नियमन करने वाली तथा उदात्त बनाने उनके द्वारा निरूपित भक्ति-रस का
उल्लेख है[1]। अर्थात् साहित्य, रस द्वारा मो... क्योंकि उनके द्वारा निरूपित
उदात्तीकरण करता है। इन स्थलों पर रस में ...हीं। वे भक्ति को राग की
दिखाई पड़ता है। जो मनोविकार या भाव दब गय... जगत आ जाता है।
जगाने का साधन भी वे सत्साहित्य अर्थात् रस ही मानते ...क्ति का प्रकृत लक्षण

रसावयव, रस की विभिन्न अवस्थाओं तथा दशाओं, ...राग्य का स्थान
रस-कार्य, रस-व्याप्ति, जीवन तथा साहित्य में रस की महत्ता ... नामक भाव
पर इनके मौलिक विचार इन निबन्धों में मिलते हैं। वस्तुतः इन इससे यह
शुक्ल जी ने रस-सिद्धान्त को साहित्य-सामग्री से ही नहीं वरन् जीवन- ...रागत
से भी समझाने का प्रयत्न किया है। स्थायी तथा संचारी भावों की
जीवन सम्बन्धी साहित्यिक तथा सामाजिक व्याख्या अन्यत्र नहीं मिलती। किसी भाव-विवेचन के प्रसंग में तज्जन्य मानव-प्रकृतिगत जिन-जिन मानसिक अवस्थाओं का उल्लेख शुक्ल जी ने किया है, वे शास्त्र की बँधी लकीर पीटने वाले ग्रन्थों में नहीं मिलतीं। जैसे, शास्त्रीय ग्रन्थों में वीर रस के दानवीर, युद्धवीर, दयावीर, धर्मवीर चार भेद मिलते हैं, किन्तु शुक्ल जी ने इसके अन्य दो रूपों—कर्मवीर तथा बुद्धिवीर का भी आविष्कार किया है जो प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों में नहीं मिलते[3]। प्रचलित साहित्य-ग्रन्थों में युद्धवीर का आलम्बन विजेतव्य ही मिलेगा, किन्तु शुक्ल जी ने उत्साह मात्र का आलम्बन विकट या दुष्कर कर्म ही माना है[4]।

स्थायी भाव की पूर्णता:—

आचार्य शुक्ल स्थायी भावों की पूर्णता अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में, जगत् के सच्चे प्रतिनिधि बनने में, विश्व के साथ प्रकृत सामंजस्य स्थापित करने में मानते हैं[5]।

शुक्ल जी ने रस-अवस्था के भीतर भाव की क्षणिक दशा, स्थायी दशा तथा शील दशा का समावेश किया है, अतः रसावस्था के सम्यक् बोध के लिए भाव की इन विभिन्न दशाओं का ज्ञान आवश्यक है।

भाव की दशायें:—

शुक्ल जी के अनुसार भाव की तीन दशायें होती हैं—क्षणिक दशा,

१—चिन्तामणि पहला भाग पृ० ७, ५७. २— वही पृ० ६.
३— वही पृ० १४, ४— वही पृ० १५. तथा गोस्वामी तु० पृ० १०२.
५— वही पृ० ११२, २१६

गया है[1]। इनकी दृष्टि में समस्त मानव-जीव भाव की क्षणिक दशा एक अवसर पर ही होते हैं[2]। शील या चरित्र का मूल स्थायी दशा अनेक अवसरों पर एक ही के संगठन में मानते हैं[3]। उनके मत र शील दशा अनेक अवसरों पर अनेक प्रवृत्ति की सजगता में अथवा भाव क्षणिक दशा मुक्तक रचनाओं में देखी जाती भाव ही मनुष्य की एकता के य, खण्डकाव्य आदि प्रबन्धों में और शील दशा में।

शुक्ल जी के भावों वे सम्बन्धी निम्नांकित या रस के भेदः—

१—रस क भावों के वर्गीकरण अथवा विवेचन में शुक्ल जी ने केवल आठ रस सुखात्मक तथा दुखात्मक रूप में विभाजित एवं विवेचित किये हैं[1]।

२ान भावों के विवेचन के प्रसंग में भी उन्होंने केवल आठ स्थायी भावों का ही विवेचन किया है[3]। निर्वेद को अभाव रूप मानकर विवेचन के बाहर रखा है[4]। चिन्तामणि पहला भाग में केवल सात ही स्थायी भाव विवेचित किये गये हैं। परिशिष्ट की रस-सम्बन्धी सामग्री में केवल आठ स्थायी भावों के ही अनुभाव आदि अलग अलग बताये गये हैं[5]। सैद्धान्तिक समीक्षाओं में शुक्ल जी अधिक से अधिक आठ रसों, आठ मूल भावों का विवेचन करते हैं किन्तु अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में वे शान्त रस का उल्लेख करना नहीं भूलते यदि विवेच्य कवि की कृति में कहीं शान्त रस का उदाहरण है तो[6]।

शुक्ल जी की दृष्टि में प्रकृति-प्रेम, अतीत-प्रेम, आचार्य-प्रेम, पितृ-प्रेम, स्वदेश-प्रेम, मित्र-प्रेम, धर्म-प्रेम, सत्य-प्रेम, वत्स-प्रेम आदि रति के ही विभिन्न रूप हैं[7]। इन विभिन्न प्रेमों में राग नामक भाव आलम्बन-भेद से अनेक रूप धारण करता है।

शुक्ल जी ने देश-प्रेम, अतीत-प्रेम, प्रकृति-प्रेम तथा वत्सल-प्रेम के अतिरिक्त भक्ति के प्रसंग में रस का नाम लिया है[8] किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार

१— अभिभाषण पृ० ८१ और रस-मीमांसा पृ० १८१ से १९० तक

२—रस-मीमांसा पृ० १९१ से १९८ तक।

३— वही पृ० १७२ से १८१ तक   ४— वही पृ० १७२.

५— वही पृ० ४७२. ६— गो० तुलसी० पृ० ८५.

७—रस-मीमांसा पृ० १५०.   ८— अभिभाषण पृ० ९९.

करने पर यह विदित होता है कि वे भक्ति को नव रसों से अलग स्वतन्त्र रस नहीं मानते। उनकी धारणा के अनुसार उनके द्वारा निरूपित भक्ति-रस का समावेश शान्त रस के भीतर नहीं हो सकता क्योंकि उनके द्वारा निरूपित भक्ति का मूल भाव राग प्रतीत होता है निर्वेद नहीं। वे भक्ति को राग की दिव्य भूमि मानते हैं, जिसके भीतर सारा चराचर जगत आ जाता है। उन्होंने जगत के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण माना है[1]। शुद्ध-भक्ति-मार्ग में शुक्ल जी को विरक्ति या वैराग्य का स्थान ढूँढ़ने से भी नहीं मिला[2]। इस प्रकार शुक्ल जी भक्ति को राग नामक भाव के भीतर ले जाकर उसे शान्त रस से बिल्कुल अलग मानते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे व्यावहारिक रूप से स्थायी भाव के परम्परागत नव भेदों में सामान्य कोटि की आस्था रखते हुए भी सैद्धान्तिक रूप से आठ भावों तथा आठ रसों की ही प्रधानता साहित्य में स्वीकार करते हैं। शान्त रस में लोकानुभूति की अवहेलना, संसार की असारता का बोध, परमात्म-तत्व-ज्ञान तथा आध्यात्मिकता का प्रवेश देखकर साहित्य में उसकी प्रधानता उन्हें मान्य नहीं। इसीलिए उनके सैद्धान्तिक ग्रन्थों तथा विवेचनों में शांत रस कहीं अपना स्थान नहीं पा सका।

विभावः—

शुक्ल जी के अनुसार विभाव में शब्द द्वारा उन वस्तुओं के स्वरूप की प्रतिष्ठा करनी होती है जो भावों का आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन होती हैं। जब यह वस्तु-प्रतिष्ठा हो लेती है तब भावों के व्यापार का आरम्भ होता है[3]। वे विभाव के अन्तर्गत उन सब वस्तुओं और व्यापारों को लेते हैं जो हमारे मन में सौन्दर्य, माधुर्य, दीप्ति, कान्ति आदि की भावनायें उत्पन्न करते हैं[4]। इस प्रकार शुक्ल जी ने विभाव का इतना व्यापक स्वरूप ग्रहण किया है कि उसके भीतर परिस्थिति, वातावरण आदि सबका समावेश हो जाता है। इनकी दृष्टि में काव्य में विभाव ही मुख्य है, क्योंकि ये ही भाव को उठाते, जगाते और जमाते हैं। आलम्बन, भाव को उठाते, तथा जगाते हैं; उद्दीपन उन्हें उत्कर्ष स्थिति में पहुँचाते हैं[5]। काव्य में आलम्बन की इतनी अधिक प्रधानता है कि वे अकेले रसोद्दीप्ति में समर्थ हो जाते हैं। आलम्बन के भीतर व्यक्ति,

---

१— चिन्तामणि, प० भा० पृ० १२४.

२— वही पृ० १२४. ३— रस-मीमांसा पृ० १२८.

४— चि० प० भाग पृ० २६२, २६३. ५— रस-मीमांसा पृ० १०६.

वस्तु, व्यापार, घटना, परिस्थिति, प्रकृति-खण्ड आदि गोचर पदार्थ हो सकते हैं जो हमारे कल्पनात्मक या ज्ञानात्मक अवयव बनने में समर्थ होते हैं[1]। आलम्बन की मुख्यता से ही शुक्ल जी का काव्य में प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी सिद्धान्त उद्भूत हुआ है, जिसके अनुसार उन्होंने प्रकृति-वर्णन में रस उत्पन्न करने की क्षमता सिद्ध की है। काव्य में विभाव की मुख्यता के आधार पर ही शुक्ल जी ने प्रगीत तथा मुक्तक काव्यों की तुलना में प्रबन्ध अथवा आख्यानक काव्यों की श्रेष्ठता वाला सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। काव्य में लौकिकता वाला सिद्धान्त विभाव-चित्रण की मुख्यता से ही उद्भूत हुआ है, क्योंकि काव्य में लौकिकता की प्रधानता तभी होगी जब उसका विषय लौकिक हो और उसी की मुख्यता हो। इस प्रकार शुक्ल जी ने विभाव के भीतर साधारण-असाधारण सभी का समावेश कर दिया है[2], इससे उनके अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह वाले सिद्धान्त का पता चलता है, जो उनकी दृष्टि में कविता का मुख्य लक्ष्य है। यह पहले कहा जा चुका है कि शुक्ल जी काव्य में विभाव-चित्रण को मुख्य मानते हैं। इससे उनका वस्तुवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। विभाव-विवेचन में एक स्थान पर शुक्ल जी कहते हैं कि विभावन द्वारा जब वस्तु-प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से हो ले, तब आगे और कुछ होना चाहिए। विभाव वस्तु-चित्रमय होता है। अकेला उसका पूर्ण चित्रण काव्य कहलाने में समर्थ हो सकता है[3]। वस्तु-विन्यास कवि का प्रधान कार्य है। यदि वह अच्छी तरह बन पड़ा तो पाठक के हृदय में दृश्य के सौन्दर्य, भीषणता, विशालता इत्यादि का अनुभव थोड़ा थोड़ा आप से आप हो जायगा[4]। वस्तुओं का नाम गिनाना वस्तु-विन्यास नहीं। आस पास की और वस्तुओं के बीच उनकी प्रकृत स्थापना से ठीक तरह का वस्तु-विन्यास होता है[5]। जब वस्तु प्रतिष्ठा हो लेती है तब उसकी सुसंगत रूप-योजना हो जाती है और तब भावों के व्यापार का कार्य अपने आप हो जाता है[6]। शुक्ल जी की उपर्युक्त विवेचित विभाव सम्बन्धी सामग्री में उनका वर्णन सम्बन्धी संश्लिष्टता का सिद्धान्त निहित दिखाई पड़ता है। जिसके अनुसार वर्णनगत सभी वस्तुएँ अपने स्वाभाविक पारस्परिक सम्बन्ध-रूप में जुड़ी रहती हैं। शुक्ल जी का बिम्ब ग्रहण वाला सिद्धान्त भी इसी संश्लिष्टता के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। काव्यगत-वर्णित वस्तु का बिम्बग्रहण कोई पाठक या श्रोता

१—[illegible] पृ० ३२, ३३. २— रस-मी० पृ० ११३.

३—रसमीमांसा पृ० ११९. ४—वही पृ० १२९.

५— रसमीमांसा पृ० १२४. ६— रसमीमांसा पृ० १२८.

तभी कर सकेगा जब वह पूर्ण रूप में उसकी कल्पना में उपस्थित होगी और वह वस्तु उसकी कल्पना में पूर्ण रूप में तभी उपस्थित हो सकेगी जब वह संश्लिष्ट रूप में रखी जायगी[१]।

कल्पना का उद्‌भव, निर्माण, विकास, श्रेष्ठता, तथा प्रयोग विभावों पर अवलम्बित हैं। विभाव ही कल्पना के उद्‌भव, निर्माण, विकास आदि के प्रधान क्षेत्र हैं। शुक्ल जी की दृष्टि में कल्पना सहृदय में विभावों के सम्पर्क में जाने पर ही उद्‌भूत होती है; विभावों की रूप-तरंगों से ही उसकी कल्पना के विविध अंगों का निर्माण होता है[२]। उसकी कल्पना का विकास भी विभावों के विभिन्न प्रकार के समिश्रण तथा संश्लेषण से होता है[३]। उसकी कल्पना में श्रेठता एवं विशदता का प्रवेश विविध विभावों के विस्तृत क्षेत्रों को देखने से होता है। कवि की कल्पना का सुन्दर प्रयोग भी विभावों के कलात्मक चित्रण में ही देखा जाता है[४]।

शुक्ल जी का साधारणीकरण का सिद्धान्त मुख्यतः आलम्बनत्व धर्म पर ही अवलम्बित है क्योंकि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का ही होता है[५]। आलम्बन में आलम्बनत्व धर्म की प्रतिष्ठा लोक सामान्य धर्मों के प्रवेश के कारण होती है[६]। तात्पर्य यह कि साधारणीकरण-सिद्धान्त विभावन व्यापार पर अवलम्बित है।

हावः—

शुक्ल जी ने हावों की गणना विभावों के अन्तर्गत की है। संस्कृत के अधिकांश शास्त्रीय[७] ग्रन्थों तथा हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों[८] में इसकी गणना अनुभावों के अन्तर्गत की गई है। यदि गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाय तो विदित होगा कि जब हाव सम्बन्धी चेष्टायें हृद्‌गत भाव को व्यक्त करेंगी और ऐसे व्यक्ति में उत्पन्न होंगी जो आश्रय होगा तब वे अनुभाव के अन्तर्गत जायंगी। जब हाव सम्बन्धी चेष्टायें ऐसे व्यक्ति में दिखाई जायँगी जो किसी भाव का आलम्बन होगा, तब वे चेष्टायें उस आलम्बन की शोभा बढ़ायेंगी और वे आश्रय के भाव को उद्दीप्त करेंगी और तब वे उद्दीपन के अन्तर्गत

१– रस-मीमांसा पृ० १३२. २– चि० प० भा० पृ० ३२६.

३– चि० प० भा० पृ० ३३०, ३३५. ४– वही ३३२, ३३३, ३६१.

५— वही पृ० ३१३. ६— वही पृ० ३१३

७—साहित्यदर्पण पृ० ३, ६४ ८—काव्यदर्पण पृ० ८२, ८३.रामदहिन मिश्र.

जायँगी। संस्कृत के आचार्यों के मत से ये अलंकार अधिकतर स्त्रियों में ही रमणीय दिखाई पड़ने के कारण उन्हीं की चेष्टाओं के रूप में काव्य में वर्णित होते हैं[1]; यद्यपि इनमें से कुछ नायक में भी हो सकते हैं[2]। संयोग की अल्प इच्छा के कारण नेत्र आदि में जो विकार उत्पन्न होते हैं उन्हें हाव कहते हैं। इन हावों को अनुभाव के अन्तर्गत माना गया है। पर अनुभाव के अन्तर्गत नायक अथवा नायिका की वे ही चेष्टायें आ सकती हैं जो हृद्‌गत भाव का पता देती हों। अलंकारों के भीतर नायिका की जिन चेष्टाओं का वर्णन किया गया हैं वे केवल शोभाधायक होती हैं; इसलिए उन्हें केवल उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण करने से ठीक होगा[3]। अर्थात् हाव दोनों पक्षों में जा सकता है। यदि नायिका का आलम्बन रूप में वर्णन है तो निश्चित है कि हाव उद्दीपन होगा; यदि वह आश्रय रूप में वर्णित हैं तो उसका हाव अनुभाव के भीतर जायगा। इसीलिए भानुदत्त ने हाव का वर्णन उद्दीपन तथा अनुभाव दोनों रूपों में किया है[4]। पर हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों में हावों की गणना केवल अनुभावों के अन्तर्गत की गई थी—यह बात शुक्ल जी को खटकी इसीलिए उन्होंने हावों की व्याख्या करके उनकी गणना विभावोंके भीतर भी की[5]। 'काव्य में रहस्यवाद' में जहाँ उन्होंने हावों को विभावों के अन्तर्गत माना है वहाँ उन्हें नायिका के शोभाधायक अलंकार अथवा चेष्टा के रूप में ही वर्णित किया है; उन्हें मनोहर रूप प्रदान करनेवाले अलंकार के रूप में रखा है, नायिका की भावव्यंजक चेष्टा के रूप में नहीं[6]। हिन्दी में नायिका का वर्णन मुख्य रूप से आलम्बन-रूप में हुआ है, अतः हाव मुख्य रूप से उद्दीपन माने जाने चाहिए और अनुभाव गौण रूप में। शुक्ल जी ने इसी मुख्य रूप को ग्रहण करके हाव को उद्दीपन माना है किन्तु उन्होंने इस बात का निषेध नहीं किया कि हाव अनुभाव हो ही नहीं सकते। वरन् इस भ्रम को दूर करने के लिए उन्होंने गो० तुलसीदास नामक पुस्तक में सीता जी के वर्णन के प्रसंग में उन्हें आश्रय रूप में होने के कारण उनके हाव को अनुभाव माना है[7]। तात्पर्य यह कि शुक्ल जी का यह कहना कभी नहीं है कि हाव अनुभाव नहीं हो सकते। हिन्दी वालों ने

१—तेऽप्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्तिविशेषं पुष्णन्ति । साहित्यदर्पण.

२—[illegible] भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि । —वही.

३—[illegible] वि० प्र० मिश्र पृ० १६१.

४—[illegible] —रसतरंगिणी.

५—काव्य में रहस्यवाद पृ० ५८

६— वही पृ० ५८, ५९. ७—गो० तुलसीदास पृ० ११, १२.

हाव के गौण रूप को मुख्य बना दिया था और उसके मुख्य रूप को फेंक दिया था। शुक्ल जी ने इसे ठीक किया।

अनुभाव :—

शुक्ल जी की दृष्टि में अनुभाव भाव के कार्य हैं, अतः वे भाव के सूचक होते हैं[1], भाव की गति-विधि एवं प्रवृत्ति का पता देते हैं[2]। इनका सम्बन्ध सदैव भाव के आश्रय से होता है[3]। वस्तुतः अनुभाव भाव के स्वरूप के भीतर अंग रूप में आ जाते हैं; इसीलिए शुक्ल जी ने इनका विवेचन रस-मीमांसा में भाव नामक अध्याय के अन्तर्गत किया है[4]। साहित्य के ग्रन्थों में संचारियों के जो बाह्य चिह्न बताये गये हैं वे भी शुक्ल जी की दृष्टि में वास्तव में उनके अनुभाव ही हैं[5]। रस-ग्रन्थों में अधिक से अधिक उसके चार भेद किये गये हैं—सात्विक, मानसिक, कायिक और आहार्य[6]। आचार्य शुक्ल सात्विक एवं आहार्य को कायिक के भीतर समाविष्ट कर देते हैं और मानसिक को अनुभाव न मानकर संचारी की संज्ञा देते हैं। सात्विक भाव भावों के उदित होने से स्वतः उद्भूत होते हैं किन्तु ये भी एक प्रकार की चेष्टायें ही हैं। अतः शुक्ल जी का इन्हें कायिक के भीतर स्थान देकर इनको अनुभाव का स्वतन्त्र भेद न मानना युक्तियुक्त ही है। आहार्य का अर्थ है किसी भाव की प्रेरणा से विशेष प्रकार का वेश-विन्यास करना। विचार करने पर यह भी कायिक चेष्टा प्रतीत होती है[7]। आचार्य की दृष्टि में मानसिक अनुभाव सूचक न होकर सूच्य होते हैं; अतः वे इन्हें संचारियों के भीतर स्थान देते हैं[8]। इसका युक्तियुक्त विवेचन भी उन्होंने उपस्थित किया है। अनुभाव के स्वरूप की स्पष्टता के लिए उसे उन्हीं के शब्दों में रखना उचित है। अनुभाव किसी भाव का सूचक होता है। अतः मानसिक अवस्था, जो सूच्य हुआ करती है, वह सूचकों में नहीं रखी गई, संचारियों में रखी गई। जैसे, स्तम्भ के २ पक्ष होते हैं—एक मानसिक और एक शारीरिक। इनमें से एक मानसिक संचारियों की कोटि में रखा गया है, द्वितीय अनुभाव के भीतर डाल दिया गया है। अब पूछिए कि क्यों एक प्रकार का स्तम्भ तो संचारियों में रखा गया और दूसरे प्रकार का सात्विक में। उसका कारण विवेचन करने पर यही प्रतीत होता है

१—रस-मीमांसा पृ० २१६. २— वही पृ० १७३.
३— वही पृ० २३१. ४— वही पृ० २३०.
५— वही पृ० २३२. ६— रसतरंगिणी पृ० १० और रसार्णवसुधाकर पृ० १६०. ७—वाङ्मय-विमर्श पृ० १४५.
८—रस-मीमांसा पृ० २१६

कि सात्विक अनुभाव में वही वस्तु रखी गई है जो बाहर शरीर पर लक्षित होती है। मानसिक अवस्था स्वयं गोचर नहीं होती, उसका कोई चिन्ह या संकेत गोचर होता है। अतः सूक्ष्म होने के कारण वह संचारी के भीतर रखी गई है[1]।'

अनुभाव मानसिक भी हो सकते हैं; जैसे, एकाग्रता, प्रमोद आदि। किन्तु वे अधिकांश मात्रा में लक्षण-ग्रन्थों में ही मिलते हैं, कविता में बहुत ही कम दिखाई पड़ते हैं। दूसरे जब हम किसी भाव को अनुभाव कहते हैं तो उसका भी कोई अनुभाव होगा जो शारीरिक व्यापार का रूप धारण करके प्रगट होगा; अतः शारीरिक अनुभाव को क्यों न अनुभाव कहा जाय। इस दृष्टि से भी शुक्ल जी का अनुभाव को शारीरिक मानने वाला मत युक्तियुक्त जान पड़ता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो विदित होगा कि अनुभाव का भेदक तत्व शारीरिक चेष्टा या व्यापार ही है, मानसिक व्यापार नहीं। यदि मुख्यता की दृष्टि से विचार किया जाय तो अनुभाव में शारीरिक पक्ष की ही प्रधानता मिलेगी। अतः उपर्युक्त दोनों दृष्टियों के आधार पर शुक्ल जी का अनुभाव को शारीरिक मानने वाला मत तर्क-संगत प्रतीत होता है।

संचारीभाव :–

शुक्ल जी की दृष्टि में किसी मूल भाव को पुष्ट करने वाला, तीव्र करने वाला, व्यापक बनाने वाला, प्रभविष्णु करने वाला मनोविकार ही संचारी हो सकता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि एक भाव दूसरे भाव का संचारी होकर तभी आ सकता है जब उसका विषय वही हो जो प्रधान भाव का आलम्बन है, उसकी कोई अपनी गति या प्रवृत्ति न हो, वह स्थायी भाव को उसके लक्ष्य एवं प्रवृत्ति से हटाने वाला न हो[2] वरन् उसको पुष्ट करने के पश्चात् वह उसी में विलीन हो जाता हो। जब आलम्बन से उसका विषय भिन्न होता है तब भी उसकी अपनी कोई गति या प्रवृत्ति नहीं होती, प्रधान भाव के साथ उसका रूपान्तर लगा रहता है[3]। आलम्बन एक होने पर भी यदि दो भावों की गति और प्रवृत्ति परस्पर भिन्न है तो उनके बीच स्थायी एवं संचारी का सम्बन्ध नहीं हो सकता[4]। तात्पर्य यह कि शुक्ल जी स्थायी एवं संचारी में अंगांगि भाव-सम्बन्ध मानते हैं, कार्यकारण भाव-सम्बन्ध नहीं। इस सिद्धान्त के आधार पर शुक्ल जी साहित्यिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट कई संचारियों का खण्डन करते हैं जो किसी स्थायी भाव के अंग बन कर नहीं आते। जैसे, साहित्यशास्त्र के कई

1—रस मीमांसा पृ० २१५. 2— वही पृ० [illegible]
3— वही पृ० [illegible] 4— वही पृ० [illegible]

ग्रन्थों में शारीरिक श्रम और गर्भ आदि के कारण उत्पन्न आलस्य को संचारी कहा गया है। शुक्ल जी इसका खण्डन करते हैं क्योंकि इस अवस्था में किसी स्थायी भाव के साथ आलस्य का सीधा लगाव नहीं रहता।

शुक्ल जी के मतानुसार संचारी के अन्तर्गत भाव के पास तक पहुँचने वाले अर्थात् स्वतन्त्र विषय-युक्त और लक्ष्य-युक्त मनोविकार और मन के क्षणिक वेग ही नहीं बल्कि शारीरिक और मानसिक अवस्थायें तथा स्मरण, वितर्क आदि अन्तःकरण की और वृत्तियां भी आती हैं[1]। अन्य अन्तःकरण वृत्तियां, जिस प्रकार भय-लेशयुक्त ऊहा, शंका संचारी के भीतर रखी गई हैं, उसी प्रकार हर्षलेश युक्त ऊहा-आशा और विषाद लेशयुक्त ऊहा-नैराश्य को भी रख सकते हैं[2]। शुक्ल जी की दृष्टि में लक्षण ग्रन्थों के भीतर वर्णित ३३ संचारी उपलक्षण मात्र हैं। उनकी दृष्टि में संचारी और भी हो सकते हैं, जिस प्रकार स्मृति है उसी प्रकार विस्मृति भी रखी जा सकती है[3]। अन्यत्र उन्होंने चकपकाहट का नाम संचारियों के भीतर लिया है जो प्राचीन लक्षण ग्रन्थों में नहीं मिलता[4]।

शुक्ल जी द्वारा निरूपित प्रथम प्रकार के संचारियों के अन्तर्गत स्वतन्त्र आलम्बन वाले संचारी आते हैं। जैसे, गर्व, लज्जा, असूया आदि। इनका विभाजन आलम्बन के आधार पर किया गया है। स्थायी का आलम्बन सामान्य कोटि का होता है और इन कतिपय संचारियों का विशिष्ट कोटि का। इसीलिए ये भावावस्था तक ही रह जाते हैं क्योंकि इनके आलम्बनों में सामान्यता की कमी के कारण साधारणीकरण की क्षमता नहीं रहती[5]।

शुक्ल जी की दृष्टि से दूसरे प्रकार के संचारियों के अन्तर्गत मन के क्षणिक वेग जैसे, औत्सुक्य, ग्लानि, आवेग, अमर्ष, त्रास, हर्ष, विषाद आदि आते हैं। संचारी स्थायी भाव से अंगांगि भाव से निबद्ध रहते हैं। जैसे, त्रास भय से, विषाद शोक से, जड़ता आश्चर्य से, अमर्ष और उग्रता क्रोध से अंगांगि भाव से निबद्ध हैं[6]।

तीसरे प्रकार के संचारियों के अन्तर्गत अन्तःकरण की वृत्तियां स्मृति, चिन्ता, वितर्क, मति आदि आती हैं। किन्तु काव्य में ये अन्तःकरण वृत्तियां संचारी का रूप तभी धारण करेंगी जब वे भाव-प्रेरित होंगी, बुद्धि-व्यापार जन्य नहीं; जब वे भाव के शासन के भीतर रहकर उसके लक्ष्य के अनुकूल

१–रस-मीमांसा पृ० २०५ — २– वही पृ० २१५
३– वही पृ० २१६ — ४–गो० तु० पृ० १०७
५–रस-मीमांसा पृ० २०७ — ६– वही पृ० २०८ से २१०

चलती होगी, जिससे प्रभाव-रूप में श्रोता या दर्शक का ध्यान भाव पर रहे, इन अन्तःकरण वृत्तियों के ब्यौरों पर नहीं[1]।

चतुर्थ प्रकार के संचारियों के भीतर दैन्य, मद, जड़ता, चपलता इत्यादि मानसिक अवस्थाओं का समावेश होता है, किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि ये मानसिक अवस्थायें किसी स्थायी भाव से प्रवर्तित होने पर ही संचारी का रूप धारण कर सकती हैं। स्वतन्त्र होने पर ये मानसिक अवस्थायें मनुष्य में प्रकृतिस्थ होकर शील का रूप धारण कर लेंगी। भावों के प्रत्यक्ष सम्बन्ध से संचारियों के रूप में जहां इन मानसिक अवस्थाओं की अभिव्यक्ति होती है वहां उनमें प्रधान भावों के प्रभाव से बहुत कुछ वेग आ जाता है[2]। उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकला कि स्थायी एवं संचारी में स्वामी तथा सेवक का सम्बन्ध रहता है।

शुक्ल जी ने पंचम प्रकार के संचारियों के अन्तर्गत भाव द्वारा समुपस्थित शारीरिक अवस्थाओं का समावेश किया है। जैसे, श्रम, अंग, ग्लानि, निद्रा, विबोध, मरण, व्याधि, अपस्मार आदि। इस प्रकार की शारीरिक अवस्थाओं का समावेश संचारियों के अन्तर्गत इसलिए हुआ है कि उनसे भी भाव की तीव्रता या व्यापकता के अनुभव में सहायता पहुँचती है[3]। शुक्ल जी की दृष्टि में जो शारीरिक अवस्था किसी भाव के प्रभाव से उत्पन्न न होकर यों ही अन्य प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न होती है वह भाव के संचारियों में नहीं आ सकती। यों ही किसी का सो जाना अथवा यों ही सोते हुए मनुष्य का जाग पड़ना निद्रा एवं विबोध नामक संचारी के उदाहरण नहीं हो सकते। प्रिय के ध्यान में सुख का अनुभव करते करते नायिका का सो जाना और विरह-वेदना से नींद न आना क्रमशः निद्रा एवं विबोध के उदाहरण होंगे।[4]

शुक्ल जी के मत के अनुसार जो भाव, वेग आदि नियत संचारियों में रखे गये हैं वे कभी कभी प्रधान होकर भी आते हैं। यह प्रधानता दो[5] प्रकार की हो सकती है—

१—वह प्रधानता जो किसी नियत प्रधान भाव के स्फुट न होने से प्रतीत हो। जैसे, लज्जा शृङ्गार के स्फुट न होने पर प्रधान रूप धारण कर लेती है।

१—रस मीमांसा पृ० २२१ से २२२   २— वही पृ० २२७
३— वही पृ० २२६   ४— वही पृ० २३३
५— वही पृ० २३४

२—वह प्रधानता जो नियत प्रधान भाव के स्फुट होने पर भी उसके ऊपर प्राप्त हो। जैसे, क्रोध असूया का संचारी होकर आ सकता है और जुगुप्सा गर्व का। इनके अतिरिक्त प्रधान भावों में परिगणित कोई भाव भी दूसरे प्रधान भाव का संचारी भाव होकर आ सकता है[1]। जैसे, रति और उत्साह में हास, युद्धोत्साह में क्रोध संचारी होकर जा सकता है। उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकला कि भावों में इदमित्थता नहीं है। परिस्थिति, आलम्बन तथा अवसर के अनुसार स्थायी संचारी हो सकता है।

रसावस्था में रसावयवों का पारस्परिक सम्बन्ध :—

शुक्ल जी रसावस्था में रसावयवों का संश्लेषण दध्यादि न्याय अथवा प्रपाणक न्याय के समान मानते हुए रसावयवों द्वारा रस की अभिव्यक्ति दधि अथवा प्रपाणक के समान मानते हैं। जिस प्रकार घी, चीनी आदि कई वस्तुओं को एकत्र करने से बढ़िया मिठाई बनती है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव आदि द्वारा रस का परिपाक होता है। इस दृष्टान्त से भी यही पता चलता है कि रस के अवयव परस्पर संश्लिष्ट रूप में आबद्ध होकर एक तीसरी नई वस्तु तैयार कर देते हैं।

रस-निर्णय वाली टिप्पणी[2] में शुक्ल जी ने बताया है कि दध्यादि न्याय के समान विभाव, अनुभाव, संचारी के संश्लेषण से रस सहृदय में उत्पन्न होता है। स्थायी भाव से संचारी, विभाव, अनुभाव का संयोग दूध और जमावन की तरह होता है। सब मिलकर संश्लिष्ट हो जाते हैं, एक हो जाते हैं, तब तीसरी वस्तु रस उत्पन्न होती है। रस-अवस्था में सब अपने स्वरूप को बदल देते हैं। सभी साधारणीकृत हो जाते हैं। जैसे दूध और मट्ठा अपना अपना स्वरूप बदलकर दही का रूप धारण कर लेते हैं, तद्वत् स्थायी भाव, विभावादि अन्य अवयवों के संयोग से रस का रूप धारण कर लेता है। अर्थात रसावयवों का ज्ञान रसावस्था में समूहावलम्बनात्मक ज्ञान-स्वरूप न होकर पानक-रस-न्याय अथवा दध्यादि-न्याय के समान अखण्ड कोटि का होता है। रस दशा में स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव का पारस्परिक सम्बन्ध संश्लिष्ट कोटि का हो जाता है। स्थायी और संचारी अंगांगि-भाव से मिल जाते हैं। स्थायी और विभाव कार्य-कारण सम्बन्ध से जुट जाते हैं तथा अनुभाव और स्थायी जन्य-जनक भाव से मिल जाते हैं।

१—रस-मीमांसा पृ० २३६ २— वही पृ० ४१४

रस-प्रक्रिया :—

शुक्ल जी की दृष्टि में रस-प्रक्रिया वस्तुतः सामान्यता की प्रक्रिया[1] है, जिसे साहित्यशास्त्र में साधारणीकरण कहते हैं।

साधारणीकरण की परिभाषा :—

शुक्ल जी के अनुसार काव्य में भाव के विषय का इस रूप में लाया जाना कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके—साधारणीकरण कहलाता है।[2] अर्थात् किसी कवि की कविता में दूसरे हृदय की समानता आलम्बन में लोक-धर्म की प्रतिष्ठा के कारण आती है। उपर्युक्त परिभाषा से दूसरा तत्व यह स्पष्ट हुआ की साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है कि जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है[3]। तात्पर्य यह है कि आलम्बन-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। साधारणीकरण में केन्द्रीय वस्तु आलम्बन का लोक-धर्मी स्वरूप है, अन्यथा सहृदय-मात्र के साथ उसका साधारणीकरण नहीं हो सकता; वह सबके भावात्मक सत्व पर समान प्रभाव नहीं डाल सकता; उसके आश्रय के साथ सभी सहृदयों का तादात्म्य नहीं हो सकता, फलतः रसानुभूति-प्रक्रिया में सहृदयों के व्यक्तित्व का परिहार नहीं हो सकता। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से अभिज्ञ होने के कारण शुक्ल जी ने अपनी साधारणी-करण की परिभाषा में आलम्बन के लोक-धर्मी स्वरूप पर सर्वाधिक मात्रा में बल दिया है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो यही अवगत होगा कि जीवन तथा साहित्य दोनों क्षेत्रों में किसी तरह की अनुभूति उत्पन्न करने में आलम्बन की सत्ता मुख्य है।[4] कवि अथवा श्रोता, पाठक आलम्बन के ही माध्यम से अपनी अनुभूति साधारणीकृत करने में समर्थ होते हैं। हमारे हृदय में प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावों के सामाजिक रूप की प्रतिष्ठा सामाजिक कोटि के आलम्बनों के दर्शन, सम्पर्क, प्रत्यभिज्ञान आदि से ही होती है। कवि में भावुकता की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आधार या उपादान वे ही हैं।[5] उदात्त कोटि की सौन्दर्य-भावना जगने का अर्थ है—मन में उदात्त कोटि

१—रसमीमांसा पृ० ४१९   २—चिन्तामणि, भा० २ पृ० ३०८

३—चिन्तामणि, पहला भाग पृ०३१३   ४— वही पृ० ३०८

५— वही पृ० ३३१

के आलम्बन का चित्र आना[1]। तात्पर्य यह कि सामाजिक कोटि का भाव उत्पन्न करने के लिए सामाजिक कोटि का विभाव आवश्यक है। इसी कारण शुक्ल जी भी सच्ची रसानुभूति के लिए भाव, विभाव का सामंजस्य आवश्यक ही नहीं अनिवार्य मानते हैं[2]। 'रसात्मक बोध के विविध रूप'' नामक निबन्ध में आलम्बन के सामाजिक स्वरूप की महत्ता पर विचार करते हुए उन्होंने यह बताया है कि जो व्यक्ति प्रत्यक्ष जीवन अथवा साहित्य में सामाजिक कोटि के आलम्बनों से रुचि नहीं रखता; उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ नहीं होता, वह काव्य का सच्चा प्रभाव ग्रहण नहीं कर सकता; वह सच्ची कविता में रुचि नहीं ले सकता[3]। यदि साधारणीकरण में शुक्ल जी के मुख्य सिद्धान्त आलम्बन-धर्म के साधारणीकरण को न मानें तो फिर किसी भी प्रकार की कविता से सहृदयों का साधारणीकरण तुरन्त सम्भव हो जायगा।

साधारणीकरण के तत्व :—

साधारणीकरण में आलम्बन के लोक-धर्मी स्वरूप पर सबसे अधिक बल देने का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि शुक्ल जी ने अपने विवेचन में साधारणीकरण के अन्य तत्वों की उपेक्षा की है। शुक्ल जी का कहना है कि जहां आचार्यों ने पूर्ण रस माना है वहां तीन हृदयों का समन्वय चाहिए—कवि, आलम्बन तथा सहृदय[4]। आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ हो सकता है।[5] उपर्युक्त वाक्य से स्पष्ट है कि शुक्ल जी साधारणीकरण में तीन तत्व मानते हैं—कवि, आलम्बन तथा सहृदय। जैसा कि अभी कहा जा चुका है कि शुक्ल-जी ने साधारणीकरण के मूल तत्व—आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर सर्वाधिक मात्रा में बल दिया है। वस्तुतः जिसे आलम्बन कहते हैं वह कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप है, वह पूरे कवि-कर्म से निर्मित हुआ है, इस प्रकार शुक्ल जी आलम्बनत्व धर्म पर बल देकर प्रकारान्तर से पूरे कवि-कर्म पर बल देते हैं। किन्तु प्रकारान्तर से बल देने के कारण कवि-कर्म पर बल आलम्बनत्व धर्म की तुलना में कम हो जाता है। शुक्ल जी की दृष्टि में कविता भावों का उद्रेक करने वाली ऐसी सूक्ति है, जो सहृदय के हृदय को तुरंत मुक्तावस्था में ला देती है[6]। इस वाक्य में सूक्ति पर बल है। सूक्ति पूरे कवि-कर्म अथवा काव्य-

१—चिन्तामणि पहला भाग पृ० ३३०. २— वही पृ० ३३८
३— वही पृ० ३३१ ४—रस-मीमांसा पृ० ६७, ६८
५— वही पृ० ६६ ६— वही पृ० १०४

शक्तियों से उत्पन्न होती है। इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी के साधारणीकरण में कवि-कर्म अथवा काव्य-शक्ति की उपेक्षा नहीं है। भट्टनायक के समान शुक्ल जी ने साधारणीकरण का सब महत्व काव्य- शक्तियों को नहीं दिया। इनकी दृष्टि में साधारणीकरण का सर्वाधिक सामर्थ्य लोक-धर्म वाले आलम्बन में है। शुक्ल जी की दृष्टि में साधारणीकरण का तीसरा तत्व सहृदय है। उनका कहना है कि साधारणीकरण-वेला में थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक-हृदय हो जाता है, उसका अपना हृदय नहीं रहता[1]। वस्तुतः काव्य में साधारणीकरण-सिद्धान्त का लक्ष्य सहृदय के हृदय को साधारणीकृत करना है। कवि को इस लक्ष्य में सफलता दिलाने का श्रेय लोकधर्मी कोटि के आलम्बन को है।

साधारणीकरण-प्रक्रिया की अवस्थायें :—

साधारणीकरण प्रक्रिया की अवस्थाओं पर शुक्ल जी ने स्पष्ट तथा क्रमबद्ध रूप में कहीं नहीं लिखा है किन्तु साधारणीकरण सम्बन्धी विवेचन में आये उनके वाक्यों से साधारणीकरण-प्रक्रिया की अवस्थायें निकाली जा सकती हैं। उदाहरणार्थ, साधारणीकरण की प्रक्रिया की अवस्थाओं के स्पष्टीकरण के लिए उनके निम्नांकित दोनों वाक्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं— "साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ हो सकता है[2]।" शुक्ल जी सर्व प्रथम साधारणीकरण-प्रक्रिया में कवि की अनुभूति में साधारणीकरण-स्थापन की क्षमता पर बल देते हैं। तदनन्तर आलम्बन से इन्द्रिय-सन्निकर्ष-स्थापन की आवश्यकता बताते हैं। उनका कहना है कि विषय के सामान्यत्व की ओर जब कवि की दृष्टि रहेगी तभी यह साधारणीकरण हो सकता है[3]। अर्थात् साधारणीकरण-प्रक्रिया की तीसरी अवस्था विषय के सामान्यत्व की ओर कवि की दृष्टि का लगना है। विषय के सामान्यत्व की ओर कवि-दृष्टि लगने से कवि हृदय में विषय का सामान्यीकरण होता है। तदनन्तर सामान्यीकृत कवि-हृदय द्वारा सामान्य धर्म वाले आलम्बन का चित्रण होता है। अन्तिम अवस्था में लोक-धर्मी आलम्बन के चित्रण को पढ़कर, सुनकर या नाटक में देखकर सहृदय के हृदय का साधारणीकरण हो जाता है। यह

१-चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ३१२
२-रस-मीमांसा पृ० ९१ ३- वही पृ० ९०

स्मरण रखना चाहिए कि सामान्य जीवन में भी लोक-धर्मी आलम्बन का दर्शन सहृदय के हृदय का साधारणीकरण कर सकता है।

साधारणीकरण का स्वरूप :—

शुक्ल जी के साधारणीकरण में कवि, विभाव तथा सहृदय—तीनों के साधारणीकरण के तत्व वर्तमान हैं। जिस काव्यात्मक अनुभूति में उक्त तीनों तत्वों का साधारणीकरण हो उसे शुक्ल जी उत्तम कोटि का साधारणीकरण अथवा रसानुभूति मानते हैं[1]। शुक्ल जी द्वारा निरूपित उत्तम कोटि की स्थिति लक्षण-ग्रन्थों द्वारा अनुमोदित प्रथम प्रकार की रसानुभूति अथवा पूर्ण रस-स्थिति है जिसमें कवि, विभाव तथा सहृदय तीनों का सामान्यीकरण हो जाता है, जिस भाव की व्यंजना काव्य में होती है उसी में सहृदय लीन हो जाता है तथा आश्रय के साथ उसका पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। जहाँ आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होकर कवि की भावना या अनुभूति के साथ साधारणीकरण होता है, जहाँ पाठक शीलद्रष्टा के रूप में आलम्बन आदि का प्रभाव ग्रहण करता है, जहाँ पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा अन्तःप्रकृति-वैचित्र्य का निदर्शन रहता है, जहाँ सहृदय भाव-व्यञ्जना की स्वाभाविकता मात्र का अनुमोदन करता है, जहाँ भाव की शील-दशा रहती है, जहाँ भाव, भावाभास, रसाभास, भावशबलता, भावोदय, भावसन्धि की स्थिति रहती है, वहाँ साधारणीकरण की मध्यम स्थिति उत्पन्न होती है[2]। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि रस की मध्यम कोटि की अनुभूति का सम्बन्ध काव्यगत पात्रों के चरित्र-चित्रण से विशेष रूप में है। किसी भी नाटक अथवा काव्य में कोई कुपात्र जब किसी सुपात्र के प्रति ऐसे भाव की व्यञ्जना अथवा कार्य-व्यापार करता है जैसे का वह सुपात्र पात्र नहीं होता तब कुपात्र के प्रति विरोधी भाव तथा सुपात्र के प्रति अनुकूल भाव सहृदय के मन में उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में जब काव्यगत तीसरा पात्र आकर कुपात्र के प्रति विरोधी भाव तथा सुपात्र के प्रति अनुकूल भाव की व्यञ्जना करता है तब सहृदय की अपूर्व तुष्टि होती है[3]। यह तुष्टि रस अथवा साधारणीकरण की मध्यम स्थिति है। इसमें श्रोता या पाठक अपनी पृथक सत्ता सँभाले रहता है और साधारणीकरण की उच्च स्थिति में वह अपनी पृथक सत्ता कुछ क्षणों के लिए आश्रय की भावात्मक सत्ता में

१—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ३१३. २— वही पृ० ३१४,३१५.
३— वही पृ० ३१६.

मिला देता है। सैद्धान्तिक रूप में शुक्ल जी ने मूलतः साधारणीकरण की पुरानी परम्परा का अनुकरण करते हुए युग के अनुकूल उसका विकास किया है। पुराने आचार्यों ने शृङ्गार, वीर तथा कभी कभी रौद्र रस को लेकर साधारणीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया था। शुक्ल जी ने इससे आगे बढ़कर अन्य रसों के साथ इसके प्रयोग की विधि बतलाई है। संस्कृत के आचार्यों ने नाटक तथा काव्य के साथ साधारणीकरण सिद्धान्त का प्रयोग किया है। शुक्ल जी ने इससे आगे बढ़कर अन्य साहित्य-रूपों के साथ इसके व्यावहारिक प्रयोग की विधि स्पष्ट की है। साधारणीकरण-सिद्धान्त के प्रतिपादन में उन्होंने आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर विशेष-बल देकर काव्य में लोक-धर्म की आवश्यकता एवं महत्ता विशेष रूप से प्रतिपादित की है। प्राचीन आचार्यों के समान शुक्ल जी साधारणीकरण का प्रभाव-व्यक्तित्व का परिहार, सत्वोद्रेक, संविद्विश्रान्ति, चिन्मयता, वेद्यान्तरस्पर्श-शून्यता आदि मानते हैं। आचार्य भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण का मूल आधार कवि की कारयित्री शक्ति है, अभिनवगुप्त की दृष्टि में व्युत्पन्न सहृदय तथा शुक्ल जी की दृष्टि में आलम्बन।

रस-व्याप्ति :—

शुक्ल जी ने रस की व्याप्ति बहुत विस्तृत मानी है। उन्होंने नये-नये विषयों—मनोविज्ञान, संस्कृति, दर्शन, इतिहास आदि के अध्ययन से उसके ढाँचे को अनेक दिशाओं में फैलाने का प्रयत्न किया है। मनोविज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन करके उन्होंने रस के मनोवैज्ञानिक पक्ष को विवृत करने का प्रयत्न किया है। रस का मनोवैज्ञानिक पक्ष स्थायी भाव, भाव, अनुभाव तथा संचारी भाव में समाहित था। इनके विभिन्न निर्माणकारी तत्वों, विभिन्न स्वरूपों, भेदों तथा दशाओं को विवृत कर शुक्ल जी ने रस की व्याप्ति विस्तृत कर दी है।

शुक्ल जी की भाव-परिभाषा से स्पष्ट है कि उसके भीतर प्रत्यय-बोध, अनुभूति, वेगयुक्त प्रवृत्ति, विशेष कर्मों की प्रेरणा—इन सबका गूढ़ संश्लेष होता है[1]। इससे निष्कर्ष निकला कि रस के भीतर अनुभूति, प्रवृत्ति, प्रेरणा, प्रत्यय-बोध का समावेश रहता है। भाव वेद्य (आलम्बन) प्रधान होता है[2]। आलम्बन रस का हेतु ही नहीं सबसे मुख्य तत्त्व है। उसके भीतर व्यक्ति, वस्तु, व्यापार, घटना, परिस्थिति, प्रकृतिखण्ड आदि गोचर पदार्थ आते हैं[3]।

१—रस-मीमांसा पृ० १६८. २—रस-मीमांसा पृ० १६२.
३—अभिभाषण पृ० ३३.

आलम्बन से शुक्ल जी का अभिप्राय केवल रस-ग्रन्थों में गिनाये आलम्बनों से ही नहीं वरन् उन सब वस्तुओं तथा व्यापारों से है जिनके प्रति हमारे मन में किसी भाव का उदय होता है[1]। शुक्ल जी ने विभाव-पक्ष के अन्तर्गत उन सब प्रस्तुत वस्तुओं तथा व्यापारों को ले लिया है जो हमारे मन में सौन्दर्य, माधुर्य, दीप्ति, कान्ति, प्रताप, ऐश्वर्य, विभूति इत्यादि की भावनाएँ उत्पन्न करते हैं[2]। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी की विभाव-सम्बन्धी व्यापक धारणा में वातावरण का तत्व भी आ जाता है। काव्य में वर्ण्य-तत्व का सम्बन्ध मुख्यतः विभाव-पक्ष से है। काव्यगत पात्र आलम्बन या आश्रय के भीतर आते हैं, आलम्बन की चेष्टायें, हाव आदि आलम्बनगत उद्दीपन के अन्तर्गत। आलम्बन-तटस्थ उद्दीपन के अन्तर्गत वन, पहाड़, विद्युत, ऋतु आदि प्रकृति के विभिन्न अवयव आते हैं। प्रकृति-वर्णन काव्य में आलम्बन रूप में भी आ सकता है यह पहले कहा जा चुका है। इस प्रकार विभाव की व्याप्ति मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी आदि सृष्टि के साधारण-असाधारण सभी गोचर पदार्थों तक फैली हुई है[3]। भावों का जीवन-प्रयत्न से सीधा लगाव होता है[4]। मनुष्य के सारे व्यापार और वृत्तियाँ उसकी भाव-व्यवस्था के अनुसार परिचालित होती हैं[5]। उनकी दृष्टि में समस्त मानव-जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही हैं[6]। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया, व्यापार या चेष्टा का स्रोत किसी न किसी सहज प्रवृत्ति में निहित रहता है जो भाव का एक प्रमुख तत्व है। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य निकट की वस्तुओं पर अपना लक्ष्य केन्द्रित करता है। पात्रों की उक्तियाँ, चेष्टायें, कार्य, व्यापार प्रायः अनुभाव के भीतर स्थान पाते हैं। इस प्रकार प्रबन्ध काव्यों का कार्य-व्यापार तथा सम्वाद-तत्व बहुत दूर तक अनुभाव के भीतर आ जाता है। शील या चरित्र का मूल भी शुक्ल जी भावों के विशेष प्रकार के संगठन में मानते हैं[7]। मनुष्य की सभी सहज वृत्तियां मिलकर उसके स्वभाव की रचना करती हैं, तब उसके भावों की स्थायी तथा शील दशायें उसमें वृत्ति-वैशिष्ट्य उत्पन्न कर उसके चरित्र को एक विशेष मोड़ देती हैं, जिसके फलस्वरूप वह समाज में अन्यों से विशिष्ट प्रकार का व्यवहार करता है, जीवन में विशिष्ट प्रकार के कार्यों में प्रवृत्त होता है तथा जिसके कारण उसके जीवन में विशिष्ट प्रकार की घटनायें घटित होती हैं। इस प्रकार भावों तथा प्रवृत्तियों के आधार पर पात्रों के चरित्रों का निर्माण

१—रस-मीमांसा पृ० ३०२ २—चि० प० भा० पृ० ३६२.
३—रस-मीमांसा पृ० ११०. ४— वही पृ० १६३.
५— वही पृ० २११. ६—७—वही पृ० ५,

होता है। इस तरह काव्य का चरित्र-चित्रण-तत्व रस के अन्तर्गत आ जाता है। शुक्ल जी के अनुसार संचारी के अन्तर्गत भाव के पास तक पहुँचने वाले स्वतन्त्र विषय-युक्त और लक्ष्य-युक्त मनोविकार, मन के क्षणिक वेग, शारीरिक और मानसिक अवस्थायें तथा स्मरण, वितर्क आदि अन्तःकरण की मनोवृत्तियाँ आती हैं।

शुक्ल जी की दृष्टि में रसानुभूति में कल्पना एवं भावना का युगपद् व्यवहार होता है[1]। रस का आधार खड़ा करने वाला विभावन-व्यापार कल्पना से निर्मित होता है। सहृदय कल्पना के अभाव में साधारणीकरण-स्थापन में असमर्थ हो जाता है। काव्य की कल्पना को अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ता है। रस में कल्पना की प्रधानता के कारण ही रसानन्द कल्पना का आनन्द कहा जाता है। इस तरह आधुनिक कल्पना-तत्व तक रस की व्याप्ति फैली हुई है।

रसानुभूति में बोध-वृत्ति का उपादान बराबर रहता है। शुक्ल जी का कहना है कि प्रकृत काव्य का सारा स्वरूप-विधान जगत या जीवन की किसी वस्तु या तथ्य की ओर संकेत करता है। वही वस्तु या तथ्य कल्पना द्वारा उपस्थित काव्य-सामग्री को व्यवस्थित ढंग से संयोजित करके एक कृति का स्वरूप देता है[2]। अतः किसी वस्तु या तथ्य के मार्मिक पक्ष का प्रत्यक्षीकरण रसानुभूति में होता है[3]। किसी वस्तु या तथ्य के मार्मिक पक्ष के प्रत्यक्षीकरण में बोधवृत्ति का समावेश बराबर रहता है[4]। इस प्रकार रस के भीतर बुद्धि-.. भी आ जाता है। रस-टिप्पणी में शुक्ल जी ने बताया है कि रस में भाव, ज्ञान, अनुभूति, इच्छा या संकल्प सबका संश्लेष रहता है[5]। इस संश्लेषण में प्रधानता रहती है—भावात्मक पक्ष की। इस उक्ति से यह निष्कर्ष निकलता है कि रस का विस्तार बुद्धि तथा इच्छा-तत्वों तक फैला हुआ है।

रस के भीतर ऐतिहासिक तत्व, युगचेतना, दार्शनिक तथ्य तथा सांस्कृतिक तत्व का समावेश कर शुक्ल जी ने रस की भूमि को बहुत विस्तृत कर दिया है। घटनाओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों को शुक्ल जी विभाव के भीतर रखते हैं[6]। अतः ऐतिहासिक घटनायें, परिस्थितियाँ तथा व्यक्ति विभाव के भीतर आयेंगे। ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा घटनाओं से उत्पन्न जनता की चित्त-

---

१—काव्य में रहस्यवाद पृ० ७६, २—रस-मीमांसा पृ० ३३८,
३—रस-मीमांसा पृ० ३३७, ४— वही पृ० ३३७,
५— वही पृ० ४०६ ६—अभिभाषण पृ० ३३

वृत्तियों का सम्बन्ध स्थायी भाव के एक प्रमुख तत्व से है। यह बात शुक्ल जी के इतिहास-विवेचन के प्रसंग में बताई जा चुकी है। युग-चेतना में अनुराग, उत्साह, भय, अवसाद, आशा, निराशा, विश्वास, धैर्य आदि भाव आते हैं। इनका सम्बन्ध रस के मूल तथा संचारी भावों से बैठ जाता है।

शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य का लक्ष्य जीवन या जगत से सम्बन्ध रखने वाली किसी वस्तु या तथ्य के हृदय-ग्राह्य पक्ष का प्रत्यक्षीकरण तथा उसके प्रति जागरित हृदय की वृत्तियों का विवरण देना रहता है[1]। अतः शुद्ध, सच्चे काव्य में दो पक्ष अवश्य रहते हैं—जगत या जीवन का कोई तथ्य तथा उसके प्रति किसी प्रकार की अनुभूति[2]। इससे निष्कर्ष यह निकला कि अनुभूति का प्राण-तत्व जगत या जीवन का कोई तथ्य रहता है। शुक्ल जी हृदय की अनुभूति को ही साहित्य में रस कहते हैं[3]। जगत या जीवन के तथ्य का सम्बन्ध दर्शन से रहता है। इस प्रकार रस का सम्बन्ध दार्शनिक तथ्य से घनिष्ठ रूप में स्थापित हो जाता है। भक्तिकाल के सामान्य परिचय में एक स्थल[4] पर उन्होंने लिखा है कि प्रेम-स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भक्त कवियों को उक्त प्रकार की ईश्वर विषयक धारणा कहाँ से मिली। उत्तर है—सगुणोपासना से सम्बन्ध रखने वाले भारतीय दर्शनों से। और इधर भारतीय दर्शनों द्वारा प्राप्त प्रेम-स्वरूप ईश्वर से लाया गया मनुष्य का सामान्य रूप रस में मिलता है। इस प्रकार दार्शनिक तथ्य रस की सीमा के भीतर आ जाता है। शुक्ल जी ने एक ओर लोक-धर्म को भारतीय दर्शन की परम्परा का सबसे प्रवहमान सूत्र बताते हुए तुलसी के काव्य में उसे स्पष्ट रूप से दिखाने का प्रयत्न किया है, दूसरी ओर लोक-धर्म को रस की कसौटी के रूप में निरूपित किया है। इस प्रकार शुक्ल जी द्वारा दार्शनिक तथ्य का सम्बन्ध रस से स्थापित हो जाता है। सर्वभूत को आत्मभूत करना, लोक-हृदय में व्यक्ति-हृदय का लीन होना रस-दशा है—और इधर सब दर्शनों का लक्ष्य अद्वैत-तथ्य की सिद्धि प्राप्त करना है। दर्शन के इस अद्वैत-तथ्य को कवि या सहृदय हृदय की जागरित अनुभूति द्वारा, भावना की प्रक्रिया द्वारा अनुभव करता है तथा दार्शनिक बुद्धि-प्रक्रिया द्वारा। दर्शन तथा रस दोनों के लक्ष्यों की एकता द्वारा भी यही सिद्ध होता है कि दार्शनिक तथ्य

१—रस-मीमांसा पृ० ३३६ २—वही पृ० ३३७

३—अभिभाषण पृ० ४३ ४—हि० सा० का इति० पृ० ७०, ७१

शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस के भीतर समाहित है। शुक्ल जी का कहना है कि हम अपने नित्य के व्यवहार में हृदय-साम्य का अनुभव परप्रतीति अथवा रसानुभूति द्वारा करते हैं[1]। हृदय-साम्य का ज्ञान ही सभी दर्शनों का लक्ष्य है। इस प्रकार भी दार्शनिक तथ्य रसानुभूति के भीतर आ जाता है। वस्तुतः भारतीय रस-सिद्धान्त भारतीय दर्शन की उपज है। अतः शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस-व्याप्ति में दर्शन का समावेश होना स्वाभाविक है।

विभिन्न देशों की विभिन्न संस्कृतियों में देशकालानुसार भिन्नता होते हुए भी अनेक सामान्य मानसिक दशाओं द्वारा उनमें एकता या साम्य का तत्व भी पाया जाता है। एकता या साम्य के इन्हीं तत्वों द्वारा दो संस्कृतियों में समन्वय होता है। सामान्य मानसिक दशाओं का सम्बन्ध रस की विभिन्न भाव-दशाओं से हैं। इस प्रकार सांस्कृतिक तत्वों का समावेश रस के भीतर हो जाता है। किसी देश की संस्कृति का सम्बन्ध सामाजिकता, चिन्मयता, हृद-विस्तार आदि से होता है। सामाजिकता, चिन्मयता तथा हृद्विस्तार नामक तत्व रस-स्वरूप के भीतर आते हैं। इस प्रकार भी रस की सीमा सांस्कृतिक तत्वों तक फैली हुई दिखाई पड़ती है।

शुक्ल जी ने रस की मध्यम स्थिति के भीतर भाव की शीलदशा[2], भाव-स्थिति[3], रसाभास, भावाभास, भावशबलता, भावोदय, भावसंधि[4] को रखकर मनुष्यचरित्र के सूक्ष्म भेदोपभेदों, आदर्श के साथ साथ यथार्थ-पक्ष तथा मानव-चरित्र की विलक्षणताओं को कलात्मक ढंग से अंकित करने वाले काव्यों को भी रसवादी काव्य के भीतर स्थान दिया है। रस की निकृष्ट दशा के भीतर आचार्य शुक्ल चमत्कारवादियों के कुतूहल को लेकर रस की व्याप्ति चमत्कार-वादी काव्यों तक फैला देते हैं[5]।

रसात्मक बोध के विभिन्न स्वरूपों के भीतर शुक्ल जी ने प्रत्यक्ष रूप-विधान तथा स्मृत रूप-विधान-जन्य अनुभूतियों को रसानुभूति मानकर जीवन की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अन्तर्गत रखकर रस की सीमा समग्र जीवन तक व्याप्त कर दी है।

शुक्ल जी की दृष्टि में रस का सम्बन्ध काव्य के अन्य तत्वों—अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य, ध्वनि आदि से घनिष्ठ कोटि का है। यह तथ्य इसी प्रसंग में आगे विवेचित किया गया है। इनसे निष्कर्ष

१—जायसी-ग्रन्थावली-भूमिका पृ० २ के आधार पर।
२—अभिभाषण पृ० ८५, ३—काव्य में रहस्यवाद पृ० ४६,५०
४—रस-मीमांसा पृ० ६१,६२, ५—अभिभाषण पृ० ८६,

यह निकलता है कि रस की व्याप्ति काव्य के उपर्युक्त विभिन्न तत्वों तक फैली हुई है।

शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस-व्याप्ति सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उनके द्वारा निरूपित रस साहित्य तथा जीवन के प्रत्येक तत्व में समाहित है, मनुष्य रस-तत्वों को धारण करने से ही जीता है, उसके जीवन की सार्थकता रस को अपनाने में है। इसी प्रकार उनकी दृष्टि में साहित्य भी रस के बिना अस्तित्व में नहीं आ सकता। साहित्य में से यदि रस-तत्व निकाल दिया जाय तो उसमें कुछ भी शेष नहीं रहेगा। इस विवेचन से यह विदित होता है कि शुक्ल जी अपने सिद्धान्त के प्रति कितने अनन्य थे, अन्यथा वे रस की इतनी विस्तृत व्याप्ति आविष्कृत करने में सफल न होते।

रस का स्वरूप :—

शुक्ल जी की दृष्टि में रस का स्वरूप आनन्दात्मक कोटि का न होकर सुखदुखात्मक[1] कोटि का होता है, किन्तु निर्वैयक्तिकता तथा सामाजिकता के कारण वह क्षोभकारक नहीं होता, लौकिक सुखदुखात्मक रूप से भिन्न कोटि का होता है[2]। सत्वोद्रेकता[3] के कारण वह संविद्विश्रान्ति कोटि का हो जाता है।

शुक्ल जी रस-स्वरूप को अलौकिक, अनिर्वचनीय अथवा ब्रह्मानन्द-सहोदर कोटि का न मानकर लौकिक कोटि का मानते हैं[4]। इसीलिए उसे मनोमय कोश से आगे नहीं बढ़ने देते[5]। इसीलिए लोक-हृदय में लीन होने की दशा को वे रस-दशा कहते हैं। उनकी दृष्टि में संसार की अनुभूतियाँ ही उदात्त रूप में रस-रूप बन जाती हैं[6]। उनके मतानुसार रसानुभूति वास्तव में जीवन के भीतर की ही अनुभूति है, आसमान से उतारी हुई कोई वस्तु नहीं[7]। रस को लौकिक मानने के कारण ही शुक्ल जी प्रत्यक्ष रूप-विधान तथा स्मृत रूप-विधान-जन्य अनुभूतियों को रस-तुल्य मानते हैं। कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित अनुभूति आचार्यों ने रस-स्वरूप के भीतर रखी थी, किन्तु प्रत्यक्ष तथा स्मृत-रूपों द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रस-स्वरूप धारण कर लेती है। इसका विवेचन अभी तक नहीं हुआ था। रस

१—अभिभाषण पृ० ४१, २—चि० प० भा० पृ० ३३६
३— अभिभाषण पृ० ४०, ४—चि० प० भा० पृ० ३३६
५—का० में रह० पृ० ३७. ६—चि० प० भा० पृ० ३४४,
७—चि० प० भा० पृ० ३३६,

के इन्हीं दो स्वरूपों की ओर शुक्ल जी ने पाठकों का ध्यान 'रसात्मक बोध के विविध रूप' नामक निबन्ध में आकर्षित किया है। प्रत्यक्ष रूप-विधान में उन्होंने प्रत्यक्ष जीवन से प्रेम, करुणा, क्रोध, हास्य, भय, उत्साह, घृणा के आलम्बनों तथा प्रकृति को लेकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उक्त भावों तथा विषयों से सम्बन्ध रखने वाले सामान्य अथवा लोक-धर्मी कोटि के आलम्बनों को देखकर सहृदय के हृदय में उत्पन्न होने वाली अनुभति रस-स्वरूप कोटि की होती है[1]। स्मृत रूप-विधान के भीतर शुक्ल जी ने विशुद्ध स्मृति[2], प्रत्यभिज्ञान[3] तथा स्मृत्याभास कल्पना[4] द्वारा निरुपित विविध रूपों से उद्भूत अनुभूतियों को रसानुभूति कोटि का सिद्ध कर उन्हें रस-स्वरूप के भीतर रखने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार हमारी आँखों के सामने आए हुए कुछ रूप-व्यापार[5] हमें रसात्मक भावों में मग्न करते हैं उसी प्रकार भूत-काल में प्रत्यक्ष की हुई परोक्ष वस्तुओं का वास्तविक स्मरण[6] अथवा उसके किसी एक अंश को देखकर उसके पूर्ण स्वरूप का स्मरण[7] अथवा अध्ययन या श्रवण द्वारा अनुभव-गोचर की हुई अतीत कालीन वस्तुओं, व्यक्तियों तथा स्थलों के स्मारकों, भग्नावशेषों को देखकर[8] अथवा पढ़कर[9] उसके पूर्ण स्वरूप का स्मरण,[10] प्रत्यभिज्ञान[11] तथा अनुमान[12] भी रसात्मक होता है।

शुक्ल जी की दृष्टि में रस भिन्न भिन्न भावों का भिन्न भिन्न रूप है[13]। इस-लिए उन्होंने रस को आस्वाद रूप कहा है[14]। वे रस को तन्मयीभवन कोटि का मानते हैं। उनका कहना है कि रसावस्था में जो वस्तु दूर है, उसका वर्णन पढ़ या सुनकर अथवा उसका दृश्य नाटक में देखकर हम कल्पना द्वारा उसकी मूर्ति अपने मन में लाकर उसके चित्र में अथवा उससे उद्भूत मार्मिक तथ्यों, विचारों, संन्देशों, भावों में तन्मय हो जाते हैं[15]। शुक्ल जी के मतानुसार इसी तन्मयता की स्थिति में रसानन्द प्राप्त होता है, इसलिए वे उसका स्वरूप तन्मयीभवन कोटि का मानते हैं।

१-नि० प० भा० पृ० ३३६ से ३४४, २- नि० प० भा० पृ० ३४५ से ३४८,
३- वही पृ० ३४८ से ३५०, ४- वही पृ० ३५० से ३६०,
५+६- वही पृ० ३४५, ७- वही पृ० ३४८.
८ वही पृ० ३४८ से ३५० ९- वही पृ० ३५०,
१०- वही पृ० ३५१, ११- वही पृ० ३५३,
१२—नि० प० भा० पृ० ३१३. १३—रस-मीमांसा पृ० २५५.
१४-रस मीमांसा पृ० २०१. १५—नि० प० भा० पृ० ३३६.

शुक्ल जी रस का स्वरूप लोकसत्तात्मक कोटि का मानते हैं। इसी कारण उनकी दृष्टि में वे ही भाव रस-स्थिति को पहुँचने योग्य माने गये जिनमें सर्वजन-सुलभता वर्तमान है[१]। शृंगार रस की श्रेष्ठता भी उन्होंने इसी व्यापकता की कसौटी पर निश्चित की है[२]। शुक्ल जी का कहना है कि इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य जाति जगत के साथ तादात्म्य का अनुभव चिरकाल से करती चली आई है[३]। उनके मत से लोक-हृदय में लीन होने की दशा का नाम रस दशा है[४]। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उनके द्वारा निरूपित रस विश्वात्मक कोटि का है। लोक-हृदय की सामान्य वासनात्मक सत्ता पर स्थित उनका साधारणीकरण-सिद्धान्त भी उनके द्वारा निरूपित रस के स्वरूप को विश्वात्मक कोटि का ही सिद्ध करता है। रस-स्वरूप की इसी विशेषता के कारण शुक्ल जी के कवि तथा सहृदय कविता द्वारा अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा तथा निर्वाह में समर्थ होते हैं[५]। शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस की उत्तम स्थिति से यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार रस में मानवजीवन का नित्य एवं प्रकृत स्वरूप वर्तमान है[६]। जीवन के नित्य एवं प्रकृत स्वरूप को झलकाने के कारण ही वे अतीत के खण्डहरों एवं ऐतिहासिक भग्नावशेषों के दर्शन में रस की सत्ता मानते हैं।

शुक्ल जी का कहना है कि रस-स्थिति में हृदय के बन्धन खुल जाते हैं[७], वैयक्तिकता के तत्व नष्ट हो जाते हैं[८], आंखों के आवरण भग्न हो जाते हैं। शुक्ल जी द्वारा हृदय की मुक्तावस्था को रस-दशा कहना, साधारणीकरण में हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाने की शक्ति मानना[९] तथा उनके द्वारा निरूपित प्रत्यक्ष जीवन की रसानुभूति में सहृदय की पृथक् सत्ता की धारणा का छूट जाना इस बात[१०] को प्रमाणित करता है कि उनके द्वारा निर्मित रस का स्वरूप 'भग्नावरणाचित' कोटि का है। शुक्ल जी के अनुसार रस-दशा में काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपनी योग-क्षेम की वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं; इस स्थिति में अहं का विसर्जन हो जाता है[११]। अर्थात् रस-दशा में वैयक्तिकता के सभी तत्वों का विलयन हो जाता है। शुक्ल

१—रस-मीमांसा पृ० १६७, २०२. २०३ २—चि० प० भा० पृ० १३१.
३—चि० प० भा० पृ० १६३. ४— वही पृ० २०६,
५—अभि० पृ० ६६, ७०. ६—चि० प० भा० पृ० २५६,
७—चि० प० भा० पृ० २५४. ८—वही पृ० ३३६.
९—वही पृ० ३१३, ३३२. १०—वही पृ० ३३७.
११—वही पृ० ३३६.

जी अतीत की स्मृतियों, प्रत्यभिज्ञानों आदि में रस-दशा इसीलिए मानते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में अतीत सहृदय की आँखों को खोलता है, सहृदय के हृदय के अनेक बन्धनों को तोड़ता है, उसको कियत् काल के लिए मुक्ति-लोक में ले जाता है[1]। शुक्ल जी की दृष्टि में रसदशा की अनुभूति अस्तव्यस्त अथवा विच्छिन्न भावावस्था नहीं, असंगतिपूर्ण या औचित्यहीन भावस्थिति नहीं वरन् सहृदय के भाव का व्यवस्थित तथा संश्लिष्ट रूप है। इसीलिए वे रसावस्था में रसावयवों का ज्ञान पानक-रस-न्याय के समान अखण्ड कोटि का मानते हैं। अर्थात आचार्य के मत में रसानुभूति का स्वरूप अखण्ड कोटि का होता है।

शुक्ल जी की रस-परिभाषा अकेले ही साहित्यदर्पणकार द्वारा निरूपित रस-स्वरूप की अनेक विशेषताओं—सत्वोद्रेकता, चिन्मयता, वेद्यान्तरस्पर्श-शून्यता, स्वाकारवदभिन्नता को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। उनकी रस-परिभाषा में प्रयुक्त मुक्त हृदय का अर्थ अपनी पृथक्-सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आप को बिल्कुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाना है[2]। अन्यत्र उन्होंने भाव से प्रभावित होने, उसमें बिल्कुल रम जाने को रस नाम से अभिहित किया है[3]। इस प्रकार हृदय की मुक्तावस्था, एवं रसात्मकता से सम्बद्ध रमणीयता[4] रस के स्वरूप को वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता के गुण से भर देती है। एक दूसरे स्थल पर शुक्ल जी ने लोक-हृदय में लीन होने की दशा का नाम रस दशा कहा है, इससे रस-स्वरूप में स्वाकारवदभिन्नता का गुण आ जाता है। शुक्ल जी अतीत में हृदय का मुक्तिलोक मानते हैं जहाँ वह अनेक प्रकार के बन्धनों से छूट कर अपने शुद्ध रूप में रहता है[5]। हृदय का शुद्ध रूप ही तो स्वाकार है जिससे अभिन्नता रसावस्था में होती है जो शुक्ल जी के अनुसार अतीत के स्मृत रूपों तथा प्रत्यभिज्ञान रूपों से भी उद्भूत होती है। रसदशा में लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा आने से, संकुचित स्वार्थ-सम्बन्धों से ऊपर उठने के कारण चिन्मयता का गुण आ जाता है। शुक्ल जी द्वारा निरूपित रसावस्था में निज लाभ-हानि तथा सुख-दुख की वासना से मुक्त होने के कारण सत्वोद्रेकता की विशेषता आ जाती है। शुक्ल जी ने रस-स्वरूप के निरूपण में साहित्य-दर्पणकार के लोकोत्तर, आध्यात्मिक तथा अलौकिक तत्वों को छोड़ दिया है। इसीलिए उन्होंने रस के लोकोत्तरत्व, ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व तथा अलौकिकत्व का अर्थ अहं का विसर्जन, व्यक्तित्व का परिहार तथा हृदय की मुक्तावस्था लिया है[6]।

१—चि० प० भा० पृ० ३५५. २—वही पृ० १९२.
३,४—वही पृ० ५०. ५—चि प० भा० पृ० ३४५.
६—वही पृ० २२२.

रसानुभूति की विशेषतायें :–

रसानुभूति के मूल उपादानों, व्याप्ति, प्रक्रिया तथा स्वरूपगत लक्षण के विवेचन में रसानुभूति की कई विशेषताओं का उल्लेख हो चुका है। इस प्रसंग में केवल उसकी उन कतिपय विशेषताओं का विवेचन किया जायगा जो पहले विवेचित नहीं हो सकी हैं। शुक्ल जी की दृष्टि में रसानुभूति में भाव तथा ज्ञान दोनों के समन्वित कार्य की आवश्यकता पड़ती है। आचार्य की दृष्टि में रसबोध के लिए सर्व प्रधान आवश्यक अवयव आलम्बन की योजना है[1], जिसको पहले ज्ञानेन्द्रियाँ ही उपस्थित करती हैं। उसके इन्द्रियगोचर होने पर भावना उत्पन्न होती है। अर्थात् आलम्बन के विधान में प्रथमतः ज्ञानेन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं, तब हृदय का व्यापार होता है[2]। अतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य के मतानुसार ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है[3]।

रसानुभूति की सृष्टि करने के लिए काव्यकार या कवि में तथा उसका आस्वादन करने के लिए पाठक या श्रोता में कल्पना की स्थिति आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है[4]। रूप-व्यापार-विधान में भी उसे कल्पना की सहायता लेनी पड़ती है और वाणी-विधान में भी[5]। पूर्ण या सच्ची रसानुभूति के लिए कवि की विधायक कल्पना की समानधर्मिणी श्रोता या पाठक की ग्राहिका[6] कल्पना की भी आवश्यकता है। शुक्ल जी का मत है कि काव्य-सर्जन तथा आस्वादन दोनों में कल्पना की प्रधानता के कारण ही भारतीय प्राचीन आचार्यों ने कल्पित रूप-विधान में ही रसानुभूति का प्रतिपादन किया है[7]। कल्पित रूप-विधान के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल प्रत्यक्ष रूप-विधान तथा स्मृत रूप-विधान में भी रसानुभूति मानते हैं—इसका विवेचन रस-स्वरूप के विवेचन के प्रसंग में पहले हो चुका है।

रसानुभूति में विभाव-पक्ष की ही प्रधानता रहती है[8]। इसलिए रस का पूरा परिपाक विभाव पर निर्भर माना गया है। शुक्ल जी के मत से भाव के पूर्ण परिपाक के लिए आलम्बन की निर्दिष्ट भावना आवश्यक है[9]। रसानुभूति में विभाव-पक्ष की प्रधानता मानने के कारण ही आचार्य शुक्ल साधारणी-करण में केन्द्रीय वस्तु विभाव मानते हैं[10]। वे रसानुभूति उत्पन्न करने के लिए

१—रस-मीमांसा पृ० १४३. २—का० में रह०, पृ० ७७,
३—अभि० पृ० ५३. ४—चि० प० भा० पृ० २२०.
५—चि० प० भा० पृ० ३६१. ६—वही पृ० ३३३.
७—वही पृ० ३३१, ३३३. ८—का में रह० पृ. ७६.
९—का. में रह. पृ. ९२, १०—चि. प. भाग पृ. ३१३.

केवल विभाव का चित्रण भी पर्याप्त समझते हैं[1] तथा रस-विधायक कवि का काम श्रोता या पाठक के समक्ष भाव का रूप प्रदर्शित करना मानते हैं[2]। रसदशा में विभाव-पक्ष की मुख्यता के कारण ही वे विभाव एवं भाव-पक्षों के सामंजस्य में सच्ची रसानुभूति मानते हैं[3]। उनकी दृष्टि में रस की उत्तमता विभाव-पक्ष की शक्ति, औचित्य तथा सामान्यत्व पर ही निर्भर है। उनके मत से जहां विभाव-पक्ष शून्य या अशक्त हुआ कि मध्यम कोटि की रसदशा उत्पन्न हो जायगी और वह अभिव्यक्ति रसकाव्य न होकर भाव-व्यंजक काव्य में परिणत हो जायगी[4]; जहां आलम्बन में अनौचित्य आया कि पूर्ण रसानुभूति में कमी आ जायेगी[5]। शुक्ल जी के अनुसार रसानुभूति रमणीयात्मक कोटि की होती है। उनका कहना है कि रसावस्था में सहृदय का मन किसी भाव में रमता है[6]। किसी भाव में मन का रमना ही रमणीयता है। इस प्रकार रमणीयता शुक्ल जी द्वारा निरूपित रसानुभूति की एक प्रमुख विशेषता बन जाती है।

शुक्ल जी के अनुसार रसानुभूति सौन्दर्यानुभूति कोटि की होती है। रस में वृत्तियों, भावों एवं कर्मों की सुन्दरता रूपात्मक ढंग से ही मन में आती है। किसी के क्रोध, प्रेम, करुणा का स्मरण करते समय विशिष्ट प्रकार का रूप ही सामने आता है। ये विशिष्ट प्रकार के रूप इतने आकर्षक होते हैं कि उनके साथ हमारी अन्तस्सत्ता की तदाकारपरिणति तुरन्त हो जाती है[7]। शुक्ल जी के अनुसार जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकारपरिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी[8]। इस प्रकार अन्तस्सत्ता की तदाकारपरिणति ही उनकी दृष्टि में सौन्दर्यानुभूति है। इससे स्पष्ट है कि रसानुभूति सौन्दर्यानुभूति कोटि की होती है।

रसानुभूति का प्रधान लक्षण है अपने खास सुख-दुख, हानि-लाभ से उत्पन्न न होना, अपनी शरीर-यात्रा से सम्बद्ध न होना[9]। अपनी निर्वैयक्तिकता एवं सामाजिकता के कारण ही वह लोकोत्तर कही जाती है। वह विश्वव्यापिनी एवं चिरकालवर्तिनी कोटि की होती है[10]। शुक्ल जी ने रसानुभूति की सर्वाधिक प्रमुख दो विशेषतायें[11] निरूपित की हैं:—

१—रस-मीमांसा पृ. १४३. २—रस-मीमांसा पृ. ८६.
३—चि. प. भा. पृ. ३०६. ४—चि. म. प. भाग पृ. ३०६.
५—रसमीमांसा पृ. ६२. ६—का० में र० पृ० २७.
७—चि० प० भा० पृ० २२५. ८—चि० प० भा० पृ० २२५.
९—का० में र० पृ० ८. १०—[illegible] पृ० ५०
११—चि० प० भा० पृ० ३३१

१—अनुभूति-काल में अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार, और।

२—आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण, अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि रसानुभूति की दोनों विशेषतायें आलम्बन के लोकधर्मी होने पर ही उत्पन्न होंगी। यदि वह अशक्त, हीन अथवा अनुचित कोटि का हुआ तो सहृदय मात्र के साथ उसका साधारणीकरण नहीं होगा तथा उसके आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं होगा। इससे यह विदित होता है कि शुक्ल जी द्वारा निरूपित रसानुभूति औचित्य तथा नीति की भावनाओं से अनुशासित होती है। रसानुभूति की उपर्युक्त विशेषतायें शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस की उत्तम स्थिति में ही मिलती हैं। इसके अतिरिक्त एक मध्यम कोटि की भी रसानुभूति आचार्य शुक्ल जी निरूपित करते हैं जिसमें आलम्बन के साथ साधारणीकरण तथा आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं होता। इस स्थिति में सहृदय किसी दूसरे ही भाव का अनुभव करता है और आश्रय किसी दूसरे भाव का। आचार्य शुक्ल का कथन है कि ऐसी स्थिति में तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है, वह उसके किसी भाव का आलम्बन रहता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन हो जाता है[१]। इस प्रकार आलम्बन और आश्रय की स्थापना हो जाने पर साधारणीकरण की प्रक्रिया घटित होती है। इसलिए इस स्थिति में भी आचार्य शुक्ल रसानुभूति मानते हैं। यह स्थिति भाव की शील-दशा, भाव-दशा, भावाभास, रसाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावशबलता आदि मानव की शील-वैचित्र्य सम्बन्धी मानसिक स्थितियों की अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले काव्यों में आती है। रस की उपर्युक्त स्थितियों में आलम्बन, आश्रय आदि में औचित्य, संगति, व्यवस्था आदि की कमी होने के कारण शुक्ल जी इस प्रकार की रस-दशा को मध्यम कोटि की रसानुभूति मानते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि शुक्ल जी का रस-दर्शन सत्सौन्दर्य, सत् समन्वय, औचित्य तथा सद्व्यवस्था के सच्चे दर्शन में निहित है।

१—चि० प० भा० पृ० ३१५.

रस की प्रकृति :—

शुक्ल जी के मत में रस व्यञ्जना-प्रक्रिया से उत्पन्न होता है[1], व्यञ्जना पूर्ण होने पर ही रस की निष्पत्ति होती है, अतः वह व्यंग्य माना जाता है। किसी काव्योक्ति के वस्तुतः दो पक्ष होते हैं— सौन्दर्य पक्ष तथा अनुभूति पक्ष। शुक्ल जी के अनुसार सौन्दर्य पक्ष वाच्यार्थ में सुरक्षित रहता है तथा अनुभूति पक्ष व्यंग्यार्थ के माध्यम से व्यक्त होता है। इसलिए वे रस की प्रकृति को व्यंजनात्मक मानते हैं। व्यंजनात्मक प्रकृति रस की सूचकता, नवनवोन्मेषशालीनता तथा प्रभविष्णुता नामक विशेषताओं से संवलित कर देती है।

रस का कार्य :—

रस के कार्य पर कवि, कविता तथा सहृदय की दृष्टि से विचार किया जा सकता है। शुक्ल जी के अनुसार कवि की दृष्टि से रस का कार्य उसे पर-प्रतीति से भरना[2], उसे अद्वैत भूमिका में प्रतिष्ठित किये रहना[3], लोक-हृदय की पहचान में समर्थ बनाना[4] तथा सौन्दर्य पर मुग्ध होने की शक्ति भरना है[5]। सहृदय की दृष्टि से रस का कार्य उसे उसके स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर[6] अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा तथा निर्वाह में समर्थ बनाना[7], उसकी भावात्मक सत्ता का प्रसार करते हुए[8] उसके अनेक भावों का व्यायाम[9] तथा परिष्कार करना[10] तथा उसके मन में भाव-वेग उत्पन्न कर कर्म-प्रवृत्ति की ओर उन्मुख करना[11] है। शुक्ल जी के अनुसार रस कविता को उसके लक्ष्य की सिद्धि में समर्थ बनाता है। उनके मत में कविता का अन्तिम लक्ष्य है जगत और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकाल कर उसे विश्वव्यापिनी त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे[12]। आचार्य के मत में कविता के इस लक्ष्य की सिद्धि से उसके अन्य गौण लक्ष्य अपने आप सिद्ध हो जाते हैं[13]। कविता में जगत के मार्मिक पक्षों का चित्रण विभाव-चित्रण द्वारा होता है जो रस का हेतु है। विभाव-चित्रण अकेले रस-व्यंजना में समर्थ हो सकता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि शुक्ल जी के अनुसार रस कविता को उसके चरम लक्ष्य की सिद्धि में समर्थ बनाता है।

१- काव्य में रस० पृ० ४६. २- का० में रहस्य० पृ० ८१.
३- र० मीमांसा पृ० ११८. ४- चि० प० भाग पृ० ३६८.
५- चि० प० भाग पृ० ३०० ६- र० मीमांसा पृ० ६.
७- चिंतामणि पृ० ७०. ८- र० मीमांसा पृ० ७.
९-१०- काव्य में रस पृ० ६६. ११- र० मीमांसा पृ० [illegible]
१२- [illegible] पृ० ५५.

काव्य में रस का स्थान :—

आचार्य के मत में काव्य का आभ्यन्तर स्वरूप या आत्मा रस है[१], रीति, अलंकार आदि उसके बाह्य स्वरूप हैं[२]। शुक्ल जी की दृष्टि में प्रेम, उत्साह, आश्चर्य, करुणा आदि की व्यंजना के लिए ही आदिम कवियों ने अपना स्निग्ध कंठ खोला था। तब से आज तक संसार की प्रत्येक सच्ची कविता की तह में भावानुभूति आत्मा की तरह रहती चली आ रही है[३]। उनके अनुसार रीति काव्य-शरीर का अंग-विन्यास है[४]। अलंकार काव्यांगना के आभूषण है[५], गुण उसके आत्म-धर्म हैं[६], औचित्य उसके अवयवों की संगति अथवा व्यवस्था है[७]। उनकी दृष्टि में ध्वनि आत्मा का रूप ले नहीं सकती, क्योंकि उसकी सीमा में अलंकार-ध्वनि, वस्तु, ध्वनि आदि आ जाने से अतिव्याप्ति दोष आ जाता है[८]। तात्पर्य यह कि शुक्ल जी के मत में काव्य में रस का स्थान आत्म-रूप में प्रतिष्ठित है। अतः वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वही कविता का साध्य है।

काव्य के अन्य तत्वों के साथ रस का सम्बन्ध :—

काव्य में रस के स्थान-निरूपण से यह स्पष्ट है कि काव्य में अनुभूति ही मुख्य तत्व है। कवि इस अनुभूति को एक हृदय से दूसरे हृदय तक पहुँचाने के लिए रीति, अलंकार; औचित्य आदि अन्य साधनों से काम लेता है[९]। अतः रस तथा काव्य के अन्य तत्वों में साध्य तथा साधन का सम्बन्ध है। अलंकार भावों के उत्कर्ष बढ़ानेतथा अनुभूति को तीव्र एवं प्रभविष्णु बनाने के साधन हैं[१०]। रीति रस-परिपाक में सहायता पहुँचाती है। काव्य में उसकी सार्थकता रस के आश्रित होने में है[११]। रस और गुण का सम्बन्ध अन्वय-व्यतिरेक कोटि का है[१२]। काव्य में औचित्य रस की रक्षा करता है। उसकी

१—रसमीमांसा पृ १०५. २—रसमीमांसा पृ० १०५.
३—अभिभाषण पृ० ३०. ४—रसमीमांसा पृ० ३७०.
५—चि० प० भाग पृ० २५१ ६—वही पृ० ३६८.
७—अभिभाषण पृ० ३७ ८—रसमीमांसा पृ. ३६९.
९—का. में रह. पृ० ६९. १०—चि. प. भाग पृ. २४७.
११—अभिभाषण पृ. ९२. १२—रस-मीमांसा पृ. ३६८.

रस की प्रकृति :—

शुक्ल जी के मत में रस व्यञ्जना-प्रक्रिया से उत्पन्न होता है[1], व्यञ्जना पूर्ण होने पर ही रस की निष्पत्ति होती है, अतः वह व्यंग्य माना जाता है। किसी काव्योक्ति के वस्तुतः दो पक्ष होते हैं— सौन्दर्य पक्ष तथा अनुभूति पक्ष। शुक्ल जी के अनुसार सौन्दर्य पक्ष वाच्यार्थ में सुरक्षित रहता है तथा अनुभूति पक्ष व्यंग्यार्थ के माध्यम से व्यक्त होता है। इसलिए वे रस की प्रकृति को व्यंजनात्मक मानते हैं। व्यंजनात्मक प्रकृति रस की सूचकता, नवनवोन्मेषशालीनता तथा प्रभविष्णुता नामक विशेषताओं से संवलित कर देती है।

रस का कार्य :—

रस के कार्य पर कवि, कविता तथा सहृदय की दृष्टि से विचार किया जा सकता है। शुक्ल जी के अनुसार कवि की दृष्टि से रस का कार्य उसे पर-प्रतीति से भरना[2], उसे अद्वैत भूमिका में प्रतिष्ठित किये रहना[3], लोक-हृदय की पहचान में समर्थ बनाना[4] तथा सौन्दर्य पर मुग्ध होने की शक्ति भरना है[5]। सहृदय की दृष्टि से रस का कार्य उसे उसके स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर[6] अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा तथा निर्वाह में समर्थ बनाना[7], उसकी भावात्मक सत्ता का प्रसार करते हुए[8] उसके अनेक भावों का व्यायाम[9] तथा परिष्कार करना[10] तथा उसके मन में भाव-वेग उत्पन्न कर कर्म-प्रवृत्ति की ओर उन्मुख करना[11] है। शुक्ल जी के अनुसार रस कविता को उसके लक्ष्य की सिद्धि में समर्थ बनाता है। उनके मत में कविता का अन्तिम लक्ष्य है जगत और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकाल कर उसे विश्वव्यापिनी त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे[12]। आचार्य के मत में कविता के इस लक्ष्य की सिद्धि से उसके अन्य गौण लक्ष्य अपने आप सिद्ध हो जाते हैं[13]। कविता में जगत के मार्मिक पक्षों का चित्रण विभाव-चित्रण द्वारा होता है जो रस का हेतु है। विभाव-चित्रण अकेले रस-व्यञ्जना में समर्थ हो सकता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि शुक्ल जी के अनुसार रस कविता को उसके चरम लक्ष्य की सिद्धि में समर्थ बनाता है।

1- काव्य में रह० पृ० २६.   2- का० में रह० [illegible] पृ० ८१.
3- र० मीमांसा पृ० ११८.   4- चि० प० भाग पृ० २०८.
5- चि० प० भाग पृ० ३००   6- र० मीमांसा पृ० [illegible].
7- चिन्तामणि पृ० ७०.   8- र० मीमांसा पृ० [illegible].
9- का० में रह० पृ० [illegible].   11- र० मीमांसा पृ० [illegible].
12-13- चिन्तामणि पृ० ५७.

काव्य में रस का स्थान :—

आचार्य के मत में काव्य का आभ्यन्तर स्वरूप या आत्मा रस है[१], रीति, अलंकार आदि उसके बाह्य स्वरूप हैं[२]। शुक्ल जी की दृष्टि में प्रेम, उत्साह, आश्चर्य, करुणा आदि की व्यंजना के लिए ही आदिम कवियों ने अपना स्निग्ध कंठ खोला था। तब से आज तक संसार की प्रत्येक सच्ची कविता की तह में भावानुभूति आत्मा की तरह रहती चली आ रही है[३]। उनके अनुसार रीति काव्य-शरीर का अंग-विन्यास है[४]। अलंकार काव्यांगना के आभूषण हैं[५], गुण उसके आत्म-धर्म हैं[६], औचित्य उसके अवयवों की संगति अथवा व्यवस्था है[७]। उनकी दृष्टि में ध्वनि आत्मा का रूप ले नहीं सकती, क्योंकि उसकी सीमा में अलंकार-ध्वनि, वस्तु, ध्वनि आदि आ जाने से अतिव्याप्ति दोष आ जाता है[८]। तात्पर्य यह कि शुक्ल जी के मत में काव्य में रस का स्थान आत्म-रूप में प्रतिष्ठित है। अतः वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वही कविता का साध्य है।

काव्य के अन्य तत्वों के साथ रस का सम्बन्ध :—

काव्य में रस के स्थान-निरूपण से यह स्पष्ट है कि काव्य में अनुभूति ही मुख्य तत्व है। कवि इस अनुभूति को एक हृदय से दूसरे हृदय तक पहुँचाने के लिए रीति, अलंकार; औचित्य आदि अन्य साधनों से काम लेता है[९]। अतः रस तथा काव्य के अन्य तत्वों में साध्य तथा साधन का सम्बन्ध है। अलंकार भावों के उत्कर्ष बढ़ानेतथा अनुभूति को तीव्र एवं प्रभविष्णु बनाने के साधन हैं[१०]। रीति रस-परिपाक में सहायता पहुँचाती है। काव्य में उसकी सार्थकता रस के आश्रित होने में है[११]। रस और गुण का सम्बन्ध अन्वय-व्यतिरेक कोटि का है[१२]। काव्य में औचित्य रस की रक्षा करता है। उसकी

१–रसमीमांसा पृ १०५. २–रसमीमांसा पृ० १०५.
३–अभिभाषण पृ० ३०. ४–रसमीमांसा पृ० ३७०.
५–चि० प० भाग पृ० २५१ ६–वही पृ० ३६८.
७–अभिभाषण पृ० ३७ ८–रसमीमांसा पृ. ३६६.
९–का. में रह. पृ० ६५. १०–चि. प. भाग पृ. २४७.
११–अभिभाषण पृ. ६२. १२–रस-मीमांसा पृ. ३६८.

अनुपस्थिति में रस का प्रभाव बहुत हलका हो जाता है[1]। साधारणीकरण की स्थिति मध्यम कोटि की हो जाती है।[2] निष्कर्ष यह कि औचित्यभंग होने पर रस-भंग हो जाता है। अतः रस और औचित्य का सम्बन्ध रक्ष्य एवं रक्षक कोटि का है। शुक्ल जी की दृष्टि में वक्रता काव्य में अनुभूति या रस के आश्रित होकर ही रह सकती है, स्वतन्त्र या अंगी रूप में नहीं[3]। अतः रस एवं वक्रोक्ति में आश्रय एवं आश्रित का सम्बन्ध है। शुक्ल जी की दृष्टि में रस विभाव, अनुभाव तथा संचारी के संश्लिष्ट होने से ध्वनि-प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होता है। रस, रस-ध्वनि-रूप में स्वयं ध्वनि का एक भेद है। इस प्रकार रस का ध्वनि से अंतरंग कोटि का सम्बन्ध है।

शुक्ल जी के समीक्षा-सम्बन्धी अंग-सिद्धान्तः—

अलंकार-सिद्धान्त और शुक्ल जी :—

शुक्ल जी की दृष्टि में अलंकार, वर्णन की चमत्कारपूर्ण विशिष्ट प्रणालियाँ हैं[4], जिन्हे काव्यों से चुनकर प्राचीन आचार्यों ने नाम रखे और लक्षण बनाये। ये शैलियाँ न जाने कितनी हो सकती हैं। बीच बीच में नये आचार्य बराबर नये अलंकार बढ़ाते आये हैं। इसलिए यह न समझना चाहिए कि काव्य-रचना में उतनी ही चमत्कारपूर्ण शैलियों का समावेश हो सकता है, जितनी नाम रखकर गिना दी गई हैं। बहुत से स्थलों पर कवियों ने ऐसी शैली का अवलम्बन किया होगा, जिसके प्रभाव या चमत्कार की ओर लोगों का ध्यान न गया होगा और जिसका नाम न रखा गया होगा; यदि रखा भी गया होगा तो किसी दूसरे देश के रीति-ग्रन्थ में[5]। इस प्रसंग में शुक्ल जी ने अंग्रेजी साहित्य के बहुत से अलंकारों को हिन्दी-कविताओं में प्रयुक्त करके काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यही पद्धति उन्होंने जायसी के अलंकार-विवेचन में अपनाई है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि शुक्ल जी हिन्दी-समीक्षा को विश्व-समीक्षा की भूमिका में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। इनकी दृष्टि में अलंकार पहले से वर्तमान सुन्दर अर्थ या शोभा को और अधिक सुन्दर बनाते हैं[6]। सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार समर्थ नहीं, वे काव्यालंकार नहीं[7]। शुक्ल जी [illegible] अलंकार-परिभाषा —

१—[illegible] पृ. २७, २—चि. प. [illegible] पृ. ३१४.
३—[illegible] पृ. ७५. ४—[illegible] पृ. [illegible]
५—[illegible] पृ. २६०. ६—[illegible] पृ. २८१
७—चि. प. [illegible] पृ. २५३.

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

से सहमत दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रसंग में वे भोज की अलंकार-परिभाषा 'अलमर्थमलंकर्तु' का भी समर्थन करते हैं।

अलंकार की व्याप्ति :—

अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार की व्याप्ति वर्ण्य तक बढ़ा दी थी, अनेक वर्ण्यों को अलंकार घोषित कर दिया था। दण्डी ने तो रस, रीति, गुण; वृत्ति, प्रवृत्ति आदि सभी काव्य-तत्वों का समावेश अलंकार के भीतर कर दिया था[१]। इस पुराने गड़बड़झाले को रुद्रट, मम्मट और विश्वनाथ ने मिटाकर वर्ण्य-वस्तु और वर्णन-प्रणाली को एक दूसरे से अलग कर दिया था। शुक्ल जी ने इसी पक्ष का अवलम्बन करके अलंकारों का सम्बन्ध वर्णन-प्रणाली से ही स्थापित किया; वस्तु-विशेष से नहीं[२]। इसीलिए उन्होंने वर्ण्य से सम्बन्ध रखने वाले प्राचीन आचार्यों द्वारा निरूपित कतिपय अलंकारों की अलंकारता का खण्डन किया है[३]। जैसे, स्वभावोक्ति, उदात्त तथा अत्युक्ति को वे अलंकार नहीं मानते। इनकी दृष्टि में अलंकार काव्य के भावों, अर्थों तथा तथ्यों की शोभा बढ़ाते हैं, वे स्वयं में अर्थ या तथ्य नहीं हैं। अलंकारों की व्याप्ति के समय यह बात स्मरण करने योग्य है कि शुक्ल जी ने अलंकारों का सम्बन्ध कल्पना से स्थापित करके अपने अप्रस्तुत रूप-विधान-विवेचन के प्रसंग में कल्पना का विवेचन अलंकारों की स्पष्टता के लिए किया है[४]। इसके पूर्व भारतीय समीक्षा में अलंकारों की स्पष्टता के लिए कल्पना का विवेचन नहीं किया गया था।

कारण :—

शुक्ल जी काव्य में अलंकारों के प्रयोग का कारण मार्मिक भावना या तीव्र अनुभूति मानते हैं[५]। इसीलिए वे अलंकार को काव्य के अंतर से प्रगट होता

१—यच्च सन्ध्यग—वृत्त्यंग लक्षणाद्यमान्तरे।
व्या वर्णितमिदं चेष्टम् अलंकारतयैव नः॥

२—चि० प० भाग—पृ. २४९.
३—रस-मीमांसा— पृ. ११२.
४—रसमीमांसा—पृ. ३२१, ३५५.
५—चि० प० भा०—पृ. २५१.

हुआ देखना चाहते हैं, ऊपर से बलपूर्वक या बुद्धिपूर्वक लादा हुआ नहीं। अर्थात् इनकी दृष्टि में किसी मार्मिक भावना या अनुभूति के अभाव में यत्नपूर्वक बुद्धि से लाया हुआ अलंकार काव्य में तमाशा, चमत्कार या कुतूहल उत्पन्न कर सकता है, कविता का सौन्दर्य-वर्धन नहीं। इस प्रकार वे काव्य से अलंकार का सम्बन्ध आन्तरिक कोटि का मानते हैं, बाह्य कोटि का नहीं।

कार्य :–

इनकी दृष्टि में अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों (जैसे, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में) चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में हों (जैसे अप्रस्तुत प्रशंसा, परिसंख्या, व्याजस्तुति, विरोध इत्यादि में) चाहे वर्ण-विन्यास रूप में (जैसे.—अनुप्रास में) लाये जाँय वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्षसाधन का काम करते हैं। इनके सहारे कविता अपना प्रभाव बढ़ाती है; वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया को बहुत बढ़ाकर इनका तीव्र अनुभव कराती है[1]। इसीलिए एक स्थान पर उन्होंने अलंकार की परिभाषा कार्य की दृष्टि से निम्न-प्रकार से की है :—"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण तथा क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।" इनके मत से अलंकार का काम वस्तु-निर्देश करना नहीं[2]; इसीलिए उन्होंने वस्तु-निर्देश करने वाले अलंकारों का खंडन किया है[3]। शुक्ल जी ने अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में अलंकारों के उपर्युक्त कार्यों को कसौटी मानकर के ही तुलसी, जायसी, सूर आदि कवियों के अलंकार-विधान की परीक्षा की है।

स्थान :–

शुक्ल जी अलंकारवादियों के समान अलंकार को काव्य का सर्वस्व या साध्य नहीं मानते। वे इन्हें सदैव साधन का ही स्थान देते हैं। इनकी दृष्टि में अलंकारों को साध्य मान लेने से कविता इतनी विकृत हो जाती है कि वह

१—गोस्वामी तुलसीदास पृ. [illegible] और चिन्तामणि प्र० भाग पृ. [illegible]

२—रसमीमांसा पृ. [illegible]

३—चि० प्र० भाग पृ. [illegible]

कविता नहीं रह जाती[1]। आचार्य के मत में काव्य का साध्य रस या अनुभूति है। भाव या वस्तु की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का जमघट काव्य का अस्तित्व नहीं खड़ा कर सकता[2]। काव्य का अस्तित्व अलंकार बिना भी सम्भव है, पर भाव या अनुभूति के बिना नहीं। इस प्रकार इनकी दृष्टि में काव्य का नित्य लक्षण अलंकार या उक्ति-वैचित्र्य नहीं वरन् मार्मिक भाव या अनुभूति है।

अलंकारों की संख्या :-

शुक्ल जी रूढ़िवादी समीक्षकों के समान, अलंकार-ग्रन्थों में वर्णित अलंकारों की संख्या तक अलंकारों की इयत्ता नहीं मानते। इनकी दृष्टि में अनेक नये अलंकारों के आविष्कार की संभावना है। इसीलिए इनका कहना है कि आदिकाव्य रामायण से लेकर इधर तक के काव्यों में न जाने कितनी वर्णन-प्रणालियाँ भरी पड़ी हैं, जो न तो विशिष्ट अलंकारों के भीतर निर्दिष्ट की गई हैं और न जिनके कुछ नाम रखे गये हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जितने अलंकारों के नाम ग्रन्थों में मिलते हैं उतने ही अलंकार हो सकते हैं[3]।

शुक्ल जी और रीति-सिद्धान्त :—

शुक्ल जी के शैली-तत्व रीतिवादियों के रीति-तत्वों से सर्वथा भिन्न नहीं हैं किन्तु काव्य में उनके स्वरूप तथा स्थान की इनकी धारणा रीतिवादियों से भिन्न है। काव्य-रीति के विषय में उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है; अर्थात् उसके बाह्य रूपों का अधिक वर्णन न कर उसके अन्तस्तत्वों का विश्लेषण अधिक किया है। काव्य-रीति के उन्होंने ४ मूल तत्व माने हैं[4] :—

१—गोचर रूप-विधान करने वाले शब्द,

२—विशेष रूप एवं व्यापार सूचक शब्द,

१— चि० प० भा० पृ. २४७. २— वही पृ. २३२.

३—जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका पृ० ११५. ४—चि० प० भाग पृ० २३८-२४६.

३—वर्ण-विन्यास और

४—साभिप्राय विशेषण.

इनमें से पहला तत्व अर्थात् गोचर रूप-विधान करने वाली पदावली लक्षणा पर आश्रित है[१]। रीतिवादियों की शब्दावली में यह दण्डी का समाधि गुण है[२]। दूसरा तथा चौथा तत्व—विशेष रूप-व्यापार सूचक शब्द[३] और साभिप्राय विशेषण-प्रयोग[४], वामन के अर्थ गुण—ओज के अन्तर्गत अर्थ-प्रौढ़ि के रूप-भेद माने गये हैं[५]। शुक्ल जी द्वारा निरूपित नाद-सौष्ठव के संगीतमय उपकरणों का अन्तर्भाव वामन के शब्दगुणों—माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, कान्ति आदि में हो जाता है। शुक्ल जी की दृष्टि में रीति का विधान शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है। इसी दृष्टि से कोमल रसों में कोमल वर्णों और रौद्र, भयानक आदि उग्र और कठोर रसों में परुष और कर्कश वर्णों का प्रयोग अच्छा बताया गया है। इस प्रकार शुक्ल जी के रीति-तत्व रीतिवादियों के रीति-तत्व से बहुत कुछ अनुरूपता रखते हैं, किन्तु वे काव्य में रीति के स्वरूप तथा स्थान में भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं, शुक्ल जी की दृष्टि में रीति केवल पद-संघटना है; काव्य-शरीर का अंग-विन्यास है[६]। वह काव्य के बहिरंग-विधानके अन्तर्गत है जिसके द्वारा काव्यात्मा की अभिव्यक्ति होती है[७]। इसलिए वे उसे काव्य में आत्मा का स्थान नहीं देते। रीतिवादी अपनी रीति-धारणा में काव्य के अन्तर्बाह्य दोनों पक्षों का समावेश कर उसे काव्यात्मा के पद पर आसीन कर देते हैं[८]। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी रीतिवाद का विरोध करते हैं, रीति-तत्व का नहीं। इसलिए वे मनोहर उक्ति को, व्यंजक वाक्य को ही काव्य मानते हैं[९]। इनके मतानुसार व्यंजना अथवा लक्षणा पूर्ण वाक्य का व्यंग्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ के साथ

१–चिं० प० भाग–पृ० २३८ २–अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना। सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा। काव्यादर्श,

३–चिं० प० भाग पृ० २४०, ४–वही पृ० २४५, २४६.

५–पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा। प्रौढ़िर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च। काव्यालंकारसू० ३ २ – वामन

६—रस-मीमांसा पृ. २३०. ७—सूरदास, आचार्य शुक्ल —पृ. २००

८—रीतिरात्मा काव्यस्य–वामन, ९—[illegible] १६० — पृ. ६६

संगठन होना अत्यन्त आवश्यक है। काव्य के भीतर स्थान पा सकती है[१], आवश्यक समझते हैं, जहां तक उसकी सह है जो चमत्कार या वक्रता पूर्ण मिले[१]। उनकी दृष्टि में काव्य में रीति की साथ काव्य-पदपर आसीन न हो है, रस को आश्रित करने में नहीं[२]। कोमल सुकु कर, मंडन तथा ठाकुर शृंगार, करुण, शान्त के परिपाक में अधिक सहायता न्होंने केशवदास की प्रकार कठोर ओज-पूर्ण शब्दों के प्रयोग से वीर, रौद्र, भया.

परिपाक में सरलता हो सकती है, किन्तु इनके सम्बन्ध में शुक्ल रन्तु उनके है कि इन्हें साध्य न बना लिया जाय; इनसे केवल साधन रूप में न्नता है जाय[३]। की

शुक्ल जी और गुण सिद्धान्त :—

शुक्ल जी रसवादी होने के कारण रीतिवादियों की गुण सम्बन्धी धारणा को नहीं मानते। रीतिवादियों ने गुण का सम्बन्ध विशिष्ट प्रकार की पदावली, वर्ण-योजना, समास-योजना, अनुप्रास-योजना, अलंकार, अर्थ आदि से स्थापित करके गुणों का विभाजन २ श्रेणियों—शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण के रूप में किया। रीतिवादी गुणों का सम्बन्ध शब्द एवं अर्थ से स्थापित करते हैं शुक्ल जी रस से। दण्डी और वामन गुणों को रस-धर्म न मानकर शब्दार्थ का धर्म मानते हुए काव्य में उनकी प्रमुख सत्ता घोषित करते हैं[४]। उनकी दृष्टि में गुण रस के आश्रित नहीं वरन् रस ही गुण के अंग है। रस-वादी होने के कारण शुक्ल जी ने इस धारणा का खण्डन किया और रस-वादियों की गुण सम्बन्धी धारणा को अपनाकर बताया कि गुण रस के आश्रित

१—अभिभाषण—पृ. ९२.
—अभिभाषण—पृ. ९८.

३—अभिभाषण—पृ. ९२.

४-विशिष्टापदरचना रीतिःविशेषोगुणात्मा॥ वामन

३—वर्ण-विन्यास और   अस्तित्व न मानकर उन्हें रस के अश्रित
४—साभिप्राय विशेषण. ात्मभूत रस का धर्म समझते हैं, शरीरभूत

इनमें से पहला तत्व अ ानकर मम्मट ने भी इन्हीं का मत अपनाया। लक्षणा पर आश्रित है[1] ां के शौर्यादि गुणों की भांति जो अंगभूत रस के गुण हैं[2]। दूसरा तथति-धर्म हैं, वे ही गुण कहलाते हैं[3]।

साभिप्राय विशेपग
प्रौढ़ि के रूप का गुण-सिद्धान्त मम्मट के गुण सम्बन्धी उक्त मत से मिलता
संगीतमय मम्मट के समान शुक्ल जी भी शब्द-धर्म में रस नहीं मानते; इस-
उदारता उनमें गुण की सत्ता निरूपित नहीं करते। आचार्य शुक्ल मम्मट के
शुद्ध
ान ही गुण को रस-धर्म मानने के कारण दोनों का सम्बन्ध अन्वय-व्यतिरेक कोटि का समझते हैं[4]। शुक्ल जी का गुण को रस परिपाक का सहायक तथा रस का उत्कर्षकारक[5] मानना भी मम्मट के ही मत का प्रभाव है।

शुक्ल जी का वक्रोक्ति-सिद्धान्त

शुक्ल जी का दृष्टिकोण वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रति वही है जो एक रसवादी का होना चाहिए। उनका दृढ़ मत है कि काव्य मूल रूप में भावना का व्यापार है, अतएव भावना के अभाव में काव्यत्व का अभाव निश्चित है। ेी स्थिति में वक्रोक्ति, काव्य में काव्यजीवित की प्रतिष्ठा नहीं कर सकतो। कुन्तक का मत है—सालंकारस्य काव्यता; वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्। किन्तु शुक्ल जी का आग्रह है कि वक्रता के बिना केवल मार्मिक भाव-स्पर्श के सद्भाव में भी काव्य की हानि नहीं होती[6] अर्थात् वे चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य को काव्य का नित्य लक्षण नहीं मानते[7]। आचार्यशुक्ल की यह दृढ़ स्थापना है कि ऐसी अनेक मार्मिक उक्तियाँ हो सकती हैं, जिनमें किसी प्रकार

१-रसमीमांसा पृ. २६८.
२-तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।। आनन्दवर्धन
३-ये रसस्यांगिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्ष हेतवः ते स्युः अचलस्थितयो गुणाः ।।
४-रसमीमांसा पृ० २६८   ५-सूरदास आचार्य शुक्ल पृ० २००
६—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २३१.   ७—अभिभाषण पृ० ७९.

का वैचित्र्य या वक्रता न हो पर वे सत्काव्य के भीतर स्थान पा सकती है[1], साथ ही ऐसी भी अनेक वक्र उक्तियाँ हो सकती हैं जो चमत्कार या वक्रता पूर्ण रहने पर भी मार्मिकता या अनुभूति के अभाव में काव्य-पदपर आसीन न हो सकें[2]। अपनी पहली स्थापना की पुष्टि में उन्होंने पद्माकर, मंडन तथा ठाकुर की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं तथा दूसरी स्थापना की पुष्टि में उन्होंने केशवदास की पंक्तियाँ प्रस्तुत की है[3]।

कुन्तक ने रस को वक्रता का सबसे समृद्ध अंग माना है, परन्तु उनके मत से अंगी तत्व वक्रता ही है। इसका एक परिणाम यह भी निकलता है कि उनकी दृष्टि में रस के अभाव में भी वक्रता की स्थिति सम्भव है। उनकी धारणा में रस वक्रता का उत्कर्ष तो करता है, परन्तु उसके अस्तित्व के लिए सर्वथा अनिवार्य नहीं है। यद्यपि कुन्तक ने ऐसी स्थिति को अधिक प्रश्रय नहीं दिया, उन्होंने प्रायः रस-विरहित वक्रता का तिरस्कार ही किया है। फिर भी वक्रोक्ति को काव्यजीवित मानने का केवल एक ही अर्थ हो सकता है और वह यह कि उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, रस के बिना भी वक्रता की अपनी सत्ता है। और स्पष्ट शब्दों में वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अनुसार ऐसी स्थिति तो आ सकती है जब काव्य रस के बिना भी बक्रता के सद्भाव में जीवित रह सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति सम्भव नहीं है जब वह केवल रस के आधार पर वक्रता के अभाव में जीवित रहे।

कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त के ये ही दो पक्ष हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुन्तक ने बार-बार इस स्थिति को बचाने का प्रयत्न किया है कि रस के विना काव्य में बक्रता की स्वतन्त्र सत्ता न रहे, किन्तु वह बच नहीं सकी है, अन्यथा 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' वाक्य ही निरर्थक हो जाता। इधर शुक्ल जी रस को काव्य की आत्मा मानते हैं[4]। अतः उनके मत से रस के अभाव में काव्य-अस्तित्व सम्भव नहीं; अर्थात् उनकी दृष्टि में रस का स्वतन्त्र अस्तित्व है; वक्रता या अलंकार उसके आश्रित होकर ही काव्य में रह सकता

१—अभिभाषण पृ० ७५. काव्य में रह० पृ० ७१.
२—काव्य में रहस्यवाद पृ० ७२, ३—चिन्तामणि प० भा० पृ० २३१, २३२.
४—रसमीमांसा पृ० १०५,

है; स्वतन्त्र या अंगी रूप में नहीं। अलंकार या वक्रोक्ति से रस या भावना का उत्कर्ष होता है परन्तु उसके (रस के) अस्तित्व के लिए उनका रहना अनिवार्य नहीं; अर्थात् वक्रता के अभाव में भी काव्यत्व सम्भव है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी वक्रोक्तिवाद का विरोध तो करते हैं, किन्तु वक्रोक्ति-तत्व का सर्वथा निषेध नहीं करते। वक्रता-वैचित्र्य के उपयोग को वे स्वीकार करते हैं, किन्तु वहीं तक जहां तक वह भाव-प्रेरित या अनुभूति-जन्य हो[1]। ये काव्य का सारा चमत्कार उक्ति में मानते हैं; पर उनकी दृष्टि में कोई उक्ति, काव्य तभी हो सकती है, जब उसके मूल में भाव या अनुभूति हो[2]। उनकी दृष्टि में काव्य सदा उक्ति-रूप ही होता है; परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह उक्ति सदा विचित्र, लोकोत्तर या अद्भुत ही हो। जो उक्ति श्रवणगत होते ही श्रोता को भावलीन करदे वह काव्य है, उसमें वैचित्र्य हो चाहे न हो[3]। पर यहां वक्रोक्तिवादी कहेगें कि वही उक्ति काव्य है जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो; व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक ठीक बात की न भी हो[4]। ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना में लीन न होकर एक बारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी, निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे वह काव्य नहीं सूक्ति है[5]। फिर आगे वे कहते हैं कि बहुत से लोग सूक्ति और काव्य को एक ही समझा करते हैं। पर इन दोनों का भेद सदा ध्यान में रखना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य[6], और जो उक्ति केवल कथन के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के अलंकार-श्रम या निपुणता ही में प्रवृत्त करे वह है सूक्ति[7]। सूक्ति से मनोरंजन हो सकता है पर काव्य का उदात्त लक्ष्य सिद्ध

१—अभिभाषण पृ० ७९, २—का० में रह० पृ० ७२.
३—चि० प० भा० पृ० २३३, ४— वही पृ० २३८,
५—चि० प० भा० पृ० २३३, और काव्य में रहस्यवाद पृ० ७२.
६-७—चि० प० भा०पृ० २३४.

नहीं हो सकता। यदि उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है। जहां उक्ति में अनूठापन अधिक होने पर भी उसकी तह में रहने वाला भाव आच्छन्न न हो वह उक्ति काव्य के भीतर स्थान पायेगी[1]। जहां उक्ति की तह में रहने वाला भाव चमत्कार-वैचित्र्य के नीचे आच्छन्न हो जाय वह सूक्ति कही जायगी[2]। इससे केवल मनोरंजन हो सकता है; कुतूहल-वृत्ति तृप्त हो सकती है? काव्यानन्द नहीं प्राप्त हो सकता। उक्ति की वचनभंगी या वक्रता के सम्बन्ध में शुक्ल जी कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त वहीं तक मानते हैं जहां तक वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से प्रेरित या सम्बन्धित हो, उसके आगे नहीं[3]। ऐसी वस्तु-व्यंजना जिसकी तह में कोई भाव न हो, चाहे कितने ही अनूठे ढंग से की गई हो, चाहे उसमें कितना ही लाक्षणिक चमत्कार हो, शुक्ल जी के मत में प्रकृत कविता न होगी, सूक्ति मात्र होगी[4]। भावोद्रेक से उक्ति में जो एक प्रकार का बांकापन आ जाता है, तात्पर्य-कथन के सीधे मार्ग को छोड़कर वचन जो एक भिन्न प्रणाली ग्रहण करते हैं उसी की रमणीयता काव्य की रमणीयता के भीतर आ सकती है[5]।

औचित्य-सिद्धान्त और शुक्ल जी:—

शुक्लजी काव्य में औचित्य-सिद्धान्त के समर्थक हैं, औचित्यवाद के नहीं। उनका कहना है कि लोक की रीति-नीति, आचार-व्यवहार की दृष्टि से अनौचित्य, शिल्प अर्थात् बेलबूटे, नक्काशी आदि की सौन्दर्य-भावना में तो सचमुच कोई बाधा नहीं डालता पर काव्य का प्रभाव कभी कभी बहुत हल्का कर देता है। उनके मत से यही बात हमारे यहाँ भावाभास, रसाभास के अन्तर्गत सूचित की गई हैं। शुक्लजी का यह दृढ़ सिद्धान्त है कि यदि भाव-व्यञ्जना में भाव अनुचित हैं, ऐसे के प्रति हैं जैसे के प्रति नहीं होना चाहिये, तो ऐसी स्थिति में साधारणीकरण नहीं होगा, अर्थात् श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव की रसात्मक अनुभूति ग्रहण नहीं करेगा, उस भाव में लीन नहीं होगा[6]। आनन्दवर्धन के समान शुक्लजी का भी यह विचार है कि अनौचित्य से रस-भङ्ग हो जाता है। श्रोता या पाठक मनुष्य समाज में रहने

१–चिन्तामणि प० भाग पृ० २३४. २—रस-मीमांसा पृ० १०१.

३–चिन्तामणि पहला भाग पृ० २३७. ४--काव्य में रहस्यवाद पृ० ७२.

५. सूरदास. आचार्य शुक्ल पृ० २३६. ६-अभिभाषण पृ० ३७.

वाला प्राणी होता है। जीवन में सत्-असत्, उचित-अनुचित की जो भावना वह प्राप्त किये रहेगा, उसके साथ काव्य द्वारा प्राप्त अपनी अनुभूति का सामञ्जस्य वह अवश्य चाहेगा। यदि यह सामञ्जस्य न होगा तो वह उस काव्य का पूरा रसात्मक ग्रहण न कर सकेगा[1]। शुक्लजी का मत है कि रसानुभूति के समय प्रकृति सत्वस्थ रहती है; रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव उस समय नहीं रहता।[2] अनौचित्य की स्थिति में ही रजोगुण अथवा तमोगुण उत्पन्न होते हैं। अर्थात् उनकी दृष्टि में रसानुभूतिके समय औचित्य की स्थिति आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। इस प्रकार शुक्लजी रस के सहायक सिद्धान्त के रूप में औचित्य-सिद्धान्त की सार्थकता स्वीकार करते हैं।

शब्द-शक्ति और आचार्य शुक्ल:—

शब्द-शक्तियों के विषय में आचार्य शुक्ल के स्वतन्त्र विचार दो प्रकार के मिलते हैं:—एक तो अभिधा के सम्बन्ध में, दूसरे व्यञ्जना के विषय में। शुक्ल जी काव्य में सभी शब्द-शक्तियों की सत्ता मानते हुए भी सबके मूल में अभिधा-शक्ति निहित मानते हैं। उनके मत से लक्षणा और व्यञ्जना-शक्तियों द्वारा लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्राप्ति अभिधा के पथ पर चलकर ही होती है। बिना अभिधेयार्थ समझे लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ समझ में नहीं आ सकता। आचार्य का मत है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी योग्यता या उपयुक्तता को पहुँचा हुआ समझ में आने योग्य रूप में आया हुआ अर्थ होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा और व्यञ्जना द्वारा योग्य और बुद्धिग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है।[3] इसी कारण रस-प्रक्रिया को व्यञ्जनात्मक मानते हुए शुक्लजी काव्यत्व या काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में ही मानते हैं।[4] इसको सिद्ध करने के लिये उन्होंने साकेत का उदाहरण 'जीकर हाय पतंग मरे क्या' प्रस्तुत किया है। इसमें जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है वह इस अयोग्य या अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थ में ही है। इसके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि 'जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगे ?' तो इसमें कोई वैचित्र्य या चमत्कार न रहेगा[5]। अभिप्राय यह कि आचार्य की दृष्टि में वाच्यार्थ में ही काव्यत्व या काव्य-सौन्दर्य की सत्ता

१—अभिभाषण पृ० ३८, ५०.   २—अभि० पृ० ४०.

३— वही पृ० १५.   ४— वही पृ० १३.

५— वही पृ० १४.

निहित है; व्यंग्यार्थ, लक्ष्यार्थ में नहीं।[1] उनसे जो तथ्य या सत्य प्रगटित होता है, वह बुद्धि-ग्राह्य तथा योग्य अर्थ होता है, वही काव्य को धारण करने वाला सत्य कहा जाता है जिसकी देखरेख में काव्य मनमानी क्रीड़ा कर सकता है। व्यञ्जना करने वाली उक्ति की चारुता और सचाई की परख के लिये उसको सामने रखने की आवश्यकता होती है। इस सत्य के साथ किसी उक्ति का सम्बन्ध देखकर यह निर्णय किया जाता है कि उस उक्ति का स्वरूप ठीक-ठिकाने का है या उटपटांग। यहाँ के साहित्य-मीमांसकों की दृष्टि में काव्य में योग्य अर्थ होना अवश्य चाहिये—योग्यता चाहे खुली हो चाहे छिपी। अत्यन्त अयोग्य और असम्बद्ध प्रलाप के भीतर भी कभी कभी काव्य के प्रयोजन भर की योग्यता छिपी रहती है। जैसे, शोकोन्मत्त या वियोग-विह्वल के प्रलाप में शोक की विह्वलता या वियोग की व्याकुलता ही योग्यता है।[2] काव्य का सम्बन्ध शुक्लजी की दृष्टि में हृदय की क्रिया से है। उसको संचालित करने के लिये भावोद्बोधन की आवश्यकता पड़ती है। भावोद्बोधन सुन्दर पदार्थ से होता है। पदार्थ-सौन्दर्य वाच्यार्थ द्वारा निरूपित होता है; व्यंग्यार्थ, लक्ष्यार्थ तो उसके तात्पर्य को प्रगट करते हैं।

काव्य में वक्रोक्ति या वचन-भंगिमा की आवश्यकता पड़ती है। प्रश्न उठता है—क्यों? पदार्थ को अधिकाधिक सुन्दर, प्रभविष्णु, उत्कर्षपूर्ण तथा मार्मिक बनाने के लिए। पदार्थ की सुन्दरता, प्रभविष्णुता, मार्मिकता का निरूपण कैसे होता है? उत्तर है—वाच्यार्थ द्वारा। व्यंजित होने वाला अभिप्राय, भाव या रस, वाच्यार्थ से अलग होने पर काव्यत्व से रहित हो जाता है। अतः वह स्वयं में आस्वाद्यमान नहीं हो सकता। जब हम वाच्यार्थ को भेदकर लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ पर पहुँचते हैं तब काव्यत्वकी स्थिति नहीं रहती क्योंकि लक्षित या व्यंजित वस्तु सीधी सादी अनुभूति, वास्तविक तथ्य या सत्य-रूप में थोड़ी सी रहती है। वह काव्यमयी अभिव्यंजना के बीच ही सुन्दर लगती है; उससे अलग हट जाने पर उसकी रमणीयता जाती रहती है। 'जीकर हाय पतंग मरे क्या' में वाच्यार्थ ही वियोगिनी उर्मिला का सुन्दर चित्र चित्रित करने में समर्थ होता है।[3] उर्मिला के लिए जीना मरने के सदृश

१—अभि० पृ० १२. २—अभि० पृ० १५.

३—वही पृ० १४.

है। उसके प्रेमी-जीवन का सौन्दर्य इसी विरोध मूलक स्थितिमें निहित है। यह सौन्दर्य, लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में—जब हम यह कहते हैं कि उर्मिला वियोग में बहुत कष्ट भोग रही है, उसका प्रेम बहुत ही सच्चा एवं अनन्य कोटि का है, नहीं रहता। अन्यत्र[1] इसी प्रश्न पर विचार करते हुए शुक्लजी ने बताया है कि व्यंजक वाक्य ही काव्य होता है; व्यंग्य भाव या वस्तु नहीं। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि उनकी दृष्टि में उक्ति ही कविता है, व्यंग्य अर्थ या अभिप्राय नहीं। इस स्थल पर उन्होंने केशव की कविता—

'क्रूर कुठार निहारि तज्यो, फल ताको यहै जो हियो जरई।
आजु ते तो कहुँ, बन्धु महाधिक, छत्रिन पै जो दया करई'॥

का उद्धरण देकर उसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि व्यंजना में अर्थात् व्यंजक वाक्य में रस होता है। अतः यह उक्ति ही कविता है, न कि परशुराम ने क्रोध किया, यह व्यंग्य अर्थ या अभिप्राय[2]। पर इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि व्यंग्य अर्थ या लक्ष्य अर्थ का कोई विचार नहीं होता। शुक्ल जी के मत में व्यंजक या लक्षक वाक्य का जब तक व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ के साथ सामञ्जस्य नहीं होगा तब तक वह उन्मत्त प्रलाप या जान बूझ कर खड़ा किया हुआ धोखा ही होगा।[3] काव्य की उक्ति के अनुपपन्न अभिधेयार्थ को सुसंगत करना व्यंगार्थ या लक्ष्यार्थ का ही काम है।[4]

चमत्कार या वचन-भंगिमा अयोग्य एवं अनुपपन्न पदों में ही रहती है।[5] अयोग्य एवं अनुपपन्न पदों की सत्ता वाच्यार्थ में रहती है।[6] इसलिए उन्होंने वाच्यार्थ में काव्यत्व अथवा काव्यगत रमणीयता को निहित मानी है। लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में बुद्धिग्राह्य योग्य या उपपन्न अर्थ होने के कारण वचन-भंगिमा का लोप हो जाता है; अभीष्ट तथ्य काव्योपकरण से वियुक्त होकर प्रगट होते हैं, इसलिए उसमें चमत्कार या काव्यत्व नहीं रहता।[7] जब वाच्यार्थ योग्य और उपपन्न रूप में रहता है, तब उसमें वचन-भंगिमा नहीं रहती; तब भी शुक्ल जी के अनुसार काव्यत्व या काव्य की रमणीयता उसमें रह सकती है।[8] यहाँ रमणीयता का अर्थ है किसी भाव या विचार में रमना। रमणीयता का आधार सोन्दर्यशाली पदार्थ ही हो सकता है। लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में प्रायः सुन्दर पदार्थ का चित्र नहीं रहता, उसका तथ्य या सत्य प्रगटित

१–काव्य में रह० पृ० ६६. २–काव्य में रह० पृ० ६६.
३–वही पृ० ६६. ४–महान आलोचक रामचन्द्र शुक्ल आज काशी विशेषांक, १७ फरवरी ५७, वि० प्र० ५+६–अभि० पृ० १४.
७–अभि० पृ० १५. ८–अभि० पृ० १३ और चिन्तामणि प० भाग पृ० २२२.

होता है, जो बुद्धि-ग्राह्य होता है, हृदय-ग्राह्य नहीं। प्रायः हृदय को रमाने की योग्यता भाव में नहीं, भाव को उत्पन्न करने वाले सुन्दर पदार्थ में रहती है; इसीलिए कवि का काम बिम्ब या मूर्त भावना उपस्थित करना है, बुद्धि के सामने कोई तथ्य या विचार लाना नहीं।[1] अतएव वही उक्ति काव्यात्मक या रमणीय हो सकती है, जो सुन्दर पदार्थ का चित्र खड़ा कर भाव को उद्बुद्ध कर दे।[2] रमणीयता का सम्बन्ध शुक्ल जी सुन्दर पदार्थ से स्थापित करते हैं, ध्वनिवादी रमणीयता का सम्बन्ध व्यंजित होने वाले भाव या रस से। शुक्ल जी का कहना है कि रस या भाव किसी सुन्दर पदार्थ से व्यंजित होता है, सहृदय आलम्बन से ही रसानुभव करता है;[3] आलम्बन का प्रदर्शन भाव की अनुभूति रस-रूप में करा सकता है।[4] अतः सुन्दर पदार्थ के चित्रण में काव्यत्व निहित है। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि आचार्य शुक्ल काव्य का प्रधान लक्ष्य मूर्त-विधान मानते हैं।[5] उनका कथन है कि कविता हमारे सम्मुख जगत और जीवन से सम्बद्ध रूप-व्यापारों को मूर्त या बिम्ब रूप में रखती है। इसीलिए उनका कहना है कि यदि वस्तु-चित्रण हो गया है तो कवि का कार्य हो गया; उसका परिणाम रस या भाव-व्यंजना रूप में अपने आप अभिव्यक्त होगा ही।[6]

इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए शुक्ल जी ने दूसरा उदाहरण[7] दिया है.—

"आप अवधि बन सकूँ, कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ॥"

उर्मिला या लक्ष्मण के बीच अवधि का व्यवधान है। लक्ष्मण से मिलने के लिए उर्मिला को इस व्यवधान का मिटाना आवश्यक है। अवधि साधारणतः अपने समय पर ही मिटेगी, उसका तुरन्त मिटना सम्भव नहीं, इस असम्भव को सम्भव करने के लिए उर्मिला एक उपाय की कल्पना करती है, वह स्वयं अवधि बन जाय तो उसका अन्त करना उसके अपने अधिकार की बात रहेगी। अपने को तो वह तुरत मिटा सकती है और जब अवधि उसका अपना रूप हो जायगी, तो उसके अंत के साथ अवधि का भी अंत हो जायगा इस तरह व्यवधान मिट जायगा और अपने पति से उसका मिलन हो जायगा,

१—रस-मीमांसा पृ० ३१०. २—चिं० प० भाग पृ० १६८.
३—चिं० प० भाग पृ० २३३. ४—रस-मीमांसा पृ० ४१५.
५—अभि० पृ० ५०. ६—रस-मीमांसा पृ० ११६.
७—वही पृ० १४.

परन्तु जब उर्मिला मिट जायगी जो मिलन-सुख का उपभोक्ता कौन होगा ? अतएव अपने को मिटाने का अर्थ यहां अपने जीवन का अंत कर लेना न होकर लक्ष्मण के दर्शन के लिए बड़ा से बड़ा कष्ट भोगना है; परन्तु इस लक्ष्यार्थ में कोई चमत्कार नहीं रह जाता; इसका व्यंग्यार्थ उर्मिला का अपने पति-दर्शन के प्रति अत्यन्त औत्सुक्य है[1]—इसमें भी कोई रमणीयता नहीं दिखाई पड़ती। शुक्ल जी का कहना है कि यहां काव्य की रमणीयता उर्मिला के उस असाधारण असम्भवनीय चित्र में है जो पति-दर्शन के लिए स्वयं की सत्ता मिटाने के लिए तैयार है। इस चित्र का निर्माण इस प्रसंग में वाच्यार्थ द्वारा ही होता है[2]। इसलिए वाच्यार्थ में काव्य की रमणीयता मानना ठीक है। यहां व्यंजनावादियों के मन में एक प्रश्न उठ सकता है कि रसात्मक वाक्य को पढ़कर जो हमें आनन्दानुभूति होती है, उसके लिए कौन तत्व उत्तरदायी है—उस वाक्य का वाच्यार्थ, अथवा व्यंग्यार्थ, या लक्ष्यार्थ? रसानुभूति या आनन्दानुभूति किसी पदार्थ की कल्पना से होती है[3]। पाठक या श्रोता पदार्थ की कल्पना प्रायः वाच्यार्थ, की सहायता से करता है। आलम्बन, उद्दीपन आदि का चित्र वह वाच्यार्थ द्वारा ही निर्मित करता है। इस प्रसंग में भी उर्मिला का विरोध मूलक असम्भावित प्रणयी चित्र वाच्यार्थ द्वारा ही निरूपित होता है; जो पाठक या श्रोता में रति नामक भाव को उत्पन्न कर आनन्द में परिणत करता है। अतः शुक्ल जी का यह सिद्धान्त कि काव्यत्व या काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में निहित है—युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि एक आचार्य व्यंजना को भी मानता चले, और साथ ही काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में मानते हुए अभिधेयार्थ को ही मुख्य माने—इसकी संगति क्या है ? इस विषय में शुक्ल जी का उत्तर है कि काव्य के दो पक्ष होते हैं—अनुभूति पक्ष तथा सौन्दर्य-पक्ष। काव्य की उक्ति अभिधा रूप में ही चमत्कारक होती है। अतः उसका सौन्दर्य-पक्ष अभिधाधाम अथवा वाच्यार्थ में ही सुरक्षित रहता है; अतएव काव्यत्व वाच्यार्थ में निहित है। अनुभूति-पक्ष लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ के माध्यम से व्यक्त होता है। अभिधाधाम से वहिर्गत होने पर वह चमत्कारपूर्ण अर्थ वास्तविकता से, बुद्धिग्राह्य अर्थ से, काव्य सत्य से सम्बन्ध रखने के कारण भावोन्मेष अथवा चमत्कार पूर्ण अनुरंजन में असमर्थ हो जाता है। अतः काव्यसंज्ञा से च्युत हो जाता है।

१—अभि० पृ० १४. २—अभि० पृ० १४

३—काव्य में रहस्य० पृ० ४८.

इस प्रसंग में दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जहां व्यंग्य वाच्यार्थ से बढ़कर होता है वहां शुक्ल जी के अनुसार क्या होता है? शुक्ल जी जहां व्यंग्य को वाच्यार्थ से बढ़कर बताते हैं, वहां उसका सम्बन्ध रस के विभाव पक्ष से जोड़कर उसे वाच्यार्थ से बढ़कर बताते हुए ध्वनि-काव्य को गुणीभूत व्यंग्य से श्रेष्ठ मानते हैं।[१] यहां मुख्य विचारणीय प्रश्न यह है कि शुक्ल जी का यह कथन कि काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में ही निहित है—यथार्थतः प्राचीन मान्यता के विरोध में है या नहीं। प्राचीन आचार्य व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ से युक्त वाच्यार्थ को ही काव्य मानते हैं—इससे उनका विरोध नहीं है। प्राचीनों का यह मत कि रमणीयता का कारण व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ ही है, पर लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की सत्ता बिना वाच्यार्थ के है ही नहीं; अतः शुक्ल जी की यह खोज कि काव्य की यथार्थ रमणीयता वाच्यार्थ में ही रहती है, सत्य अवश्य है, पर यह भी मानना होगा कि वह होती लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ के समावेश से ही है।

व्यंजना के विषय में आचार्य शुक्ल प्राचीन आचार्यों से कुछ मतभेद रखते हैं। अभिधामूला व्यंजना के संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य और असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य दो भेद पूर्व मान्य हैं। शुक्ल जी इन्हें वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना कहते हैं। उनका कहना है कि साहित्य के ग्रन्थों में दोनों में केवल इतना ही भेद स्वीकार किया गया है कि एक में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित होता है, दूसरी में यह क्रम होने पर भी लक्षित नहीं होता[२]। पर बात इतनी ही नहीं जान पड़ती। शुक्ल जी ने प्राचीन आचार्यों के उक्त मत से अपना मत वैभिन्य प्रगट करते हुए यह बताया है कि भाव-व्यंजना में रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव या आस्वादन करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नहीं है।[३] अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं है।[४] क्योंकि रसात्मक अनुभूति व्यंग्यार्थ या तथ्य-रूप में नहीं होती। इस बात का ज्ञान करना कि अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है स्वयं क्रोध या रति भाव का रसात्मक अनुभव करना नहीं है।[५]

१—रस-मीमांसा. पृ० ३८६. २—अभि० पृ० ६.

३—अभि० पृ० ६. ४, ५—वही पृ० ९.

आगे दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी ने बताया है कि दोनों दो भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ हैं—वस्तु-व्यंजना किसी तथ्य या वृत का बोध कराती है, पर भाव-व्यंजना जिस रूप में मानी गई है उस रूप में किसी भाव का संचार करती है, उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है।[१] बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात।[२] रसवादी आचार्यों से व्यंजना के विषय में तीसरा मत-भेद शुक्ल जी ने यह प्रगट किया है कि ये अलंकार-व्यंजना तथा वस्तु-व्यंजना को अनुमान-प्रक्रिया से सिद्ध मानते हैं।[३] उनका कहना है कि व्यंग्य वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमान द्वारा पहुँचते हैं[४]। अतः वे वस्तु-व्यंजना तथा अलंकार-व्यंजना के लिए व्यंजना शब्द का प्रयोग उचित नहीं समझते[५]। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य की और अधिक व्याख्या की है, उसकी यथार्थ वृत्ति स्पष्ट की है, संलक्ष्यक्रम तथा असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य के अन्तर को पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट कर दिया है। शुक्ल जी रस-निष्पत्ति व्यंजना-प्रक्रिया से मानते हैं[६]। इसीलिए उन्होंने रस-मीमांसा की शब्द-शक्ति सम्बन्धी टिप्पणी में व्यंजना की स्थापना बहुत ही युक्तियुक्त ढंग से की है।

आचार्य शुक्ल का काव्य-दर्शनः—

शुक्ल जी को पूर्णरूपेण रसवादी सिद्ध करने के लिए तथा रस-सिद्धान्त के प्रति उनकी अनन्यता स्पष्ट रूप से जानने के लिए यह देखना आवश्यक है कि उनका काव्य-दर्शन कहाँ तक रस-सिद्धान्त के अनुकूल है? काव्य-दर्शन में काव्य की परिभाषा, लक्षण, प्रयोजन, हेतु, प्रेरणा, प्रक्रिया, तत्व, काव्य-स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य-भेद, काव्य-कसौटी, काव्य की व्यापकता, काव्य-अधिकारी, काव्य सम्बन्ध, काव्य-शक्ति, काव्य-महत्व, कविता की आवश्यकता, कविता के कार्य आदि पर विचार किया जाता है[७]। शुक्ल जी के काव्य-दर्शन की रसानुकूलता जानने के लिए उसके भीतर आने वाली उपर्युक्त बातों का विचार आगे क्रमशः किया जायगा और साथ ही यह बतलाया जायगा कि वे कहाँ तक उनके रस-सिद्धान्त, रसादर्श, रस-धारणा, रस-दृष्टि, रस-परम्परा आदि के अनुकूल हैं।

१—अभि० पृ० ९, २—अभि० पृ० ६
३—वही पृ० १०, ४—रस-मीमांसा पृ० ४१२,
५—अभिभाषण पृ० १० ६—वही पृ० ३८८, ४०१, ४०६
७—विचार और विवेचन, डा० नगेन्द्र पृ० १२

काव्य-परिभाषाः—

शुक्ल जी की काव्य-परिभाषा रसवाद के अनुसार है। उसमें भाव तथा कला-पक्ष दोनों का समन्वय है, किन्तु उसमें भाव-पक्ष साध्य-रूप में तथा कला-पक्ष साधन-रूप में प्रयुक्त हुआ है। हृदय की मुक्तावस्था के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती है, उसे कविता कहते हैं[१], इसमें हृदय की मुक्तावस्था साध्य है, और शब्द-विधान साधन। अन्यत्र उन्होंने भावोद्रेक करने वाली रस-सूक्ति को कविता कहा है[२]। यह परिभाषा भी रस-दृष्टि से ही की गई है। संस्कृत-आचार्यों की काव्य-परिभाषाओं में उन्होंने रस-सिद्धान्त पर आधारित विश्वनाथ की काव्य-परिभाषा—'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' का समर्थन रस-मीमांसा में किया है। शुक्ल जी की दृष्टि में कविता हृदय की अनुभूति है, जो मनुष्य के ही हृदय में पहुँचाई जाती है[३], जानवरों को इसकी जरूरत नहीं[४]। कविता के सम्बन्ध में उनकी धारणा बराबर यही रही है कि वह एक ऐसी साधना है कि जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के शुद्ध रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह तथा उसके हृदय का प्रसार और परिष्कार होता है[५]। कहने की आवश्यकता नहीं कि शेष सृष्टि के साथ सहृदय के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा तथा निर्वाह एवं उसके हृदय का प्रसार तथा परिष्कार कविता रस-तत्व द्वारा ही करने में समर्थ होती है। अतः शुक्ल जी की कविता सम्बन्धी उपर्युक्त धारणा भी उनके रस-सिद्धान्त से ही निसृत है।

काव्य-लक्षणः—

शुक्लजी की दृष्टि में काव्य का नित्य लक्षण—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति सम्बन्धी उक्ति-वैचित्रय का चमत्कार नहीं वरन् भाव, अनुभूति या रस है[६]। इसीलिये वे वैचित्र्य के अभाव में भाव या अनुभूति रहने पर काव्य का अस्तित्व मान लेते हैं[७]। किन्तु भावना-स्पर्श के अभाव में केवल वैचित्रय रहने

१—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० १६३ २—रस-मीमांसा पृ० १०४
३—अ भि पृ० ३६ ४—चि० प० भाग पृ० २५३
५—वही पृ० ६६, ७० ६— वही २२०
७—चि० प० भाग पृ० २२०

पर वहाँ वे विशुद्ध काव्य की सत्ता नहीं मानते[1]। काव्य का अनूठापन भाव-विधान के बाहर की वस्तु नहीं वरन् भीतर की वस्तु है। तात्पर्य यह कि आचार्य की दृष्टि में काव्य का भेदक तत्व अनुभूति या भाव है। वस्तु के असाधारणत्व या व्यञ्जना-प्रणाली के असाधारणत्व को भी शुक्ल जी काव्य का नित्य लक्षण नहीं मानते[2]। क्योंकि रस का परिपाक उनकी दृष्टि में असाधारणत्व से ही नहीं होता, प्रसङ्ग-प्राप्त साधारण-असाधारण—सभी वस्तुओं के वर्णन से होता है[3]। कविता के लक्षण में शुक्ल जी को रमणीयता शब्द सुन्दर शब्द से अधिक प्रिय है[4]। रमणीयता का सम्बन्ध अनुभूति या रस से है, यह पहले बताया जा चुका है। शुक्ल जी की दृष्टि में अमर काव्य में मनुष्य मात्र के भावों से सम्बन्ध रखने वाले आलम्बनों का चित्रण होता है[5]। इससे निष्कर्ष यह निकला कि अमर काव्य का लक्षण साधारणीकरण का तत्व है। शुक्ल जी की धारणा है कि काव्य-नियम या काव्य-लक्षण की लीक पीटने वालों से काव्य के व्यापक उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती[6]। इसलिये वे काव्य-लक्षण का निरूपण काव्य-चर्चा की सुगमता की दृष्टि से करते हैं, कवियों की प्रतिभा के प्रतिबन्ध के लिये नहीं[7]। उनका दृढ़ मत है कि काव्य-शास्त्र का काम कवियों को मार्ग विलोकन की दृष्टि प्रदान करना है, इसलिये लेखकों के लिये उनका आदेश है कि उन्हें लक्षण का दास कभी नहीं होना चाहिए[8]। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी का काव्य-लक्षण-निरूपण उनकी रस-दृष्टि के अनुसार ही है।

काव्य-प्रयोजन :—

शुक्ल जी रसवादी आचार्य हैं, इसलिये वे काव्य का उद्देश्य चमत्कार या अनुरञ्जन नहीं मानते[9]। उनकी कविता का उद्देश्य रसोत्पादन या भाव-सञ्चार है[10]। अन्यत्र उन्होंने बताया है कि एक सहृदय की अनुभूति को दूसरे सहृदय के हृदय तक पहुँचाना काव्य या कला का लक्ष्य होता है[11]। उनका यह दृढ़ मत है कि यह प्रयोजन इतना व्यापक है कि उसके भीतर प्राचीन भारतीय

१—चि० प० भाग पृ० २३२ २—रस-मीमांसा पृ० १०३
३—रस-मीमांसा पृ० १०२ ४—अभि० पृ० २६
५—रस-मीमांसा पृ० ९८ ६—रस-मीमांसा पृ० ९६
७—वही पृ० ९५ से ९७ ८— वही पृ० ९७
९—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २२१-२२२, १०—तुलसीदास पृ० ५२.
११—काव्य में रहस्यवाद पृ० १०४

आचार्यों द्वारा प्रतिपादित कविता के अन्य प्रयोजन—चतुर्वर्गफल-प्राप्ति,[१] लोक-हित,[२] अन्तश्चमत्कार, नवीनौचित्य,[३] आनन्द,[४] शिवेतररक्षा, व्यवहार-विद्‌ता, सद्यःपरनिर्वृत्ति, कान्तासम्मित उपदेश[५] आदि समाहित हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में कविता का अन्तिम लक्ष्य न तो रमणीयता है, न आनन्द, न मनोरञ्जन और न सुख प्राप्ति—ये सब तो रसास्वादन-काल के रास्ते की चीजें हैं; इनको ही कविता का लक्ष्य समझना कविता को विलास की सामग्री बना देना है[६]। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि इनकी दृष्टि में कविता का मुख्य प्रयोजन रसास्वादन है। शुक्ल जी रसास्वादन द्वारा सहृदय के व्यक्तित्व का परिहार, उसके संकुचित स्वार्थ का विलयन, उसमें लोक-मङ्गल की भावना का बद्धमूल होना, उसमें सर्वभूत को आत्मभूत समझने की भावना का जगना, हृदय-प्रसार द्वारा उसके शील का विकसित होना आदि बताकर प्रकारान्तर से ही उन्हें काव्य-प्रयोजन नहीं मानते वरन् स्पष्ट रूप से उन्हें काव्य-प्रयोजन-रूप में अन्यत्र विवेचित भी करते हैं[७]। शुक्ल जी की काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी उपर्युक्त सामग्री देखने से यह विदित होता है कि उन्होंने काव्य-प्रयोजन का विवेचन अधिकांश मात्रा में सामाजिक दृष्टि से ही किया है; उसमें सामाजिकता के ऊपर ही सर्वाधिक बल है। काव्य-प्रयोजन में सामाजिकता के ऊपर बल देना रसानुकूलता है, रस की प्रतिकूलता नहीं। शुक्ल जी द्वारा विवेचित काव्य-प्रयोजन की सम्पूर्ण सामग्री रस के प्रभाव-पक्ष के भीतर आ जाती है। अतः इनके द्वारा निरूपित सभी काव्य-प्रयोजन रस-सिद्धान्त के अनुकूल हैं। काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी शुक्ल जी की दृष्टि शास्त्र-सम्मत होते हुए भी मौलिक कोटि की कही जा सकती है। उनमें मौलिकता युगानुकूलता के तत्व को अपनाने तथा उसकी अभिव्यक्ति में नवीन पदावली के प्रयोग के कारण है। कविता के उदात्त प्रयोजनों के निरूपण द्वारा आचार्य शुक्ल ने काव्य को दर्शन की कोटि में तथा कवि को योगी की श्रेणी में ले जाकर उनके प्राचीन महत्व को

१—भामह, विश्वनाथ, कुन्तक, २—भरत ३—कुन्तक ४—वामन तथा भामह ५—मम्मट
६—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २२३ ७—अभिभाषण पृ० ५०, ५१ और रस-मीमांसा पृ० ११५, ११९.

फिर से प्रतिपादित किया और उन्हें वह प्राचीन गौरव दिलाने का प्रयत्न किया, जब कवि, ऋषि, मंत्रद्रष्टा, क्रान्तदर्शी, की श्रेणी में रखा जाता था; कविता वेद के समान पवित्र, दर्शन के समान उदात्त तथा मंत्र के समान प्रभावशाली मानी जाती थी।

काव्य-हेतु :—

शुक्ल जी काव्य-हेतुओं में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों को आवश्यक समझते हुए रसवादी होने के कारण प्रतिभा को अनिवार्य समझते हैं तथा उसके ऊपर सर्वाधिक बल देते हैं।[१] अन्यत्र उन्होंने बताया है कि कवि को कला-निपुण तथा सहृदय दोनों होना चाहिए[२]। कहने की आवश्यकता नहीं कि कला-निपुणता में व्युत्पत्ति एवं अभ्यास दोनों तत्व आ जाते हैं। शुक्ल जी का कहना है कि प्राचीन कवियों में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों तत्व रहते थे, किन्तु आजकल किसी में प्रतिभा या सहृदयता है तो उसमें कला-निपुणता नहीं; और किसी में कला-निपुणता है तो उसमें सहृदयता नहीं है[३]। उनके मत से सहृदयता के अभाव में केवल प्राण-रहित काव्य का ढाँचा खड़ा हो सकता है;[४] इसी प्रकार कला-निपुणता के अभाव में अत्यन्त गहरी अनुभूति वाले बहुत से सहृदय भावुक भी जन्म भर मूक कवि बने रहते हैं;[५] उनकी दृष्टि में प्रतिभा की अपेक्षाकृत कमी की स्थिति में व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा काव्य की मूर्ति या स्वरूप भर खड़ा किया जा सकता है, उसमें जान नहीं आ सकती; यदि कभी आई भी तो वह दुर्बल कोटि की होगी।[६] उपर्युक्त विवेचन में प्रतिभा के महत्व-स्थापन द्वारा अनुभूति की महत्ता स्थापित की गई है। अलंकारवादियों के समान शुक्ल जी ने व्युत्पत्ति को प्रतिभा से अधिक महत्ता कहीं नहीं दी है। शुक्ल जी के अनुसार प्रतिभा का पहला काम है भाव की प्रेरणा से जगे नाना रूप-संस्कारों को समन्वित करके प्रस्तुत वस्तुओं या तथ्यों का एक मार्मिक दृश्य खड़ा करना।[७] उनकी दृष्टि में प्रस्तुत पदों का रूप-विधान कवि की प्रतिभा के द्वारा ही होता है।[८] प्रस्तुत पक्ष का रूप-विधान विभाव तथा अनुभाव के अन्तर्गत आता है। इस

१—साहित्य-आचार्य शुक्ल, सरस्वती भाग ४, सं ६, पृ० १८६.
२—रसमीमांसा पृ० ६६ ३—रसमीमांसा पृ० १००
४—वही पृ० १०० ५—का० में रहस्यवाद पृ० ८०
६—वही पृ० १०० ७-८ अभि० पृ० ७४

प्रकार प्रतिभा की महत्ता, आवश्यकता तथा कार्य का विवेचन रस-सिद्धान्त के अनुसार है। अलंकारवादियों के समान शुक्ल जी ने व्युत्पत्ति को प्रतिभा से अधिक महत्ता नहीं दी है। क्योंकि ऐसा करने पर कविता रस से विरहित होकर शब्द-चातुरी, वाग्जाल, कल्पना-क्रीड़ा, अलंकार-वैचित्र्य, फालतू बुद्धि-व्यायाम आदि के रूप में परिणत हो जाती तथा मानव-जीवन के कर्म-क्षेत्र से दूर हट जाती।[1] उर्युक्त विवेचन से तात्पर्य यह निकला कि शुक्ल जी द्वारा काव्य-हेतुओं का विवेचन रस-सिद्धान्त के अनुकूल है तथा वह आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, जगन्नाथ आदि आचार्यों के काव्य-हेतु-विवेचन की परम्परा के मेल में है।

काव्य-प्रेरणा :-

शुक्ल जी की दृष्टि में कवि को प्रारम्भिक प्रेरणा जिससे मिलती है वह है—जगत या जीवन। इस जगत और जीवन के अनेक रूपों और व्यापारों पर विमुग्ध होकर जब मनुष्य अपने को भूल जाता है और उन्हीं में तन्मय हो जाता है, वही हृदय की मुक्तावस्था, काव्यानुभूति या रस की दशा कहलाती है, और इस अवस्था की अनुभूति का प्रकाशन कविता है।[2] अन्यत्र उन्होंने कहा है कि जिस अनुभूति की प्रेरणा से सच्चे कवि रचना करने बैठते हैं वह भी काव्यानुभूति ही होती है। रस-काव्य की अनुभूति उनकी दृष्टि में रसानुभूति ही है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि अनुभूति की विह्वलता या रस-दशा ही काव्य की वास्तविक प्रेरणा कवि को प्रदान करती है। इस प्रकार शुक्ल जी का काव्य-प्रेरणा सम्बन्धी मत उनके रस-सिद्धान्त पर अवलंबित है।

कवि-कर्म :-

शुक्ल जी की दृष्टि में एक सहृदय की अनुभूति को दूसरे सहृदयों तक पहुँचाना ही कवि कर्म है।[3] कवि कर्म-विधान के दो पक्ष होते हैं—विभाव पक्ष और भाव पक्ष। कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को और जगाने में समर्थ होती है और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप, शब्दों द्वारा व्यक्त करता है।[4] एक विभाव-पक्ष है, दूसरा भाव-पक्ष। कहने की आवश्यकत

१—रस-मीमांसा पृ० १०३, १०४ २—चिं० प० भाग पृ० १९२, १९३
३—का० में रह० पृ० ६ ४—रस-मीमांसा पृ० १०६

नहीं कि कवि-कर्म के ये दोनों पक्ष रस-दृष्टि से ही निर्मित हुए हैं। कवि की अनुभूति में विभाव एवं भाव दोनों का संश्लेषण रहता है। अतः शब्द-विधान के माध्यम से एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कविकर्म है[1] इसके लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं। अनुभूति का कवि के अपने व्यक्तित्व सम्बन्धीया योगक्षेम की वासनाओं से मुक्त या अलग होकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्राप्त होना, दूसरे उस अनुभूति के प्रेषण के लिए उपयुक्त भाषा कौशल।[2] पूरे कवि-कर्म के मूल में अनुभूति की सत्ता प्रमुख रूप से दिखाई पड़ती है।[3] कवि अपनी अनुभूति को कल्पना का अवलम्बन लिए विना दूसरों तक पहुँचा ही नहीं सकता।[4] इसीलिए उन्होंने कवि-कर्म का मुख्य सम्बन्ध कल्पना-पक्ष से माना है।[5] यह कल्पना कवि-कर्म के समय तीव्र अनुभूति से रागात्मिका वृत्ति के आदेश से जाकर विशिष्ट रूपों एवं व्यापारों की रचना करती है।[6] शुक्ल जी के मत में कवि को अपने कार्य-सम्पादन में अन्तःकरण की तीन वृत्तियों से काम लेना पड़ता है—कल्पना, वासना और बुद्धि। इनमें से बुद्धि का स्थान गौण है, कल्पना एवं वासनात्मक अनुभूति का स्थान प्रधान।[7] साहित्य में हृदय की अनुभूति एवं कल्पना दोनों का सम्बन्ध रस या भाव से है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी द्वारा कवि-कर्म का निरूपण उनके रस सिद्धान्त के अनुसार है।

कवि-कर्म की दृष्टि से ही शुक्ल जी द्वारा कल्पना और भावुकता दो मूल गुण कवियों के माने गये हैं[8]। इसीलिए उन्होंने केवल शास्त्र-स्थिति-सम्पादन से नहीं वरन् रसाभिव्यक्ति से कवि-कर्म की सिद्धि मानी है, जो उनके मत में तीव्र अनुभूति, सूक्ष्म दृष्टि तथा तत्पर कल्पना वाले कुछ लोगों को ही प्राप्त होती है[9]। इस प्रकार कवि-कर्म की सिद्धि का निरूपण भी शुक्ल जी के रस-सिद्धान्त के अनुकूल है।

श्रीमानों के शुभागमन पर पद्य बनाना, बात बात में उनको बधाई[10] देना लोभ में पड़कर अपात्र को आसमान पर चढ़ाना, तथा द्रव्य न देने वाले की निन्दा करना कवि का काम नहीं[11] वरन् जीवन की अनेक मार्मिक परिस्थि-

---

१--का० में रह०	पृ० ७९	२-- वही	पृ० ४
३-- वही	पृ० ८१	४-- वही	पृ० ७६
५--चि० प० भाग	पृ० ३३३	६--चि० प० भाग	पृ० ३३३
७--रसमीमांसा	पृ० ९०	८--का० में रह०	पृ० ७६
९--चि० प० भाग	पृ० ३६५	१०--चि० प० भाग	पृ० २४३
११--चि० प० भाग	पृ० २४२		

तियों तथा दशाओं के चित्रण द्वारा सौन्दर्य का साक्षात्कार कराना[१] कर्म-सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा सच्ची प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को जागरित करना[२], जगत एवं जीवन की अनेक विशेषताओं एवं विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय का दर्शन कराना[३] तथा उस सच्चे तार की झंकार सुनाना उसका काम है जो मनुष्य मात्र के हृदय में व्याप्त है[४]। मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय, कर्म-सौन्दर्य, जीवन की मार्मिक दशाओं तथा मार्मिक परिस्थितियों का सम्बन्ध रस-तत्व से है। अतः उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी का कवि-कर्म-विवेचन उनके रस-सिद्धान्त के अनुसार है।

काव्य-प्रक्रियाः—

शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य-प्रक्रिया वस्तुतः भाव प्रक्रिया है[५]। अन्यत्र उन्होंने काव्य-प्रक्रिया में कल्पना की मुख्यता स्वीकार की है। किन्तु उनकी दृष्टि में सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। कल्पना की वही प्रक्रिया काव्य-प्रक्रिया कही जा सकती है जो भाव द्वारा प्रवर्तित हो[६]। काव्य के प्रयोजन की वही कल्पना होती है जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होती है और हृदय पर प्रभाव डालती है[७]। उनके मत में काव्य मूलतः भावना का व्यापार है क्योंकि भावना का अभाव निश्चय काव्यत्व का अभाव है। काव्यसर्जना की स्थिति में कवि का आलम्बन के साथ साधारणीकरण[८] इस बात को पुष्ट करता है कि काव्य-रचना भावना-प्रक्रिया से होती है। काव्य-प्रक्रिया को भाव-प्रक्रिया मानने के कारण ही शुक्ल जी कुन्तक की वक्रोक्ति वहीं तक मानते हैं जहां तक वह भाव-प्रेरित हो। इसी प्रकार काव्य के अन्य तत्वों—अलंकार, रीति, गुण, औचित्य, ध्वनि आदि का उद्भावक भाव या अनुभूति को मानते हैं। कल्पना तथा भावना को एक मानते हुए भी शुक्ल जी रसवादी होने के कारण उसे भावना-प्रक्रिया कहना ही उचित समझते हैं[९]। काव्य-प्रक्रिया का सम्बन्ध कल्पित रूपों तथा व्यापारों से होता है जो मार्मिक भावना या तीव्र अनुभूति से कवि-हृदय में कल्पना द्वारा जाते या बनते हैं।

१— चि० प० भाग पृ० २६२ २—चि० प० भाग पृ० २६७
३— वही पृ ३०८, ३०६ ४— वही पृ० ३२४
५— वही पृ० २३६ ६ अभि० पृ० ३३
७—चि० प० भाग पृ० ३६०, ३६१ ८ रसमीमांसा पृ० ६६
६—चि० प० भाग पृ० २२०

काव्य-प्रक्रिया का आरम्भ भावना से, अन्त भावना से तथा उसकी सारी व्याप्ति भावनामय होती है। उसमें काम करने वाले अन्य तत्व—अलंकार, रीति, ध्वनि, कल्पना, सूक्ष्म-दृष्टि, अनुभूति आदि भी भावना के आदेश पर ही काम करते हैं। उसी के अनुरूप अपना रूप धारण करते हैं। इसीलिए शुक्ल जी ने काव्य-प्रक्रिया को भावना-प्रक्रिया कहना अधिक उचित समझा है और रस-सिद्धान्त की दृष्टि से यही नाम अधिक समीचीन भी है। यह हम पहले दिखा आ चुके हैं कि काव्य-प्रक्रिया के शुक्ल जी द्वारा विवेचित सभी तत्व उसकी व्याप्ति, उसका प्रभाव सभी उनके रस-सिद्धान्त के अनुसार हैं।

काव्य-तत्व :—

शुक्ल जी ने भारतीय काव्य-तत्व—रस, अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति ध्वनि, औचित्य तथा पश्चिमी काव्य-तत्व—अनुभूति, कल्पना, सौन्दर्य-तत्व तथा बुद्धि-तत्व—सभी पर विचार किया है। इन तत्वों की उपयुक्तता उनकी दृष्टि में अनुभूति की प्रेरणा से उत्पन्न होकर उसको उचित मात्रा में अभिव्यक्त करने में है, अर्थात् उनकी सफलता का मानदण्ड रसाभिव्यक्ति है। कवि-कर्म के विवेचन के समय हम कह चुके हैं कि शुक्ल जी की दृष्टि में अनुभूति को एक हृदय से दूसरे हृदय तक पहुँचाने के लिए अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, कल्पना आदि अन्य साधनों की अपेक्षा होती है[1]। रस द्वारा ही उन्होंने पूर्वी तथा पश्चिमी काव्य-तत्वों में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है[2]। रस कसौटी पर जो तत्व खरे उतरे हैं वे ही उन्हें मान्य हैं। उनको उन्होंने देशी विदेशी के भेद-भाव से शून्य होकर ग्रहण किया है[3]। आवश्यतानुसार इनका संस्कार भी उन्होंने किया है। उन्होंने प्राचीन रस, अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि तत्वों का अपने ढङ्ग से संस्कार एवं परिष्कार किया है। उन्हें भारतीय काव्य-तत्वों की समीचीनता पर दृढ़ विश्वास है। काव्य-परिभाषा तथा कवि-कर्म विवेचन के समय यह बताया जा चुका है कि शुक्ल जी कला सम्बन्धी तत्वों को रस के साधन रूप में अपनाते हैं। उन्होंने रूप-विधान, अलंकार, रीति, भाषा, छन्द आदि को काव्य का साधन ही माना है, साध्य

---

१ का० में रहस्यवाद पृ० ६५

२ हिन्दी आलोचना: उद्भव और विकास, भगवत्स्वरूप मिश्र पृ० ३७२

३ वही पृ ३७२

नहीं। उनकी दृष्टि में काल्पनिक रूप-विधान साधन है, साध्य वस्तु रसानुभूति है[1]। इनके मत में अलंकार, रीति, भाषा, छन्द, प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत रूप-विधान आदि के संयोग से काव्य की केवल मूर्ति ही तैयार हो सकती है, उसमें आत्मा प्रतिष्ठित करने का श्रेय अनुभूति की सचाई या रस-तत्व को ही है। इसी के संसर्ग से कविता के सभी साधन-सम्बन्धी तत्व सजीव हो उठते हैं[2]। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने सभी काव्य-तत्वों को अपने रस-सिद्धान्त के मेल में रखने का प्रयत्न किया है। प्रमाणार्थ, कतिपय उन तत्वों का विवेचन नीचे किया जाता है जो अब तक विवेचित नहीं हुए हैं।

वर्ण्य-तत्व :-

शुक्ल जी का वर्ण्य सम्बन्धी सिद्धान्त रस-परिपाक के अनुकूल है। रस-परिपाक प्रसंग-प्राप्त साधारण-असाधारण सभी वस्तुओं से होता है। इसलिए उन्होंने वर्ण्य-सीमा अथवा भावों के आलम्बन के भीतर साधारण-असाधारण सभी वस्तुओं को रखा है[3]। उनके मत से काव्य के विषयों की कोई सीमा नहीं, वे इतने ही असीम हैं जितना विश्व, वे उतने ही व्यापक हैं जितना जीवन। वे कविता के विषयों को सम्पूर्ण सृष्टि-प्रसार में मानते हैं। उनके द्वारा निरूपित रस की व्याप्ति भी समग्र जीवन, सम्पूर्ण सृष्टि-प्रसार को अपना कर चलती है। इस प्रकार उनकी वर्ण्य-व्याप्ति रस-व्याप्ति के अनुकूल है। वे कहते हैं कि काव्य-दृष्टि कहीं तो नर-क्षेत्र के भीतर रहती है, कहीं मनुष्येतर बाह्यसृष्टि के, और कहीं समस्त चराचर के[4]। काव्य-विषयों की व्याप्ति के विषय में सबसे मौलिक बात शुक्ल जी ने यह बतायी है कि मनुष्येतर बाह्यसृष्टि अर्थात् प्रकृति भी वर्ण्य अर्थात् आलम्बन के रूप में आ सकती है[5]। वर्ण्य के समस्त चराचर के भीतर उनका आलम्बन-सिद्धान्त छिपा है जिसके अन्तर्गत मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत[6], घटना, परिस्थिति[7] आदि सृष्टि का कोई पदार्थ हो सकता है। काव्य के विषय में शुक्ल जी ने एक और महत्वपूर्ण बात बतलाई है और वह यह कि काव्य का विषय सदा विशेष

१—रस-मीमांसा पृ० ३०२. २—का० में रह०, पृ० ६२,
३—रसमीमांसा पृ० १०२. ४—चि० प० भा० पृ० १९९.
५—चि० प० भा० पृ० २०१ ६—रसमीमांसा पृ० ११०.
७—काव्य में रहस्यवाद पृ० ७६

होता है सामान्य नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं[१]। वह व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है[२]। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके वर्ण्य-सिद्धान्त का यह पक्ष भी उनके रस सम्बन्धी साधारणीकरण सिद्धान्त के मेल में बैठता है।

कल्पना-तत्व :-

शुक्ल जी द्वारा विवेचित कल्पना की परिभाषा, आधार, सम्बन्ध, आवश्यकता, महत्ता, कार्य, उपयोग, स्थान, भेद आदि का विवेचन रस-सिद्धान्त के अनुसार है। प्रत्यक्ष देखे हुए पदार्थों के रूप-रंग, गति आदि के आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु-व्यापार-विधान या रूप-विधान कल्पना नाम से अभिहित होता है। किन्तु साहित्य या रस के भीतर शुक्ल जी की दृष्टि में वही कल्पना ग्रहीत हो सकती है जिसके द्वारा किया हुआ रूप-विधान तीव्र भावना या सच्ची अनुभूति की प्रेरणा से नियोजित किया गया हो, जो भावों को इस रुप में जागरित करने की शक्ति रखता हो कि वे रस-कोटि में आ सकें[३]।

शुक्ल जी कल्पना का आधार लौकिक मानते हैं। उनकी दृष्टि से संसार-सागर की रूप-तरंगों से ही कल्पना का निर्माण होता है[४]। इसीलिए उन्होंने कल्पना की लोकोत्तर, अलौकिक तथा इलहामी व्याख्या का खण्डन किया है[५]।

शुक्ल जी ने कल्पना का मुख्य सम्बन्ध कवि-कर्म तथा रस-प्रक्रिया से स्थापित किया है। कल्पना का अवलम्बन लिए बिना कवि अपनी अनुभूति को दूसरों तक नहीं पहुँचा सकता। कवि तथा पाठक दोनों रस की अनुभूति कल्पना की सहायता बिना नहीं कर सकते[६]।

काव्य में बिम्ब स्थापना के लिए कल्पना की आवश्यकता पड़ती है[७]। क्योंकि बिम्ब-स्थापना के बिना, विशेष का मूर्त-विधान किये बिना भाव संचरित नहीं हो सकता। इस प्रकार भावों के प्रवर्तन या परिचालन के लिए कल्पना की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

कवि-कर्म-विधान में कल्पना का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जिसमें जितनी तत्पर कल्पना-शक्ति होगी उसके मन में उतने ही अधिक ब्यौरे आयेंगे, और उतना ही अधिकपूर्ण चित्र खड़ा होगा और वह उतने ही शीघ्र

१—चि० प० भाग पृ० ३०६. २—चि० प० भाग पृ० ३१२.
३—चि० प० भा० पृ ३३०. ४— वही पृ० ३२६,
५—काव्य में रह० पृ० ९९. १०० ६—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ३२०
७—जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, आचार्य शुक्ल पृ० ११२

उतनी ही अधिक मात्रा में रसानुभूति करने में समर्थ होगा[1]। भाव-संचार करनेवाली काव्य-वस्तु का सारा रूप-विधान कल्पना की क्रिया से होता है। कवि की मौलिकता, नूतन सृष्टि, नयी दृष्टि इसी की कृति समझी जाती है[2]। शुक्ल जी की दृष्टि में काव्यगत कल्पना की सार्थकता हृदय की प्रेरणा से उत्पन्न होने तथा हृदय पर प्रभाव डालने में है[3]।

कल्पना का कार्य है—रस के विभाव, अनुभाव आदि का रूप-विधान करना[4]। यह कार्य वह रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर करती है। कल्पना का उपयोग पदार्थों का रूप-संघटित करने में होता है। विभाव, अनुभाव में पदार्थों का समावेश होता है। सुन्दर, मधुर, भीषण या क्रूर लगने वाले रूपों या व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नहीं। सौन्दर्य की भावना जगने का अर्थ है सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं या व्यापारों का मन में आना। इसी प्रकार मनोवृत्तियों या भावों की सुन्दरता, भीषणता आदि की भावना भी रूप होकर मन में उठती है[5]। तात्पर्य यह कि मानसिक रूप-विधान का नाम ही कल्पना है। इस प्रकार शुक्ल जी की दृष्टि में रसावयवों का निर्माण कल्पना करती है। अप्रस्तुतों की योजना भी कल्पना द्वारा ही होती है जो भावोत्कर्ष अथवा रस-संचार में सहायक सिद्ध होते हैं[6]। कल्पना की श्रेष्ठता कवि की सहृदयता तथा भावुकता से सम्बन्ध रखती है। काव्य में उसकी श्रेष्ठता भाव-संचार की क्षमता पर निर्भर करती है[7]।

उन्होंने भावानुभूति के योग में ही कल्पना का स्थान अनिवार्य साधन के रूप में काव्य के विधान में स्वीकार किया है[8]। स्मृत रूप-विधान तथा कल्पित रूप-विधान-सम्बन्धी रसात्मक बोध के विविध रूप कल्पना के प्रमुख भेदों पर आश्रित हैं। शुक्ल जी ने कल्पना के दो भेद माने हैं—विधायक और ग्राहक[9]। कवि विधायक कल्पना से रसानुभूति करता है तथा श्रोता या पाठक ग्राहक कल्पना से[10]।

सौन्दर्य-तत्व :—

शुक्ल जी द्वारा निरूपित सौन्दर्य की अनेक विशेषतायें[11]—वस्तुवादिता

१–चि० प० भाग पृ० ३५२. २–चि० प० भाग पृ० ३६१.
३–वही पृ० ३६१. ४–वही पृ० ३६१.
५–वही पृ० ३२६, ३३०. ६–वही पृ० ३६५,
७–रस-मीमांसा पृ० ११६. ८–अभिभाषण पृ० ३३.
९–चि० प० भाग पृ० २२०. १०–चि० प० भाग पृ० २२०.
११–चि० प० भाग पृ० २२४ से २२६,

सात्विकता, रमणीयता, सामाजिकता रसानुभूति की विशेषताओं के समान हैं; इसीलिए उन्होंने सौन्दर्यानुभूति तथा रसानुभूति का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है[1]। इनके द्वारा विवेचित सौन्दर्यानुभूति का प्रभाव—अन्तस्सत्ता की तदाकार परिणति, तल्लीनता, पृथक् सत्ता का विसर्जन आदि रसानुभूति के प्रभाव के समान हैं[2]। उन्होंने सौन्दर्य का निवास रस के मुख्य तत्वों—विभाव, अनुभाव तथा भाव में माना है। शुक्ल जी की दृष्टि में सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य की कोई सत्ता नहीं[3]। रस-प्रक्रिया में सौन्दर्य का मूलाधार विभाव-पक्ष में निहित है। सौन्दर्य की भावना जगना सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं या व्यापारों का मन में आना ही है। इसी प्रकार मनोवृत्तियों या भावों की सुन्दरता भी रूप होकर मन में उठती है। हमारी सौन्दर्य भावना का निर्माण शुक्ल जी की दृष्टि में संसार-सागर की रूप-तरंगों तथा रूप-गतियों से हुआ है। उनकी दृष्टि में मन भी रूपगति का संघात[4] ही है। इस प्रकार वे सौन्दर्य को वस्तुवादी सिद्ध करते हुए वैयक्तिक सौन्दर्य का खण्डन करते हैं[5]। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य केवल रूप-रंग में ही नहीं वरन् मन, वचन, कर्म, भाव, विचार, मनोवृत्तियों आदि में भी बसता है[6]। उनके मत से अन्तः, बाह्य दोनों प्रकार के सौन्दर्यों के मेल से सौन्दर्य की भावना सर्वांगपूर्ण होती है[7]। उसके साथ प्रकृति का सौन्दर्य मिला देने से वर्णन का प्रभाव बहुत बढ़ जाता है। इसीलिए कवि लोग प्रभाव-वृद्धि के लिए, उत्कर्ष-साधन के लिए, कई प्रकार के सौन्दर्यों का मेल किया करते हैं।

सौन्दर्य रस के समान प्रवृत्ति मूलक तथा निवृत्ति मूलक दोनों प्रकार के भावों में बसता है[8]। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य का आधार भी रस के समान ही सामाजिक है। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति मूलक भाव सामाजिक होने पर ही सौन्दर्य का रूप धारण करते हैं।

शुक्ल जी के कथनानुसार सामान्य काव्य-भूमि पर पहुँचकर हमारे भाव एक साथ ही सुन्दर और मंगलमय हो जाते हैं[9]। यह सामान्य काव्य-भूमि रसभूमि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वे सौन्दर्य में रस का निवास मानते हैं। वस्तुतः उनकी रस-धारणा सौन्दर्य-भावना

१—चि० प० भा पृ० २२५, २२६.　　२— वही पृ० २२४ २२६.
३—वही पृ० २२४.　　४— वही पृ० २२५,
५—वही पृ० २२४,　　६— वही पृ० २२८, २२९.
७—वही पृ० २२८, २२९.　　८— वही पृ० २२६. २२७.
९—काव्य में रहC पृ० १०

से अनुशासित एवं मर्यादित है। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं[१]। कला-पक्ष से देखने में जो सौन्दर्य है वही धर्म-पक्ष से देखने में मंगल है। कवि धर्म का नाम न लेकर मंगल का ही नाम लेता है। इधर शुक्ल जी के रस की कसौटी लोक-मंगल है। अर्थात् दूसरे शब्दों में सौन्दर्य है। जहाँ मंगल या सौन्दर्य में कमी हुई कि रस में हीनता आई। इसीलिए सौन्दर्य की न्यूनाधिकता के अनुसार ही उन्होंने रसानुभूति की कोटियाँ निर्धारित की हैं[२]। जो वस्तु जितनी कम सुन्दर होगी उतनी ही कम रसात्मक होगी। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शुक्ल जी के मतानुसार जो वस्तु रस को जितना कम करे वह उतनी ही कम सुन्दर है। वस्तुतः उनका रस-दर्शन सत्सौन्दर्य के दर्शन में निहित है। इस प्रकार उनकी सौन्दर्य-धारणा उनकी रस-दृष्टि के अनुसार है।

सदाचार का तत्व :—

शुक्ल जी ने काव्य में सदाचार-विरोधियों—आस्कर वाइल्ड, स्पिगर्न आदि का खण्डन तथा काव्य में सदाचार-तत्व के समर्थक प्रो० ह्विपल, रिचर्ड्स आदि का समर्थन किया है[३]। इससे विदित होता है कि वे काव्य में सदाचार-तत्व के समर्थक हैं। उनका कहना है कि हमारे यहाँ रसाभास, तथा साधारणीकरण का निरूपण सदाचार-तत्व पर अवलम्बित है[४]। उनका मत है कि जीवन में सत्-असत् की जो धारणा सहृदय प्राप्त किये रहता है, वह उसका सामंजस्य काव्य द्वारा प्राप्त अनुभूति से अवश्य चाहता है[५]। रस-स्वरूप के विवेचन के प्रसंग में सत्वोद्रेकता का विश्लेषण करते हुए शुक्ल जी ने बताया है कि रसानुभूति के समय प्रकृति सत्वस्थ रहती है; उसमें रजोगुण तथा तमोगुण का तिरोभाव रहता है[६]। इससे स्पष्ट है कि काव्य में सदाचार-तत्व की उनकी व्याख्या रस-दृष्टि के आधार पर है। जो काव्य शील-विकास एवं हृदय-प्रसार का साधक है तथा कर्म-सौन्दर्य का व्यंजक है उसी को शुक्ल जी उत्तम काव्य कहते हैं। उत्तम काव्य रस-प्रधान होता है। इस प्रकार सदाचार-तत्व तथा उनके रस-सिद्धान्त में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

छन्द-तत्व :—

शुक्ल जी काव्य में छन्द एवं लय की सार्थकता काव्य की रमणीयता के

१-काव्य में रह० पृ० १०. २-अभिभाषण पृ० ८९, ८३.
३-अभिभाषण पृ० ३७ से ३९. ४-वही पृ० ३७.
५- वही पृ० ३९, ४०. ६-वही पृ० ४०.

उत्कर्ष-साधक तथा प्रेषणीयता के सहायक रूप में मानते हैं[१]। इस प्रकार उनका छन्द-सिद्धान्त भी रस-सिद्धान्त के अनुकूल है।

कवि-दृष्टि :-

शुक्ल जी के अनुसार कवि की दृष्टि तो सौन्दर्य की ओर जाती है, चाहे वह जहाँ हो – वस्तुओं के रूप-रंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में[२]। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार मंगल समझता है उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुन्दर समझता है[३]। इससे निष्कर्ष यह निकला कि कवि की दृष्टि लोक-धर्मी कोटि की होती है। उनके मत में सच्ची कवि-दृष्टि वही है, जो भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से सामान्य के उद्‌घाटन में समर्थ हो[४]। कहने की आवश्यकता नहीं कि सामान्य का उद्‌घाटन रस के माध्यम से ही होता है। इस प्रकार उनकी कवि-दृष्टि रस-दृष्टि के अनुकूल है। कवि की विच्छिन्न-दृष्टि की अपेक्षा उसकी समष्टि-दृष्टि उन्हें अधिक प्रिय है[५], क्योंकि वह संश्लिष्ट चित्रण की सामग्री जुटाने में समर्थ होती है, जो रस-सिद्धान्त के अनुकूल पड़ती है। शुक्ल जी के अनुसार सामंजस्य भारतीय काव्य-दृष्टि की विशेषता है[६]। यह सामंजस्य रस-दशा में उत्पन्न होता है। रस-दशा हृदय की ऐसी भाव-दशा है, जिसका न धर्म से विरोध होता है, न ज्ञान से और न किसी दूसरी भाव-दशा से। शुक्ल जी के अनुसार यही सामंजस्य हमारे काव्य-शास्त्र का मूल मंत्र है[७]।

शुक्ल जी का कहना है कि काव्य-दृष्टि से जब हम जगत् को देखते हैं तब जीवन का स्वरूप और सौन्दर्य प्रत्यक्ष होता है।[८] जहाँ व्यक्ति के भावों के विषय पृथक् नहीं रह जाते; मनुष्य मात्र के भावों के आलम्बनों में उसका हृदय लीन हो जाता है; जहाँ व्यक्ति-जीवन का लोक-जीवन में लय हो जाता है; जहाँ जगत के साथ उसके हृदय का पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है, वहाँ प्रवृत्ति-निवृत्ति भी मंगलोन्मुखी हो जाती है—वही भाव की पवित्र भूमि कवि-दृष्टि को सदा परिलक्षित होती रहती है। उपर्युक्त वर्णित भाव की पवित्र भूमि रस-भूमि ही है। इससे सिद्ध हुआ कि शुक्ल जी की कवि-दृष्टि उनकी रस-दृष्टि के अनुसार है।

१—काव्य में रह० पृ० १३५.
२—चि० प० भा० पृ० २२८-२२९
३—चि० प० भा० पृ. २२८,
४— वही पृ० ३२४.
५— वही. पृ० २१०
६—काव्य में रह० पृ० १५१.
७—अभि० पृ. ५२
८—काव्य में रह० पृ० २

काव्य-कसौटी :–

शुक्ल जी के अनुसार कविता की उच्चता का मानदण्ड यह है कि उसमें कितने गूढ़, ऊँचे और व्यापक विचारों के साथ हमारे किसी भाव या मनोविकार का संयोग कराया जा सका है; कितने भव्य और विशाल तथ्यों तक हमारा हृदय पहुँचाया जा सका है।[१] विचार और भाव दोनों रस के तत्व हैं। इस प्रकार शुक्ल जी के अनुसार रस ही काव्य की कसौटी निश्चित होता है। सच्चा काव्य सामान्य भूमि पर पहुँची हुई अनुभूतियों का वर्णन करता है और काव्याभास ऐसे सच्चे वर्णनों की केवल नकल करता है।[२] शुक्ल जी के अनुसार सामान्य भूमि पर पहुँची हुई अनुभूतियाँ रस के अन्तर्गत आती हैं। इस प्रकार उनकी काव्य-कसौटी रस के अनुकूल सिद्ध होती है। उनकी दृष्टि में परस्पर सम्बद्ध विविध वृत्तियों का सामंजस्य काव्य का परम उत्कर्ष और सबसे बड़ा मूल्य है।[४] परस्पर सम्बद्ध विविध वृत्तियों का सामंजस्य रस में पाया जाता है। उन्होंने काव्य की चरम सफलता कर्म-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति में मानी है;[५] और कर्म-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति करुणा, क्रोध आदि विरोधी भावों के सामंजस्य में है, अन्तःप्रकृति के सभी पक्षों को गोचर रूप देने में है।[६] अन्तःप्रकृति के सभी पक्षों का सामंजस्य रस के भीतर होता है। इस प्रकार उक्त-विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में कविता की कसौटी उनके द्वारा निरूपित रस-सिद्धान्त ही है।

काव्य-आत्मा :–

आचार्य शुक्ल के मत से काव्य का आभ्यन्तर स्वरूप या आत्मा रस है, अलंकारादि उसके बाह्य स्वरूप हैं।[७]

काव्य-भेद :–

जिस प्रकार ध्वनिवादी होने के कारण आनन्दवर्धन ने काव्य का वर्गीकरण ध्वनि के आधार पर किया तदवत् रसवादी होने के कारण शुक्ल जी ने काव्य का वर्गीकरण रस के आधार पर किया है। उनकी दृष्टि में काव्य की उक्ति तीन प्रकार की होती है[८]:—

प्रथम—जिसमें केवल चमत्कार या वैलक्षण्य हो;

१–का० मे रह० पृ० ७८. २– वही पृ० ६,
३– वही पृ० १४. ४– वही पृ० ५.
५– वही पृ० ५. ६ —रस-मीमांसा पृ० १०५.
७—जायसी ग्रन्थावली की भूमिका पृ० १६२.

द्वितीय—जिसमें केवल रस या भावुकता हो; तथा

तृतीय—जिसमें रस या चमत्कार दोनों हों।

इनमें से प्रकृत-काव्य शुक्ल जी केवल पिछली दो उक्तियों में ही मानते हैं। प्रथम में केवल काव्याभास है।

काव्य-शक्ति :–

शुद्ध काव्य की शक्ति सामान्य तथ्य-कथन या सिद्धान्त के रूप में नहीं होती, वरन् वस्तुओं या व्यापारों के बिम्ब ग्रहण कराने के रूप में होती है।[१] वस्तुओं या व्यापारों का बिम्ब-ग्रहण विभाव-चित्रण द्वारा होता है। इस प्रकार रस का एक मुख्य अवयव काव्य-शक्ति उत्पन्न करने का साधन है।

शुक्ल जी काव्य के प्रभाव को जीवन की एक शक्ति समझते हैं क्योंकि उसमें लोक-प्रवृत्ति परिचालित करने वाला प्रभाव रहता है[२], वह कर्मोत्तेजना पैदा करता है, सहृदय के हृदय में नया जीवन ला देता है तथा उसके जीवन को कई गुना बढ़ाकर उसमें सजीवता भर देता है। रस-परिभाषा के समय हम बता चुके हैं कि शुक्ल जी के मत में काव्य का प्रभाव ही रसास्वादन है। इस प्रकार रस के माध्यम से काव्य में सब प्रकार की शक्तियाँ आती हैं।

शुक्ल जी के मत में कविता में रमाने की शक्ति रस के माध्यम से आती है[३]। वे पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में; उत्साह, क्रोध, करुणाभय, घृणा इत्यादि की गति-विधि में पूरी रमणीयता देखते हैं[४]। जहाँ कविता पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन के लिये क्रोध, उत्साह, घृणा का भाव भरती है, वहीं क्रान्ति का जन्म होता है। इस प्रकार उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार्य के मत में कविता में क्रान्ति करने की शक्ति भी रस के माध्यम से ही आती है।

शुक्ल जी के मत में कविता में हृदय के मार्मिक स्थलों को स्पर्श करने की शक्ति कर्मों की सुन्दरता या विरूपता के चित्रण से आती है[५]। कर्मों की सुन्दरता या विरूपता का स्थान रस के विभाव-पक्ष के भीतर है। इस प्रकार कविता में हृदय के मार्मिक स्थलों को स्पर्श करने की शक्ति भी रस द्वारा ही आती है।

शुक्ल जी की दृष्टि में उपन्यास का मुख्य कार्य मानव-अन्तःकरण का सौन्दर्य तथा सदाचार की शक्ति दिखाकर, पाठकों का नयनोन्मीलन करना है[६]।

१—रसमीमांसा पृ० ३१०.   २—रस-मीमांसा पृ० ३२७.

३—काव्य में रह० पृ० ५७.   ४—रसमीमांसा पृ० ५६.

५—चिन्तामणि प० भा० पृ० २१४.   ६—उपन्यास—नागरी प्र० सभा, १६ १०जुलाई

अन्तःकरण के सौन्दर्य तथा सदाचार-शक्ति का सम्बन्ध रस-तत्व से है—यह पहले बताया जा चुका है। इससे स्पष्ट हुआ कि साहित्य या काव्य में नयोन्मीलन अथवा भग्नावरणानित की शक्ति रस के माध्यम से आती है।

शुक्ल जी ने काव्य को शक्ति समझने वाले डंटन के मत का समर्थन किया है,[1] किन्तु वहाँ भी उन्होंने काव्य की लोक-मङ्गल-शक्ति की ही सराहना की है, अनुरञ्जन-शक्ति की नहीं[2]। महाकाव्य में लोक-मङ्गल की शक्ति अन्य साहित्य-रूपों की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में रहने के कारण उन्होंने उसे सर्वश्रेष्ठ काव्य-रूप घोषित किया है[3]।

कविता की शक्ति को रस के अनुकूल समझने के कारण ही उन्होंने मानस को आध्यात्मिक या धार्मिक ग्रन्थ के रूप में न देखकर सामाजिक विकास की शक्ति प्रदान करने वाले ग्रन्थ के रूप में देखा; उसमें भारतीय संस्कृति की रक्षा की शक्ति का अन्वेषण किया,[4] उसमें घोर से घोर निराशा, दुख-दैन्य तथा अवनति के क्षणों में मंगलाशा के भाव भरने की शक्ति का दर्शन किया[5]। हिन्दी-साहित्य में साहित्य की सामाजिक शक्ति तथा जीवन-पोषक सामग्री को वैज्ञानिक पदावली में विस्तृत ढंग से सतर्कपूर्वक रखने का श्रेय शुक्ल जी को ही है।

काव्य-अधिकारी :–

शुक्ल जी की दृष्टि में तुच्छ वृत्ति वालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं। कविता-देवी के मन्दिर ऊँचे, खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं[6]। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं[7]। शुक्ल जी द्वारा उपर्युक्त वर्णित काव्य-अधिकारी के लक्षण भारतीय काव्य-शास्त्र में वर्णित सहृदय के लक्षण[8] के अनुरूप हैं जो रसास्वादन के अधिकारी माने गये हैं। इससे स्पष्ट है कि उनके द्वारा निरूपित काव्य-अधिकारी का लक्षण रस-सिद्धान्त के अनुकूल है।

कविता का कार्य :—

आचार्य शुक्ल की दृष्टि में कविता का कार्य है—मनुष्य के सब भावों और

१–चि० प० भा० पृ० २६२. २ –चि० प० भा० पृ० २६३,
३– वही २०४ ४–गो० तुलसीदास पृ० ३७.
५–गो-तुलसीदास पृ० ३५. ३६.
६–चि० प० भाग पृ० २५२. ७ –चि० प० भाग पृ० २५२.
८—चारित्राभिजनोपेताः शान्तिवृत्त श्रुतान्विताः।
यशोधर्मरताश्चैव मध्यस्था वयसान्विताः।
षडङ्गनाट्यकुशलाः प्रबुद्धाः शुचयः समाः।
चतुरातोद्यकुशला नेपथ्यज्ञाः सुधार्मिकाः। नाट्यशास्त्र, भरतमुनि.

सब मनोविकारों के लिए सृष्टि के अपार क्षेत्र से आलम्बन या विषय चुनकर उनका गोचर रूप खड़ा करना,[१] जिनके साथ प्रकृत सामञ्जस्य स्थापित करके सहृदय अपने स्वार्थ-बद्ध संकुचित जीवन से ऊपर उठकर[२] शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हुए[३] सामाजिक जीवन के सत्य, सौन्दर्य एवं शिवत्व की अनुभूति करने में समर्थ हो सके[४]। इस प्रकार की अनुभूति का क्षण सच्ची मनुष्यता का क्षण होता है[५]। इस प्रकार कविता का सबसे महत्वपूर्ण कार्य सहृदय को मनुष्यता की उच्चभूमियों का दर्शन कराना है, मानव बनाना है। इस कार्य के सम्पादन में यदि कविता समर्थ नहीं होती तो वह कविता नहीं है। वस्तुतः शुक्ल जी की दृष्टि में सामाजिक जीवन के सत्य, सौन्दर्य एवं शिवत्व की अनुभूति अथवा मनुष्यता की उच्च भूमियों का दर्शन रसानुभूति द्वारा होता है[६]। इस प्रकार उनके द्वारा वर्णित कविता का कार्य उनकी रस-धारणा के अनुकूल है।

कविता का सम्बन्ध :-

शुक्ल जी की दृष्टि में कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं[७]। इस प्रकार उनकी दृष्टि में कविता का मनुष्य के साथ नित्य सम्बन्ध है। उनके मत में मानव-जीवन से असम्बद्ध उसका कुछ भी मूल्य नहीं[८]। वही कविता सार्थक है जो दूसरों के हृदय में जाकर अपना प्रकाश कर सके[९]। दूसरों का हृदय बदल सके,[१०] उसमें नया जीवन ला सके[११], उसके जीवन को कई गुना बढ़ाकर संसार में व्याप्त कर सके[१२]। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी द्वारा निरूपित कविता का सम्बन्ध उनके रस-सिद्धान्त के अनुकूल है।

कविता की आवश्यकता तथा महत्व :-

मनोवेगों के परिष्कार के लिए,[१३] नाना भावों को व्यायाम देने के लिए,[१४] दबे या दबते हुए भावों को उद्बुद्ध करने के लिए,[१५] भावों या मनोविकारों

१-का० में रह०　पृ० १.
२-चि० प० भा० पृ० १४३.
३-अभिभाषण पृ० ६९, ७० चि० प० भा० पृ० ३६१.
४-का० में रह० पृ० १०. और
५-चि० प० भाग पृ० २१८.
६-चि० प० भाग पृ० २१८,२१९.
७-का० में रह० पृ० ११.
८-अभिभाषण पृ० ३९.
९-अभि० पृ० ४०.
१०-चि० प० भाग पृ० २१९.
११-चि० प० भा० पृ० २१८.
१२-वही पृ० २१८,
१३-काव्य में रहस्यवाद पृ० ६२.
१४-काव्य में रहस्यवाद पृ० पृ० १.
१५-चि० प० भाग पृ० २१८.

के क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए,[1] सच्ची भीतरी प्रवृत्ति-निवृत्ति को जागरित रखने के लिए,[2] विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामंजस्य स्थापित करने के लिए,[3] कर्म-प्रवृत्ति-हेतु मन में वेग लाने के लिए,[4] प्रेम, करुणा, क्रोध आदि मनोवेगों या भावों पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करने के लिए कविता की परम आवश्यकता है। उनकी दृष्टि में जिनका जीवन जानवरों जैसा नीरस बन चुका है, जिनकी चेतना-शक्ति नष्ट हो चुकी है, जिनकी सहृदयता अस्त हो चुकी है, ऐसे हृदयहीन लोगों के लिए कविता की आवश्यकता नहीं।

शुक्ल जी की दृष्टि में कविता मनुष्य के लिए इतनी महत्वपूर्ण है कि वह संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में, किसी न किसी रूप में पाई जाती है; चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा।[5] इसका कारण यह है कि मनुष्य अपने व्यापारों का ऐसा सघन एवं जटिल मंडल बाँधता चला आ रहा है कि जिसके भीतर बँधकर वह अशेष सृष्टि के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध को भूला सा रहता है। इस स्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी से अन्तःप्रकृति में मनुष्यता के गुणों—दया, वीरता, प्रेम, क्षमा, धैर्य आदि को जगाते रहने के लिए कविता की महत्ता सदा रहेगी।[6] ये कविता की साधना को भावयोग कहकर उसे कर्म-योग एवं ज्ञानयोग के समकक्ष रखते हैं।[7] योग, ज्ञान, भक्ति आदि साधनाओं से मनुष्य जिन उच्च अवस्थाओं को पहुँचता है उनकी प्राप्ति भावयोग द्वारा सम्भव बताकर शुक्ल जी ने काव्य को वेद, उपनिषद् आदि के समान का महत्त्व प्रदान किया है।

काव्य की व्यापकता :—

कविता विश्व-व्यापक वस्तु है। वह सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित सभी लोगों में पाई जाती है। जितना विस्तार जगत और जीवन का है उतना ही विस्तार उसका है।[9] काव्य अनेक भावात्मक है। प्रेम, अभिलाष, विरह, औत्सुक्य, दर्प आदि थोड़ी सी मनोवृत्तियों का एक छोटा सा घेरा सम्पूर्ण काव्य-क्षेत्र नहीं हो सकता[10]। इसीलिए उन्होंने कविता का प्रयोजन अशेष

१—चि० प० भा० पृ० २१७. २— वही पृ० ६.
३— वही पृ० ७. ४— वही पृ० २१५.
५—चि० प० भाग पृ० २५३. ६—चि० प० भाग पृ० २५३.
७— वही पृ० २५३. ८— वही पृ० १६३.
६-७—काव्य में रह० पृ० ७. १०— का० में रह० पृ० १४.

सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा तथा निर्वाह माना है; वाद-ग्रस्त कविता को सच्चा काव्य नहीं समझा है; किसी एक भाव, एक विचार, एक पक्ष, एक वर्ग के हित को लेकर चलने वाले काव्यवाद का खण्डन किया है।

काव्य-स्वरूप :-

शुक्ल जी की दृष्टि में मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य-भूमि है,[१] अतः जब तक भावों से सीधे लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक उनके मत से काव्य का वास्तविक रूप खड़ा नहीं हो सकता।[२] गोचर रूप का सम्बन्ध रस-सिद्धान्त के विभाव तथा अनुभाव पक्ष से है। शुक्ल जी का कहना है कि हमारे हृदय का सीधा लगाव गोचर जगत से ही है। प्रेम, अभिलाष जो कुछ प्रगट किया जायगा वह व्यक्त गोचर के ही प्रति होगा।[३] इसी बात के आधार पर सारे संसार में रस-पद्धति चली है और आगे चल सकेगी है। इससे स्पष्ट है कि उनके मत से काव्य-स्वरूप का आधार लौकिक होता है। कविता में कही गई बात चित्र-रूप में हमारे सामने आती है। कलात्मक सौन्दर्य का आधार साहित्य की यही मूर्तिमत्ता है।[४] काव्य में अर्थ-ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब-ग्रहण अपेक्षित होता है।[५] इससे स्पष्ट है कि काव्य का स्वरूप चित्रात्मक होता है। रस, आलम्बन के चित्रण बिना उदीत नहीं हो सकता। इस प्रकार काव्य का चित्रात्मक स्वरूप रस-स्वरूप के अनुकूल होता है। शुक्ल जी के अनुसार काव्य-स्वरूप के भीतर बुद्धि और हृदय का[६], व्यष्टि और समष्टि तत्वों का[७], रस और चमत्कार का[८], करुणा और क्रोध आदि विरोधी भावों का[९] सामंजस्य रहता है। उक्त तथ्य से स्पष्ट है कि कविता का स्वरूप समन्वयात्मक होता है। कविता का यह समन्वयात्मक स्वरूप रस की समन्वयात्मक प्रकृति के अनुकूल होता है। अन्यत्र उन्होंने बतलाया है कि सब भूतों एवं सम्पूर्ण चराचर तक हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, विश्व के साथ एकता की अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति से, काव्य के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा होती है।[१०] आचार्य के मत में वाल्मीकि रामायण[११] में यही बात है, इसलिए उसमें काव्य के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा है।

१—का० में रहस्यवाद पृ० ३७.
२—रसमीमांसा पृ० १६७.
३—का० में रह० पृ० ५०
४—चिं० प० भाग पृ० ३२६. ३३०.
५—रसमीमांसा पृ० १६७.
६—अभिभाषण पृ० ५२.
७—चिं. प. भाग० पृ० २१६.
८—चिं० प० भाग पृ० २३४.
९—काव्य में रहस्यवाद पृ० १६.
१०—११— वही पृ० १६.

शुक्ल जी द्वारा रस के आधार पर किये गये कवि-कर्म के दो पक्ष—अनुभाव और विभाव, इस बात को सिद्ध करते हैं कि उनकी दृष्टि में रस-प्रधान काव्य ही प्रकृत काव्य का स्वरूप खड़ा कर सकता है। उनके मतमें वादग्रस्त कविता काव्य का सच्चा स्वरूप नहीं खड़ा कर सकती[१], क्योंकि उसमें रस-स्वरूप संकुचित हो जाता है। आचार्य के मत में भाव या मनोविकार की नींव पर ही कविता की इमारत खड़ी हो सकती है[२]। अतः भाव या रस का स्वरूप खड़ा करने से काव्य का स्वरूप खड़ा होगा। रस का स्वरूप विभाव-चित्रण से, गोचर रूप-विधान से खड़ा होगा। उनके मत में अनूठापन काव्य के नित्य स्वरूप के अन्तर्गत नहीं है। वह काव्य का एक अतिरिक्त गुण है है जिससे मनोरंजन की मात्रा बढ़ जाती है। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी द्वारा निरूपित काव्य का स्वरूप उनके रस-सिद्धान्त के अनुकूल है।

साहित्य के विभिन्न रूपः—

शुक्ल जी द्वारा निरूपित साहित्य के विभिन्न रूप उनके रस-सिद्धान्त के अनुकूल हैं। उनके मत में भावुकता जीवन का एक अंग है; अतः साहित्य की किसी शाखा से हम उसे बिल्कुल हटा नहीं सकते[३]। अब उनके द्वारा निर्मित प्रत्येक साहित्य-रूप को लेकर उपर्युक्त तथ्य की प्रामाणिकता पर विचार करना चाहिए। काव्य-दर्शन के विभिन्न शीर्षकों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि उनके द्वारा निरूपित काव्य का स्वरूप रस के अनुकूल है।

शुक्ल जी के मत से मुक्तक में किसी भाव की व्यंजना करना ही उसका चरम लक्ष्य है[४]। उनकी दृष्टि में प्रगीतों में भाव की ही प्रधानता रहती है[५]। मार्मिक स्थलों की बहुलता, भावों की अनेकरूपता तथा घटना-चक्र की विशदता के कारण प्रबन्ध-काव्य में पाठक को मग्न करने वाली रस की धारा अजस्र रूप से प्रवाहित होती है[६]। रस की कसौटी लोक-मंगल की शक्ति को सर्वाधिक मात्रा में अपनाने के कारण, सभी रसों की धारा को प्रवाहित करने की क्षमता रखने के कारण, शील-निरूपण द्वारा भाव की शील-दशा को अन्य साहित्य-रूपों की अपेक्षाकृत सर्वाधिक मात्रा में रखने के कारण उन्होंने महाकाव्य को साहित्य-रूपों में सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है[७]। उपर्युक्त विवेचन

१—काव्य में रह० पृ० २६. २— वही पृ० ७२.
३—हिन्दी साहित्य का इति० आ० शुक्ल पृ० ६१६.
४—जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, आचार्य शुक्ल, पृ० ६७.
५—गो० तुलसी०, पृ० ६८, ६—जा० ग्र० की भूमिका पृ० ६६. से ६६.
७—भ्रमर-गीत-सार की भूमिका. पृ० ६ और ७.

से स्पष्ट है कि उनके द्वारा निरूपित काव्य के विभिन्न रूप रस-सिद्धान्त के अनुसार हैं।

शुक्ल जी रसानुयायी होने के कारण नाटक में काव्यत्व तथा भावात्मकता की सुरक्षा के पूरे पक्ष-पाती हैं। इसीलिए पश्चिमी नाटकों की आधुनिक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप हिन्दी-नाटकों में जो काव्यत्व तथा भावात्मकता का ह्रास हो रहा था उस पर उन्होंने रोष प्रगट किया है[१]। संस्कृत के रसतत्व तथा पश्चिम के अन्तः प्रकृतिवैचित्र्य-तत्व का समन्वय जो उस युग के हिन्दी नाटकों में हो रहा था उसकी उन्होंने आशंसा की है। हिन्दी नाटकों में भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-शैली का समन्वय चाहते हुए भी वे उसका लक्ष्य रस-संचार ही मानते हैं[२]। हिन्दी-नाटकों के स्वतन्त्र विकास के लिए और देशों की नाट्य-पद्धतियों का सफाई के साथ उसमें मेल चाहते हुए भी वे नाटक के भारतीय लक्ष्य--रस-संचार को बनाये रखने के पूर्ण पक्षपाती हैं[३]।

उपन्यासों के पुराने ढाँचे को जिसमें काव्यत्व तथा अलंकृत दृश्य-वर्णन रहा करता था शुक्ल जी पसन्द करते हैं[४]। तात्पर्य यह कि वे उपन्यास में काव्यत्व द्वारा भावुकता का संस्पर्श चाहते हैं। उपन्यासों में नवीनता की दृष्टि से वे देश की सामान्य जीवन-पद्धति तथा समस्याओं का चित्रण देखना चाहते हैं[५]। इसीलिए योरोपीय सभ्यता के साँचे में ढले हुए छोटे से समुदाय का सामान्य जीवन-चित्रण उन्हें उपन्यासों में पसन्द नहीं है। देश तथा समाज की सामान्यजीवन-पद्धति के चित्रण के कारण वे प्रेमचन्द को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार मानते हैं[६]। कहने की आवश्यकता नहीं कि सामान्य जीवन-पद्धति का सम्बन्ध रस से है। शुक्ल जी ने आधुनिक उपन्यासों का आदर्श भी भावात्मक ढंग का निरुपित किया है[७]। वे हिन्दी-उपन्यासों में प्रकृति का आलम्बन-रूप में अथवा पृष्ठभूमि-रूप में चित्रण चाहते हैं। उन्होंने अपनीयह इच्छा काव्य में रहस्यवाद नामक पुस्तक में प्रगट की है[८]। कहने की आवश्यकता नहीं कि उपन्यास में प्रकृति-वर्णन सम्मिलित करने की उनकी आकांक्षा भी उनके रस सिद्धान्त के अनुकूल ही है।

१—अभिभाषण, पृ० १०३, १०४.
२—हि० सा० का इति०, पृ० ६०६.
३—हि० सां० का इति०, पृ० ६१०.
४—अभिभाषण. पृ० १०५.
५—अभिभाषण, पृ० १०६.
६— वही पृ० १०६.
७— वही पृ. १०७
८—काव्य में रहस्यवाद पृ० २१.-

शुक्ल जी द्वारा निरूपित कहानी का स्वरूप भी उनके रस-सिद्धान्त के मेल में है। उनकी कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' उन्हीं के कथनानुसार भाव-प्रधान कहानी है[१]। भाव-व्यंजक खण्ड-चित्रों को अंकित करने वाली तथा गम्भीर संवेदना या मनोभाव में पर्य्यवसित होनेवाली कहानियाँ उन्हें बहुत पसन्द हैं[२]। कल्पना एवं भावुकता से भरी छोटी कहानियाँ भी उन्हें अत्यन्त रुचिकर लगती हैं[३]। गुलेरी जी की कहानी—'उसने कहा था' को हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानी मानने के जो कारण उन्होंने दिये हैं, उनमें भी रस-तत्व का पूर्ण प्रभाव दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ उनका मत नीचे दिया जाता है :—

"इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है, पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है[४]।" 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में शुक्ल जी ने जिन तत्वों के आधार पर आधुनिक हिन्दी कहानियों का वर्गीकरण किया है उनमें से अधिकांश का सम्बन्ध रस-तत्वों से है[५]। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि शुक्ल जी द्वारा निरूपित कहानियों का स्वरूप तथा उनकी समीक्षा का ढंग बहुत दूर तक उनके रस-सिद्धान्त के मेल में है।

शुक्ल जी निबन्ध के प्राण तत्व—व्यक्तित्व का मूलाधार, मानसिक संघटन मानते हैं[६]। उनकी दृष्टि में मानसिक संघटन के अनुसार निबन्ध में किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये सम्बन्ध-सूत्र एक दूसरे से गुथे हुए पत्तों के भीतर नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्त्व-चिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध-सूत्रों को पकड़ कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-

---

१—हि० सा० का इति० पृ० ५५६, २— वही पृ० ५५५. ६०२.
३— वही पृ० ५५७. ४— वही पृ० ५५७. ५५८.
५— वही पृ० ६०३. ६०४ ६— वही पृ० ५५६.
७— वही पृ० ५५६,

सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-सम्बन्धी सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही ही भिन्न भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती हैं[७], पर उनका सम्बन्ध अनुभूति के प्रकृत या लोक-सामान्य स्वरूप से ही रहता है, ऐसे व्यक्ति-वैचित्र्य सम्बन्धी विचारों, भावों तथा अनुभूतियों से नहीं जिनका सम्बन्ध लोक सामान्य की भाव-भूमियों से जोड़ना कठिन हो। तात्पर्य यह कि शुक्लजी की दृष्टि में निबन्धकार के व्यक्तित्व का आधार सामाजिकता है जो रस की भी आधार-भूमि है।

शुक्ल जी की दृष्टि में वे ही विचारात्मक निबन्ध साहित्य-कोटि में आ सकते हैं जिनमें बुद्धि के अनुसन्धान क्रम या विचार-परम्परा द्वारा ग्रहीत अर्थों या तत्वों के साथ लेखक का व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ भी पूरी पूरी झलकती हैं[१]। तात्पर्य यह कि शुक्लजी हृदय के भावों की सच्ची झलक निबन्ध में देखना चाहते हैं।[२] डा० रघुवीर सिंह तथा गुलेरीजी के निबन्ध उन्हें इसीलिए पसन्द हैं, क्योंकि उनमें हृदय के भावों की सच्ची झलक दिखाई पड़ती है[३]।

शुक्लजी गद्य-काव्य को काव्यात्मक मानते हैं। उनके मत में गद्य-काव्य भावाकुलता एवं भावावेश के फल-स्वरूप लिखे जाते हैं। फलतः इनमें प्रबल कोटि की भाव-व्यञ्जना पाई जाती है[४]। अतः इनके रसानुकूल होने में कोई सन्देह नहीं।

शुक्लजी के समीक्षा-स्वरूप को रसानुकूल होने में कोई सन्देह ही नहीं है, क्योंकि इस विषय में उनकी स्पष्ट उक्तियाँ मिलती हैं जिनमें उन्होंने यह घोषित किया है कि रसवादी समीक्षा-पद्धति से देशी-विदेशी, नये-पुराने सभी प्रकार के साहित्य-रूपों की परीक्षा हो सकती है[५]। रसवादी समीक्षा-पद्धति के आधार पर की गई उनकी व्यावहारिक समीक्षा-कृतियाँ भी यही प्रमाणित कर रही हैं कि उनकी समीक्षा-पद्धति रस-सिद्धान्त के अनुकूल है, उनकी समीक्षा-कसौटी रस है।

१—अभिभाषण, पृ० ४. २— वही पृ० ११०.

३— हि० सा० का इति० पृ० ५८३,६२२. ४—हि० सा० का० इति० पृ० ६२०.

५—का० में० रहस्य० पृ० ६६, ७३. १५१.

से सम्बन्ध रखने वाले उनके सभी सिद्धान्त प्रायः इसी काल में बने, काव्य के आत्म तथा शरीर तत्वों का पृथक्करण एवं विश्लेषण इसी कालमें हुआ, साहित्य तथा जीवन सम्बन्धी उनकी सभी मूल स्थापनायें तथा मान्यतायें इसी काल में निर्मित हुईं एवं उनके मूल समीक्षादर्शों का निर्माण भी इसी काल में हुआ।

तृतीय काल में शुक्ल जी ने द्वितीय काल में निर्मित अपने अगी सिद्धान्त—रस—सिद्धान्त-की वस्तुभूमि के भीतर शील-निरूपण तथ्य, ऐतिहासिक-तथ्य, दार्शनिक तथ्य, सांस्कृतिक-तत्व, युग-चेतना-तत्व, तथ मानवता-तत्व की निहिति सिद्ध कर उन्होंने उसकी व्याप्ति को विस्तृत तथा विकसित करते हुए अपने साहित्यिक प्रतिमान को विश्व-दर्शन, विश्व-संस्कृति एवं विश्व साहित्य की भूमिका पर रखने का प्रयत्न किया। व्यावहारिक समीक्षा की पद्धति को स्थूल गुण-दोष निर्देशन वाली पद्धति से उन्मुक्त कर उसे विकसित रसवादी सिद्धान्त की सहायता से व्यापक किया।

इस काल में हिन्दी-साहित्य के संरक्षक-रूप में शुक्ल जी ने अपने समीक्षा सिद्धान्तों के प्रयोग द्वारा हिन्दी-साहित्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व, प्रकृति तथा अमूल्य निधियों को सुरक्षित करने का प्रयत्न किया, पश्चिम के अवांछनीय प्रभावों तथा वादों से उसकी रक्षा की, उसके विकास में बाधक देशी तथा-विदेशी साहित्य-परम्पराओं का विरोध किया। उसके स्वस्थ विकास के लिए तत्कालीन हिन्दी-साहित्य में फैले हुए उच्छृंखल तथा अनुत्तरदायी तत्वों को उभरने नहीं दिया, हिन्दी-साहित्य में उद्भूत अस्वस्थकर प्रवृत्तियों को पनपने नहीं दिया, हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रणयन द्वारा हिन्दी की अमूल्य विचार-निधियों, भाव-रत्नों की रक्षा की, सैकड़ों अज्ञात कवियों को प्रकाश में लाकर हिन्दी के भाण्डार को समृद्ध किया। हिन्दी ही नहीं सामान्य साहित्य की प्रकृति, व्याप्ति, उसके विविध मूल्यों, आधारों, प्रयोजनों तथा उद्देश्यों की रक्षा के लिए शुक्ल जी ने उसके एकदेशीय तथा एकांगी पक्ष को लेकर चलने वाले देशी तथा विदेशी सभी प्रकार के काव्य-वादों एवं साहित्य सम्प्रदायों का खण्डन किया।

चतुर्थ काल में शुक्ल जी ने साहित्य-नियता के रूप में प्रत्येक साहित्य-रूप की शासन-विधि का निर्माण किया, साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र के अभाव एवं दोष का संकेत ही नहीं वरन् उसके दूरीकरण का पथ भी बताया, भारतीय साहित्य के आदर्श को बलपूर्वक निरूपित किया, साहित्य के बेबुनियाद तथा एकदेशीय मूल्यांकनों को अस्वीकार किया, प्रत्येक सिद्धान्त तथा साहित्य-रूप की अनेक भ्रान्तियों, गुत्थियों, समस्याओं एवं त्रुटियों को सुलझाया, साहित्यकारों की विकृत रुझानों तथा उलझनों को दूर किया, लेखकों एवं कवियों

को समाज तथा युग के उत्तरदायित्वों के प्रति सजग किया, अनेक कवियों तथा लेखकों को वैयक्तिक दृष्टि से उनकी प्रतिभा के समुचित विकास के हेतु उचित सुझाव दिया, साहित्य के अप्रगतिशील तत्वों को बढ़ने नहीं दिया, हिन्दी-साहित्य के विविध स्वरूपों का आदर्श स्वरूप निरूपित करते हुए हिन्दी-कवियों तथा लेखकों का ठीक दिशा-निर्देशन किया तथा उन्हें उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के निर्माण का मार्ग बताया।

अब आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्तों के विकास की उपर्युक्त विभिन्न काल-स्थितियों का निरूपण तथा विश्लेषण उनकी कृतियों के आधार पर किया जायगा।

अन्वेषण या साधना-काल —

'प्राचीन भारतवासियों का पहरावा'[1] शुक्ल जी की प्रथम गद्य-रचना है। यद्यपि वह राजेन्द्रलाल मित्र के लेख के आधार पर लिखी गई है फिर भी उससे शुक्ल जी के दृष्टिकोण का पता लगता है। इसलिए साहित्यिक निबन्ध न होते हुए भी उसका उपयोग यहाँ किया गया है। उन्होंने इस निबन्ध में योरोपीय विद्वानों के इस मत का खण्डन किया है कि मुसलमानों के आगमन के पूर्व हिन्दू लोग सिले हुए वस्त्रों के व्यवहार से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। साहित्य, भाषा-विज्ञान, स्थापत्य-कला आदि के अनेक प्रमाणों द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ईसा के कई शताब्दी पूर्व से ही हिन्दू सिले हुए कपड़ों का व्यवहार करते थे और उनके सिले हुए वस्त्र कई प्रकार के होते थे। उसी प्रसङ्ग में शुक्ल जी ने यह भी बताया है कि वे सभ्यता और सामाजिक उन्नति में विश्व के किसी देश से पीछे नहीं थे।

शुक्ल जी के उक्त निबन्ध के निष्कर्षों से यह सिद्ध होता है कि आरंभ से ही उनका मस्तिष्क भारतीय संस्कृति, सभ्यता तथा अपने पूर्वजों द्वारा उपार्जित अन्य उदात्त वस्तुओं के प्रति एक गौरवपूर्ण आस्था रखता था। उनका यह विश्वास था कि जो जाति अपने पूर्वजों द्वारा उपार्जित उदात्त वस्तुओं अथवा विचारों में गौरवपूर्ण आस्था नहीं रखती वह अभिमान के साथ याद करने योग्य कोई वस्तु उपार्जित नहीं कर सकती।

पूर्वजों की उदात्त वस्तुओं के प्रति शुक्लजी की गौरवपूर्ण आस्था का यह अर्थ कदापि नहीं कि वे परंम्परा से आगे नहीं बढ़ना चाहते थे अथवा वर्तमान

1—सरस्वती, १९०२. ई०, भाग ३, संख्या १२, पृ० ३७१,

समीक्षा-सिद्धान्तों के विकास की दृष्टि से अन्वेषण-कालकी द्वितीय महत्वपूर्ण कृति 'कल्पना का आनन्द' नामक अनूदित निबन्ध है। इसमें प्रायः सभी सिद्धान्त एडिसन के हैं, उदाहरण यत्र-तत्र शुक्ल जी के हैं। रस के मनोवैज्ञानिक पक्ष से सम्बन्धित होने के कारण इस निबन्ध की सामग्री ने शुक्ल जी के मस्तिष्क को प्रभावित किया इसी कारण वे इसके अनुवाद की ओर अग्रसर हुए। इसमें काव्यगत अनुभूति एवं कल्पना के आधार तथा निर्माण की सामग्री मिलती है। एडिसन के अनुसार कल्पना का आधार इन्द्रिय-बोध है। इन्द्रिय-बोध-विधान मन की रूप-तरङ्गों का निर्माण करता है। रूपमय जीवन ही अनुभूति, भावुकता, अरूप चिन्तन एवं विचारों का आधार है। संसार के रूप-जगत से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण होता है। साहित्य का काल्पनिक जगत वास्तविक जगत से एकदम अलग नहीं है, वह इसी जगत के रूपों के आधार पर बनता है। साहित्यगत अनुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से एकदम अलग वस्तु नहीं है। उपर्युक्त सभी तथ्य शुक्ल जी के निबन्ध 'रसात्मक बोध के विविध रूप' में प्रयुक्त हुए हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि रस के कल्पना-तत्व, रसकी अलौकिकता के खण्डन की सामग्री, अनुभूति के मूलाधार तत्व, विभाव पक्षके निर्माण की सामग्री इस काल में आचार्य शुक्ल प्राप्त कर चुके थे। इसके अतिरिक्त उनके निबन्ध 'रसात्मक बोध के विविध रूप,' के अंतर्गत निरूपित 'प्रत्यक्ष रूपविधान, 'स्मृत रूप विधान' तथा 'कल्पित रूप-विधान' की सामग्री भी एडिसन के इस अनूदित निबन्ध से मिलती है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रसात्मक बोधके विविध स्वरूपो की सामाग्री इस काल में उनके मस्तिष्क में बीज रुप में प्रादुर्भूत हो चुकी थीं। कल्पना का आनन्द' नामक निबन्ध के बिम्ब-ग्रहण एवं संश्लिष्टता के सिद्धान्त से वे अवश्य प्रभावित हुए होंगे। इसके अतिरिक्त रसानन्द की मनोवैज्ञानिक व्याख्या, सहृदय के मनो वैज्ञानिक लक्षण, विभाव-पक्ष की विशेषता सम्बन्धी कुछ सामग्री भी इस निबन्ध में यत्र तत्र बिखरी मिलती है। इससे यह अनुमान लगाना सरल है कि इस काल में रस की मनोवैज्ञानिक सामग्री के अन्वेषण में वे रत हो चुके थे।

प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन अथवा वर्णन में रस-कोटि का आनन्द है; काव्य में उसका वर्णन स्वतन्त्र रूप में हो सकता है; इस तथ्य का बीजभूत विचार इस अनूदित निबन्ध में मिलता है; इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन में स्वतन्त्र कोटि के रसानन्द की सामग्री उनके मस्तिष्क में इस काल में प्रादुर्भूत हो चुकी थी। आगे चलकर निर्माण काल में इसे सैद्धान्तिक रूप प्राप्त हुआ।

शुक्ल जी का तृतीय साहित्यिक निबन्ध 'उपन्यास' विशुद्ध रूप से मौलिक है[1]। इस निबन्ध में उन्होंने उपन्यास के मूल प्रयोजन समाज-कल्याण तथा जीवन के सत् असत-रूपों की पहचान पर सर्वाधिक बल दिया है[2]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस काल में साहित्य द्वारा लोक-मंगल एवं जीवन-अभिज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त उनके मस्तिष्क में उत्पन्न हो चुके थे।

शुक्ल जी का चौथा निवन्ध 'भाषाकी शक्ति'[3] यद्यपि भाषा से सम्बंध रखता है तथापि इसमें प्रसंगानुकूल अनेक साहित्यिक विषयों पर इनके मत स्पष्ट रूप से मिलते हैं। भारत के अतीत गौरव की झलक दिखाने के कारण इसमें शुक्ल जी भारतेन्दु की प्रशंसा एवं उनके प्रति श्रद्धा की भावना व्यक्त करते हुए दिखाई पड़ते हैं[4]। इससे पूर्वजों द्वारा अर्जित उदात्त वस्तुओं एवं विचारों के प्रति उनकी गौरवपूर्ण आस्था का प्रमाण मिलता है। इस काल में परम्परा के प्रति अन्ध श्रद्धा रखने वाले व्यक्तियों के प्रति वे तिरस्कारकी भावना रखने लगे थे। इसका स्पष्ट प्रमाण इस निबन्ध में उस स्थल पर मिलता है जहाँ वे उपयुक्तता का विचार किये बिना बात बात में संस्कृत श्लोक उद्धृत करने वाले पंडितों का खण्डन करते हैं[5]। भारत की सौन्दर्यशाली प्रकृति की विभूति के प्रति उनके उत्कट प्रेम के विकास का पता भी इस निबन्ध में उस स्थल पर मिलता है जहाँ वे अपने देश के सुन्दर फूलों, पक्षियों, ऋतुओं, नदियों एवं पहाड़ों के प्रति उपेक्षा तथा विदेशके फूलों, पक्षियों, नदियों आदि के प्रति अनुराग रखने वाले भारतीयों की निन्दा करते हैं[6]। अलंकार विवेचन के प्रसंग में इस निबन्ध में वे अलंकारों के प्रयोग सम्बन्धी कारणों का मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हैं।

१—ना० प्र० पत्रिका, १९१० ई० जुलाई अगस्त-सितम्बर। अक, भाग १५, सं० ३,

२—'अच्छे उपन्यासों से समाज का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है मानव-जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है।'

३—ना० प्र० पत्रिका, सन् १९१२, जनवरी, फरवरी मार्च अंक।

४—'स्वार्थी लोग समय समय पर चक्र चलाते ही रहे किन्तु भारतेन्दु की स्वच्छ चंद्रिका में जो एक बेर अपने गौरव की झलक लोगों ने देख पाई वह उनके चित्त से न हटी।'

५—'अब भी यदि हमारे कोरे संस्कृतज्ञ पडितों से कोई बात छेड़ी जाती है तो वे चट कोई न कोई श्लोक उपस्थित कर देते हैं और उसीके शब्दों के भीतर चक्कर खाया करते हैं।' 'हजारों सिर पटकिये वे उसके आगे एक पग भी नहीं बढ़ते।'

६—हम उन दिनों गुलेलाला और गुले नरगिस के फिराक में रहते थे। मधुकर गूंजते और कोइलें कूकती थीं पर हम तनिक भी नही चौंकते थे।'

इनकी दृष्टि में अलंकार का उद्देश्य मनोवेगों को उद्दीप्त करना, भावना को तीव्र करना, सतोगुण की मनोहारिणी छटा दिखाना तथा जीवन-सम्बन्धी ज्योति प्रदर्शित करना है। इस अवसर पर उपमा का मनोवैज्ञानिक विवेचन विस्तृत कोटि का मिलता है[१]। इस प्रसंग शुक्ल जी कविता में अलंकार-कौशल-प्रदर्शन की प्रवृत्ति, प्रयत्न से अलंकार लादने की मनोवृत्ति, शब्दाडम्बर की चेष्टा आदि का खण्डन करते हैं[२]। अलंकार-प्रयोग के उद्देश्यों के विवेचन के प्रसंग में जातीयता के सिद्धान्त, लोक-मङ्गल एवं जीवन-सत्य-सिद्धान्त पर भी यत्र तत्र कुछ प्रकाश पड़ता है। उक्त निबन्ध से यह प्रमाणित होता है कि साधना-काल में शुक्ल जी के मस्तिष्क में अलंकारवाद के खण्डन सम्बन्धी विचार क्रमशः अधिक मात्रा में विकसित हो रहे थे; साहित्य के मानसिक पक्ष की ओर उनकी दृष्टि बढ़ रही थी, रस-सिद्धान्त पर उनकी आस्था धीरे धीरे जम रही थी, लोक-मङ्गल तथा जातीयता के सिद्धान्त अंकुरित हो रहे थे तथा प्रकृति के प्रति उत्कट कोटि का रागात्मक सम्बन्ध विकसित हो रहा था।

आरम्भिक काल के निबन्धों के उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे एक स्वच्छन्द चिन्तक थे। इसीलिए उन्होंने आरम्भ से ही भारतीय अथवा पश्चिमी किसी भी समीक्षा के सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया। एक ओर न तो वे भारतीय साहित्य के परम्परागत सिद्धान्तों के अन्ध-भक्त बने और न तो दूसरी ओर उन्होंने पश्चिमी शास्त्र-मीमांसा को विदेशी कह कर त्यागा ही। इसलिए उन्हें स्वतन्त्र रूप से समीक्षा-सिद्धान्तों की व्याप्ति, स्वरूप, प्रयोजन-सामग्री आदि का अन्वेषण करना पड़ा।

आचार्य शुक्ल हिन्दीसाहित्य के एक ऐसे प्रौढ़ समीक्षक हैं जो एक सुनिश्चित विचारधारा लेकर समीक्षा-क्षेत्र में अवतरित हुए अतएव उनकी

१—'प्रत्येक साहित्य के अर्थालंकार में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उपमा का प्रयोग बहुत अधिक होता है क्योंकि भौतिक पदार्थों के व्यापार, विस्तार, रूप-रङ्ग तथा अवस्थाओं की स्थिति, क्रम, विभेद आदि का सम्यक् ज्ञान उत्पन्न करने के लिए विना उसके काम नहीं चल सकता। जन्म से लेकर मनुष्य का सारा ज्ञान सृष्टि के पदार्थों के मिलान वा अन्वय-व्यतिरेक से उत्पन्न है।'

२—'शब्द मैत्री वा यमक खिलाने के उद्देश्य से ही लेखनी उठाना ठीक। नहीं यदि आप की कल्पना से सतोगुण की कोई मनोहारिणी छाया देख पड़ी हो तो आप उसे खींच कर संसार के सम्मुख उपस्थित कीजिए।'

या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय, तथा क्रोध के नाम से विचार-वीथी में प्रकाशित हुए। किन्तु इन परिवर्तित निबन्धोंमें लेखक की मूल स्थापनाओं में कोई अन्तर नहीं है। विस्तार और उदाहरण में ही कहीं कहीं अन्तर है। चिन्तामणि पहला भाग में भी ये ही निबन्ध न्यूनाधिक अन्तर से संकलित हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रौढ़ विचारधारा को लेकर आचार्य शुक्ल हिन्दी-साहित्य में अवतरित हुए। उन्होंने युवावस्था में जो मूल-विचारधारा, अध्ययन चिन्तन के पश्चात् ग्रहण की, वही अंत तक बनी रही।

प्रथम निबन्ध में स्थायी भाव के मूल में रहने वाले मनोविकार या भाव की परिभाषा, उत्पत्ति, स्परुप, तत्व, कार्य, महत्ता, व्यापकता, उपयोगिता, देन आदि पर संक्षेप में सूत्रात्मक ढंग से विचार किया गया है। जीवन में भाव की महत्ता, व्यापकता, उपयोगिता, कार्य देन आदि पर प्रकाश डालने से अप्रत्यक्ष रूप में रस की महत्ता, व्यापकता, उपयोगिता, कार्य, आदि पर भी प्रकाश पड़ता है। यह निबंध शुक्लजी के रस-सिद्धांत के बीज स्थायी भाव की महत्ता प्रतिपादित करता हुआ कारण-कार्य समबन्ध से कविता की महत्ता एवं उपयोगिता भी प्रतिपादित करने लगता है। इसी प्रसंग में शुक्लजी ने काव्य को योग कहा है[1] और उसकी साधना का उद्देश्य जगत का सच्चा प्रतिनिधि बनना[2] विश्व के साथ अपने जीवन का प्रकृत सामंजस्य स्थापित करना[3] तथा मनुष्यता की उच्च भूमियों को पार करते हुए अवतारिक पुरुषों की श्रेणी प्राप्त करना बताया है[4]। यहां पर शुक्ल जी के सिद्धान्तों का दार्शनिक आधार स्पष्ट हो जाता है। उनके साहित्य-दर्शन का आधार है—भारतीय आत्मवाद, जो जीवन और जगत में अभेद सत्ता का दर्शन करता है। उनकी दृष्टि में काव्य का सहज प्रवृत्तियों की तृप्ति से कोई सम्बन्ध नहीं। इसका सांस्कृतिक प्रवृत्तियों तथा निवृत्तियों से है[5]। इस प्रकार वे काव्य का नीति से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं, और यहीं पर शुक्लजी कविता को एक प्रकार की शक्ति मानते हैं, जो सच्ची प्रवृत्ति-निवृत्ति को जागरित रखती है। इस प्रकार इस निबन्ध में मूल रूप से रस-सिद्धान्त पर तथा प्रसङ्ग रूप से गौण रूप में नीतिवाद, लोक-धर्म, समन्वयवाद, मानवतावाद, तथा उदात्तता के सिद्धान्त पर प्रकाश पड़ता है। वस्तुत: नीतिवाद, उदात्तता, लोक मंगल, मानवतावाद' आदि के सिद्धान्त रस-सिद्धांत के वस्तु पक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त हैं। शुक्ल जी के रस के जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों की स्पष्टता के लिए इनका नाम

१—चिन्तामणि प० भाग पृ० ७ २— चि० प० भाग पृ० ७.
३— वही पृ० ७. ४— वही पृ० ७. ५— वही पृ० ६.

अलग-अलग लिया जाता है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि रस-सिद्धान्त के वस्तु पक्ष का निर्माण इस काल में हो रहा था। संस्कृत या हिन्दी के अधिकांश आचार्य कोरे साहित्यिक थे। अतः वे साहित्य-मीमांसा के साथ जीवन-मीमांसा लेकर नहीं चलते थे। शुक्ल जी साहित्य को जीवनशक्ति के रूप में ग्रहण करते थे; उन दोनों में अभिन्न सम्बन्ध मानते थे। इस लिए वे समीक्षा-सिद्धान्तों में जीवन-मीमंसा को साथ लेकर चलते थे। भाव-विवेचन की मनोवैज्ञानिक सामग्री उन्हें शैण्ड, एडमंड आदि मनोवैज्ञानिकों से इसी काल में मिली जिसका विस्तृत विवेचन स्रोत वाले अध्याय में हो चुका है।

मनोविकार सम्बन्धी निबंधों में उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लोभ-प्रीति, घृणा, भय, क्रोध का सम्बंध स्थायी भावसे है; लज्जा, ग्लानि, ईर्ष्या का सम्बंध संचारी भाव से है। स्थायी अथवा संचारी भाव से सम्बंध रखने वाले निबंध में उस स्थायी भाव की परिभाषा, उसके विभिन्न अवयय, उत्पत्ति, क्रमिक विकास, महत्ता, उपयोगिता, लक्षण, विशेषतायें प्रत्यक्ष व्यावहारिक जीवन में पाये जाने वाले उसके विविध उपयोगी एवं अनुपयोगी, असली-नकली स्वरूप, उसके स्वाभाविक तथा सांस्कृतिक, प्रमुख तथा गौण भेदोपभेद तथा स्वरूप उदाहरण सहित दिये गये हैं, तथा साथ ही स्पष्टता के लिए व्याख्या के समय विरोधी तथा समानवर्ती भावों से उसकी तुलना भी की गई है। अन्त में, मनोभावों को सर्वाधिक रूप में उदात्त तथा नियमन करने वाली वस्तु के रूप में साहित्य का उल्लेख है[1]। शुक्ल जी अपने इन निबंधों में शास्त्रीय तथा शाश्वत कोटि के विषयों को लेकर भी अपने युग सामाजिक, राजनितिक, आर्थिक, शैक्षणिक धार्मिक, साहित्यिक आदि समस्यायों पर व्यंग रूप में आलोचना करना नहीं भूले हैं, साथ ही उनका सुझाव भी संकेत रूप में देते गये हैं। इससे उनके रस-सिद्धांत के विवेचन में राष्ट्रीय-तत्व समाहित हो गया है।

स्थायी भावों की ऐसी जीवन-सम्बन्धी सामाजिक तथा साहित्यिक व्याख्या शुक्ल जी के पूर्व संस्कृत या हिन्दी के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलती। संस्कृत-ग्रन्थों में तो केवल संचारियों के नाम गिना दिये गये हैं; स्थायी भावों के निरूपण के समय भी स्वरूप-विवेचन प्रायः एक सा है। स्थायी भावों के सूक्ष्म लक्षण, उनके निर्माणकारी तत्व, उनके भेदोपभेद, तुलना आदि पर आचार्यों की दृष्टि नहीं है। संस्कृत में स्थायी भावों का निरूपण प्रायः शिक्ष्यमाणों के लिए ही लिखा जान पड़ता है, पाठक मात्र के लिए नहीं। इन मूल तथा तद्भव भावों की मनोवैज्ञानिक सामग्री तथा पाठक मात्र के लिए

१—चिंतामणि पहला भाग पृ० ७, ९७.

लिखने की प्रेरणा उन्हें शैण्ड से मिली। किन्तु इस मनोवैज्ञानिक सामग्री का रस-सिद्धान्त की व्याख्या के रूप में प्रयोग शुक्ल जी की मौलिक वस्तु है। हिन्दी अथवा संस्कृत में मूल तथा तद्भव भावों की प्रथम बार मनोवैज्ञानिक व्याख्या देखकर कुछ लोग इन्हें मनोवैज्ञानिक निबन्ध कहने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु वस्तुतः यह उनका भ्रम है। समाज और व्यक्ति जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में इन मनोविकारों की क्या अवस्था होती है, इसी का प्रतिपादन निबन्धकार ने मुख्य रूप से निजी अनुभूति, साहित्य तथा मनोविज्ञान का आधार लेकर किया है। ये निबन्ध मानसशास्त्र के अन्तर्गत नहीं जायेंगे; इनका मूल्य साहित्यिक दृष्टि से ही अधिक हैं क्योंकि लेखक की दृष्टि सर्वत्र भावों के सामाजिक एवं व्यावहारिक पक्ष पर ही अधिक है, मानस-शास्त्रीय विश्लेषण पर कम। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इन निबन्धों में मान सास्त्रीय विवेचन की प्रधानता नहीं है, केवल मनोवैज्ञानिक आधार द्वारा उनकी साहित्यिक विवेचना जीवन की पृष्ठभूमि पर अनूभूति के माध्यम से की गई है। विवेचन में सर्वत्र व्यावहारिक स्वरूप की ही प्रधानता है। दूसरे ये निवन्ध रस-सिद्धान्त के स्थायी अथवा संचारी भाव से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्ध रखते हैं। तीसरे ये निवन्ध रस सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों, गुत्थिन्यों एवं त्रुटियों का निराकरण करते हैं। जैसे किसी भाव-दशा या रस-स्थिति के समय उत्पन्न होने वाले छोटे-छोटे भाव संचारी भाव कहलाते हैं; किन्तु वे ही भाव स्वतन्त्र रूप से उदित होने पर संचारी नहीं कहलाते[१]। जैसे, शृंगार रस में रतिभाव के कारण उत्पन्न व्रीड़ा संचारीभाव है, किंन्तु किसी बुरे काम के करने पर उत्पन्न व्रीड़ा स्वतन्त्र भाव है। सपत्नी के प्रति व्यंजित ईर्ष्या शृंगार के संचारी के अंतर्गत आती है किन्तु किसी आदमी के ऐश्वर्य की जलन से उत्पन्न ईर्ष्या स्वतन्त्र भाव है[२]। दोनों बातों का स्पष्टीकरण शुक्ल जीने ईर्ष्या, लज्जा और ग्लानि नामक निबन्धों में किया है। इन निबन्धों में जो बातें भावों और रसों के निर्दिष्ट शब्दों के भीतर आती थीं केवल उन्हीं का उल्लेख नहीं है, वरन् भावों तथा रसों की ऐसी अवस्थाओं का भी उल्लेख है जो किसी पुराने शास्त्रीय ग्रन्थ में नहीं मिलतीं। जैसे भावों की शील दशा का विवेचन शास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं मिलता। इसकी ओर सर्वप्रथम संकेत शुक्ल जी ने किया[३]। हिन्दी के आचार्यों ने हाव को अनुभाव के अन्तर्गत रखा है, किन्तु शुक्ल जी ने उसे अधिकांश मात्रा में विभाव के अंतर्गत रखने के औचित्य का प्रतिपादन किया है[४]। इसी प्रकार

१—रस-मीमांसा—पृ० २०३. २—चिन्तामणि प०; भाग पृ० ७७, ९३.

३—रस-मीमांसा पृ० १८३, १८४.

४—काव्य में रहस्यवाद—पृ० ५८, ५९, गो० तुलसीदास ९१, ९२.

परप्रतीति उत्पन्न करने योग्य प्रत्यक्ष जीवन की अनुभूति को उन्होंने काव्यात्मक रसानुभूति के समकक्ष सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

जीवन तथा साहित्य में रस की व्याप्ति तथा महत्ता को स्पष्ट करना भी इन निबंधों का उद्देश्य जान पड़ता है। शुक्ल जी की दृष्टि में सामान्य रूप से रस के अंतर्गत वे सब प्रकार की उक्तियो, चेष्टाएँ, विचार, प्रवृत्तियाँ, मानसिक वेग आदि आते हैं, जिनका सम्बन्ध मन के किसी विश्वात्मक भाव या भावात्मक वृत्ति से होता है[1]। शुक्ल जी ने इन निबन्धों में यह भी स्पष्ट किया है कि प्रकृतिगत मानसिक अवस्थायें रस की बंधी लीक पीटने वाले फुटकरिए कवियों के काम की चाहे न हों पर चरित्र-चित्रण तथा चरित्र-निर्माण में बड़े काम की हैं[2]। अतः साहित्य में उनका अनुसंधान होना चाहिए। शुक्ल जी सदाचार को समाज की सुख-शांति एवं विकास के लिए आवश्यक बतलाते हैं अतः वे भिन्न-भिन्न भावों की किन विभिन्न मानसिक अवस्थाओं से समाज में सुख-शांति की प्रतिष्ठा हो सकती है, इसे भी बताते चलते हैं। साथ ही वे यह भी समझाते चलते हैं कि किसी मनोविकार का कौन सा स्वरूप मानसिक रोग का रूप धारण कर लेता है, वह जीवन के संतुलन आदि को चर जाता है, मनुष्यता को नष्ट कर देता है। शुक्ल जी इन निबंधों में भावों के परिष्कार की भी बात करते हैं, किन्तु वहां भी मानस-शास्त्री के समान उचित भौतिक परिस्थितियों के निर्माण द्वारा भाव-परिष्कार की बात नहीं करते वरन् एक विशुद्ध साहित्यिक के समान कविता द्वारा भावों के परिष्कार का पथ बताते हैं[3]। जो मनोविकार या भाव दब जाते हैं, या दब रहे हैं, उनको जगाने का साधन भी वे सत्साहित्य को ही मानते हैं[4]। स्थायी भावों के सामाजिक स्वरूप की प्रशंसा, वैयक्तिक स्वरूप की निन्दा, रस को सर्वत्र लोक-मंगल की भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न, काव्य में लोक-मर्यादा की प्रतिष्ठा का प्रयास आदि तथ्य इस बात को प्रमाणित करते हैं कि उन्होंने रस के सामाजिक आधार को बलपूर्वक स्पष्ट तथा विस्तृत करने का प्रयत्न किया है। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ये निबन्ध रस के अनेक अवयवों तथा तत्वों की मनोवैज्ञानिक, तथा सामाजिक सामग्री देने में समर्थ हैं; कतिपय निबन्ध यत्र-तत्र रस के दार्शनिक पक्ष की सामग्री प्रदान करते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि इन निबंधों के रचनाकाल में शुक्ल जी के मस्तिष्क में रस-सिद्धान्त के मनो-

---

१—रस-मीमांसा—पृ० १६८, १६६, १६७, २०२, २६२.

२—चिन्तामणि पहला भाग पृ० १०, १८८, १८६, १६०.

३—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ५७. ४— वही पृ० २१८.

वैज्ञानिक, सामाजिक तथा दार्शनिक पक्षों का विकास हो रहा था। इन निबंधों में समग्र जीवन व्यापिनी रस की सार्वभौम व्यापकता सिद्ध करने का जैसा प्रयत्न किया गया है, भाव-विषय को मौलिक गहराई से छूने का वैसा प्रयास दृष्टिगोचर होता है, स्थायी तथा संचारी भावों की जैसी जीवन सम्बन्धी साहित्यिक तथा सामाजिक व्याख्या मिलती है, वैसी शुक्ल जी के पूर्व हिन्दी अथवा संस्कृत-साहित्य के किसी शास्त्रीय ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती। उक्त तीनों प्रयत्नों तथा कार्यों में शुक्ल जी का रस-सिद्धान्त सम्बन्धी नवनिर्माण कार्य झलकता है।

निर्माण काल की दूसरी प्रसिद्ध कृति रस-मीमांसा है। इसमें रस-सिद्धान्त का ही विवेचन नहीं है, वरन् काव्य सामान्य के भी प्रायः सभी सिद्धान्त आ गये हैं। शुक्ल जी की रसवादी समीक्षा का दर्शन इसी काल में निर्मित हुआ समीक्षा-दर्शन के अंतर्गत काव्य की परिभाषा, लक्षण, लक्ष्य, प्रयोजन, हेतु, कवि-कर्म, कवि-दृष्टि, काव्य-प्रक्रिया, काव्य-कसौटी, काव्य-शक्ति-काव्य-स्वरूप, काव्यानुभूति की मूल प्रेरणा, उसके निर्माणकारी-तत्व, काव्य के बहिरंग तथा अंतरङ्ग पक्ष, काव्य के विभिन्न तत्व तथा सिद्धान्त एवं उनका पारस्परिक संबंध, रसावयव, रस की प्रकृति, स्थिति तथा स्वरूप एवं रसास्वादन की प्रक्रिया आदि प्रश्न आते हैं। इन सभी प्रश्नों के उत्तर रस-मीमांसा के काव्य, काव्य लक्षण, काव्य-लक्ष्य, काव्य-विभाग, विभाव, भाव आदि अध्यायों में मिलते हैं।

'काव्य' नामक अध्याय में काव्य-परिभाषा, लक्षण, हेतु, कार्य, आवश्यकता व्यापकता, महत्ता, कवि-कर्म, काव्य स्वरूप, उसके निर्माणकारी विभिन्न तत्वों (कविता के वर्ण्य, रस अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, गुण तथा ध्वनि) पर रसवादी दृष्टि से विचार किया गया है। शुक्ल जी ने इस काव्य-ग्रंथ में अलकार, रीति, रस, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि की जो व्याख्या की है उसमें कोई विस्तार या परिष्कार आगे चल कर नहीं हुआ। काव्य के आत्म तथा शरीर-तत्वों का पृथक्करण,[1] विश्लेषण तथा निर्माण; रस द्वारा काव्य के विभिन्न तत्वों का संश्लेषण और काव्य में उनके यथोचित स्वरूप तथा स्थान का निर्माण एवं निर्धारण इसी काल में हुआ[2]।

शुक्ल जी कवि-कर्म के वैयक्तिक प्रयास की ही व्याख्या इस निबन्ध में नहीं करते वरन् सामाजिक स्थिति, राजनीतिक तथा दार्शनिक चिन्ताधारा से भी

१—रस-मीमांसा पृ० १०५.

२—रस-मीमांसा के काव्य, भाव तथा रस सम्बन्धी अनेक अध्यायों में.

उसका सम्बन्ध बताते चलते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनकी समीक्षा के सामाजिक पक्ष का निर्माण तथा उसके अवान्तरार्थी तत्वों का विकास इस काल में विस्तृत ढंग से हो रहा था। अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य आदि वादों में कोई न कोई वास्तविकता है, काव्य में सभी का निजी महत्व एवं मूल्य है; किसी एक की उपेक्षा से साहित्य की व्यापकता सीमित हो जायगी, उसका सन्तुलन नष्ट हो जायगा। स्वस्थ समीक्षक को उपर्युक्त सभी वादों की आधारभूत वास्तविकता से परिचित होना चाहिए। स्वस्थ समीक्षक के रूप में शुक्ल जी ने अपने समीक्षा-सिद्धान्तों की निर्माण-वेला में अलंकार; रीति, वक्रोक्ति आदि की आधारभूत वास्तविकता को पकड़ा। इन सभी का निरूपण युग के अनुरूप सामाजिक दृष्टि से करके साहित्य को युग के उत्तरदायित्वों के प्रति सजग किया। उसमें गतिमती मांगलिकता को पकड़ने की शक्ति अधिष्ठित की। शुक्ल जी के पूर्ववर्त्ती हिन्दी-समीक्षक रीति, ध्वनि, अलंकार, रस, वक्रोक्ति, काव्य आदि की शास्त्र-जड़ीभूत व्याख्या कर रहे थे।

व्यावहारिक समीक्षा में अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, रस का नाम भर ले लेते थे; काव्य सामान्य अथवा उसके तत्वों को जीवन की परिस्थितियों के बीच रख कर विवेचित नहीं करते थे। रस, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि के सामाजिक स्वरूप वे भूल गये थे। शुक्ल जी ने काव्य के उपर्युक्त पुराने सभी तत्वों एवं सिद्धान्तों को युग के सामाजिक आदर्शों के स्तर पर लाकर आधुनिक युग में उन्हें नव्यतम स्वरूप दिया, उन्हें नये सिरे से स्थापित किया, युग के अनुकूल उनका परिष्कार कर उन्हें समयोपयोगी बनाया, उन्हें नयी सजीवता से अनुप्राणित किया। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इनके समीक्षा-सिद्धान्तों में युग-तत्व का समावेश इस काल में हुआ।

समीक्षा-सिद्धान्तों में शुक्ल जी द्वारा युग-तत्व को महत्व देने का अर्थ यह कदापि नहीं कि वे साहित्य की हदबन्दी युग-विशेष तक करना चाहते थे। अन्यथा वे काव्य का परमोलक्ष्य दीर्घकाल व्यापिनी भावात्मक सत्ता न मानते[१], रस को काव्यात्मा रूप में प्रतिष्ठित न करते[२], कविता को अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बंध स्थापित करने का साधन न मानते[३], ब्रह्म के आनन्द स्वरूप को काव्य का दार्शनिक आधार घोषित न करते,[४] काव्य की मूल प्रेरणा-भूमि करुणा एवं प्रेम-भाव में निरूपित न करते[५] एवं कविता का साध्य

१—रस-मीमांसा पृ० ९८, ११५. २—रस-मीमांसा पृ० १०५.
३— वही पृ० ६. ४— वही पृ० ५५.
५— वही पृ० ६७; ६८.

सच्ची मनुष्यता की सिद्धि न कहते[१]। शुक्ल जी का मत है कि सामाजिक समस्याओं से उद्भूत रचनाओं का महत्व तो आवश्यकता की पूर्ति हो जाने पर समाप्त हो जायेगा, किन्तु मानव-हृदय की नित्य-भावनाओं के आधार पर प्रतिष्ठित रचनाओं का महत्व तब तक बना रहेगा जब तक मनुष्य के हृदय में उन भावनाओं का संचार है, या मनुष्य जब तक मनुष्य हैं। नवीन ज्ञान, विज्ञान, समस्या, प्रश्न, अभाव आदि से कवि क्या प्रत्येक व्यक्ति का प्रभावित होना स्वाभाविक है, पर उनके संकेतों पर ही साहित्य या कवि को नचाना ठीक नहीं। निष्कर्ष यह कि उनके समीक्षा-सिद्धांतों में शाश्वत तत्व छिपा है और उसका निर्माण भी इसी काल में हुआ था।

शुक्ल जी ने रस सम्बन्धी स्थापना, सिद्धांत, प्रक्रिया आदि को परम्परा से आने के कारण ग्रहण नहीं किया वरन् आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर ठीक उतरने के कारण ग्रहण किया। इसी कारण आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से रस-सम्बंधी पुरानी स्थापनाओं, परिभाषाओं, मान्यताओं, धारणाओं में जहाँ कहीं उन्हें अभाव या त्रुटि दिखाई पड़ी वहाँ सूक्ष्मता तथा विस्तार लाने का प्रयत्न किया; रस-विवेचन सम्बन्धी कई प्रसङ्गों में नई स्थापनायें कीं; रस के विस्मृत सामाजिक स्वरूप को मनोविज्ञान के सहारे युग के सामाजिक आदर्शों के स्तर पर लाने का प्रयत्न किया; आधुनिक युग के विभिन्न साहित्य-रूपों को परखने के हेतु इसकी व्याप्ति को मनोवैज्ञानिक तर्कों द्वारा विस्तृत किया[२]।

मनोविज्ञान का जो अर्थ आधुनिक युग में रूढ़ है, उस रूप में वह रस-प्रक्रिया विवेचन में प्राचीन आचार्यों द्वारा विशुद्ध रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ था। इसका मूल कारण यही है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में ज्ञान का पृथक्करण तथा विशिष्टीकरण आज के समान नहीं हुआ था। प्रत्येक विषय दर्शन अथवा धर्म से सम्बद्ध कर दिया जाता था। भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त ने अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा रस-प्रक्रिया को समझने का प्रयत्न किया था। भट्टलोल्लट के उत्पत्ति वाद में मीमांसा-दर्शन का पुट है तो शंकुक के अनुमितिवाद में न्याय-दर्शन का; भट्टनायक के भुक्ति-वाद में सांख्य-दर्शन का प्रभाव है, तो अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद में शैव-दर्शन का। इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने रस-प्रक्रिया को समझाने में मानसिक-व्यापार के अतिरिक्त आध्यात्मिक व्यापार का भी आश्रय लिया है; किन्तु शुक्ल जी ने रस-प्रक्रिया-विवेचन में मनोविज्ञान का ही सहारा लिया[३]।

१-रस-मीमांसा-पृ०२५: २-इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय, रस-सिद्धान्त विवेचन सम्बन्धी अंश।
३-इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय, रस-प्रक्रिया विवेचन सम्बन्धी अंश।

इसलिए उन्होंने साधारणीकरण में आलम्बन को सर्वप्रथम स्थान दिया; रसानन्द को इन्द्रियगम्य तथा लौकिक बतलाया; उसे मनोमय कोष से आगे बढ़ने नहीं दिया। रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को मानस शास्त्र की कसौटी पर परखने के कारण ही उन्होंने उसके मनोवैज्ञानिक विवेचन में तीन तत्वों को प्रधानता दी—

१, उत्तेजक वस्तु, जिसके भीतर काव्य के विभावादि आते हैं;

२. उत्तेजक वस्तु की प्रत्युत्तरात्मक क्रिया करने वाला सचेतन प्राणी अर्थात् रसिक, कवि अथवा कोई सहृदय पात्र;

३. रसिक की प्रत्युत्तरात्मक मानसिक क्रिया अर्थात् अनुभूति का स्वरूप।

मनोविज्ञान का सहारा लेने के कारण ही शुक्ल जी ने रसिक की प्रत्युत्तरात्मक मानसिक क्रिया के स्वरूप अर्थात् रस-स्वरूप को दुखात्मक तथा सुखात्मक दोनों प्रकार का माना है, भारतीय आचार्यों के समान उसे सदा आनन्दात्मक कोटि का ही नहीं माना। इनकी दृष्टि में क्रोध, शोक, करुणा, जुगुप्सा आदि दुःखात्मक भाव रसावस्था में भी दुःखात्मक ही होते हैं। वे रस-अवस्था में सामाजिक रूप धारण करने के कारण सत्वोद्रेक अथवा संविद्विश्रांति के कारण अपने प्रकृत-स्वरूप का विसर्जन कर देते हैं, अतएव क्षोभकारक नहीं प्रतीत होते। जैसे, करुण रस प्रधान नाटकों में वस्तुतः दुःख का ही अनुभव होता है, किन्तु वह दुःख दूसरे का होता है, इसलिये चित्त विस्तृत हो जाता है। चित्त विस्तार के कारण ही दुःखात्मक भाव अनुकूल वेदनीय प्रतीत होने लगते हैं; किन्तु उनकी दुःखात्मक प्रकृति का सर्वथा लोप नहीं होता। यदि शुक्ल जी आधुनिक मनोविज्ञान का सहारा रस-स्वरूप के विवेचन में न लेते तो वे भारतीय आचार्यों के रस-स्वरूप (आनन्दात्मक स्वरूप) के खण्डन में समर्थ न होते[1]।

भारतीय आचार्यों ने रस के अवयवों का निरूपण, रस-स्थिति में उनके संयोग के स्वरूप आदि का विवेचन मनोवैज्ञानिक ढंग पर किया था, किन्तु रसावयवों का सूक्ष्म वर्गीकरण, उनमें निहित विभिन्न मानसिक तत्वों का विश्लेषण, उनका पारस्परिक अंतर, उनकी व्याप्ति असम्बद्ध भावों के रसवत् स्वरूप, रस-विरोध की विभिन्न स्थितियों तथा रसात्मक बोध के विविध रूपों पर आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार नहीं हुआ था। शुक्ल जी ने रस-मीमांसा के विभाव; भाव, असम्बद्ध भावों का रसवत्-ग्रहण, रस-विरोध विचार तथा रसात्मक बोध नामक अध्यायों में उक्त विषयों का विवेचन आधुनिक

१—इसी प्रबन्ध का चौथा अध्याय—रस-स्वरूप विवेचन सम्बन्धी अंश—पृ० २७.२०८

मनोविज्ञान के अध्ययन के आधार पर नवीन ढंग से करने का प्रयत्न किया है। शुक्ल जी ने भाव-निरूपण रस की दृष्टि से किया है, किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान का सहारा लेकर। 'भाव' नामक अध्याय में भाव की परिभाषा, कार्य, महत्त्व, उसके विभिन्न निर्माणकारी-तत्वों—संवेदन, अन्तःकरण-वृत्तियां, विवेकात्मक बुद्धि व्यापार, संकल्प, मनोवेग, प्रवृत्ति (वासना); उसके विभिन्न अंग, तथा उनके पारस्परिक अन्तर पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। मानव-मन में वासनाओं तथा भावों के उद्भव तथा विकास पर विकासवाद की दृष्टि से विचार किया है। भावों अथवा रसों की मुख्य संख्या तथा उनके वर्गीकरण पर सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक ढंगसे विचार उपस्थित किया है। इसके पश्चात् भाव की प्रमुख तीन दशाओं—भाव-दशा, स्थायी-दशा, शील-दशा की विशेषताओं, तत्वों, लक्षणों तथा उनके सूक्ष्म अंतरों का विवेचन शुक्ल जी ने प्रत्येक प्रमुख भावको लेकर किया है, काव्य में इन तीनों दशाओं का उपयोग कहाँ किस प्रकार का होता है, किन-किन काव्य-रूपों में कौन कौन भाव-दशायें प्रमुख रूप से आती हैं, आदि का विवेचन उन्होंने सोदाहरण किया है[1]। रस-स्वरूप विवेचन के समय उसके भीतर भाव, वासना, संवेदन, बुद्धि, क्रिया, भाव की भाव-दशा, स्थायी-दशा, शील-दशा, प्रत्यक्ष जीवन दृश्य आदि का समावेश करके, उन्होंने रस-क्षेत्र की व्याप्ति को बहुत विस्तृत कर दिया है[2]। इस भाव-प्रकरण के विवेचन में स्थान-स्थान पर रसवादी समीक्षाओं को आधुनिक साहित्य-रूपों—कहानी, उपन्यास आदि में प्रयुक्त करने का दिशा-संकेत भी मिलता है[3]।

भावों का वर्गीकरण अनुभूति की दृष्टि से सुखात्मक तथा दुःखात्मक वर्गों में किया गया है, फिर सभी प्रमुख स्थायी भावों के लक्षण, गति या प्रवृत्ति, इच्छा या संकल्प तथा आलंबन तालिका रुप में उपस्थित किये गए हैं। तदनंतर सुखात्मक तथा दुःखात्मक भावों के स्वरूप तथा विशेषताओं का विवेचन किया गया है। कोई भाव सुखात्मक या दुःखात्मक श्रेणी में क्यों परिगणित किया गया है—इसका उत्तर तार्किक तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से दिया गया है। इसके पश्चात् प्रधान स्थायी भावों के सम्बंध में मुख्य-मुख्य मनोवैज्ञानिक बातें कही गई हैं। आनन्द, ईर्ष्या, लज्जा, ग्लानि आदि भाव स्थायी भावों के भीतर क्यों नहीं आते, इसका कारण बतलाया गया है। मनोवैज्ञानिक ढंग से मन के वेग और भावों का अन्तर स्पष्ट किया गया है। प्रमुख स्थायी

१—रस-मीमांसा पृ० १८७ से १९०.

२—इसी प्रबंध का चौथा अध्याय रस-व्याप्ति वाला अंश पृ० २०२,२०३,२०४,२०६.

३—रस-मीमांसा पृ० १८८.

भावों के विवेचन के पश्चात् संचारी भाव का विवेचन किया गया है। संचारी भाव की विशेषताओं की स्पष्टता के लिए पहले स्थायी और संचारी का अंतर मनोवैज्ञानिक ढंग से बताया गया है। फिर अनुभूति की दृष्टि से संचारियों का वर्गीकरण सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक एवं उदासीन वर्गों में करके इन्हीं के भीतर सम्पूर्ण संचारियों का समावेश दिखाया गया है। इसके पश्चात् संचारी भाव के लक्षण, विशेषता, स्वरूप तथा भेद पर आधुनिक मनोविज्ञान के सहारे विचार किया गया है। कोई भाव, प्रधान तथा कोई संचारी क्यों माना गया—इसका तर्कसम्मत मनोवैज्ञानिक उत्तर दिया गया है। इसी प्रसङ्ग में शुक्ल जी ने भरतमुनि की रस-परिभाषा का दोष स्पष्ट किया है और बताया है कि यह परिभाषा नाटक के लिए तो ठीक बैठ सकती है किन्तु काव्य में सर्वत्र ठीक नहीं बैठ सकती[1]। लज्जा का उदाहरण लेकर यह समझाने का प्रयत्न किया है कि कहीं कहीं विभाव, अनुभाव तथा संचारी की प्रतिष्ठा होने पर भी रस-निष्पत्ति नहीं हो सकती और कहीं केवल आलम्बन मात्र के वर्णन से रस-निष्पत्ति हो जाती है। जैसे, प्रकृति के आलम्बन-रूप-वर्णन में[2]।

'असम्बद्ध भावों के रसवत् ग्रहण' नामक अध्याय में भावोदय, भावशांति, भावशबलता, भाव-संधि आदि पर रस की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करके श्रोता या पाठक पर इनका रसतुल्य प्रभाव बताकर उन्हें एक नया अस्तित्व प्रदान किया गया है। संस्कृत के आचार्यों ने इनके जिन अपवादीय पक्षों को स्पष्ट नहीं किया था उन्हें शुक्ल जी ने स्पष्ट कर दिया है। जैसे, बुद्धि या विवेक द्वारा निष्पन्न भाव-शांति, काव्य के उतने काम की नहीं[3]। इसी प्रकार भावोदय, भावशांति, भावशबलता तथा भाव-संधि का कारण कोई प्रबल भाव या वेग होना चाहिए, बुद्धि नहीं[4]। इसके अतिरिक्त इस प्रसङ्ग में शुक्ल जी ने यह भी बताया है कि इनका प्रयोग किस प्रकार की भावात्मक परिस्थितियों में किस प्रकार के पात्र के साथ उपयुक्त होता है[5]।

रस-विरोध-विचार में आश्रय, आलम्बन एवं श्रोता की दृष्टि से उत्पन्न होने वाले रस-विरोधों का विचार मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से किया गया है। इस प्रसङ्ग में भी शुक्ल जी ने पुराने आचार्यों की रस-विरोध सम्बन्धी सामग्री को मनोविज्ञान की कसौटी पर परखने का प्रयत्न किया है, पुरानी सामग्री में जहाँ कहीं भी दोष या अभाव उन्हें दिखाई पड़ा है उसका संशोधन किया है।

१—रस-मीमांसा पृ० २०४. २—रस-मीमांसा पृ० १५७.
३— वही पृ० २४२. ४— वही पृ० २४२.
५— वही पृ० २४३ से २४७ तक।

उन्होंने आलोचकों को रस-विरोध सम्बन्धी सिद्धांत को बौद्धिक ढङ्ग से प्रयुक्त करने का आदेश दिया है। इसलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से बताया है कि रस-विरोध विचार कहाँ ठीक है, कहाँ नहीं।

'रसात्मक बोध के विविध स्वरूप' नामक अध्याय में शुक्ल जी रस की व्याप्ति काव्य-सीमा से आगे प्रत्यक्ष जीवन तक विस्तृत कर एक ओर रस का विस्तृत स्वरूप स्पष्ट करते हैं तो दूसरी ओर साहित्य तथा जीवन की अविच्छिन्नता का सम्बन्ध भी प्रतिपादित करते हैं। कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित अनुभूति काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में रसानुभूति के रूप में विवेचित की गई थी, किन्तु प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति कोटि की होती है—इस तथ्य की ओर आचार्यों का ध्यान नहीं गया था। रसात्मक बोध के इन्हीं दो रूपों—प्रत्यक्ष रूप-विधान तथा स्मृत रूप-विधान की ओर पाठकों का ध्यान विशेप रूप से आकर्पित करते हुए अपने रस-सिद्धान्त की व्याप्ति प्रत्यक्ष जीवन क्षेत्र तक विस्तृत कर रस द्वारा साहित्य तथा जीवन के एकीकरण के सिद्धान्त पर बल देते हुए यह बताना चाहते हैं कि साहित्य शास्त्र का अध्ययन, अध्यापन तथा विवेचन प्रत्यक्ष जीवन की भूमिका पर ही वास्तविक कोटि का हो सकता है। प्रत्यक्ष रूप-विधान में प्रत्यक्ष जीवन से प्रेम, करुणा, क्रोध, हास्य, भय, उत्साह, घृणा, प्रकृति आदि के प्रसंगों पर लेकर शुक्ल जी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कतिपय विशिष्ट स्थलों पर प्रत्यक्ष रूपों को देखकर जगने वाली हमारी अनुभूति रसानुभूति कोटि की होती है[1]। इन विशिष्ट स्थलों में प्राप्त आलम्बनों के रूप ऐसी विशिष्टता से भरे रहते हैं कि उनको देखकर उनके साथ सहृदयों का साधारणीकरण सरलता से हो जाता है और उनका हृदय मुक्तिदशा में पहुँच जाता है। इस प्रकार उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि रसानुभूति प्रत्यक्ष रूपों की अनुभूति से सर्वथा कोई पृथक् वस्तु नहीं वरन् उसी का एक उदात्त या अवदात स्वरूप है[2]। शुक्ल जी द्वारा निरूपित स्मृति रूप-विधान के सभी प्रकारों का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार अतीत के पात्रों, प्रसंगों, दृश्यों, स्थलों, घटनाओं आदि के स्मरण, प्रत्यभि-ज्ञान, अनुमान आदि से है। इससे यह सिद्ध होता हैं कि शुक्ल जी प्रकृति-दर्शन अथवा अन्य विशिष्ट प्रत्यक्षानुभूतियों के समान ही अतीत के कतिपय प्रसंगों, स्थलों, दृश्यों, पात्रों के स्मरण, प्रत्यभिज्ञान में भी रस-संचार की शक्ति मानते हैं[3]। इस प्रकार आचार्य शुक्ल प्रकृति दर्शन के समान ही अतीत-स्मरण

१—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ३२६ से ३४४. २— वही पृ० ३४४.

३— वही पृ० ३४५ से ३५३ तक।

प्रत्यभिज्ञान तथा वर्णन में भी रस की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। रस-क्षेत्र में यह भी उनकी एक नयी मान्यता है। आचार्य शुक्ल जीवन के वर्तमान तथा अतीत दोनों पक्षों में रस की व्याप्ति सिद्ध कर उसका क्षेत्र बहुत विस्तृत कर देते हैं तथा साथ ही उसकी अलौकिकता, अतीन्द्रियता एवं आध्यात्मिकता का खण्डन करते हैं[1]।

कल्पित रूप-विधान सम्बन्धी रसात्मक बोध का स्वरूप काव्य-क्षेत्र की वस्तु है। काव्य-वस्तु का सारा रूप-विधान कल्पना द्वारा सम्पन्न होता है। कविता के भीतर विभाव, अनुभाव तथा संचारी का निरूपण, वचनों द्वारा भाव-व्यंजना तथा अप्रस्तुतों की योजना, कवि कल्पना द्वारा ही सम्पादित करता है। सहृदय श्रोता अथवा पाठक का विभावन-व्यापार रस-प्रक्रिया में कल्पना द्वारा ही संपन्न होता है। इस प्रकार कविता के निर्माण तथा आस्वादन दोनों कालों में कल्पना द्वारा ही कवि तथा पाठक दोनों रसात्मक बोध करते हैं। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह विदित होगा कि काव्यगत रस के स्वरूप को अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक बनाने के लिए शुक्ल जी ने उसकी अनुभूति को कल्पनागम्य कहकर उसकी संज्ञा—कल्पित रूपविधान दी है। कल्पित रूप-विधान के मनोवैज्ञानिक विवेचन के अतिरिक्त उन्होंने यथाप्रसंग साहित्यजन्य रसानन्द के स्वरूप[2], रसानुभूति की विशेषताओं[3], सहृदय के लक्षण[4], काव्यगत कल्पना के लक्षण तथा उसके निर्माणकारी तत्वों का[5] मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

निर्माण काल की तीसरी प्रसिद्ध कृति 'विश्व-प्रपंच' है। यद्यपि इसका सम्बन्ध समीक्षा-सिद्धान्तों से विशुद्ध रूप से नहीं हैं किन्तु उसकी भूमिका उनके मुख्य समीक्षा-सिद्धान्त-रस के मुख्य तत्व स्थायी भाव के विविध उपादानों—संवेदन वासना, भाव, संस्कार आदि की उत्पत्ति तथा क्रमिक विकास पर प्रकाश डालती है। विश्व-प्रपंच में शुक्ल जी का विकास-सिद्धान्त बहुत ही संगोपांग रूप में विवेचित हुआ है। उन्होंने अपने विकास-सिद्धान्त द्वारा वस्तुओं जीवों तथा विचारों को गतिशील एवं विकासमान भूमिका पर देखने का प्रयत्न किया है[6]। इनके मतानुसार किसी जाति के बीच ज्ञान, विज्ञान, आचार, विचार, सभ्यता इत्यादि का विकास क्रमशः हुआ है। इन सबको पूर्ण रूप में लेकर

१—चिन्तामणि प० भाग पृ० ३२६. २— वही पृ० ३४१, ३४२

३— वही पृ० ३२६ ४— वही पृ० ३५२

५— वही पृ० ३२६, ३३०, ३६१.

६—आ[illegible] न[illegible] औ[illegible] हिन्दी आलोचना—डा० रामविलास शर्मा, पृ० २५४

किसी जाति के जीवन का आरम्भ नहीं हुआ[१]। उन्होंने अनेक रसवादियों की तरह मनुष्य के भाव-जगत् को अपरिवर्तनशील नहीं बतलाया। शुक्ल जी के अनुसार मनुष्य में संवेदन[२], प्रवृत्ति[३], भाव,[४] संस्कार[५] चेतना,[६] वासना[७], बुद्धि का विकास[८] क्रमशः लाखों वर्षों की परम्परा के उपरान्त हुआ है। सुख-दुख की इन्द्रियज वेदना के अनुसार पहले-पहल राग-द्वेष आदिम प्राणियों में प्रगट हुए जिनसे दीर्घ परम्परा के अभ्यास द्वारा आगे चल कर वासनावों एवं प्रवृत्तियों का उदय हुआ। रति, शोक, क्रोध, भय आदि स्थायी भाव पहले वासना रूप में थे पीछे भाव रूप में आये। जात्यन्तर परिणाम द्वारा समुन्नत योनियों का विकास और उनमें मनोमय कोश का पूर्ण विधान हो जाने पर विविध वासनाओं की नींव पर रति, हास, शोक, क्रोध, इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा हुई[९]। उक्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकला कि हम दूसरे काल में शुक्ल जी के मुख्य समीक्षा-सिद्धान्त-रस के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक पक्ष का निर्माण हुआ। रस द्वारा काव्य के अन्य विभिन्न सिद्धान्तों का संश्लेषण तथा काव्य में उनके यथोचित स्वरूप तथा स्थान का निर्धारण तथा निरूपण इसी काल में हुआ। रस सम्बन्धी नवीन मान्यताओं का निरूपण तथा आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर न ठहरने वाली प्राचीन मान्यताओं का खण्डन इन्हीं क्षणों में हुआ। अर्थात् आचार्य शुक्ल की रसवादी समीक्षा का दर्शन इसी काल में निर्मित हुआ। उनके समीक्षा-सिद्धान्तों में शाश्वत तथा युग-चेतना नामक तत्वों का निर्माण ठीक ढंग से इसी काल में हुआ; उनकी समीक्षा में अवान्तरार्थी तत्वों का समावेश इसी समय हुआ। तात्पर्य यह कि शुक्ल जी ने समीक्षा के व्यापक स्वरूप का निर्माण इसी काल में किया। उनसे समीक्षा-सिद्धान्तों में उनके स्वच्छन्दवादी एवं विकासवादी दृष्टि रखने वाले व्यक्तित्व का निर्माण भी इसी काल में दिखाई पड़ता है।

विकास या संरक्षण कालः—

आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्तों के विकास का तीसरा काल सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इस काल की व्याप्ति यद्यपि उनके अन्यत्र विकास कालों की अपेक्षाकृत सीमित कोटि की है फिर भी इसमें उनके समीक्षा-

---

१—विश्व-प्रपंच की भूमिका, पृ० ९१.
२—वि० प्र० की भूमिका, पृ० ५४.
३—वि प्र० की भूमिका, पृ० ९१, ९६.
४— वही पृ० ६२.
५— वही पृ० ६७.
६— वही पृ० ७५, ७८, ८२.
७—रस-मीमांसा, पृ० १६१.
८—वि० प्र० की भूमिका, पृ० ५६.
९—रस-मीमांसा, पृ० १६१.

सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य हुए। इस विकास काल के बीच एक ओर उन्होंने अपने समीक्षा-सिद्धान्तों का विकास किया, दूसरी ओर हिन्दी-साहित्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व, प्रकृति तथा उसकी अमूल्य निधियों को सुरक्षित करने का प्रयत्न किया। इसलिए इस काल को विकास तथा संरक्षण काल की संज्ञा मैंने दी है। इसके पूर्व शुक्ल जी ने साहित्य को मनोविज्ञान तथा समाज की भूमिका पर देखने का प्रयत्न किया था। इस तीसरे काल में उन्होंने ऐतिहासिक तथ्य, युग-चेतना, सांस्कृतिक-तत्व तथा मानवता के तत्व को आत्मसात् कर, विश्व-दर्शन, तुलनात्मक साहित्य-समीक्षा, विश्वसंस्कृति-समन्वय, तथा सामाजिक इतिहास के अध्ययन, चिन्तन एवं ग्रहण द्वारा अपने पूर्वनिर्मित सिद्धान्तों की वस्तुभूमि को व्यापक कर साहित्यिक प्रतिमानों को इतिहास, विश्व-दर्शन, तुलनात्मक समीक्षा, विश्व-संस्कृति आदि की भूमिका पर रखने का प्रयत्न किया[1]; हिन्दी की व्यावहारिक समीक्षा को गुण-दोष निर्देशन की बँधी लकीरों से बाहर करने का प्रयत्न किया[2]; लोकादर्शवादकी अवहेलना करने वाले पश्चिम के कलावादी तथा व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का खंडन[3] करके हिन्दी-साहित्य को पश्चिम के अवांछनीय वादों के प्रभावों से मुक्त किया तथा साहित्यकारों की विकृत रुझानों को दूर करने का प्रयास किया। इस काल की प्रतिनिधि रचनाओं में जायसी, तुलसी तथा सूर पर लिखी हुई उनकी प्रसिद्ध व्यावहारिक समीक्षा-कृतियाँ-'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' तथा 'काव्य में रहस्यवाद' नामक ग्रन्थ आते हैं।

जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका तथा हिन्दी-साहित्य के इतिहास में रस की व्याप्ति के भीतर ऐतिहासिक तथ्य, युग-चेतना, दार्शनिक तथ्य, सांस्कृतिक तथ्य को सन्निहित दिखाकर उन्होंने रस की वस्तुभूमि को विस्तृत किया। शुक्ल जी की दृष्टि में मानव-जीवन से अलग भाव की सत्ता नहीं है[4]। अतः भाव-विवेचन मानव-जीवन को अपनाये बिना नहीं हो सकता। इसीलिए वे भावों को उनके आधार से अलग करके नहीं देखते। इसी कारण वे भाव-व्यंजना के समय मानव-जीवन का चित्रण कवि का मुख्य कर्तव्य मानते हैं। इस प्रकार वे आधार-आधेय सम्बन्ध से मानव-जीवन के समग्र तत्वों को रस के भीतर ले लेते हैं। भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों की विभिन्न धार्मिक, सामाजिक,

---

१—जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० १, २, ३, ११, ६७, काव्य में रहस्यवाद, पृ० १४८ और हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १.

२—तुलसी, सूर तथा जायसी की समीक्षाओं में।

३—हि० सा० का इति० पृ० ६३०, काव्य में रह० पृ० १२०.

४—रस-मीमांसा पृ० ११०, काव्य में रह० पृ० ११२.

राजनीतिक परिस्थितियों के साथ जनता की चित्तवृत्तियों का कारण-कार्य सम्बन्ध दिखाते हुए उन्होंने हिन्दी-साहित्य के विभिन्न युगों की विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों, कृतियों, कवियों तथा उनकी विशेषताओं का सम्बन्ध जनता की विभिन्न प्रकार की चित्तवृत्तियों से स्थापित कर[१] स्थायी भाव के एक प्रमुख तत्व—प्रवृत्ति को ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज मानकर ऐतिहासिक परिस्थिति को विभाव तत्व के भीतर रखने का प्रयत्न किया। उनके मत में हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भक्तिकालीन सगुणोपासक कवियों द्वारा राम, कृष्ण का आलम्बन रूप में ग्रहण हिन्दू जाति की चिरकालीन स्वतन्त्र वासना का परिणाम है। इन भक्तिकालीन कवियों को स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखने की यह वासना उस उच्च हिन्दू संस्कृति से मिली जिसमें स्वतन्त्र चेतन का मूल्य जीवन की अन्य सब वस्तुओं से बढ़कर माना गया है[२]। इस प्रकार शुक्ल जी ने यह बताने का प्रयत्न किया कि किसी जाति की वासना उसके सहस्रों वर्षों के संस्कृति सम्बन्धी अभ्यास की उपज है। वासना का संबंध प्रमुख रस-तत्व-स्थायी भाव से है। इस प्रकार आधार-आधेय सम्बन्ध से संस्कृति का समावेश रस के भीतर हो जाता है। जायसी की भूमिका में रस के भीतर संस्कृति को समाहित करने वाला तथ्य और स्पष्ट होकर विकसित हुआ है[३]। भूमिका के प्रारम्भ में ही उन्होंने यह बताया है कि कुतुबन, जायसी आदि सूफी कवियों ने हिन्दू-कहानियों द्वारा मुसलमानों के सूफी धर्म के सिद्धान्तों को स्पष्ट करते हुए यह दिखला दिया है कि एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है। शुक्ल जी ने हिन्दू कहानियों में मुसलमानों के जीवन की सामान्य मानसिक दशाओं को प्रगट करके[४] हिन्दू-मुसलमान दोनों के प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य दिखा कर केवल दोनों संस्कृतियों के समन्वय को ही सिद्ध नहीं किया वरन् विश्व की अन्य संस्कृतियों में भी इन्हीं सामान्य मानसिक दशाओं के अस्तित्व की संभावना बताई। मानव की विश्वव्यापी विभिन्न संस्कृतियों में देश-कालानुसार भिन्नता होते हुए भी अनेक सामान्य मानसिक दशाओं द्वारा एकता की संभावना बताकर उन्होंने विश्व-संस्कृति की कसौटी पर जायसी आदि सूफी कवियों को परखने का प्रयत्न

१—इसी प्रबन्ध का समीक्षा-कृतियाँ वाला अध्याय, इति०-विवेचन का अंश—

२—सर्वं परवशं दुखम् सर्वमात्मवशं सुखम्। भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रथम खण्ड, बलदेवउपाध्याय पृ० ४०५ पर उद्धृत।

३—जायसी-ग्रन्था० की भूमिका पृ० २, ३.

४— वही पृ० २.

किया। उपर्युक्त विवेचन में मानव मात्र में व्याप्त एक गुप्त तार तथा सामान्य मानसिक दशाओं का संबंध रस से है। इस प्रकार प्रकारान्तर से रस के भीतर सांस्कृतिक तत्वों का समावेश हो जाता है।

शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के भक्ति युग की विभिन्न प्रवृत्तियों, धाराओं, विशेषताओं, कवियों एवं कृतियों पर भारत के विभिन्न दर्शनों एवं चिन्ता-धाराओं के प्रभाव का आकलन कर दर्शन का काव्य से घनिष्ट संबंध स्थापित किया है। भक्तिकाल के सामान्य परिचय में उन्होंने यह बताया है कि रामोपासक, कृष्णोपासक तथा सूफी कवियों की भक्ति-परम्परायें हिन्दू तथा इस्लाम-दर्शनों की पुरानी परम्पराओं की उपज है; निर्गुण कवियों की भक्ति और लोक-धर्म को भारतीय दर्शन की परम्परा का सबसे प्रमुख प्रवहमान सूत्र बताते हुए तुलसी के काव्य में उसे स्पष्ट रूप से दिखाने का प्रयत्न किया, दूसरी ओर लोक-धर्म को रस की कसौटी के रूप में निरूपित किया। इस प्रकार उन्होंने दर्शन का सम्बंध रस से स्थापित किया है।

हिन्दी-साहित्य की विभिन्न साहित्य-धाराओं, प्रवृत्तियों; विशिष्ट कवियों एवं कृतियों के जनता पर पड़े हुए प्रभाव के निरूपण में भी रस तत्व निहित दिखाई पड़ता है। हृदय पर पड़े हुए प्रभाव का सम्बंध रस से है, यह हम रस-परिभाषा के विवेचन के समय बता चुके हैं। शुक्ल जी की दृष्टि में यदि कबीर आदि सन्त कवियों ने परोक्ष सत्ता की एकता द्वारा हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति में समन्वय लाने का प्रयत्न किया तो जायसी, कुतुबन आदि प्रेममार्गी कवियों ने अपनी प्रेम-कहानियों द्वारा प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रख कर हिन्दू-मुस्लिम-एकता को और आगे बढाया। सूर आदि कृष्णोपासक कवियों ने उस हिन्दू जनता में, जिसमें स्वातंत्र्य-अभाव की पीड़ा तथा गुलामी के कठोर दंशन की चोटों को खाते खाते गहरी उदासी छाई हुई थी; जिममें जीवन के प्रति आशा, विश्वास एवं अनुराग, का धीरे-धीरे लोप हो रहा था; जीवन के प्रति अनुराग, विश्वास एवं आशा का संचार किया; उसकी उदासी एवं अवसाद को दूर किया। उनके मत से तुलसी ने अपनी साहित्यिक कृतियों द्वारा अपने युग में हिन्दू जनता को धर्म एवं जीवन का व्यापक स्वरूप दिखा कर उसे लोक-धर्म की ओर उन्मुख करते हुए उसकी प्रवृत्तियों का संस्कार किया, उसके व्यावहारिक जीवन के प्रत्येक क्षण में राम का स्वरूप भरकर नई शक्ति का संचार किया, जिससे वह अपने जातीय एवं सांस्कृतिक स्वरूप को दृढ़ता से पकड़े रही[१]। सांस्कृतिक समन्वय तथा एकता में किस प्रकार रस-तत्व छिपा

१—गो० तुलसीदास पृ० ३३से ३६ के आधार पर।

है, यह पहले बताया जा चुका है। अनुराग, अवसाद, आशा तथा विश्वास का सम्बन्ध रस के मूल तथा तद्भव भावों से है, लोक-धर्म के भीतर सभी रस आ जाते हैं, प्रवृत्तियों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से रस के प्रमुख तत्व स्थायी भाव से है। इस प्रकार शुक्ल जी ने युग के ऊपर पड़े हुए कवियों के प्रभाव के भीतर रस-तत्व की निहिति सिद्ध कर उसकी भूमि को और अधिक विकसित किया।

शुक्ल जी शील-दशा को भाव की एक दशा विशेष कहकर[1] चरित्र-चित्रण को भी प्रकारान्तर से रस-सीमा के भीतर ले लेते हैं। रस-मीमांसा में उन्होंने भावों के प्रकृतिस्थ हो जाने की अवस्था को शील-दशा कहा है[2] और शील-दशा को चरित्र-चित्रण का मूलाधार माना है[3]। इनकी दृष्टि में आलम्बन का स्वरूप संघटित करने में उपादान रूप होकर शील-दशा रसोत्पत्ति में पूरा योग देती है[4]। आलम्बन के आभ्यन्तर स्वरूप की योजना भिन्न-भिन्न शीलों से ही होती है, किसी आलम्बन के उत्साही स्वरूप की योजना-तत्परता, साहसिकता, वीरता, निर्भीकता, त्याग आदि शीलों से होगी[5]। उत्साह जब अनेकावसर–व्यापी–स्थायित्व की ओर चलेगा तब वह शील–दशा को ही प्राप्त समझा जायगा। जो वीर होगा, वह किसी एक व्यक्ति के प्रति ही नहीं वरन् उपयुक्त व्यक्ति मात्र के साथ वीरता दिखायेगा। रामायण में राम की धीरता और गम्भीरता, लक्ष्मण की उग्रता और असहनशीलता बड़ों के प्रति भरत की श्रद्धा–भक्ति इत्यादि का चित्रण भिन्न–भिन्न अवसरों पर भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के प्रति किये हुए व्यवहारों के मेल से ही हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास में शुक्ल जी ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि रस–संचार में किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यंजना ही काफी होती है, किन्तु शील–दशा में उस विशेष मनोविकार की व्यंजना कई अवसरों पर अथवा जीवन-व्यापी रूप में दिखाई जाती है[6]। इससे निश्चय यह हुआ कि शील–दशा का निर्माण मनोविकारों की व्यंजना पर ही निर्भर है। 'जायसी–ग्रन्थावली' की भूमिका तथा 'गोस्वमी तुलसीदास' में पात्रों का शील–निरूपण तथा चरित्र–चित्रण मनोविकारों की जीवन–व्यापी व्यंजना अथवा कई अवसरों पर की गई उनकी अभिव्यक्ति के आधार पर हुआ है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने इस तीसरे काल में रस की व्याप्ति का विकास शील–निरूपण तक कर दिया।

१—रसमी-मांसा, पृ० १८६. २— रस-मीमांसा पृ० १८३.
३— वही पृ० १८६. ४— वही पृ० १८६.
५— वही पृ० १८६. ६— गो० तुलसीदास पृ० ११३.

उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो गई कि इस तीसरे काल तक आते आते शुक्ल जी ने अपने समीक्षा-सिद्धान्तों के विकास द्वारा यह तथ्य अच्छी तरह समझ लिया कि रस-पद्धति की नींव बहुत गहरी है, इसकी व्याप्ति बहुत विस्तृत है, नये नये अनुभवों तथा विषयों की सहायता से अनेक दिशाओं में इसका फैलाव हो सकता है, किंचित् परिष्कार तथा प्रसार से रस-पद्धति सार्वभौम समीक्षा-पद्धति का स्थान ग्रहण कर सकती है[1]। रस-पद्धति के विकास के साथ-साथ उन्होंने यह भी अनुभव कर लिया कि हमारे साहित्यशास्त्र का एक स्वतंत्र रूप है, जिसके विकास की क्षमता एवं प्रणाली भी स्वतंत्र है। उसकी आत्मा तथा उसके विकसित स्वरूप को जब हम सूक्ष्मता से पहचान लेंगे तभी दूसरे देशों के साहित्य के स्वतंत्र पर्यालोचन द्वारा अपने साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का विधान कर सकेंगे। हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं[2]। इस सिद्धान्त के अनुसार शुक्ल जी ने अपने साहित्य की आत्मा रस को पहचानकर, उसका सम्यक विकास कर, उसकी कसौटी पर ठीक न उतरनेवाली तत्कालीन देशी तथा विदेशी सभी हानिकारक परम्पराओं का विरोध कर हिन्दी-साहित्य को अवांछनीय प्रभावों से मुक्त करने का प्रयत्न किया, उसको स्वस्थ दिशा में विकसित करने के लिए तत्कालीन हिन्दी-साहित्य में फैले हुए उच्छृंखल एवं अनुत्तरदायी तत्वों को उभरने नहीं दिया; उसके सौन्दर्य, प्रकृति, विभूति तथा मौलिकता की रक्षा के लिए लोकादर्शवाद की अवहेलना करने वाले पश्चिम के कलावादी, व्यक्तिवादी, वर्गवादी, संवेदनावादी, प्रतीकवादी, बुद्धिवादी, स्वप्नवादी, अध्यात्मवादी, मूर्तविधानवादी आदि काव्य-सिद्धान्तों तथा उनके प्रभाव या अनुकरण से हिन्दी-साहित्य में उद्भूत अस्वस्थकर प्रवृत्तियों का खण्डन किया, खण्डन ही नहीं उन्हें अपने समय में पनपने नहीं दिया। काव्य में रहस्यवाद नामक पुस्तक की रचना शुक्ल जी ने रहस्यवाद अथवा छायावाद की कविता के सम्बन्ध में भ्रान्तिवश या जानबूझ कर जो अनेक प्रकार की बे सिर पैर की बातें प्रचारित की जा रहीं थी—उनके खण्डन के लिए की[3]। उन्होंने कविता की एक शाखा विशेष के रूप में स्वाभाविक रहस्य भावना को व्यक्त करने वाली अथवा लोक-धर्म को अपना कर चलने वाली रहस्यवादी रचनाओं को स्वीकार किया है[4]। किन्तु रहस्यवाद के नाम पर विलायत अथवा बंगला की अंधाधुन्ध नकल पर रची

१—काव्य में रहस्यवाद पृ० १२१. २— वही पृ० १४८,

३—काव्य में रहस्यवाद वक्तव्य. ४—काव्य में रहस्यवाद पृ० ५२, ५३, ५५.

जाने वाली रचनाओं का खण्डन किया है। साम्प्रदायिकता, वादग्रस्ता, आध्यात्मिकता, वैयक्तिकता, अवास्तविकता, जीवन अथवा भाव की एकांगिता, विलायती अन्धानुकरण, प्रकृति के उद्दीपन-प्रयोग, काव्यगत मुक्तक-रूप के ग्रहण, लोक-सामान्य अनुभूति की अवहेलना, अन्तःप्रकृति के वैविध्य की शून्यता तथा रसधारा के अभाव के कारण काव्य सामान्य के रूप में उन्होंने रहस्यवाद को स्वीकार नहीं किया है[1]। शुक्ल जी की दृष्टि में रहस्यवादी कवितायें, कवियों तथा पाठकों में लोक-संघर्ष से दूर भागने की प्रवृत्ति पैदा कर रही थीं; राष्ट्रीयता एवं प्रगतिशीलता के तत्वों से लोगों को विमुख कर रही थी; निराशा, रुदन, वेदना आदि अस्वस्थकर भावों की अभिव्यक्ति करती हुई पाठकों को लोक-मंगल के विरुद्ध ले जा रही थीं[2]। इस प्रकार रहस्यवादी कविता उनकी दृष्टि में तत्कालीन नवीन हिन्दी-काव्य तथा देश की नवीन प्रगतिशील विचार धारा दोनों के विकास के लिए घातक सिद्ध हो रही थी। इसलिये तत्कालीन हिन्दी कविता के विकास तथा नवीन विचारधारा की प्रगति की सुरक्षा के लिए शुक्ल जी ने रहस्यवादी कविता का खण्डन किया। इसी प्रकार वादग्रस्त छायावादी रचनाओं का घोर खण्डन उन्होंने निम्नांकित कारणों से किया:—

१—कुछ में काव्य के भाव-पक्ष के सामान्य रूप के स्थान पर उसके अनूठेपन पर सर्वाधिक बल रहता था किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में अनूठापन काव्य का नित्य स्वरूप नहीं है, इसलिए उसका उन्होंने खण्डन किया।

२— कुछ में भावना की सच्चाई के स्थान पर बंगला अथवा अंग्रेजी कविताओं की नकल मिलती थी। अंग्रेजी के लाक्षणिक शब्दों वाक्यों का ज्यों का त्यों अवतरण होता था। उनमें इधर-उधर से बटोरे असंश्लिष्ट एवं असंबद्ध वाक्यों का ढेर सा लगता था।

३—भारतीय काव्य-शिष्टता की मर्यादा तथा रस-सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ने वाली वेदना की भद्दी विवृति अधिकांश छायावादी कविताओं में मिलती थी।

४— व्यंजना शैली के वैचित्र्य के फेर में पड़कर अधिकांश छायावादी कवि प्रतीकों का दुरुपयोग कर रहे थे। उनके प्रतीक प्रायः नवीन एवं वैयक्तिक ढंग के होते थे। उनमें भावों एवं विचारों के उद्बोधन की शक्ति नहीं रहती थी। उनके स्वरूप से अभिलषित व्यंजना नहीं होती थी। वे जनता की कल्पना के अंग अथवा भावों के विषय बनने में असमर्थ थे।

१—काव्य में रह० का द्वितीय अध्याय, काव्य में रहस्यवाद-विवेचन सम्बन्धी अंश, पृ० ७४,७९. २— वही पृ० ७७.

५—ऐसी कविताओं को पढ़ने से न कोई सुसंगत भाव, न कोई नूतन बात, न कोई स्पष्ट विचार धारा पाठकों को मिल पाती थी और न किसी उद्भावित सूक्ष्म तथ्य के साथ पाठकों का भाव संयोग हो पाता था जिसका कुछ स्थायी संस्कार हृदय पर पड़े। छायावाद का पास लेकर काव्य-क्षेत्र में आने वाली अधिकांश रचनाओं में कोई भावना उठकर कुछ दूर तक सांगोपांग रूप से नहीं चल पाती थी।

६—अनुभूतियों की अस्पष्टता, भावों एवं विचारों का बिखरा हुआ ढेर, बुद्धि-व्यवस्था का अभाव, छायावादी प्रगीत कविताओं की अन्विति तथा सम्बन्ध तत्व को नष्ट कर देता था।

७—किसी प्रकृत आलम्बन से सीधा लगाव न रखने के कारण भावों में सच्चाई का अभाव रहता था।

८—छन्द बन्धन के त्याग से प्रभाव एवं प्रेषणीयता का ह्रास हो जाता था।

उपर्युक्त दोषों[1] से भरी छायावादी रचनाओं से तत्कालीन हिन्दी-काव्य की प्रकृति भूमि नष्ट हो रही थी। अतः उसकी सुरक्षा के लिए शुक्ल जी ने तथाकथित छायावादी रचनाओं का खण्डन किया।

इसी छायावाद के भीतर कुछ ऐसी कवितायें भी मिलती थीं, जिनका स्वरूप विलायती नहीं होता था, जिनमें भावुकता, रमणीयता का संचार रहता था, जिसमें लाक्षणिक चमत्कार, व्यंजना की प्रगल्भता, हिन्दी-भाषा की प्रकृति के अनुसार होती थीं, मूर्तिमता का आकर्षक विधान रहता था; इसी प्रकार अन्य उपर्युक्त दोषों का जिनमें अभाव रहता था ऐसी छायावादी कविताओं का शुक्ल जी ने समर्थन किया है[2]।

संरक्षण-काल की सबसे अन्तिम रचना शुक्ल जी का हिन्दी-साहित्य का इतिहास है। उन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास द्वारा एक एक कवि में समायी हुई हिन्दी की अमूल्य विचार-निधियों एवं भाव-रत्नों की रक्षा की, मां हिन्दी भारती के चिन्मय स्वरूप को सुरक्षित करने का प्रयत्न किया, सैकड़ों अज्ञात कवियों एवं अज्ञात कृतियों को प्रकाश में लाकर हिन्दी के भाण्डार को समृद्ध किया, ऐतिहासिक परिस्थितियों एवं विचारधाराओं के साथ हिन्दी की चिन्ताधारा का सम्बन्ध दिखाते हुए उसके विकास-क्रम के इतिहास को वैज्ञानिक ढंग से

१—काव्य में रहस्यवाद, पृ० २६;२८,४१,४३,५४,७३,७९,७६,९०,१०३.१२२,१२३.

२— वही पृ० १३९, १४०, १४४.

निरूपित कर उसकी विचारधारा तथा दर्शन को शृंखलाबद्ध कर उसे सुरक्षा की स्थिति में लाने का प्रयत्न किया; अपनी व्यापक काव्य-दृष्टि तथा रस-पद्धति द्वारा हिन्दी-साहित्य में उसका इतिहास ही नहीं वरन् सभी प्रतिनिधि कवियों, कालों, तथा विचारधाराओं की समीक्षा करके उसके प्रमुख गुणों एवं विशेषताओं को महत्व प्रदान किया।

जहाँ तक साहित्य-सिद्धांतों का प्रश्न है इसमें कोई नवीन सिद्धान्त नहीं मिलता। केवल रस-सिद्धान्त का विकसित रूप कवियों, कृतियों तथा सभी प्रतिनिधि विचारधाराओं की समीक्षा में प्रयुक्त हुआ है जिसकी विस्तृत वस्तुभूमि में आधार-आधेय सम्बन्ध से समग्र जीवन सन्निविष्ट किया गया है। रसवाद की विकसित भूमि को अपनाने के कारण ही शुक्ल जी ने लोक-प्रवृत्ति की प्रमुखता के आधार पर हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन किया है[1], प्रमुख कवियों एवं कृतियों की प्रसिद्धि को लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि माना है[2], कवियों की विशेषताओं में उनकी अन्तर्वृत्ति का विवेचन किया है, जीवन तथा साहित्य का घनिष्ट सम्बन्ध कहीं विच्छिन्न नहीं होने दिया है, योरोप के सत्सिद्धान्तों से प्रभावित होने पर भी, उनके विभिन्न वादों के सत्य को ग्रहण करने के लिए तैयार रहने पर भी उनके दुष्प्रभावों से हिन्दी साहित्य को बचाते हुए उसे अपनी संस्कृति तथा प्रमुख साहित्यिक परम्परा के अनुकूल रखने का प्रयत्न किया है[3]।

रस-सिद्धान्त के प्रति अनन्य होने के कारण ही वे साहित्य एवं असाहित्य के भेद-निराकरण में कहीं असफल नहीं हुए, युग-विशेष के ग्रन्थ भाण्डार में से विशुद्ध साहित्यिक कृतियों को ढूँढ़ निकालने में कहीं विफल नहीं हुए। हिन्दी के आदि-काल के साहित्यिक विकास में नाथों एवं सिद्धों की असाहित्यिक परम्परा सैकड़ों नामावलियों के साथ उपस्थित थी, अनेक साम्प्रदायिक ग्रन्थ अम्बार लगाकर इकट्ठे थे। इसी प्रकार आधुनिक युग के अंतर्गत कितने ही पंडत अपनी बड़ी बड़ी पोथियों के साथ उपस्थित थे। समाचार-पत्र-'सम्पादक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, शास्त्र-लेखक, पुरातत्व के लेखक साहित्यिक कहलाने के लिए होड़ लगा रहे थे। परन्तु शुक्ल जी ने इस सम्पूर्ण जमघट में से सच्ची साहित्यिक कृतियों का जिस निपुणता के साथ चयन किया वह उनकी विकसित समीक्षात्मक दृष्टि की परिचायक है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य के विकास में बाधक अनेक देशी परम्पराओं का खण्डन किया है। उनकी दृष्टि में वज्रयानी सिद्धों तथा नाथपंथी कवियों की बानी में साम्प्रदायिक शिक्षा का संग्रह था, हृदय-पक्ष की शून्यता तथा रागात्मक वृत्ति का अभाव था तथा जीवन की

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १, २. २— वही पृ० ३. वक्तव्य.
३— वही पृ० ५६१, ६४१.

स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों; दशाओं आदि से उनकी वानी का कोई सम्वध नहीं था; अतः उन्होंने उनकी वानी को काव्य या साहित्य की विशुद्ध धारा नहीं माना; उन्हें शुद्ध साहित्यक कोटि में नहीं रखा[१]। निर्गुनवादी कवियों में साम्प्रदायिकता का आधिक्य, दार्शनिक व्यवस्था का अभाव, मानव-जीवन की लोक-पक्ष-सम्बन्धी भावनाओं एवं कर्म-दशाओं की विस्तृत व्यंजना का अभाव होने के कारण शुक्लजी ने उनकी कविता के वस्तु-पक्ष का समर्थन नहीं किया[२]। उनकी अभिव्यक्ति में उन्हें जहां जहां अटपटापन, भाषा, छन्द आदि की दृष्टि से अव्यवस्था, प्रहेलिका का स्वरूप, अन्योक्ति का अबोधगम्य रूप मिला, वहाँ वहाँ उन्होंने खण्डन किया[३]। क्योंकि इस प्रकार की अभिव्यक्तियाँ काव्य-व्यंजना की प्रकृति के विरुद्ध पड़ती थीं।

आचार्य शुक्ल ने रीतिकालीन काव्य तथा शास्त्र का निम्नांकित कारणों से घोर विरोध किया:—

१. रीतिकालीन कवियों ने साहित्य को धनी वर्ग का सेवक वना दिया था, उसे यथार्थ जीवन से दूर हटा कर कुछ विशेष प्रकार के नायकों, नायिकाओं एवं उद्दीपनों के भीतर बाँधने का प्रयत्न किया था। अतः उसमें कृत्रिमता का संचार हो गया था, साहित्य की वाग्धारा सकुचित नालियों में वहने लगी थी[४]। कवियों में व्यक्तित्व तथा स्वाधीन चेतना का अभाव हो गया था। रीतिकाल का साहित्य-शास्त्र अधिकांश मात्रा में स्वतन्त्र चेतना, मौलिक चिन्तन से विहीन हो गया था। उपर्युक्त तीनों काव्य-धाराओं के विरोध सम्बन्धी कारणों से यह विदित होता है कि शुक्ल जी ने अपने रस-सिद्धान्त के विकास द्वारा ही उनका खण्डन किया। खण्डन का मूल कारण था हिन्दी साहित्य के विकास, प्रकृति, स्वतन्त्र चेतना आदि का संरक्षण। हिन्दी साहित्य के इतिहास के आधुनिक युग में शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के स्वतन्त्र विकास की रक्षा के लिए उसमें बाधक अनेक विदेशी वादों के अंवाछित प्रभावों का खण्डन किया, अनेक सैद्धान्तिक उलझनों को सुलझाया, अनेक बेबुनियाद मूल्यांकनों को अस्वीकार किया, साहित्यकारों को विकृत रुझानों से उन्मुक्त किया, साहित्य के अनुत्तरदायी तत्वों को उभरने नहीं दिया तथा अप्रगतिशील तत्वों को बढ़ने नहीं दिया। शुक्ल जी द्वारा योरोपीय विदेशी वादों के खण्डन

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३, २४.

२— वही पृ० ८०, १०५. ३— वही पृ० ८१.

४—हि० सा० का इति०, पृ० २६०, २६१, २६३, २६४, ६७२.

के कारणों को हम २ भागों में ...इन:—

कारण मुख्यतः ३ है। ...शुक्ल जी का सबसे बड़ा तर्क यह है कि यदि

१—शुक्ल जी योरोप के साहित्य-क्षेत्र...गय तो कविता लिखना व्यर्थ हो जाय। को कच्चे पक्के ढंग से सामने लाकर कुतूहल... भावना सैकड़ों, हजारों क्या लाखों मस्तिष्क शून्यता के साथ ही साथ समस्त हिन्दी ...खडन में रस-सिद्धान्त के अति- आरोप करना समझते थे[1]। ...छिपी है। व्यक्तिवैचित्र्यवाद

२—जिन योरोपीय वादों का खण्डन उन्होंने ...लक्षणा सिद्धान्त, अध्यात्म- विरुद्ध पड़ते थे। ...वाद के खण्डन पर

३—शुक्ल जी हिन्दी-साहित्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की रक्षा ...स्वप्नवाद, काम- विकास स्वतन्त्र रूप में करना चाहते थे। किसी दूसरे साहित्य के ...जायगा। रूप में नहीं[2]। ...स्वप्न की

अब विदेशी वादों के खण्डन के विशिष्ट कारणों का उल्लेख नीचे तत्...उनके सम्बंधी वादों के खण्डन के कारणों के साथ किया जायगा।

कलावाद का खण्डन:—

शुक्ल जी की दृष्टि में योरोपीय कलावाद में भावानुभूति के स्थान पर कल्पना का विधान ही प्रधान समझा जाता था, कवि की कल्पना अधिकतर अप्रस्तुतों की योजना करने, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और विचित्रता लाने में ही प्रवृत्त होती थी[3]; अभिव्यंजना-प्रणाली या शैली की विचित्रता ही सब कुछ समझी जाती थी; प्रकृति के नाना रूप और व्यापार किसी अप्रस्तुत योजना के काम में लाये जाते थे;[4] कला के लिए कला-सिद्धान्त की आड़ में साहित्य में दुराचार प्रवृत्ति को प्रश्रय मिल रहा था, साहित्य के साथ जीवन का सम्बन्ध विच्छिन्न हो रहा था; उसकी दुनिया निराली मानी जा रही थी[5]; काव्य में जीवन की अनेक परिस्थितियों की ओर ले जाने वाले प्रसंगों या आख्यानों की उद्भावना बन्द हो रही थी[6]; काव्य के एक पक्ष को उसका पूर्ण स्वरूप समझा जा रहा था[7]; नाना अर्थभूमियों पर काव्य का प्रसार रुक गया था, कवियों की दृष्टि जगत् और जीवन के नाना मार्मिक पक्षों की ओर जाने में असमर्थ होने लगी थी[8]; लोक-मूल्यों की दृष्टि से कविता पर विचार करना

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६४०. २— वही पृ० ६४१.
३—हि० सा० का इति०, पृ० ७२६. ४—हि० सा० का इति०, पृ० ७२६.
५— वही पृ० ७२८. ६— वही पृ० ७३०.
७— वही पृ० ७३१, ८— वही पृ० ७२६.

स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों; दशाओं आदिलावाद की उपर्युक्त योरोपीय नहीं था; अतः उन्होंने उनकी वानी को का रही थीं। इस प्रकार कलावाद माना; उन्हें शुद्ध साहित्यक कोटि में लोकपक्ष, काव्य के उदात्त प्रयोजन, साम्प्रदायिकता का आधिक्य, दार्शनिअर्थभूमियों, काव्य में प्रकृति के उचित लोक-पक्ष-सम्बन्धी भावनाओं एलयपूर्ण स्थिति नष्ट करने की आशंका उत्पन्न होने के कारण शुक्लजी ने इके उपर्युक्त तत्वों की रक्षा के लिए शुक्ल जी ने उनकी अभिव्यक्ति में उन्होंने।

अव्यवस्था, प्रहेलिका

वहाँ उन्होंने ख[1]—

व्यंजना की प्र की दृष्टि में क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी व्यंजना-प्रणाली , या विलक्षणता पर जोर देता था[2], काव्य-सौन्दर्य को बेलबूटे की आचारी के समान मानता था[3], काव्य को मानसिक क्रिया की वस्तु न मानकर कध्यात्मिक जगत् की वस्तु समझता था, इस प्रकार वह काव्य की सत्ता इस जगत और जीवन से स्वतन्त्र मानता था[4]। अभिव्यंजनावादियों की दृष्टि में कवियों की कल्पना जीवनके मार्मिक चित्रों के विधानों में लीन न होकर अधिक-तर अप्रस्तुतों की योजना, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता तथा विचित्रता में रमती थी, प्रकृति के नाना रूपों तथा मर्मों की ओर उसका झुकाव नहीं होता था[5]। क्रोचे काव्य या कला से नीति का कोई सम्बन्ध नहीं मानता था। उसकी दृष्टि में दोनों ही दो पृथक् वस्तुयें हैं। अतः काव्य तथा कलायें नैतिक मापदण्ड से नहीं मापी जा सकतीं[6]। क्रोचे के मत में काव्य या कला की श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं। वह महाकाव्य को प्रगीत या मुक्तक से श्रेष्ठ नहीं मानता। शुक्ल जी द्वारा निरूपित उपर्युक्त अभिव्यंजनावाद की विशेषताओं से यह स्पष्ट सो गया कि वह उनके रस-सिद्धान्त, लोक-पक्ष, नीतिवाद, उपयोगितावाद, समन्वय-सिद्धान्त, काव्य को मानसिक क्रिया मानने वाले सिद्धान्त तथा प्रबन्ध काव्य एवं प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ता था। इसलिए उन्होंने अभिव्यंजनावाद का खण्डन किया। अभिव्यजनावाद के खण्डन में शुक्ल जी की दृष्टि हिन्दी-काव्य में रस-सिद्धान्त, लोक धर्म, समग्रता-सिद्धान्त, प्रबन्ध काव्य तथा प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी सिद्धान्त के संरक्षण की ओर थी।

१—हि० सा० का इति०, पृ० ६३१. २— वही पृ० ६३५.
३— वही पृ० ६३६, ४— वही पृ० ६३१.
५— वही पृ० ७२६. ६— वही पृ० ६३१.

समझने के कारण[१], शृंगार का बहुत व्यापक स्वरूप निरूपित करने के कारण[२], अतीत सम्बन्धी स्मृतियों, प्रत्यभिज्ञानों, भावों आदि को मुक्तिलोक मानने के कारण[३] मार्क्सवादी साहित्य का खण्डन किया। इस खण्डन से हिन्दी-साहित्य में शुक्ल जी साहित्य से विविध आधारों, विविध प्रयोजनों, विविध मूल्यों, उसकी प्रधान प्रकृति, मानवता व्यापी व्याप्ति, स्वस्थ जीवन-दर्शन, भारतीय संस्कृति की स्वतन्त्र चेतना आदि की रक्षा करना चाहते थे।

संवेदनावाद:—

संवेदनावाद में शब्द के नाद द्वारा वस्तु-चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता था। इस प्रकार की कविताओं में सब प्रकार का बल शब्दों की ध्वनियों पर रहता था; उनकी शक्तियों या भाव पर नहीं। इस प्रकार काव्य में शब्द शक्तियों की हत्या होती थी। इस वाद के अनुसार लिखी हुई कविताओं में वाक्यों को व्याकरण के अनुसार सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न भी छूट जाता था। इस तरह यह वाद काव्य में शैली या अनुभूति-तत्व की स्वाभाविकता तथा शब्द-शक्तियों के उपयोग की रक्षा में असमर्थ था। हिन्दी-काव्य में शैली तथा अनुभूति-तत्व की स्वाभाविकता के संरक्षण की ओर विशेष ध्यान देने के कारण शुक्ल जी ने इसका खण्डन किया।

प्रतीकवाद:—

प्रतीकवाद में प्रस्तुतों के स्थान पर अधिकांशतः अप्रस्तुतों का प्रयोग होता था; उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अन्योक्ति आदि की भरमार होती थी तथा ऐसे प्रतीकों का प्रयोग होता था जिससे श्रोता या पाठक परिचित नहीं होते थे। अतः उनसे भावों की स्पष्टता नहीं होती थी[४]। इस प्रकार प्रतीकवाद काव्य-शैली की प्रकृति के विरुद्ध पड़ता था; इसलिये उन्होंने उसका खण्डन किया।

मूर्तविधानवाद:—

इसमें भाव-वाचक शब्दों का सर्वथा बहिष्कार होता था तथा मूर्तभावना लाने वाले शब्दों को ही काव्य में स्थान मिलता था। इस प्रकार यह वाद काव्याभिव्यक्ति में कृत्रिमता का समर्थन करता था। शुक्ल जी ने इस वाद का खण्डन हिन्दी-काव्याभिव्यक्ति की प्रकृति की रक्षा के लिए किया।

बुद्धिवाद:—

बुद्धिवाद की प्रवृत्तियाँ काव्य एवं कवि-स्वभाव के विरुद्ध पड़ती थीं, इसलिए शुक्ल जी ने उसका खण्डन किया[५]।

१–चि०प०भाग, पृ० २१२. २–रस-मीमांसा, पृ० १७०. ३–चि०प०भाग, पृ० ३५४.
४–हि० सा० का इतिहास, पृ० ७२५, ७२६. ५–हि०सा० का इतिहास, पृ० ७७४, ७७१.

साहित्य-नियंता-कालः—

इस काल में शुक्ल जी अपने प्रमुख समीक्षा-सिद्धान्त—रस सिद्धान्त के विकसित रूप द्वारा हिन्दी-साहित्य के विविध रूपों का वांछनीय आदर्श स्वरूप निरूपित करते हुए; हिन्दी-कवियों तथा लेखकों को उचित दिशा का निर्देशन करते हुए, उनकी उलझनों को सुलझाते हुए, उनकी विकृतिपूर्ण रुझानों को खोलते हुए, हिन्दी-साहित्य में फैले हुए कूड़ा करकट को साफ करने का मार्ग-दर्शन कराते हुए हिन्दी समालोचना के अम्बर में अमानिशा के पश्चात् दिव्य कलाधर के समान उदित होकर हिन्दी-समीक्षा के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की झलक दिखाते हैं[1]। इस काल की प्रतिनिधि रचना उनका अभिभाषण है। इसके अतिरिक्त चिन्तामणि में संगृहीत 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' एवं 'साधारणीकरण तथा व्यक्तिवैचित्र्यवाद' नामक दो निबन्ध हैं। अभिभाषण में सर्व प्रथम शुक्लजी ने साहित्य के सामान्य स्वरूप तथा प्रकृति का विवेचन एक साहित्य-नेता के समान किया है। निर्माण काल की कृति "कविता क्या है" नामक निबन्ध में कविता की परिभाषा तथा अभिभाषण में दी हुई साहित्य की परिभाषा के तुलनात्मक अध्ययन से उनका साहित्य-नियन्ता-रूप स्पष्ट हो जाता है। हृदय की मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं[2]। अभिभाषण में साहित्य की परिभाषा इस प्रकार है—साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जाता है जिसमें अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्वेषण अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक व्याख्या हो.................. अर्थबोध कराना मात्र, किसी बात की जानकारी कराना मात्र, जिस कथन या प्रबन्ध का उद्देश्य होगा वह साहित्य के भीतर न आयेगा, और चाहे जहाँ जाय[3]"। प्रथम परिभाषा से ज्ञात होता है कि समीक्षक शुक्ल जी अपने समीक्षा-सिद्धान्तों की निर्माणावस्था में हैं; इसलिए उस परिभाषा में आत्म-विश्वास, निर्भीकता तथा नियंत्रण की वह भावना नहीं है जो दूसरी परिभाषा में दिखाई पड़ती है। अभिभाषण में परिभाषा के पश्चात् साहित्य की व्याप्ति, उसके भीतर आने वाले विविध साहित्य-रूप निर्धारित किये गये हैं। तदनन्तर शुक्ल जी ने तत्कालीन हिन्दी-साहित्य में प्रचलित सभी साहित्य-रूपों—काव्य, निबन्ध, उपन्यास, नाटक, कहानी, गद्य-काव्य, आलोचना की गतिविधि तथा स्थिति, उनके तत्कालीन स्वरूप, उनकी मुख्य प्रवृत्तियों, विशेषताओं, गुणों

१—अमानिशा थी समालोचना के अम्बर पर, उदित हुए शुक्ल प्रथम के दिव्य कलाधार।
—निराला.—साहित्य-संदेश, शुक्लांक—पृ० ४४७.

२—चिन्तामणि पहला भाग पृ० १९२. ३—अभिभाषण पृ० २.

तथा दोषों एवं उनकी शासन-बिधि पर एक साहित्य-नियन्ता के समान वैज्ञानिक विवेचन उपस्थित किया है; उनके अभावों तथा दोषों की मार्जन-विधि पर साहित्य-नेता के समान अपनी सम्मति दी है, साहित्य के सन्मार्ग-प्रदर्शक के रूप में कवियों तथा लेखकों को उनके वांछनीय स्वरूपों के ग्रहण तथा अवांछनीय तत्वों एवं प्रभावों के त्याग का आदेश दिया है। आगे उन्होंने कतिपय विदेशी वादों के प्रभावों तथा अनुकरण की विकृतिपूर्ण रुझानों में फंसे कवियों तथा लेखकों को उनसे उन्मुक्त होने का मार्ग बताया है तथा उन्हें भारतीय काव्यादर्शों का महत्व साहित्य-नेता के समान बलपूर्वक समझाया है। हिन्दी-साहित्यों पवन में पाश्चात्य-वाद-वृक्षों के बहुत से गिरे सूखे हरे पत्ते जो यहां पारिजात पत्र की तरह उस समय प्रदर्शित किये जा रहे थे उनसे उद्भूत साहित्यिक गड़बड़ी को शुक्ल जी ने दूर करने का प्रयत्न किया है। इन वाद-वृक्षों के पत्तों की परख के लिए उन्होंने समीक्षकों को सावधान ही नहीं किया, वरन् अपने रस-सिद्धान्त के अंजन द्वारा उनके नयनों को उन्मीलित करने का प्रयत्न भी किया है[1]। भारतीय काव्य-दृष्टि का निरूपण करते हुए उन्होंने रस-पद्धति के परिष्कार, संशोधन तथा योरोपीय वादों को अच्छी बातों को अपने साहित्य में आत्मसात् करने का आदेश देते हुए अपने काव्य-सिद्धान्तों की व्यापकता, उदारता एवं महानता का प्रमाण भी उपस्थित किया है[2]।

शुक्ल जी के आगमन के पूर्व हिन्दी-समीक्षा को संस्कृत-समीक्षा सिद्धान्तों तथा काव्यांगों का आधार मिला था पर उसमें तब तक कान्य-सिद्धान्तों तथा काव्यांगों का स्वतन्त्र विवेचन नहीं हुआ था। योरोपीय साहित्य के सम्पर्क तथा देश की नई परिस्थितियों के फलस्वरूप हिन्दी में निबन्ध, गद्य-गीता आदि नये साहित्य रूप पैदा हो रहे थे; संस्कृत साहित्य की परम्परा से प्राप्त पुराने साहित्यिक-रूपों जैसे, महाकाव्य, खंडकाव्य, प्रगीत काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, समीक्षा आदि का स्वरूप परिवर्तित हो रहा था; उनके अनुशासन, नियमन तथा विश्लेषण में संस्कृत-समीक्षा में विवेचित साहित्य-स्वरूपों के लक्षण हिन्दी साहित्य के तत्कालीन सभी स्वरूपों के प्रर्याप्त आधार तथा दिशा-निर्देशन की सामग्री प्रस्तुत करने में अपूर्ण सिद्ध हो रहे थे; दूसरे हिन्दी के चिन्तनशील विद्वान हिन्दी-समीक्षा के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की आवश्यकता का अनुभव कर रहे थे। ऐसे समय में शुक्ल जी ने अपनी रस-पद्धति के विकसित रूप द्वारा प्रत्येक साहित्य-रूप का लक्षण, नये ढंग से निरूपित करते हुए हिन्दी-समीक्षा के व्यक्तिव का निर्माण स्वतन्त्र ढंग से करते हुए उसके नेतृत्व के दायित्व को सम्य ढंग से निभाने का प्रयत्न किया है, हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक स्वरूप के विकास

१—अभिभाषण, पृ० १२. २— वही पृ० ४३.

की दिशा का निर्देश तथा उनके नियमन एवं शासन की विधियों का ढंग बताते हुए[1] साहित्य-नियन्ता के कार्य का सम्पादन निर्भीकता एवं आत्म-विश्वास के साथ किया है। अभिभाषण के अन्त में शुक्ल जी ने जो अपनी अन्तिम कामना हिन्दी-साहित्य के विषय में प्रकट की है, वह हिन्दी-साहित्य को विश्व की नित्य और अखण्ड विभूति से शक्ति, सौन्दर्य और मंगल का प्रभूत संचय करके एक स्वतन्त्र नवनिधि के रूप में प्रतिष्ठित करने की थी[2]। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी-साहित्य के विषय में शुक्ल जी की यह कामना उन्हें हिन्दी-साहित्य का सच्चा नेता एवं नियन्ता सिद्ध करती है। शुक्ल जी की यह कामना केवल निष्क्रिय कामना मात्र नहीं थी। इस कामना की पूर्ति के पथ-निर्देशन में उनका सक्रिय योग कम महत्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने हिन्दी-साहित्य के स्वस्थ एवं स्वतंत्र निर्माण, उन्नयन एवं समृद्धि के लिए केवल ठोस साहित्य-सिद्धान्तों का निर्माण ही नहीं किया, वरन् व्यवहारिक समीक्षा में उनका प्रयोग करके उनके व्यावहारिक उपयोग का सन्मार्ग भी दिखाया; इतना ही नहीं उनके आधार पर हिन्दी में विभिन्न साहित्य-रूपों—कविता, कहानी, निबन्ध, समीक्षा आदि की सर्जना करके कथनी तथा करनी दोनों रूपों में हिन्दी-साहित्य में नेता बनने की शक्तियों एवं गुणों को सम्यक् रूप से चरितार्थ भी कर दिया।

इस अध्याय की पूर्णता के लिए शुक्लजी के समीक्षा-सिद्धान्तों के विकास की विशेषता का परिज्ञान भी आवश्यक है। सामान्य चिन्तकों के सैद्धान्तिक विकास में प्रायः यह देखा जाता है कि उनकी दृष्टि किसी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व कभी बहिरंग पक्ष पर जाती है, कभी अन्तरंग पर। वे कभी बहिरंग तत्वों को प्रधान मानते हैं, तो कभी अन्तरंग को। किन्तु आचार्य शुक्लकी दृष्टि आरम्भ से ही अन्तरंग पक्ष की ओर केन्द्रित थी वे आरम्भ से ही काव्य के अन्तरंग तत्व—रस को प्रधान मानते हुए दिखाई पड़ते हैं। साहित्य-सिद्धान्तों के निर्माण अथवा विकास-काल में उनमें कहीं भी अनिश्चय अथवा शंका की स्थिति नहीं दिखाई पड़ती; भारतीय अथवा पश्चिमी वादों के मण्डन-खण्डन में कहीं भी विचार-दौर्बल्य अथवा तार्किक अशक्तता दृष्टिगोचर नही होती; देशी तथा विदेशी वादों एवं सिद्धान्तों के सत्पक्ष के ग्रहण के समय अनुकरण, अंध श्रद्धा आदि किसी भी प्रकार की हीन वृत्ति का प्रमाण नहीं मिलता; सिद्धान्तों के विवेचन तथा विकास में एक शृंखला अथवा अन्विति का अभाव तथा पूर्व पर सम्बन्ध-निर्वाह की न्यूनता कहीं नहीं दिखाई पड़ती। उक्त विशेषतायें यह प्रमाणित करती हैं कि शुक्ल जी साहित्य के एक असाधारण चिन्तक थे। इसी लिए वे अपने सिद्धान्तों का विकास सुशृंखलित ढंग से करने में सफल हुए।

१—अभिभाषण, पृ० ८१,८३,८७,९१.९४,१०४, से ११०. २— वहीं पृ० १११, ११२.

छठाँ अध्याय

आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्तों के आदर्श

किसी व्यक्ति का आदर्श आरोपित नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं है। व्यक्ति के संस्कार ही उसके लिए आदर्श चुनते हैं। संस्कारों से अलग हटकर आदर्श ग्रहण करने की प्रवृत्ति व्यक्ति में नहीं होती[1]। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श उसके संस्कारों के अनुकूल होता है। आलोचना भी साहित्य की तरह जीवन से ही प्राण ग्रहण करती है। जीवन के आदर्शों के आधार पर ही किसी समीक्षक की समीक्षा के आदर्श निर्मित होते हैं। उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि समीक्षक के आदर्श भी उसके संस्कारों के अनुकूल होते हैं। व्यक्ति अपने संस्कारों का अर्जन मुख्यतः तीन स्रोतों से करता है। प्रथम, अपनी आनुवंशिक परम्परा अथवा विशेषता से; द्वितीपय, अपने वातावरण अथवा व्युत्पत्ति से; तृतीय, अपने लक्ष्य अथवा इच्छा शक्ति से[2]। शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धाम्तों के आदर्शों के अभिज्ञान के लिए यह जानना आवश्यक है कि उन्हें कौन-कौन संस्कार किन-किन स्रोतों से प्राप्त हुए थे।

समीक्षा-सिद्धान्तों के आदर्शों के संस्कारः—

जीवन-सिद्धान्त वाले अध्याय में हम दिखा चुके हैं कि शुक्ल जी को आनुवंशिक परम्परा से कवियों में तुलसी का संस्कार, आनुवंशिक विशेषता से लोक-धर्म के संस्कार, सांस्कृतिक आस्था में भारतीय संस्कृति के आत्म-तत्वों के संस्कार, व्युत्पत्ति से काव्य-रूपों में प्रबन्ध-काव्य को आदर्श काव्य मानने के संस्कार, समीक्षा-सिद्धान्तों में रस-सिद्धान्त को आदर्श मानने के संस्कार, युग के वातावरण से राष्ट्रीय भावनाओं के संस्कार प्राप्त हुए थे। विकास वाले अध्याय में यह दिखाया जा चुका है कि उन्हें अपने समीक्षक-जीवन के लक्ष्य से संस्कृत-

---

१—सभापति-अभिभाषण—लक्ष्मीनारायण सुधांशु—काशी ना० प्र० सभा, हीरक जयन्ती समारोह, साहित्य-विमर्श गोष्ठी, ६ मार्च १६५४.

2—Education. its data and first principle

By Sir percy Nunn P. 113, 187

समीक्षा की पृष्ठ-भूमि पर स्वतन्त्र-चिन्तन द्वारा हिन्दी-समीक्षा के पुनर्निर्माण का संस्कार प्राप्त हुआ था।

अब हमें उनकी समीक्षा-कृतियों के आधार पर यह देखना चाहिए कि उनके समीक्षा-कृतियों के आदर्श कहाँ तक उनके उपयुक्त संस्कारों के अनुकूल हैं। उन समीक्षा-कृतियों में उनके मूल-स्रोत क्या हैं, उनका स्वरूप कैसा है? इन आदर्शों का उनकी समीक्षा पर कैसा प्रभाव पड़ा है?

लोक-धर्म की भावना पैदा होने के पूर्व ही बालक शुक्ल जी पर अपनी दादी, पिता, आदि से शैशवास्था से ही मानस सुनने के कारण, रामलीला आदि देखने के कारण तुलसी का प्रभाव उनके कोमल चित्त पर गम्भीर कोटि का पड़ा[1]। वे ज्यों-ज्यों वय में बड़े होते गये त्यों त्यों उन्होंने जनता के ऊपर तुलसी का प्रभाव देखा। लोक-निरीक्षण, काव्य-अध्ययन, दार्शनिक-चिन्तन तथा मनन से ज्यों-ज्यों उनकी बुद्धि विकसित होती गई त्यों त्यों तुलसी उनकी बौद्धिक कसौटी पर बड़े सिद्ध होते गये। उन्होंने काव्य-सिद्धान्तों का ज्यों ज्यों गम्भीर अध्ययन किया, उनकी कसौटी पर भी तुलसी महान होते गये। अन्त-तोगत्वा उनकी आनुवंशिक परम्परा से प्राप्त संस्कार के अनुसार तुलसी उनके आदर्श कवि सिद्ध हुए। इस तथ्य का प्रमाण 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक उनकी कविता तथा 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक पुस्तक में विस्तार से मिलता है; प्रसंगानुकूल तुलनात्मक समीक्षा के अवसर पर 'सूरदास', 'जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका' 'तथा' 'इतिहास' में भी मिलता है, जहाँ वे तुलसी को इन दोनों कवियों से महान सिद्ध करते हैं। इनके मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक निबन्धों में भी विचारों के उदाहरण रूप में तुलसी के उद्धरणों को सबसे अधिक मात्रा में देखकर यह मानना पड़ता है कि वे तुलसी से सबसे अधिक प्रभावित थे, तुलसी उनके सर्वप्रिय कवि थे। उनकी विचारधारा का मूल उत्स तुलसीदास जी की कृतियों में है। अपने व्यावहारिक जीवन में भी वे तुलसी का उद्धरण सबसे अधिक देते थे[2]।

शुक्ल जी की कविताओं में उनकी आन्तरिक भावना के दर्शन होते हैं, अतः इस बात को कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि उनकी साहित्यिक विचार-धारा

१—साहित्य-संदेश--शुक्लांक—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–एक झांकी--पं० केशव-चन्द्र शुक्ल।

२—विद्यार्थी-जीवन में आचार्य शुक्ल के सम्पर्क में लेखक को रहने का अवसर मिला था। उस समय सामान्य दैनिक जीवन में तुलसी की कवितायें उनके मुख से बात में सुनने को मिलती थीं।

का मूल स्रोत उनकी कविताओं में मिलता है[१]। तुलसीदास शुक्ल जी के आदर्श कवि हैं, इस बात का प्रमाण उनकी 'गोस्वामी तुलसीदास और हिन्दू-जाति' नामक कविता में मिलता है।

"इतने में सुन पड़ी अतुलसी तुलसी की वर बानी।
जिसने भगवत्कला लोक के भीतर की पहचानी॥
शोभा, शक्ति, शीलमय प्रभु का रूप मनोहर प्यारा।
दिखा, लोक-जीवन के भीतर जिसने दिया सहारा॥
शक्ति बीज शुभ भव्य-भक्ति वह पाकर मंगलकारी।
मिटी खिन्नता, जीने की रुचि फिर कुछ जगी हमारी॥"

+ + +

उभय रूप में देते हैं जिसमें भगवान दिखाई।
वह प्राचीन भक्ति तुलसी से फिर से हमने पाई॥
यही भक्ति है जगत बीच जीना बतलाने वाली।
किसी जाति के जीवन की जो करती है रखवाली[२]॥

गोस्वामी तुलसीदास नामक पुस्तक में तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि होने का दावा[३] उन्होंने उनकी व्यापक काव्य दृष्टि, लोक-धर्म के सब पक्षों के सामञ्जस्य[४], शील-निरूपण के मनोवैज्ञानिक ढंग[५], वास्तविक जीवन-दशाओं एवं मानव सम्बन्धों की अनेक रूपता के चित्र[६], जीवन तथा साहित्य-समग्रता के सिद्धान्त के पालन[७], लोक-मंगल की साधनावस्थाओं के विविध चित्र[८], भारतीय संस्कृति की रक्षा के प्रयत्न[९], अखिल विश्व की स्थिति में सहायक तथा उसमें लोक-मंगल की ज्योति स्फुरित करने वाली, धर्म-अनुगामिनी भक्ति के पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति[१०], कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान तथा उनकी मार्मिक व्यंजना[११], प्रकृति-वर्णन में संश्लिष्ट योजना[१२], सभी रसों की

१— साहित्य-सन्देश जून १६४१ 'शुक्ल जी का कवि-हृदय' —डा० केशरीनारायण शुक्ल पृ० ४६१.

२— माधुरी, अगस्त १६२७.

३— गो० तुलसीदास पृ० १७५. ४— वही पृ० २२.

५— वही पृ० ११३. ६— वही पृ० ३२.

७— वही पृ० २८. ८— वही पृ० ८१,८२.

९— वही पृ० ३७. १०— वही पृ० ३,६.

११— वही पृ० ७६,८४. १२— गो० तुलसीदास पृ० १३७.

मर्यादापूर्ण मार्मिक अभिव्यक्ति, सर्वांगपूर्ण काव्य-कुशलता तथा प्रबन्ध पटुता के कारण किया[१]। सूरदास में तुलनात्मक समीक्षा के अवसरों पर[२] वर्ण्य-विस्तार वस्तु-विन्यास-विस्तार, वस्तु-गाम्भीर्य, लोकवृत्ति-विस्तार, लोक-संघर्ष-सम्बन्धी विविध व्यापार, जीवन की अनेक रूपता, भक्ति के सामाजिक स्वरूप, लोक मंगल की साधनावस्था के कारण शुक्ल जी ने तुलसी को सूर से अधिक महत्ता प्रदान की है।

इसी प्रकार जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका में तुलनात्मक समीक्षा के विविध अवसरों पर शुक्ल जी ने घटना-चक्र के भीतर जीवन-दशाओं तथा मानव सम्बन्धों की अनेक रूपता[३], मनुष्य-जीवन की भिन्न-भिन्न बहुत सी परिस्थितियों एवं सम्बन्धों के समन्वय[४], मनुष्य-हृदय की अधिक अवस्थाओं के सन्निवेश[५], लोक-वृत्ति-विस्तार[६], पूर्ण जीवन-गाथा[७], पात्रों की विविधता[८], मानव प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन[९], मानसिक अवस्थाओं के सूक्ष्म विश्लेषण[१०], सर्वांगपूर्ण आदर्श प्रतिष्ठा[११], प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णन[१२], सर्वांगपूर्ण काव्य-निरूपणता, प्रबन्ध पटुता[१३] आदि के कारण जायसी की तुलना में तुलसी को श्रेष्ठ ठहराया है।

उपर्युक्त तीनों समीक्षा-कृतियों में तुलसी-सम्बन्धी सामग्री के विवेचन से यह बात सिद्ध हो गयी कि तुलसीदास शुक्ल जी के आदर्श कवि हैं। तुलसी के काव्यादर्शों के संस्कार के आधार पर बनने वाले या उसके अनुकूल पड़ने वाले शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों के आदर्शों की स्पष्टता के लिए तुलसी के काव्य-सिद्धान्तों तथा उनके आदर्शों को जानना आवश्यक है।

तुलसी ने अपने युग के पंडितों में प्रचलित महाकाव्य के लक्षणों से अलग हट कर मानस का निर्माण किया। इसीलिए उसमें महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों का पालन पूर्णतः नहीं हुआ। जैसे, मानस में प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों में दी हुई सर्ग-संख्या का पालन नहीं है[१४]। तत्कालीन पंडित-कवियों में प्रचलित संस्कृत

१— गो० तुलसीदास, पृ० १७४.

२— सूरदास—शुक्ल जी पृ० १७२ से १७५ तक, २१२, २१३,

३— जा०ग्र० की भूमिका पृ० ६६. ४— जा०ग्र० की भूमिका पृ० २६.

५— वही पृ० ६१. ६— वही पृ० ८२.

७— वही पृ० २९. ८— वही पृ० ६६.

९— वही पृ० ६१. १०— वही पृ० ६१.

११— वही पृ० ११७. १२— वही पृ० ७६.

१३— वही पृ० २०२. १४— वही पृ०

१४—लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार महाकाव्य में अष्टाधिक सर्ग होने चाहिए किन्तु मानस में सात ही सर्ग हैं।

भाषा को महाकाव्य में न अपनाकर जन-भाषा को उन्होंने अपनाया है। इसमें उपयोगितावाद का सिद्धान्त छिपा हुआ है[1]। मानस का मंगलाचरण भी लक्षण-ग्रन्थों की अनुकरण की प्रवृत्ति के आधार पर नहीं है[2]। मानस के बालकाण्ड की काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी चौपाइयों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि आदि को काव्य-सर्व के रूप में स्वीकार नहीं किया, वरन् रस द्वारा सबके समन्वय को स्वीकार किया :—

"बिधु बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बरनारी॥
भनिति बिचित्र सुकवि कृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ॥
धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहुभाँती॥

बालकाण्ड में कविता-प्रक्रिया से सम्बन्ध रखने वाले अंश से यह विदित है कि तुलसी के काव्य-सिद्धान्तों का आदर्श रस ही है:—

"हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जो बरसइ बर बारि बिचारू। होहिं कवित मुकुता मनि चारू॥

किन्तु उस रस की परिधि अत्यन्त व्यापक है जिसमें विचार, कविसुक्ति, रामचरित आदि का भी समावेश हो गया है:—

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥

इधर शुक्ल जी भी रीतिवादी या अलंकारवादी नहीं हैं, वे शास्त्र-परम्परा से अलग हटकर स्वतन्त्र ढंग से रस का व्यापक स्वरूप ग्रहण करते हुए उसमें काव्य के अन्य तत्वों का समन्वय करते दिखाई पड़ते हैं[3]। शुक्ल जी का रसादर्श उनके समीक्षा-सिद्धान्तों का सबसे प्रमुख आदर्श है। इस प्रकार शुक्ल जी के व्यापक रसादर्श को तुलसी के समान व्यापक देखकर अनुमान लगाना सरल है कि इसके व्यापक स्वरूप के निर्माण का संस्कार भी उन्हें तुलसी से प्राप्त हुआ था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी, गोस्वामी तुलसीदास, नामक उनकी समीक्षा-कृति में वहाँ स्पष्ट रूप से मिलता है, जहाँ वे कृति के अर्थ एवं प्रभाव की प्रेषणीयता

१—का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए सांच। काम जो आवै कामरी काली करै कमांच।

२—लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार मंगलाचरण—नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक, या वस्तु निर्देशात्मक होना चाहिए। तुलसी के मंगलाचरण में नमस्कारात्मक एवं वस्तु-निर्देशात्मक दोनों का समन्वय है। मंगलाचरण में इष्टदेव, गुरु, ब्राह्मण तथा देवताओं की वन्दना होनी चाहिए किन्तु तुलसी ने सबकी वन्दना की है।

३—चतुर्थ-अध्याय (इसी प्रबन्ध का) रस-व्याप्ति पृ० २०४, २०५, २०७.

से सम्बन्ध रखनेवाली तुलसी की चौपाइयों को उद्धृत करके उनकी प्रशंसा निम्नांकित शब्दों में करते हैं:—

'गोस्वामी जी ने यद्यपि अपनी रचना स्वान्तःसुखाय बताई है पर वे कला की कृति के अर्थ और प्रभाव की प्रेषणीयता को बहुत ही आवश्यक मानते थे। किसी रचना का वही भाव जो कवि के हृदय में था यदि पाठक या श्रोता के हृदय तक न पहुँच सका तो ऐसी रचना कोई शोभा प्राप्त नहीं कर सकती[१]।' कहने की आवश्यकता नहीं कि कृति के अर्थ तथा प्रभाव की प्रेषणीयता का सम्बन्ध रस से है और इससे शुक्ल जी स्पष्ट रूप से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। शुक्ल जी के रसादर्श में तुलसी के प्रभाव बताने का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि वे अपने रसादर्श के निर्माण में अन्य कवियों, आचार्यों से प्रभावित नहीं हुए। मेरा कहना इतना ही है। कि शुक्ल जी को अपने रसादर्श का प्रथम संस्कार तुलसी से ही मिला।

आचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्री केशवचन्द्र शुक्ल का कहना है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल जी को अपने जीवन काल में जितनी शक्ति तथा शान्ति गोस्वामी जी की पावन निर्मल वाणी द्वारा प्राप्त हुई उतनी उन्हें और किसी भाव-भूमि में जाकर नहीं मिली[२]। उपर्युक्त उक्ति से निष्कर्ष यही निकला है कि शुक्ल जी को अपने आदर्शों के संस्कार जितनी अधिक संख्या में तुलसी से मिले उतने कहीं से नही मिले। इसका कारण यह है कि तुलसी का प्रभाव उनके हृदय पर उस समय पड़ा जब किसी के मन में आदर्शों के बीच अंकुरित होते हैं। आगे चल कर इन बीजभूत आदर्शों का निर्माण उनके अनेक प्रकार के अनुभवों से हुआ। शुक्ल जी के आदर्शों में लोक-धर्म का आदर्श सबसे प्रमुख है। इसी को आधार बनाकर उनके साहित्य तथा जीवन-सम्बन्धी अन्य आदर्श निर्मित हुए। इस लोक-धर्म के आदर्श के निर्माण में तुलसी के संस्कारों का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रमाण शुक्ल जी की तुलसी की व्यावहारिक आलोचना में लोक-धर्म के प्रभावशाली विस्तृत विवेचन से मिल जाता है। शुक्ल जी के लोकादर्शों के निर्माण में तुलसी के संस्कारों का विवेचन शुक्ल जी के जीवन-सिद्धान्त वाले अध्याय में हो चुका है[३]।

शुक्ल जी के समीक्षादर्शों में नीति और मर्यादा के आदर्शों का अलग नाम लेना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः ये आदर्श भी उनके प्रमुख आदर्श लोक-धर्म के साधक तत्व हैं। इनके निर्माण में भी तुलसी के संस्कार का पर्याप्त

१—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७९. २—साहित्य-संदेश, शुक्लांक, पृ० ३७०.

३—तृतीय अध्याय (इसी प्रबन्धका) पृ० ११८.

स्थान है। इसका प्रमाण तुलसी की आलोचना में वहां स्पष्ठ रूप से मिलता है जहां वे तुलसी के नीतिमूलक आदर्शों तथा मर्यादावाद का विवेचन बहुत ही प्रभावशाली ढंग से करते हैं [१]। शुक्ल जी अपने नीति एवं मर्यादा के आदर्शों में तुलसी से प्रभावित थे इसका दूसरा प्रमाण उनके नीतिवादी एवं मर्यादावादी जीवन से तथा सामान्य जीवन में यथा प्रसंग उनके द्वारा उद्धृत तुलसी की नीति-मूलक एवं मर्यादा सम्बन्धी उक्तियों से मिलता है जिनको वे नीति एवं मर्यादा के मानदण्ड रूप में उपस्थित करते थे।

आचार्य शुक्ल अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में शक्ति शील तथा सौन्दर्य के सामंजस्य के आदर्श पर दृष्टि रखते हैं जो सम्भवतः तुलसी के राम के शक्ति-शील जैसे सौन्दर्य-समन्वित आदर्श चरित्र की प्रेरणा से स्थापित हुआ है [२]। वस्तुतः यह आदर्श उनके लोक-धर्म का साधक आदर्श है [३]। वे जिस काव्य में इस सामंजस्य के आदर्श को जिस अनुपात से पाते हैं उसे वे उसी अनुपात से ही श्रेष्ठ काव्य और उसके रचयिता को श्रेष्ठ कवि मानते हैं। तुलसी ने अपने राम में इन तीनों के सामंजस्य को चरमावस्था तक पहुँचा दिया है [४]। अतः वे शुक्ल जी के अनुसार सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। सूर के कृष्ण में इन तीनों में से केवल एक की ही अत्यधिक व्यंजना दिखाई पड़ती है [५]। अतः वे सूर को तुलसी की अपेक्षा निम्न श्रेणी का कवि मानते हैं। इन तीनों गुणों द्वारा भगवान् के अन्तः तथा बाह्य—दोनों सौन्दर्यों का परिचय मिलता है। शील मन का गुण है; शक्ति शरीर का, पर अगोचर और सौन्दर्य शरीर का ही, पर गोचर। भगवान के अन्तः तथा बाह्य सौन्दर्य भक्तों के लिए परमाकर्षण के विषय रहते हैं। ये ही उनकी भक्ति के आधार हैं। भगवान प्रेम एवं श्रद्धा के पात्र इन्हीं गुणों के कारण होते हैं। अतः शुक्ल जी ने भक्ति के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को दृष्टि में रखकर इस आदर्श का प्रतिपादन किया है जो तुलसी के राम में पूर्णतः विद्यमान है।

आचार्य शुक्ल का सगुणोपासना का आदर्श उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं, हिन्दी-साहित्य का इतिहास तथा कुछ मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में अभिव्यक्त हुआ है। इन उपर्युक्त ग्रन्थों में यथावसर उनकी दृष्टि निर्गुणमार्गियों की अपेक्षा सगुण-मार्गियों की ओर सदैव अधिक झुकी हुई है [६]। यहां भी आचार्य शुक्ल की दृष्टि लोक पक्ष पर ही है क्योंकि सगुण भक्ति में

१—गो० तुलसीदास, पृ० १७, ७१' २—गो० तुलसीदास, पृ० ११.
३— वही पृ० ५४. ४— वही पृ० ५२.
५—सूरदास-शुक्ल जी, पृ० १७४, ६—हि० सा० का इति०, पृ० १५५, और गो० तुलसीदास, पृ० ६, और चि० प० भाग—५४.

जन साधारण के लिए आराध्य के आश्रय द्वारा महत्व की प्राप्ति सुगम हो जाती है[१] तथा धर्म में प्रवृत्त होने का मार्ग सरल हो जाता है[२]। तुलसी की भक्ति का आदर्श भी सगुणोपासना है और उस सगुणोपासना में लोक-धर्म का सन्निवेश है। इन्होंने भी स्थान स्थान पर निर्गुणियों को खूब फटकारा है[३]। दोनों की तुलना करने पर यह विदित होता है कि आचार्य शुक्ल का सगुणोपासना का आदर्श, उसका महत्व प्रतिपादन तथा निर्गुणवादियों का खण्डन तुलसी के तत्वसम्बन्धी विचार से प्रभावित है।

आचार्य शुक्ल की समीक्षाओं में प्रेम का आदर्श अत्यन्त व्यापक कोटि का दिखाई पड़ता है। प्रेम के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक कोटि की है। वे उसी प्रेम को आदर्श मानते हैं जो स्वाभाविक है और जिसकी सीमा में अधिक से अधिक लोग आ सकते हैं। वे संकुचित या एकांगी प्रेम का समर्थन करते हुए कहीं नहीं दिखाई पड़ते[४]। उन्होंने जायसी तथा सूर ऐसे दो कवियों पर स्वतन्त्र आलोचनायें लिखी हैं जो प्रधानतः प्रेम के कवि हैं। वे जायसी तथा सूर के प्रेम-वर्णन में ऐकान्तिकता तथा तुलसी के प्रेम-वर्णन में व्यापकता पाकर सूर तथा जायसी की अपेक्षा तुलसी की प्रेम-धारणा को श्रेष्ठ समझते हैं[५]। इसी प्रकार वे रीतिकालीन कवियों के संकुचित वासनात्मक प्रेम का समर्थन नहीं करते[६]। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेम सम्बन्धी उनका आदर्श भी लोक-धर्म के अनुसार है तथा उसका साधक तत्व है। प्रेम की इस व्यापक धारणा के बनाने में वे तुलसी से बहुत दूर तक प्रभावित हैं। यहां स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी आदर्श के निर्माण में आलोचक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व काम करता है, उसके परम्परागत या अर्जित संस्कार केवल आदर्शों के चयन में सहयोग देते हैं। अतः शुक्ल जी के प्रमुख समीक्षादर्शों—रसादर्श तथा लोकादर्श के निर्माण में केवल तुलसी के ही प्रभाव को श्रेय नहीं दिया जा सकता।

वस्तुवादी आदर्श—

साहित्य के प्रति शुक्ल जी का दृष्टिकोण मूलतः वस्तुवादी है। जगत के वास्तविक दृश्य तथा जीवन की वास्तविक दशाओं के चित्रण एवं भावों की व्यंजना में वास्तविकता का आधार शुक्ल जी की आलोचना का मूल सूत्र[७]।

१–चि० प० भाग, पृ० ४७. २–चि० प० भाग पृ० ५४.

३–हम लखि, लखहिं हमार लखि, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखे, रामनाम जपु नीच॥—दोहावली.

४–गो० तुलसीदास, पृ० ६२. ५–गो० तुलसीदास, पृ० ८६.

६– वही, पृ० ६८ ,८९ ७–रस-मीमांसा, पृ० ८,३०,११०,११२,१२२,१६७

शुक्ल जी का दावा है कि भारतीय कवियों की मूल प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर ही रही है[१]। वे भारतीय कवियों में तुलसी का स्थान प्रथम श्रेणी के कवियों में रखते हैं। अतएव उनकी दृष्टि में तुलसी की कविता भी वास्तविकता की ओर झुकी हुई है। अपनी समीक्षा-कृति 'गोस्वामी तुलसीदास' में तुलसी की दृष्टि वास्तविक जीवन-दशाओं के मार्मिक पक्षों के उद्घाटन की ओर पाकर उन्होंने स्थान-स्थान पर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है[२]। और तुलसी को हिन्दी का सर्व श्रेष्ठ कवि मानने में इसे भी एक प्रसिद्ध कारण माना है। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि शुक्ल जी की समीक्षा के वस्तुवादी आदर्श में तुलसी का संस्कार समाहित है। आगे चलकर यही संस्कार एडिसन के कल्पना के आनन्द तथा शैण्ड, एडमण्ड आदि के मनोवैज्ञानिक ग्रन्थों के अध्ययन से पुष्ट होकर उनकी समीक्षा को वस्तुवादी आदर्श की ओर ले आने में समर्थ हुआ। अब यह देखना चाहिए कि इस वस्तुवादी आदर्श का उनकी समीक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा। वस्तुवादी दृष्टि रखने के कारण ही शुक्ल जी वर्ण्य की महत्ता पर बल देते हैं, भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला और सबसे आवश्यक काम मानते हैं; सौन्दर्य को व्यक्तिनिष्ठ से अधिक वस्तुनिष्ठ समझते हैं तथा इस मानव-जीवन में सुख, शान्ति एवं प्रकाश वर्षा करना कविता का मुख्य उद्देश्य मानते हैं[३]।

सहृदय विषयक उनका दृष्टिकोण भी उनके वस्तुवादी आदर्श के आधार पर बना है[४]। शुक्ल जी के अनुसार साहित्य से प्रभावित होने की शक्ति उनमें होती है। जिनमें मूर्ति विधान अथवा बिंब ग्रहण की क्षमता होती है। जो लोक-साहित्य से प्रभावित नहीं होते उनके अन्तःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्त्ति-विधान नहीं होता जो भावों को परिचालित करता है[५] वस्तुवादी आदर्श अपनाने के कारण ही वे रसानुभूति को प्रत्यक्ष अनुभूति का उदात्त या अवदात्त स्वरूप कहते; हैं सच्चेकवियों द्वारा अंकित वस्तु-व्यापार-योजना को इसी जगत की मानते हैं; उनकी भावानुभूति का आधार प्रत्यक्ष जीवन समझते हैं; साहित्य क्षेत्र से अध्यात्म एवं अलौकिक शब्द निकाल देने की चर्चा करते हैं[६]। रस को मनोमय कोष से ऊपर या आगे की वस्तु नहीं मानते[७]; इस जगत की वस्तु सत्ता से सम्बन्ध न रखने वाले साहित्यवादों—निर्गुणवाद, रहस्यवाद, रीतिवाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद आदि का घोर खण्डन करते हैं।

१—गो० तुलसीदास, पृ० ६७. २— वही पृ० ६६.
३—इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय, पृ० २५०,२५१ ४—रस-मीमांसा पृ० २६२, २८२.
५—चि० प० भाग पृ० २२०. ६—चिन्तामणि प० भाग, पृ० २०६.
७—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ३७.

शुक्ल जी अपने वस्तुवादी आदर्श के अनुसार साहित्य-निर्माण में प्रयुक्त मानसिक प्रक्रिया की व्याख्या भी वस्तुवादी ढंग से करते हैं[१] । उनके ज्ञान-शास्त्र में मनुष्य का मन वाह्य जगत का ही प्रतिबिम्ब है । वह रूप-गति हीन नहीं; रूप गति का संघात है[२] । उनका मत है कि हम सबको अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है[३]; जो चिन्तन और विचार अरूप लगते हैं उनका आधार भी रूपमय जीवन ही है; मनुष्य अपनी सुविधा के लिए ही संकेतों से काम लेता है । लेकिन हर संकेत इस रूपमय जगत या उसके मानसिक प्रतिबिम्ब की ओर ही होता है। भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे[४] । इस प्रकार के मानसिक रूप-विधान का नाम ही कल्पना है । शुक्ल जी की दृष्टि में संसार-सागर की रूप तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है । सौन्दर्य, माधुर्य, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि की भावनाएँ वाहरी रूपों और व्यापारों से ही निष्पन्न हुई हैं। हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलम्बन बाहर ही के हैं; इसी के चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत के हैं[५] । साधारणीकरण की स्थिति में सहृदय स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के सामान्यीकृत रूप का आस्वादन भी इसी जगत की वस्तुओं, दृश्यों तथा व्यक्तियों के अनुभव के आधार पर करता है[६] । कहने की आवश्कता नहीं कि शुक्ल जी के उपर्युक्त विचार साहित्य-निर्माण तथा आस्वादन में प्रयुक्त मानसिक प्रक्रिया की वस्तुवादी व्याख्या तथा समीक्षा सम्बन्धी उनके वस्तुवादी आदर्श को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं ।

प्रबन्ध काव्य का आदर्शः—

काव्य रूपों में शुक्ल जी काव्य के प्रबन्ध रूप को आदर्श मानते हैं[७] । यह आदर्श उनकी तुलसी, सूर तथा जायसी की व्यावहारिक आलोचनाओं, हिन्दी-साहित्य के इतिहास तथा अभिभाषण आदि में अभिव्यक्त हुआ है[८] । इस

१—इसी प्रबन्ध क चतुर्थ अध्याय काव्य-प्रक्रिया, पृ० २३६, २४०.

२—चि० प० भाग, पृ० २२५.   ३— वही पृ० २२५.

४—काव्य में रह०, पृ० ११२.   ५—चि० प० भाग, पृ० ३२६.

६—चि० प० भाग, पृ० २२१.   ७—जा० ग्र० की भूमिका पृ० २०२.

८—जा० ग्र० की भूमिका पृ० ६७, सूरदास पृ० १७१, १४२, तुलसीदास पृ० ६७,
७८: हि० सा० का इति० पृ० २७५, और अभिभाषण पृ० ७९

आदर्श के निर्माण में भी तुलसी के काव्य-संस्कारों का यथेष्ठ प्रभाव पड़ा है। आचार्य शुक्ल काव्य में जीवन की अनेकरूपता, रस की गहरी अनुभूति, लोक-धर्म के विविध प्रकार के सौन्दर्य, लोक-मंगल की साधना, वस्था मानव-जीवन के—यथा सम्भव पूर्ण कलात्मक चित्र, काव्य के वस्तुवादी आदर्श, साहित्य-समग्रता को यथासम्भव उपस्थित करने वाले कलात्मक काव्य रूप, काव्य के स्थायी प्रभाव, शक्ति, शील तथा सौन्दर्य के सामजस्य को उपस्थित करने वाले शील-निरूपण के सिद्धान्त तथा कर्म-क्षेत्र के विरोधी सौन्दर्यों के सामंजस्य के विशेष पक्षपाती थे[१]। जीवन तथा काव्य के उपर्युक्त सभी पक्षों की अभिव्यक्ति उनकी दृष्टि में प्रबन्ध काव्य में ही सम्भव थी[२]। अतः प्रबन्ध काव्य को आदर्श काव्य-रूप मानना उनके लिए युक्तियुक्त ही था और उनके अन्य सभी समीक्षा दर्शों के संबंध-निर्वाह की दृष्टि से भी यही उचित एवं तार्किक था। आचार्य शुक्ल में अपने आदर्शों के प्रति कितनी निष्ठा एवं सचाई थी इसका प्रमाण उनके विभिन्न आदर्शों में व्याप्त अन्विति से लग जाता है। अब यह देखना चाहिये कि उनके इस समीक्षादर्श का प्रभाव उनकी समीक्षा पर किस रूप में पड़ा? उनके प्रमुख आलोचना-सिद्धान्त प्रबन्ध काव्य को देखकर निर्मित हुए। सैद्धान्तिक समीक्षा में उन्होंने प्रबन्ध काव्य को मुक्तक की तुलना में सदैव उच्चतर माना, व्यावहारिक समीक्षा में उन्होंने प्रबन्धकार कवि को मुक्तककार की अपेक्षा उच्चतर घोषित किया[३]। इस आदर्श के प्रति अनन्य रहने के कारण वे जायसी को कबीर से श्रेष्ठतर तथा तुलसी को सूर से उच्चतर सिद्ध करते हैं तथा रीतिकालीन मुक्तककार कवियों एवं आधुनिक युग के प्रगीतकार छायावादी कवियों का मूल्यांकन सहानुभूति पूर्ण ढंग से नहीं कर पाते। इनकी दृष्टि में संसार के सबसे बड़े बड़े कवि—वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी, दान्ते, मिल्टन, होमर, शेली आदि प्रबन्ध रचना लिखने वाले ही रहे हैं। इसी कारण वे प्रबन्धकार कवि को पूर्ण तथा सच्चा कवि मानते हैं[४]। वे काव्य-कला की पूरी रमणीयता की अभिव्यक्ति, कई प्रकार के सौन्दर्यों का मेल, सभी काव्य-तत्वों के उचित समीकरण की सम्भावना प्रबन्ध काव्य में सिद्ध करते हैं[५]।

लोकधर्म का आदर्श—

इस अध्याय में पीछे शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों के आदर्शों के ऊपर पड़े हुए तुलसी के संस्कारों के प्रभावों के विवेचन के समय यह बताया जा चुका

१—इसी प्र० का चतुर्थ अध्याय, २—जा० ग्र० की भूमिका, पृ० ६६ से ६८ और २०२.

३—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६७४—जा०ग्र० की भूमिका, पृ० २०२.

५—चि०प० भाग, पृ० २६९, ३०१.

है कि उनके समीक्षादर्शों में जीवन की दृष्टि से उनका प्रमुख आदर्श लोक-धर्म का आदर्श निहित था, साथ ही उसी प्रसंग में इस बात का भी उल्लेख हो चुका है कि उसके निर्माण में तुलसी का प्रभाव बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। शुक्ल जी के लोकादर्श के स्वरूप तथा उसके निर्माण में तुलसी के अतिरिक्त अन्य सहायक संस्कारों का विवेचन जीवन-सिद्धान्त वाले अध्याय में हो चुका है। इस अध्याय में तथा अन्यत्र भी शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों के आदर्शों में लोकादर्श की प्रमुखता का प्रमाण भी यथेष्ठ मात्रा में दिया जा चुका है। अतः इस अवसर पर उनकी समीक्षा पर लोकादर्श के प्रभाव का ही उल्लेख किया जायगा।

लोक धर्म का आदर्श मानने के कारण समीक्षक शुक्ल की मूल दृष्टि में एकदेशीयता या एकांगिता नहीं आई; उनके समीक्षा-स्वरूप में संकीर्णता का प्रवेश नहीं हुआ[1]; उनके समीक्षा-विवेचन में वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, आर्थिक, धार्मिक आदि मूल्य विश्लिष्ट नहीं हुए, उनकी साहित्य-धारणा में किसान-साहित्य, मजदूर-साहित्य, मध्यवर्गीय साहित्य, सामन्तवादी साहित्य आदि नामों से साहित्य के टुकड़े नहीं हुए।

लोक-धर्म को आदर्श बनाने के कारण शुक्ल जी की समीक्षा लोक कल्याण[2] राष्ट्र-निर्माण[3], संस्कृति-पूर्णता के सच्चे प्रयत्न[4], साहित्य-विकास[5], जीवन-विकास[6] आदि की प्रेरणा से परिचालित हुई, लोकादर्श जनित उच्च विचारों को अपनाने के कारण ही वह अहं तृप्ति के पूर्वग्रहों से ग्रसित नहीं हुई; अपने राग-द्वेष की तृप्ति के लिए किसी कवि अथवा वाद के खण्डन-मण्डन की ओर उन्मुख नहीं हुई; किसी वाद अथवा दल के दलदल में नहीं फंसी; केवल यशोपलब्धि, पाण्डित्य-प्रदर्शन अथवा द्रव्योपार्जन की दृष्टि से नहीं लिखी गई।

लोक-धर्म को आदर्श मानने के कारण ही उन्होंने साहित्य तथा जीवन की व्याख्या लोक-धर्म की विशद भूमि पर की[7]; साहित्य तथा जीवन में मंगल की प्रतिष्ठा लोक-धर्म द्वारा सम्भव बतलाई[8]: काव्य की परिभाषा, लक्षण, धर्म तथा विशेषताओं का निरूपण लोक-धर्म के आधार पर किया[9], काव्य-साधना

१—हिं०सा०:बीसवीं शताब्दी, पृ० ६३.
२—चिं०प० भाग, पृ० २१६.
३—चिं०प० भाग, पृ० २६२ से २६४.
४—का० में रह० पृ० १४८,१४६.
५—काव्य में रहस्यवाद, पृ० १५१.
६—चिं० प० भाग, पृ० ३५६,३६०.
७—काव्य में रहस्यवाद, पृ० १,२,५.
८—चिं०प० भाग, पृ० २२८.
६—रस-मीमांसा, पृ० ६,१०४.

का उद्देश्य लोक का प्रतिनिधि बनना बतलाया[१], काव्य का संबन्ध वैयक्तिक वासना-तृप्ति से स्थापित न करके, लोक-धर्म की स्थापना में समर्थ सांस्कृतिक प्रवृत्तियों तथा निवृत्तियों से स्थापित किया[२], सच्चे कवि की कसौटी लोक-धर्म की व्यंजना मानी[३], काव्य का आदर्श लौकिक शिवत्व की प्राप्ति की प्रेरणा बतलाया; लोक-जीवन को उठाने वाले साहित्य को श्रेष्ठ कहा; काव्य को लोक-व्यवहार का साधक माना[४]; साहित्य की लौकिकता पर सर्वाधिक बल दिया[५]; लोक-जीवन से सम्बन्ध न रखने वाले अथवा उसके परे ले जाने वाले साहित्य-वादों का खण्डन किया; युग के लोक-धर्म के प्रतिकूल पड़ने वाली पुरानी प्रवृत्तियों, परम्पराओं, प्रथाओं का खण्डन किया; लोक-धर्म से विमुख करने वाली नवीन मनोवृत्तियों का खण्डन किया, अपने मनोविकार सम्बन्धी तथा अन्य साहित्यिक निबन्धों में उस युग की शिक्षा, धर्म, न्याय, सभ्यता, शिष्टता, वाणिज्य, राजनीति, साहित्य आदि की समस्याओं का समाधान लोक-धर्म के आधार पर किया। अपने प्रसिद्ध समीक्षा-सिद्धान्त रस का सम्पूर्ण विवेचन रस-मीमांसा में लोक-धर्म की भूमि पर प्रतिष्ठित किया।

क्षात्र धर्म को ब्राह्मण-धर्म से श्रेष्ठ सिद्ध करने में, राज-धर्म, सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा, वर्णाश्रम सिद्धान्त, सगुणोपासना, मर्यादावाद, नीतिवाद आदि के समर्थन में, अन्य काव्य-रूपों की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य-रूप को श्रेष्ठ सिद्ध करने में, तथा छायावाद, रहस्यवाद, रीतिवाद, अलंकारवाद, वक्रोक्तिवाद, कलावाद अभिव्यंजनावाद, संवेदनावाद, हालावाद, प्रतीकवाद, अन्तश्चेतनावाद, व्यक्तिवैचित्र्यवाद आदि के खण्डन में लोक-धर्म सम्बन्धी उनकी युक्तियां प्रमुख रूप से दिखाई पड़ती हैं।

अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में शुक्ल जी ने लोक-धर्म के आदर्श को अपनाने के कारण लोक-धर्म की अनुपाततः अधिक या न्यून प्रेरणा देने वाले कवियों को उसी अनुपात से महानता की विभिन्न श्रेणियों में रखा; लोक-धर्म को सर्वाधिक मात्रा में अपनाने वाले कवि तथा युग को सर्वश्रेष्ठ कहा[६]। लोक-धर्म से उदासीन रहने वाले रीतिवादी तथा रहस्यवादी कवियों से सहानुभूति स्थापित नहीं की; हिन्दी-साहित्य के इतिहास में युगों का विभाजन लोक की प्रमुख प्रवृत्तियों के अनुसार किया तथा कवियों की प्रसिद्धि को तत्कालीन जन-रुचि की प्रतिध्वनि माना।

१—चि० प० भाग, पृ० ७. २—रस-मीमांसा, पृ० ६.
३—चि०प० भाग, पृ० ३०८. ४—चि०प० भाग, पृ० २१४ से २१७
५—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ३७.
६—हि० सा० का इति० पृ० ७१, २१७, गो० तुलसीदास, पृ० १७५.

रसादर्शः—

समीक्षा-सिद्धान्तों में शुक्ल जी का आदर्श रस-सिद्धान्त में दिखाई पड़ता है किन्तु उनके द्वारा निरूपित रस का स्वरूप लक्षण-ग्रन्थों की रस-निरूपण की सीमित परम्परा से आबद्ध नहीं है, उससे बहुत विस्तृत है जिसके भीतर आधाराधेय भाव से स्थायी भाव विभावानुभाव संचारी के अतिरिक्त युग की परिस्थितियां, सांस्कृतिक-तत्व, दार्शनिक तथ्य, विचार, प्रभाव आदि का भी समावेश हो जाता है। इसका विस्तृत विवेचन समीक्षा-सिद्धान्तों के निरूपण तथा विकास वाले अध्याय में हो चुका है। रसादर्श को अपनाने का प्रमाण रस-मीमांसा, चिन्तामणि के मनोविकार सम्बन्धी तथा अन्य साहित्यिक निबन्धों, हिन्दी-साहित्य के इतिहास, तुलसी, जायसी, सूर आदि की व्यावहारिक समीक्षाओं, रहस्यवाद, छायावाद आदि के विवेचन में प्रत्यक्ष रूप में बहुत स्पष्ट ढंग से मिल चुका है और इसका उल्लेख इसके पहले सप्रमाण कई बार हो चुका है। अतः पुनरुक्ति से बचने के लिए उन प्रमाणों की आवृत्ति यहां नहीं की जायगी। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि शुक्ल जी ने रस-सिद्धान्तों के आदर्श को अपनाया क्यों? उस प्रश्न के उत्तर में निम्नलिखित कारण मिलते हैं:—

१—शुक्ल जी के सर्वप्रमुख आदर्श लोक-धर्म के आदर्शों की अनुकूलता रसादर्श में ही मिलती थी।

२—शुक्ल जी समन्वय के आदर्श को लेकर जीवन तथा साहित्य दोनों में चलते थे[1]। काव्य के देशी तथा विदेशी सभी तत्वों तथा सिद्धान्तो को समन्वित करने की क्षमता रस-सिद्धान्त में ही थी।

३—शुक्ल जी की समीक्षा का मूल मंत्र उनके वस्तुवादिता के आदर्श में निहित है। काव्यको वास्तविक जीवनकी पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता इसी में थी।

४—साहित्य तथा जीवन दोनों पक्षों में शुक्ल जी का दृष्टिकोण मानवतावादी कोटि का था। रस-सिद्धान्त अभेद या मानवतावाद के सिद्धान्त पर अवलंबित है[2]। उन्होंने रस-सिद्धान्त को मानवतावाद के अनुकूल पड़ने के कारण अपनाया।

५—रस जीवन के आनन्द स्वरूप को लेकर चलता है[3] इस प्रकार वह साहित्य तथा जीवन के उच्च से उच्च प्रयोजनों के अनुकूल पड़ता था।

१—चि० प० भाग, पृ० २०७. २—चि० प० भाग, पृ० २२४.

३—चि० प० भाग, पृ० २९१.

६—आचार्य शुक्ल काव्य का मुख्य कार्य बिम्बग्रहण कराना मानते थे। बिम्ब जब होगा तब विशेष व्यक्ति का ही होगा[१]। विभाव का चित्रण रस की व्यंजना तथा बिम्ब-ग्रहण दोनों में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार कविता के मुख्य कार्य के अनुकूल पड़ने के कारण उन्होंने रसादर्श को अपनाया।

शुक्ल जी के रसादर्श-ग्रहण के कारणों के पश्चात् अब उसके स्वरूप पर संक्षेप में विचार करना चाहिए। उनके रसादर्श का स्वरूप बहुत कुछ रस-व्याप्ति तथा रस-स्वरूप के विवेचन में स्पष्ट हो चुका है। यहां विषय-विश्लेषण की अन्विति की रक्षा की दृष्टि से इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह अशेष सृष्टि से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करनेवाला[२], सर्वभूतको आत्मभूत कराने वाला[३], भेदसे अभेद की ओर ले जाने वाला[४], समग्र जीवन-व्यापिनी त्रिकालवर्तिनी विश्वात्मक भाव-सत्ता से सम्बन्ध रखने वाला[५], मनुष्यता की उच्चभूमियों का दर्शन कराने वाला[६], लोक-हृदय की सामान्य अन्तर्भूमियों की झांकी दिखाने वाला[७], जगत का सच्चा प्रतिनिधि बनाने वाला[८] तथा मानव मात्रमें व्याप्त एक गुप्त तार की झंकार सुनाने वाला है[९]। संक्षेप में शुक्ल जी का रसादर्श उपनिषदों का 'रसो वै स:' ही था, किन्तु उपनिषदों में वह आध्यात्मिक सत्ता के लिए प्रयुक्त हुआ था। शुक्ल जी ने उसे लोक-व्यापी त्रिकालवर्तिनी अभेद भाव-सत्ता के लिए प्रयुक्त किया। इस रसादर्श द्वारा प्राप्त अभेद सत्ता के बल पर उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम ही नहीं वरन् विश्व-साहित्य, विश्व-संस्कृति एवं विश्व-दर्शन की एकता को सिद्ध किया तथा बलपूर्वक यह बताया कि रसादर्श को अपनाने से सभी साहित्य मानतावादी कोटि के हो सकते हैं।

शुक्ल जी के रसादर्श का लक्ष्य था—रस पद्धति का पुनर्निर्माण करके उसे सार्वभौम समीक्षा-पद्धति के पद पर आसीन करना[१०]। इसके लिए उन्होंने रस की परिभाषा विश्वात्मक भूमि पर की, उसके प्रत्येक तत्व का विश्लेषण मनोविज्ञान की सहायता से विश्व-व्यापी जीवन की भूमिका पर प्रस्तुत किया, उसका स्वरूप विश्वात्मक कोटि का बतलाया, उसकी व्याप्ति को बहुत ही विस्तृत किया,

---

१—चि० प० भाग, पृ० ३१०. २—अभिभाषण पृ० ७०.
३—रस-मीमांसा, पृ० ११५ ४—त्रि० प० भाग, पृ० ३२४.
५—अभिभाषण, पृ० ५०. ६—चि० प० भाग, पृ० २१९.
७—चि० प० भाग, पृ० ३२३. ८—चि० प० भाग, पृ० ७.
९—जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० २.
१०—काव्य में रह०, पृ० १५१, अभिभाषण पृ० ८३.

उसकी नींव को बहुत गहरी किया, उसकी प्रक्रिया को साधारणीकरण के सिद्धांत द्वारा स्पष्ट करके उसे सार्वभौम रूप दिया[१]। इसके भीतर नये अनुभवों, नये विषयों के समावेश का मार्ग बताया, इसके परिष्कार तथा प्रसार का पथ-प्रदर्शन किया[२], उसके भीतर भारतीय तथा योरोपीय साहित्य के विभिन्न तत्वों तथा सिद्धान्तों का संश्लेषण किया, प्रत्येक साहित्य-रूप का उसके अनुसार निर्माण किया तथा उसे प्रत्येक साहित्य-रूप की समीक्षा में प्रयोग करने का मार्ग बताया[३]।

अब देखना यह चाहिये कि शुक्ल जी के सैद्धान्तिक विवेचन तथा व्यवहारिक समीक्षा पर उनके रसादर्श का क्या प्रभाव पड़ा। रस-मीमांसा तथा चिन्तामणि में उन्होंने साहित्य के विविध रूपों, तत्वों, सिद्धान्तों, वादों आदि की परिभाषा प्रयोजन, हेतु, प्रकृति, कार्य, लक्षण, विशेषता, स्वरूप, आवश्यकता, व्याप्ति, महत्ता आदि पर रसादर्श की दृष्टि से विचार किया है[४]। शुक्ल जी ने अपने रस-दर्शन द्वारा समीक्षा के विभिन्न सिद्धांतों—अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, कल्पना, चिन्तन, अनुभूति आदि की शास्त्र-जड़ी-भूत परिभाषा तथा व्याख्या छोड़कर इनकी सामाजिक व्याख्या की तथा युगादर्श एवं उसकी आवश्यकता के अनुरूप इनका विश्लेषण करके साहित्य-मीमांसा को जीवन-मीमांसा के साथ प्रस्तुत किया[५]। रसादर्श के आधार पर ही उन्हें प्रकृति में, प्रत्यक्ष जीवन में, अतीत की भावात्मक स्मृतियों में, प्राचीन ऐतिहासिक खंडहरों तथा भग्नावशेष स्थलों में रस की सत्ता सिद्ध करने में सफलता मिली। यदि रसादर्श का ज्ञान उन्हें सम्यक् कोटि का न होता तो वे मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों के साहित्यिक एवं सामाजिक विवेचन में समर्थ न होते तथा कविता को सामाजिक शक्ति के रूप में ग्रहण करने में सफल न होते।

आचार्य शुक्ल की सैद्धान्तिक समीक्षा उनके रसादर्श के अनुकूल है। यह चतुर्थ अध्याय में विस्तार से बताया जा चुका है। यहाँ विषय-विवेचन की एक-सूत्रता की रक्षा के लिये उनके द्वारा निरूपित कविता की परिभाषा, उसका कार्य, साध्य, कवि-कर्म-कसौटी तथा अमर काव्य-लक्षण सूत्र-रूप में उनकी सैद्धांतिक समीक्षा की रसादर्श-अनुकूलता सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये जायँगे। शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा तथा निर्वाह में समर्थ बनाने

१—इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय, २—काव्य में रह० पृ० १५१

३—इसी प्रबंध का चतुर्थ अध्याय

४—इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय काव्य-दर्शन सम्बन्धी अंश पृ० २३२ से २५४. तक

५—इसी प्रबन्धका चतुर्थ अध्याय, अंग सिद्धान्त विवेचन सम्बन्धी अंश,

वाली साधना के रूप में कविता की परिभाषा[1], मनुष्य के हृदय को उसके स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाने के रूप में कविता का कार्य-निरूपण[2], मनुष्य को उसके व्यक्तिगत संकुचित घेरे से निकाल कर उसे विश्वव्यापिनी, त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करने के रूप में कविता का लक्ष्य—कथन[3], सच्ची मनुष्यता की सिद्धि-रूप में कविता का साध्य-निरूपण[4] उनके रसादर्श के अनुसार है। शुक्ल जी द्वारा निरूपित कवि-कर्म की कसौटी भी उनके रसादर्श के आधार पर ही बनी है। विभाव एवं भाव पक्ष की परस्परानुकूलता से रसादर्श के शास्त्रीय पक्ष की सिद्धि होती है। इधर शुक्ल जी भी विभाव एवं भाव-पक्ष की परस्परानुकूलता को कवि-कर्म के साफल्य की कसौटी मानते हैं[5]। इसी कसौटी को लेकर उन्होंने यह दिखाया है कि सूर का विभाव पक्ष यद्यपि सीमित है तथापि वह अपनी सीमा में पूर्ण है और वह उनके भाव-पक्ष के सर्वथा अनुकूल है[6]। शुक्ल जी के अनुसार अमर काव्य का लक्षण है—दीर्घकालव्यापिनी भावात्मक सत्ता में योग देना, केवल एक काल-व्यापिनी भावात्मक सत्ता की अनुभूति में नहीं। उनकी दृष्टि में अमर काव्य में मनुष्य मात्र अपने भावों का आलम्बन पाते हैं, उससे मानव मात्र की रागात्मिका वृत्ति का सामंजस्य हो जाता है[7]। यहां स्मरण रखना चाहिए की दीर्घकालव्यापिनी भावात्मक सत्ता ही उनके रसादर्श का निर्माण करती है। इस प्रकार उनके द्वारा निरूपित अमर-काव्य का लक्षण भी उनके रसादर्श के अनुसार है। शुक्ल जी ने जहां एक ओर साहित्य के विभिन्न रूपों का निर्माण रसादर्श के अनुकूल किया वहां दूसरी ओर रसादर्श के विरुद्ध पड़ने वाले साहित्य के विभिन्न वादों—रीतिवाद, अलंकारवाद, वक्रोक्तिवाद, व्यक्तिवैचित्र्यवाद, कलावाद, अन्तश्चेतनावाद, बुद्धिवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, प्रतीकवाद, संवेदनावाद, मूर्तविधानवाद आदि का खण्डन किया। तुलसी, सूर तथा जायसी के ऊपर लिखी हुई व्यावहारिक समीक्षायें तथा हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनके द्वारा प्रस्तुत की हुई विविध कवियों तथा लेखकों की समीक्षायें उनके रसादर्श के आधार पर हैं।

१—अभिभाषण, पृ०—७०.

२—चिं० प० भाग, पृ०—१९३.

३—अभिभाषण, पृ०—५०.

४—चिं० प० भाग, पृ०—२१९.

५-६—भ्रमरगीतसार की भूमिका, पृ०—४,५.

७—रस-मीमांसा, पृ०—२७.

सांस्कृतिक आदर्श—

शुक्ल जी के समीक्षादर्शों में उनके सांस्कृतिक आदर्श का बहुत ही महत्व-पूर्ण स्थान है। इस संस्कार का बीज उन्हें आनुवंशिक विशेषता[१] तथा वाता-वरण[२] से मिला। वह तुलसी के संस्कारों से अंकुरित हुआ, दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन, संस्कृत तथा हिन्दी के कतिपय कवियों के अनुशीलन तथा साहित्य-शास्त्र के चिन्तन से पल्लवित हुआ, युग-प्रेरणा तथा आवश्यकता से विकसित हुआ। इसलिए उनको यह विश्वास हो गया कि जो जाति अपने पूर्वजों द्वारा उपार्जित उदात्त वस्तुओं तथा विचारों में गौरवपूर्ण आस्था नहीं रखती वह अभिमान के साथ याद करने योग्य कोई वस्तु उपार्जित नहीं कर सकती, उसमें स्वतन्त्र चिन्तन, स्वतन्त्र व्यक्तित्व, स्वतन्त्र कोटि की कला अथवा साहित्य का विकास नहीं हो सकता। अब देखना यह चाहिए कि उनकी कृतियाँ उनकी उपर्युक्त सांस्कृतिक आस्था को प्रमाणित करने में कहां तक समर्थ हैं। शुक्ल जी का प्रथम निबन्ध 'भारतवासियों का पुराना पहिरावा[३]' इस बात को प्रमाणित करने में पूर्ण समर्थ है कि आरम्भ से ही उनके मस्तिष्क में भारतीय संस्कृति के प्रति एक गौरवपूर्ण आस्था थी। उनके विचारों, मतों एवं धारणाओं की सच्ची अभिव्यक्ति करने वाली उनकी कवितायें भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी सच्ची निष्ठा तथा आधुनिक अथवा पश्चिमी संस्कृति के प्रति अरुचि को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं। उदाहरणार्थ हृदय के मधुर भार से कुछ कवितायें उद्धृत की जाती हैं:—

> भौतिक उन्मादग्रस्त योरप पड़ा है जहा,
> वहीं तेरे चोंचले ये मन बहलयेंगे।
> आज अति श्रम से शिथिल जो विराम हेतु,
> आकुल हैं उसको ये टोटके सुलायेंगे।
> हम अब उठना हैं चाहते जगत बीच,
> भारत की भारतो की शक्ति को जगायेंगे।

१—साहित्य-संदेश—शुक्लांक – पं० रामचन्द्र शुक्ल : जीवन परिचय—श्यामसुन्दरदास पृ० ३६७.

२—पंडित श्री विन्ध्य जी की मधुर सरस वाणी।
भारत की भारती की ज्योति को जगाती है॥—हृदय का मधुर भार।

३—सरस्वती १९०२ ई० भाग, ३, सं० १२, पृ० ३७१.

उपर्युक्त कविता में भारतीय संस्कृति की शक्ति में शुक्ल जी के विश्वास तथा योरोपीय संस्कृति के प्रति उनकी अरुचि तथा रहस्यवादी कविताओं के खण्डन की प्रवृत्ति की झलक मिलती है। हिन्दू जाति के प्राचीन पर्वों एवं उत्सवों तथा उनके सामाजिक स्वरूप के प्रति उनके हृदय में सच्ची निष्ठा थी। इसलिए उनके सामाजिक स्वरूप को नष्ट होते देख कर उनका हृदय भग्न हो जाता था। यह तथ्य नीचे की कविता से स्पष्ट होता है:—

पर्व और उत्सव-प्रवाह में प्रमोद कान्ति,
सादी मिली जुली साथ में थी खुली खेलती।
आज वह छिन्न भिन्न होके कुछ लोगों की ही,
कोठरी में लुकी छिपी कारागार झेलती।
भद्रता हमारी कोरी भिन्नता का बाना धर,
खिन्नता से बहुतों से दूर हमें ठेलती।
हिलमिल एक में करोड़ों की उमंगें अब,
जीवन में सुख की तरंगे नहीं रेलती।

गोस्वामी जी में उनकी अगाध श्रद्धा थी। उनका दृढ़ विश्वास था कि गोस्वामी जी का सांस्कृतिक आदर्श हमारी आधुनिक सांस्कृतिक समस्या को भी हल कर सकता है। उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि वे अपने जीवन के अन्तिम दिनों में चित्रकूट वास करें और रामचरितमानस की सच्ची व्याख्या कुछ अधिकारियों में करें। उनका कहना था कि यह व्याख्या कथावाचकों के समान मनमानी न होगी[1]। शुक्ल जी के ऊपर गोस्वामी तुलसीदास के संस्कार तथा भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा का रहस्य उनके इस विश्वास में निहित है कि हिन्दू-जाति के उद्धार का मार्ग राममय होने में है। 'गोस्वामी तुलसीदास और हिन्दू जाति शीर्षक उनकी कविता इस बात को प्रमाणित करने में पूर्ण समर्थ है[2]।

प्रभु की लोकरंजिनी छवि पर जब तक भक्ति रहेगी।
तब तक गिर गिर कर उठने की शक्ति हममें रहेगी।
रंजन करना साधु-जनों का, दुष्टों को दहलाना।
दोनों रूप लोकरक्षा के हैं, यह भूल न जाना।

१—साहित्य-संदेश—जून १९४१. शुक्ल जी का कवि-हृदय-डा० केसरीनारायण शुक्ल

२—माधुरी-१९२७ अगस्त।

उभय रूप में देते हैं जिसमें भगवान दिखाई।

वह प्राचीन भक्ति तुलसी से फिर से हमने पाई ॥

हिन्दी-साहित्य का इतिहास अनेक स्थलों पर[१] उनकी भारतीय संस्कृति के प्रति गौरवपूर्ण निष्ठा को व्यक्त करने में समर्थ है। शुक्ल जी के अनुसार भक्ति-काल को स्वर्ण काल बनाने में यह भी एक प्रमुख तथ्य है कि भारतीय संस्कृति की चेतना के प्रतीक राम और कृष्ण को आलम्बन बना कर भक्त कवियों ने संस्कृत के कठघरे में बन्द भारतीय संस्कृति को जन-भाषा में रखकर सर्व सुलभ कर दिया[२]। उन्होंने भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति से उदासीन रहने वाले रीतिवादी कवियों से कभी सहानुभूति स्थापित नहीं की। सूफी कवियों के काव्यों की यत्किंचित प्रशंसा उन्होंने जो की वह इसलिए कि उन कवियों ने हिन्दू कहानियों में मुसलमानों के जीवन की सामान्य दशाओं तथा सूफी-सिद्धान्तों को दिखाकर हिन्दू संस्कृति की व्यापकता को सिद्ध किया[३]। इतिहास के आधुनिक काल में उन्होंने हिन्दी-साहित्य की गति-विधि को अपनी संस्कृति की प्रवहमान परम्परा के अनुकूल रखने का प्रयत्न किया है। योरोप के साहित्यिक वादों में छिपे सत्-सिद्धान्तों को ग्रहण करने के लिए तैयार रहने पर भी उन्होंने उनमें निहित उन प्रवृत्तियों तथा प्रभावों को ग्रहण नहीं किया जो अपनी संस्कृति की विकासमान परम्परा के प्रतिकूल पड़ते थे। रस के भीतर मानव-जीवन की त्रिकालवर्तिनी विश्वात्मकता को सिद्ध करते हुए उन्होंने प्रकारान्तर से भारतीय संस्कृति में विश्व-संस्कृति होने की क्षमता को सिद्ध किया। भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी गौरवपूर्ण आस्था का स्पष्ट प्रमाण वहां मिलता है जहां वे अपने देश के सांस्कृतिक रूप को देशप्रेम का आलम्बन मानते हुए दिखाई पड़ते हैं[४] तथा यह बलपूर्वक बताते हुए, दिखाई पड़ते हैं कि देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से ही सच्ची देश-भक्ति या देश प्रेम की स्थापना होती है, जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी सांस्कृतिक विशेषता के बल पर अपनी जाति को स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता वह देश-प्रेम का सच्चा दावा नहीं कर सकता। अपने स्वरूप को भूल कर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख-समृद्धि प्राप्त की तो क्या, क्योंकि उन्होंने उदात्त वृत्तियों को उत्तेजित करने वाली बंधी बंधाई परम्परा से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया, नई

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २१९, ६११.

२— वही पृ० १९५.

३—जा० ग्र० की भूमिका, पृ० २.

४— रस-मीमांसा, पृ० १९१.

उभरी हुई इतिहास-शून्य जंगली जातियों में अपना नाम लिखवा लिया। फिलीपाइन द्वीप वासियों से उनकी मर्यादा कुछ अधिक नहीं[1]। शुक्ल जी के उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो गई कि जिस व्यक्ति में अपने सांस्कृतिक जीवन के प्रति निष्ठा नहीं, जो उसका आचरण नहीं करता, वह मौलिक दृष्टि से वैभवशाली होते हुए भी जंगली है, असभ्य है।

उनकी कृतियों में भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा का प्रमाण देखने के पश्चात् अब यह देखना चाहिये कि उनके सांस्कृतिक समीक्षादर्श का स्वरूप क्या है? भारतीय संस्कृति के आत्म-तत्वों—लोक-धर्म, सगुणोपासना, वर्णाश्रम-व्यवस्था आदि की युग के अनुरूप व्याख्या करके उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व की रक्षा करना, उनकी समीक्षा का प्रथम सांस्कृतिक आदर्श बना। अपने साहित्यिक निबन्धों तथा 'गोस्वामी तुलसीदास' पुस्तक में उन्होंने भारतीय संस्कृति के आत्म तत्वों की व्याख्या यथा प्रसंग अनेक स्थलों पर की है। भारतीय संस्कृति का चिन्मय स्वरूप, उसकी विचार-निधियाँ, उसके भाव-रत्न हिन्दी-साहित्य के कवियों तथा लेखकों के माध्यम से व्यक्त हुए थे। शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास-प्रणयन द्वारा उनको सुरक्षित करने का प्रयत्न किया। उनकी कृतियों में भारतीय संस्कृति के स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा का प्रयत्न वहां व्यक्त हुआ है जहाँ विदेशी संस्कृतियों की तुलना में उन्होंने भारतीय संस्कृति की व्यापकता एवं उदात्तता की सराहना की है[2], उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की रक्षा में योगदान देने वाले कवियों तथा लेखकों की प्रशंसा की है[3]; जहाँ उन्होंने साहित्य को उस देश के निवासियों के स्वतन्त्र जीवन-रूप की रक्षा का माध्यम माना है, जहाँ उन्होंने प्राचीन तथा नवीन के समन्वय में एक ही अखण्ड परम्परा के प्रसार के ऊपर बल दिया है[4]। शुक्ल जी ने बलपूर्वक यह बात कई अवसरों पर कही है कि हमारे साहित्यशास्त्र का एक स्वतंत्र रूप है[5] उसके विकास की क्षमता एवं प्रणाली भी स्वतन्त्र है; उसके विकसित रूप को जब हम सूक्ष्मता से पहचान लेंगे तभी दूसरों के साहित्य के स्वतंत्र पर्यालोचन द्वारा अपने साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का विधान कर सकेंगे। हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं[1]। साहित्य-शास्त्र अथवा साहित्यिक दृष्टि वस्तुतः सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का एक मार्ग

१—रस-मीमांसा, पृ० १५१, २—चिं० प० भाग, पृ० ५२,५४,५६,५७.

३—गो०तुलसीदास, पृ० ३६, ३७. ४—साहित्य-सन्देश, शुक्लांक, साहित्य की परिभाषा-आचार्य शुक्ल पृ० ३६४.

५—अभिभाषण, पृ० १०४. काव्य में रह०, पृ० १४८.

६—काव्य में रह०, पृ०

है। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि वे साहित्य-शास्त्र की स्वतन्त्रता की रक्षा पर बल देते हुये प्रकारान्तर से संस्कृति की स्वतन्त्र चेतना की रक्षा पर भी बल देना चाहते हैं।

किसी देश की संस्कृति सहस्रों वर्षों की समीक्षा से बनती है। समीक्षा-शक्ति में दोष उत्पन्न होने पर संस्कृति का पतन आरम्भ हो जाता है। उसके बाह्य स्वरूप की उपासना होने लगती है[1], उसके आत्मतत्वों के ऊपर अनेक आवरण चढ़ जाते हैं; समीक्षा-दृष्टि के अभाव में उसकी व्याख्या मनमाने ढंग से होने लगती है। विशेषत: किसी देश के पराधीन होने पर शासक वर्ग सर्वप्रथम उस देश के निवासियों में उनकी संस्कृति के प्रति अनास्था, अविश्वास तथा हीन भावना उत्पन्न करना चाहता है। यदि शताब्दियों तक पराधीन रहने का दुर्भाग्य किसी देश को मिला तो वहाँ के निवासियों में अपनी संस्कृति के प्रति अनादर एवं अविश्वास सम्बन्धी हीनता की भावनायें आ जाती हैं। वे लोग अपने शासकों की संस्कृति को उच्च समझ उसे अपनाने का प्रयत्न करने लगते हैं, संस्कृति के संक्रान्ति काल में सदैव जीवन के मूल्यों, आदर्शों, मान्यताओं, सिद्धांतों में संक्रमण होता आया है। ऐसे समय में सामान्न साहित्यकार, कवि, पाठक तथा समीक्षक प्राय: सभी भ्रममें पड़ जाते हैं। जो भ्रम में नहीं पड़ते उनमें से कुछ जीवन की प्रगति अथवा अगति का बिना विचार किये ही रूढ़ियों की उपासना अथवा परम्परा की अन्ध-भक्ति में संस्कृति-रक्षा का दम्भ भरने लगते हैं और कुछ अपने देश की परिस्थिति, रुचि, समस्या आदि पर सम्यक् ध्यान दिये बिना ही पर संस्कृति के अन्धानुकरण में प्रगति का दावा करने लगते हैं। ऐसे समय में समीक्षा का आदर्श संस्कृति का पुनरुत्थान करके उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की रक्षा करते हुये उसे देशके विकास के अनुकूल बनाना रहता है। आचार्य शुक्ल का आगमन हिन्दी समीक्षा जगत में संस्कृतियों के ऐसे ही संक्रान्ति काल में हुआ। उनके सामने साहित्यकारों, पाठकों, समीक्षकों की वैसी ही स्थिति थी जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसलिए उन्होंने आर्नोल्ड[2] के समान अपनी समीक्षा का सांस्कृतिक आदर्श अपने देश की संस्कृति का पुनरुत्थान बनाया। प्रसाद के समान शुक्ल जी का भी विश्वास था कि किसी देश या जाति की संस्कृति उस देश की प्राकृतिक दशा, जलवायु, उपज आदि तत्वों के आधार पर सहस्रों वर्षों की तपस्या के पश्चात् बनती है। इसकी कसौटियों तथा आत्मतत्वों का निर्माण उन क्षणों में होता है जब वह जाति सभ्यता तथा दर्शन के उच्चतम शिखर पर

१—संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, पृ० १२.

2—Making of literature P. 269.

रहती है। युग की आवश्यकतानुसार उसके आवरण, अभिव्यक्ति के स्वरूप तथा गौण-सिद्धान्तों में परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु उसके शाश्वत मूल्य तथा सिद्धांत अपरिवर्तनीय होते हैं। अतः उस देश या जातिका कल्याण उसी संस्कृति को अपनाने में है। शुक्ल जी संस्कृति का अर्थ परम्परा की अन्धभक्ति, पुरातनता के प्रति आग्रह नहीं लेते। ऐसा अर्थ लेने से उनकी दृष्टि से संस्कृति का विकास रुक जायगा, साहित्य अगतिगामी हो जायगा। वे सिद्धान्ततः विकासवाद को मानते हैं। इसलिए जगत की गति के अनुरूप संस्कृति के विकास में भी विश्वास करते हैं; किन्तु संस्कृति के विकास में प्राचीन एवं नवीन का ऐसा समन्वय चाहते हैं जिसमें अपनी संस्कृति के मौलिक प्राथमिक सिद्धान्त दूसरी संस्कृतियों के तत्वों, सिद्धान्तों को अपने सांचे में ढालकर ग्रहण करें जिससे उसके भीतर प्राचीन के साथ नवीन का इस मात्रा में और इस सफाई के साथ मेल होता चले कि उसके दीर्घ इतिहास में कालगत विभिन्नताओं के रहते हुए भी यहां से वहां तक एक ही वस्तु के प्रकार की प्रतीति हो[1]। इस प्रकार शुक्ल जी की समीक्षा का दूसरा सांस्कृतिक आदर्श था भारतीय संस्कृति की प्रवहमान परम्परा को पकड़कर प्राचीन और नवीन का समन्वय इस प्रकार से करना जिससे यहां से वहां तक एक अन्विति दिखाई पड़े तथा वह युग के अनुकूल राष्ट्रोपयोगी हो, जिससे वह कवि, पाठक तथा समीक्षक सबको प्रगतिमान आदर्श-दृष्टि प्रदान कर सके।

शुक्ल जी की समीक्षा का तीसरा सांस्कृतिक आदर्श था— राष्ट्र के तत्कालीन जीवन को पूर्णता की ओर उन्मुख करना। इसलिए अपने मनोविकार सम्बन्धी निबंधों में उन्होंने देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुसार जनता की चित्तवृत्तियों को जीवन के सभी,सामयिक प्रश्नों, समस्याओं की ओर आकृष्ट करते हुए लोकधर्म के ग्रहण में उनका समाधान बताकर उसे समग्र जीवन के पक्षों की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार इनका सांस्कृतिक आदर्श जनता के जीवन को अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाने वाला सिद्ध होता है।

शुक्ल जी की समीक्षा का चौथा सांस्कृतिक आदर्श कवियों, पाठकों एवं समीक्षकों में स्वाभिमान तथा सम्मान की भावना भरना था। इस आदर्श से स्वयं शुक्ल जी को हिन्दी-समीक्षा में स्वतन्त्र व्यक्तित्व पैदा करने के कार्य तथा राष्ट्रीयता के भावों को सदैव सजग रखने में बड़ी प्रेरणा तथा बल मिला। किसी व्यक्ति में वास्तविक कोटि के सांस्कृतिक स्वाभिमान का ठीक विकास तब होता है जब एक ओर वह व्यक्ति अपने ही रूढ़िवाद का विरोध करे और दूसरी

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६६.

ओर उसकी विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीयता के विचारों से जुड़ी हो, तीसरी ओर वह अन्तर्राष्ट्रीय विचारों को अपनाते हुए भी दूसरों के अन्धानुकरण को अपमान की वस्तु समझे तथा चौथे अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं के प्रति उसमें सच्ची निष्ठा हो[१]। आचार्य शुक्ल में उपर्युक्त चारों बातें पाई जाती हैं। एक ओर उन्होंने रूढ़िवाद का निरोध किया, दूसरी ओर उन्होंने भारतीय संस्कृति की मूल चेतना—स्वतन्त्र भावना से भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन को अनुबन्धित करते हुए उसे विश्व-साम्राज्य विरोधी आन्दोलन का एक अंग बताया तथा तीसरी ओर भारतीय संस्कृति के मूल तत्व[२] लोक-धर्म का ऐसा विशद स्वरूप निरूपित किया जिसमें सारी मानवता के मंगल का विधान हो सकता है। उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता का दूसरा प्रमाण यह है कि वे पश्चिम के कलावादियों, निराशावादियों, रहस्यवादियों आदि का विरोध करते हुए भी शैन्डके भाव-विवेचन की प्रशंसा ही नहीं करते वरन् उसकी बहुत सी बातें भी ग्रहण करते हैं[३], रिचर्ड एवं रस्किन के नैतिक पक्ष तथा वर्ड्सवर्थ के लोक-धर्म की सराहना करते हैं, शेली की क्रान्तिकारी चेतना की प्रशंसा करते हैं तथा बर्न्स की सच्ची रोमांटिक भावधारा से सन्देश ग्रहण करने पर बल देते हैं[४]।

दूसरों के अन्धानुकरण को अपमान की वस्तु समझने के कारण शुक्ल जी ने हर बात में यूरोप की नकल का विरोध किया है तथा उनके रूपों को लेकर रूपवान बनने के बदले अपने जीवन एवं समीक्षा के स्वतन्त्र स्वरूप के विकास पर बल दिया है[५]। पश्चिम के वादों का अध्ययन हम किस प्रकार करें, इस विषय में उन्होंने लिखा है:—"यदि हमें वर्तमान जगत के बीच से अपना रास्ता निकालना है तो वहां के अनेक वादों और प्रवृत्तियों तथा उन्हें उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का पूरा परिचय हमें होना चाहिए। उन वादों की चर्चा अच्छी तरह हो, उन पर पूरा विचार हो और उनके भीतर जो थोड़ा बहुत सत्य छिपा हो उसका ध्यान अपने साहित्य के विकास में रखा जाय[६]।" उपर्युक्त सांस्कृतिक प्रवृत्ति के कारण शुक्ल जी की समीक्षा गुण संग्रह तथा अवगुण त्याग सम्बन्धी बौद्धिक आदर्श तथा सचाई से सदैव संयुक्त रही।

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना-डा० रामविलास शर्मा, पृ० २१५.

२— हि० सा० का इति०, पृ० ७१६.

३—रस-मीमांसा, पृ० १७०, १७५, १७८, १९८, २११. २१२,

४—हि० सा० का इति०. पृ० ६०१.

५— वही पृ० ५९१, ६४०,

६—काव्य में रहस्यवाद, पृ० १५१,

शुक्ल जी ने अन्यत्र भी लिखा है कि हिन्दी का अपना जीवन है, अपनी विशेषतायें हैं, इन्हें समझे बिना कोई हिन्दी-लेखक नहीं बन सकता। इसीलिए उन्होंने ऐसे लोगों को फटकारा है जो हिन्दी लेखक या विद्वान होने की अपेक्षा अंग्रेजी, संस्कृत या अरबी, फारसी का विद्वान कहलाने में अधिक गौरव समझते थे[1]। इस प्रकार विलायती वादों की अंधाधुन्ध नकल करने वालों की उन्होंने भरपेट निंदा की है, उन्हें मस्तिष्क की दृष्टि से दिवालिया सिद्ध किया है, उन्हें हिन्दी साहित्योपवन में गड़बड़ी मचानेवाला, कूड़ा करकट फैलाने वाला कहा है[2]।

अब यह देखना चाहिए कि उपर्युक्त सांस्कृतिक आदर्शों का उनकी समीक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा ?

समीक्षक को सांस्कृतिक व्यक्ति के रूप में जीवन के सभी पक्षों पर दृष्टि रखना चाहिए अर्थात् समग्र जीवन को पकड़कर चलना चाहिए। इस तथ्य को भली भांति समझने के कारण शुक्ल जी ने समग्र जीवन को आत्मसात करने वाले लोक-धर्म को अपनी समीक्षा के संदेश-रूप में सर्वत्र प्रस्तुत किया। लोक-धर्म को संदेश रूप में ग्रहण करने के कारण उनके विविध अंग धर्मों—गृह-धर्म कुल-धर्म, समाज-धर्म, वर्णाश्रम-धर्म, विश्व-धर्म, सगुणोपासना आदि की तत्कालीन समाज की आवश्यकतानुसार व्याख्या उपस्थित की जिससे पाठक, कवि, समीक्षक सभी अपने देश की उदात्ततम विचारधाराओं से परिचित होकर स्वतन्त्र स्वरूप में आस्था एवं विश्वास रखें, उससे प्रेरणा ग्रहण करें तथा राष्ट्र की आत्मा से सच्चा प्रेम करें। इस प्रकार उनकी समीक्षा सांस्कृतिक स्वरूप को अपनाकर चली।

संस्कृति के विकासवादी व्यापक स्वरूप को अपना कर चलने से शुक्ल जी की समीक्षा सदा समन्वय के व्यापक सिद्धान्तों को आदर्श बनाकर चली[3]। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने सर्वत्र सत्-पक्ष का संग्रह किया[4], इससे उनकी समीक्षा एकांगिता, एकदेशीयता, एककालीनता के दोषों से बच गई[5], भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्व-लोक-धर्म से निकले हुए रस-सिद्धान्त को मूल-सिद्धान्त मानने से उनकी समीक्षा मानव की त्रिकाल वर्तिनी विश्वव्यापिनी भाव सत्ता पर प्रतिष्ठित हुई। वह राष्ट्रीय होते हुए अन्तर्राष्ट्रीय भी बन गई। भारतीय संस्कृति के प्रति सच्ची निष्ठा रखने के कारण शुक्ल जी की समीक्षा तत्सम्बन्धी नीति एवं मर्यादा के

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ५३८. २— वही पृ० ६४०,६४१.

३— वही पृ० ४१६. ६४१. ४— वही पृ० ५११.

५— वही पृ० ६३०,

तत्वों से सदा मर्यादित रही; क्षण क्षण में बदलने वाले फैशन के ढंग पर उठे हुए विदेशी वादों के भ्रमजाल में वह नहीं फँसी[1]। सांस्कृतिक जीवन की पूर्णता को प्रमुख उद्देश्य बनाने से वह अर्थोपार्जन, यशसिद्धि आदि हीन कोटि की स्वार्थ-दृष्टियों से मुक्त रही। भारतीय संस्कृति के प्रति गौरव पूर्ण आस्था रखने तथा युग के अनुकूल उसका पुनरुत्थान करने के कारण शुक्ल जी की समीक्षा अपने समाज सम्बन्धी दायित्वों के सम्पादन में सदैव सजग रही।

अपनी संस्कृति के प्रति सच्ची निष्ठा का ही यह फल है कि शुक्ल जी ने हिन्दी गद्य के विकास[2], हिन्दी के आधुनिक साहित्य-रूपों—निबन्ध, कहानी, उपन्यास, गद्यगीत, आलोचना, प्रगीत आदि की उत्पत्ति तथा विकास को अंग्रेजी राज्य का प्रसाद अथवा अंग्रेजी साहित्य का अन्धानुकरण न मानकर यहीं की सामाजिक परिस्थितियों, आवश्यकताओं एवं समस्याओं का परिणाम माना[3], तथा प्रत्येक साहित्य-रूप को अपनी संस्कृति की मूल चेतना लोक धर्म से अनुप्राणित कर उसमें स्वतन्त्र व्यक्तित्व भरने का प्रयत्न किया तथा भारतीय संस्कृति की प्रकृति के विरुद्ध पड़ने वाले साहित्य-वादों—मार्क्सवाद, अन्तश्चेतनावाद, हालावाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद, रहस्यवाद आदि का खण्डन किया।

भारतीय संस्कृति के प्रति सच्ची निष्ठा रखने तथा उससे ओत प्रोत होने के कारण शील के प्रति इनके हृदय में विशेष श्रद्धा थी[4]। इसी कारण वे समीक्षा में शील-निरुपण के सिद्धान्त के ग्रहण तथा उसके महत्व प्रतिपादन में समर्थ हुए। भारतीय संस्कृति के प्रमुख गुणों—नीति, मर्यादा, लोक-धर्म आदि से ओत-प्रोत होने के कारण उनकी समीक्षा का स्वरूप सदैव गम्भीर कोटि का रहा। भारतीय संस्कृति के प्रति सच्ची आस्था का ही यह प्रसाद था कि उन्होंने भारतीय संस्कृति को सर्वांगरूप में प्रतिष्ठित करने वाले अवतारिक पुरुषों राम और कृष्ण को सर्वाधिक श्रद्धा-दृष्टि से देखा[5] तथा उसके प्रचार में सर्वाधिक समर्थ कवि को सर्वोपरि स्थान दिया, उन पर सच्ची भक्ति से कविता लिखने वाले कवियों की प्रशंसा की तथा उस युग को हिन्दी-साहित्य का स्वर्णिम काल कहा तथा उसमें व्यक्त भारतीय संस्कृति को समादर की दृष्टि से देखा।

राष्ट्रीय आदर्श—

सांस्कृतिक संस्कार तथा युग के वातावरण से शुक्ल जी को राष्ट्रीय भावनाओं के संस्कार प्राप्त हुए जिससे उनकी समीक्षा का राष्ट्रीय आदर्श निर्मित

१–हि० सा० का इतिहास पृ० ६४०, २– वही पृ० ४४८, ४५०.
३– वही पृ० ५९१, ४–चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ३७.
५– वही पृ० २६.

हुआ। उनकी समीक्षा के राष्ट्रीय आदर्श के स्वरूप को समझने के लिए उसके मूलस्रोत, उनकी समीक्षा-कृतियों के आधार पर उसकी प्रामाणिकता तथा उनकी समीक्षाओं में अभिव्यक्त उसके स्वरूप तथा उनकी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षाओं पर उसके प्रभाव पर विचार करना चाहिए। पूर्व विवेचित सांस्कृतिक संस्कारों के कारण शुक्ल जी के हृदय में जातीय सम्मान सांस्कृतिक स्वाभिमान तथा निज साहित्य एवं भाषा के प्रति अभिमान कूट-कूट कर भर गया था। एक पराधीन देश में जातीय एवं सांस्कृतिक सम्मान की भावना, अपने साहित्य एवं भाषा के स्वतन्त्र-व्यक्तित्व के समर्थन का विचार एक क्रान्तिकारी विचार-धारा थी, जिसने अपनी भाषा, साहित्य, संस्कृति एवं जातीय विशेषताओं की रक्षा के लिए शुक्ल जी के हृदय में विदेशी शासकों के अत्याचार, अन्याय के विरुद्ध लिखने की प्रेरणा भरी। किसी युग के वातावरण के भीतर उस युग की विभिन्न परिस्थितियां, प्रवृत्तियां, घटनायें, संस्थायें, प्रसिद्ध व्यक्ति, समस्यायें आदि आती हैं, जिनसे किसी समीक्षक का मन प्रेरणा-ग्रहण करने में समर्थ होता है। उन्माद एवं विकृति की झलक उत्पन्न करने वाली मशीन-युग की भौतिक परि-स्थिति; शोषण, अन्याय, तथा अत्याचारों से भरी राजनीतिक परिस्थिति; स्वार्थ की होड़ एवं विषमता से भरी आर्थिक परिस्थिति, मनोवेग वर्जित, सचाई से रहित तथा स्वार्थ सनी नैतिक परिस्थिति; उदात्त वृत्तियों से रहित तथा व्यव-सायिक वृत्ति से भरी शैक्षणिक परिस्थिति तथा नाना प्रकार की विषमताओं तथा भेदों से भरी, अभिमान से सनी, लोक-धर्म-रहित सामाजिक परिस्थितियों ने आचार्य शुक्ल के हृदय में इन परिस्थितियों के मूल कारण—अंग्रेजी शासन के विरुद्ध क्रान्तिकारी भावना उत्पन्न कर दी थी। उपर्युक्त परिस्थितियों से उद्भूत गहरी विषमताओं से देश का जीवन-प्रवाह क्षीण तथा अशक्त हो रहा था। लोक-धर्म के सच्चे अनुयायी शुक्ल जी का हृदय राष्ट्र को निर्बल करने वाली उप-र्युक्त परिस्थितियों से करुणार्द्र हो उठा। इसका उल्लेख 'भारत और वसन्त'[1] नामक कविता में मिलता है। उपर्युक्त परिस्थितियों से प्राप्त उक्त प्रेरणा का उल्लेख 'कविता क्या है' नामक निबन्ध में वहां मिलता है जहां वे यह कहते हैं कि जब जीवन-प्रवाह क्षीण और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है, तब नई शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है, जिसके वेग की उच्छृं-खलता के सामने बहुत कुछ ध्वंस भी होता है पर इस उच्छृंखलता का वेग जीवन या जगत का नित्य स्वरूप नहीं है। उनकी दृष्टि में क्रान्ति कुछ समय के लिए विषमता मिटाने के लिए, नये निर्माण के लिए आवश्यक होती है[2], पर वह

१—आनन्द कादम्बिनी सं० १९६२—ज्येष्ठ वैशाख माला ६.

२—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० २१२.   ३—रस-मीमांसा, पृ० ५६.

जीवन का नित्य स्वरूप नहीं बन सकती। लेकिन वह क्यों अनिवार्य होती है; इसे शुक्ल जी ने बहुत स्पष्ट बता दिया है। क्षोभ अर्थात् क्रान्ति जब नये निर्माण के लिए आवश्यक होती है तब उसकी भीषणता भी सुन्दर होती है। अन्यत्र शुक्ल जी कहते हैं कि लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोक-मंगल और लोक-रंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी की यह क्रान्तिकारी भावना उनके राष्ट्रीय आदर्शों की मूल जननी सिद्ध हुई है।

शुक्ल जी के युग में अंग्रेजी शासन की पूंजीवादी प्रवृत्ति ने स्वार्थ की होड़ पैदा कर दी थी। इसके परिणाम स्वरूप समाज में "जीवो जीवस्य जीवनम्" "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का सिद्धान्त चल रहा था। इसलिए मनुष्य अपने स्वार्थ क्षेत्र के बाहर अपने भावों का प्रसार नहीं कर पाता था। आचार्य शुक्ल 'जीवो जीवस्य जीवनम्' को जंगल का नियम मानते थे[1]। जिस समाज में यह नियम लागू हो, वह सभ्य समाज कहलाने का अधिकारी नहीं, वह मनुष्यता की स्थिति तक पहुंचा हुआ नहीं है। ऐसे समाज में मनुष्य की चेतना अवरुद्ध एवं कुंठित हो जाती है। अतः अपने लोक-धर्म के सिद्धान्तानुसार मनुष्यता की रक्षा के लिए ऐसे जंगली शासन के उन्मूलन की प्रेरणा शुक्ल जी अपने युग में प्राप्त कर रहे थे। इसीलिए उन्होंने गान्धी जी की अहिंसात्मक नीति एवं निष्क्रिय प्रतिरोध का कई स्थानों पर खण्डन किया है[2]।

अंग्रेजी शासन पूंजीवादी एवं सामन्तवादी वृत्ति पर टिका हुआ था, जिसकी नैतिकता का आधार संकुचित स्वार्थ वृत्ति थी जिसमें 'केवल अपने सुख से रहो तथा दूसरों को मरने दो' का आदर्श प्रधान रूप से समाया था। यह प्रवृत्ति तथा यह आदर्श शुक्ल जी के लोक-धर्म के आदर्श के विरुद्ध पड़ता था। इसलिए उन्हें अंग्रेजी शासन की बुराइयों के विरुद्ध स्पष्ट रूपसे लिखने की प्रेरणा मिली। इस प्रेरणा का संकेत भाव या मनोविकार नामक निबन्ध में वहां मिलता है जहां वे उस शासक-वर्ग का उल्लेख करते हैं जो भावों का उपयोग अपनी रक्षा और स्वार्थ वृद्धि के लिए कर रहा था[3]।

अंग्रेजी शासन देश में महाजनी सभ्यता की वृत्ति को उत्पन्न कर प्रेम, न्याय, शिक्षा, धर्म आदि को पैसे की तुला पर देखने की प्रवृत्ति पैदा कर रहा था। पारिवारिक जीवन, अदालत, दफ्तर, शिक्षालय कोई भी क्षेत्र इस

१—चि० प० भाग, पृ० ५१, २— वही पृ० ३,४,५,७,६,१०,११.

३— वही पृ० ५, ६.

व्यावसायिक सभ्यता के आक्रमण से अछूता नहीं बचा था। इस प्रकार मानव सम्बन्ध, गृह-धर्म, कुल-धर्म, समाज-धर्म, सदाचार, शिक्षा आदि के मूल्यों को नष्ट होते देख कर उनकी रक्षा के हेतु उस समय शुक्ल जी जैसे भारतीय विचारक का अतीत-गौरव तथा प्राचीन संस्कृति से राष्ट्रीय प्रेरणा ग्रहण करना स्वाभाविक था। इस प्रेरणा का संकेत 'हृदय के मधुर भार' 'भारत और बसन्त' तथा 'गोस्वामी जी और हिन्दू-जाति' नामक कविताओं में मिलता है।

धर्म, कर्म, व्यवहार, राष्ट्रनीति के प्रचार,
सबमें पाखण्ड देख इतने न हारे हम।
काव्य की पुनीत भूमि बीच भी प्रवेश किन्तु
उसको विलोक रहे कैसे धीर धारें हम।

—हृदय का मधुर भार—झलक २

अब हम उठना हैं चाहत जगत बीच,
भारत की भारती की शक्ति को जगावेंगे।

—हृदय का मधुर भार झलक २

\+ \+ \+ \+

बसन्त—

"एक हू कण रेणु को अब लौं यहाँ हम पाइहैं।
आइ कै प्रतिवर्ष सादर ताहि सीस चढ़ाइहैं॥
यहि पुरानी डेवढ़ी पर सुमन चार गिराइहैं।
बैठिके मन मारि यहि थल नैन नीर बहाइहैं।"

—भारत और बसन्त

"यही भक्ति है जगत बीच जीना बतलाने वाली।
किसी जाति के जीवन की जो करती है रखवाली॥"

—गोस्वामी तुलसीदास और हिन्दू जाति

शुक्ल जी के समीक्षक का मस्तिष्क जब निर्मित हो रहा था, उस समय अंग्रेजों के नृशंस शासन के फल स्वरूप भारत में कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिनसे उनकी राष्ट्रीय आदर्श की भावनायें और तीव्र हुई होंगी। जैसे, सन् १९०५ की बंग-भंग योजना, वन्दे मातरम् के नारे पर प्रतिबन्ध, १९०८ में तिलक को ६ वर्ष की कड़ी सजा, १९०८ में ही अंग्रेजों की राष्ट्रीय दल को कुचलने की नीति, १९०९ में सेडीशस मीटिंग्स एक्ट, १९१४ में प्रेस एक्ट, सन् १९२० में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में गान्धी जी के नेतृत्व में देश व्यापी आन्दोलन

आदि। संस्थाओं में सबसे अधिक प्रभाव कांग्रेस का शुक्ल जी के मस्तिष्क पर पड़ा। यद्यपि उसकी अहिंसात्मक एवं निष्क्रिय प्रतिरोध वाली नीति के समर्थक वे कभी नहीं रहे। यदि वे कांग्रेस से प्रभावित न होते तो सन् १९०७ में सूरत में नियोजित कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर उद्भूत फूट पर दुख-भरी कविता न लिखते और भारतवासियों को सुसंगठित होकर देश-सेवा के व्रत के लिए उत्साहित न करते:—

"किन्तु आज बाइस वर्ष तक कितने झोंके खाती—
अन्यायी को लज्जित करती न्याय छटा छहराती।
यह जातीय सभा हम सबकी समय ठेलती आई।
हाय फूट! तेरे आनन वह भी आज समाई।
यही समझते थे दोनों दल पृथक पंथ अनुयायी,
होकर भी उद्देश्य हानि की सह न सकेंगे भाई।
किन्तु देख सूरत की सूरत भगे भाव यह सारे।
आशंका तब तरह तरह की मन में उठी हमारे॥"

\+ \+ \+ \+

"अब तो करें कुछ कृपा कि जिससे एक सभी फिर होवें।
अपने मन की मैल देश की अश्रुधार से धोवें।
जो जो सिर पर बीती उसको जी से वेगि भुलावें।
मौन धार निज मातृभूमि की सेवा में लग जावें॥"

—आनन्द कादम्बिनी—१९०७ पौष माघ।

हिन्दी समीक्षा में शुक्ल जी के आगमन के पूर्व देश की राजनीतिक चेतन क्रियात्मक रूप धारण कर चुकी थी। स्वदेशी आन्दोलन, राष्ट्रीय शिक्षा विकास, विदेशी वहिष्कार—इस त्रिमुखी दृष्टिकोण को अपनाकर वह चल रही थी। अतएव लोक-धर्म-समन्वित इस राजनीतिक चेतना का लोक-धर्मानुयायी शुक्ल जी के मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उस युग के व्यक्तियों में सबसे अधिक प्रभाव शुक्ल जी के ऊपर स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक, मालवीय, गान्धी तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का पड़ा था। उस युग की समस्याओं में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, राष्ट्र-साहित्य, राष्ट्र-भाषा, राष्ट्रीय शिक्षा, अछूत-समस्या, देश-द्रोहियों की समस्या, आर्थिक तथा सामाजिक विषमता, आपसी फूट, भारतीय संस्कृति आदि की समस्याओं ने उन्हें प्रभावित किया था।

भारत की सभी देशी भाषाओं और उनके साहित्य पर सबसे पहले और सबसे अधिक दबाव अंग्रेजी भाषा और साम्राज्यवादी आंग्ल-संस्कृति का था। यहाँ पर शिक्षा के नाम पर अंग्रेजी-भाषा या अंग्रेजी-संस्कृति का आतंक जमाने और नव युवकों को अपने देश से विमुख करने में सबसे अधिक प्रयत्न-शील यहाँ के अंग्रेजी शासक थे। इस लिए शुक्ल जी ने सब से अधिक आक्रमण पहले उन्हीं पर किया। What has India to do नामक निबन्ध से यह बात स्पष्ट परिलक्षित होती है।

लार्ड मेकाले और उससे प्रभावित हिन्दुस्तानियों के मन में यहाँ की भाषा, साहित्य, संस्कृति एवं शिक्षा-पद्धति के लिए उस समय उपेक्षा का भाव रहता था। इन लोगों ने जब अंग्रेजी में शिक्षा-प्रचार का काम शुरू किया अर्थात् जब वे अंग्रेजी राज्य की सुरक्षा के लिए अंग्रेजी पढ़े लिखे नौकर तैयार करने लगे; तब यहाँ की भाषाओं को शिक्षा-क्षेत्र में बहुत ही निम्म स्थान दिया गया या उन्हें शिक्षा के अयोग्य समझा गया। इस परिस्थिति की चर्चा करते हुए शुक्ल जी ने अपने इतिहास में लिखा है:—'देशी भाषा पढ़कर भी कोई शिक्षित हो सकता है, यह विचार उस समय तक लोगों का न था'[1], इस वाक्य से यह विदित होता है कि आचार्य शुक्ल उन देश-भक्त लेखकों में से थे; जो यह दृढ़ धारणा रखते थे कि देशी भाषा में शिक्षा आवश्यक है। इसके बिना सब शिक्षा अधूरी है।

अंग्रेजों ने अंग्रेजी-माध्यम से शिक्षित नव युवकों में दास मनोवृत्ति किस प्रकार भर दी थी उसका रोचक वर्णन शुक्ल जी ने गद्य-साहित्य के प्रसार के सिलसिले में किया है। भारतेन्दु काल में यह बहुत बड़ी शिकायत रहा करती थी कि अंग्रेजी की ऊंची शिक्षा पाये हुए लोग हिन्दी की सेवा नहीं करते थे। उन्हें अंग्रेजी का ज्ञान अर्जित करना सरल तथा हिन्दी सीखना कठिन प्रतीत होता था। द्विवेदी-युग में यह शिकायत बहुत कुछ दूर हुई और उच्च शिक्षा प्राप्त लोग धीरे धीरे हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आने लगे। पर अधिकतर यह कहते हुए कि 'मुझे तो हिन्दी आती नहीं, इधर से जवाब मिलता था—तो क्या हुआ? आ न जायगी। कुछ काम तो शुरू कीजिए[2], बहुत से अंग्रेजी पढ़े लिखे हिन्दी-सेवा के लिए पढते थे, मानो उस पर उपकार करने लिए, हिन्दी सीखने के लिए विना जरूरी 'मेहनत किये'। इस पर शुक्ल जी ने विनोद करते हुए लिखा है—बहुत से लोगों ने हिन्दी आने के पहले ही काम शुरू कर दिया। गलत सही दो चार चीजें लिख लेने पर वे लेखक बन जाते थे। फिर उन्हें हिन्दी न आने की परवा क्यों होने लगी।[3]

१-हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६७. २- वही पृ० ५३७. ३- वही पृ० ५३८,

शुक्ल जी ने बल देकर लिखा है कि अंग्रेजी या संस्कृत या अरबी-फारसी जानने से हिन्दी की जानकारी नहीं हो सकती। हिन्दी का अपना जीवन है, अपनी विशेषतायें हैं। इन्हें सीखे-समझे बिना कोई हिन्दी-लेखक नहीं बन सकता। उन्होंने ऐसे लोगों को फटकारा है जो हिन्दी-लेखक होने से अंग्रेजी, संस्कृत या अरबी-फारसी का विद्वान कहने में ज्यादा गौरव समझते थे[1]। शुक्ल जी के उपर्युक्त विचार इस बात को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं कि उन्होंने अपनी भाषा, अपने साहित्य तथा अपनी शिक्षा की दुर्दशा से राष्ट्रीय आदर्शों की प्रेरणा अवश्य ग्रहण की थी।

उस युग की अछूत समस्या, देशद्रोहियों की समस्या से वे कितने उद्विग्न थे, इनसे किस प्रकार की राष्ट्रीय प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे, इस बात का संकेत उनकी "अछूत की आह[2]" "एवं देश-द्रोही को दुतकार"[3] नामक कविता में मिलता है।

शुक्ल जी में राष्ट्रीय भावना तथा देश-भक्ति का प्रमाण बाल्यकाल से ही लगभग १४, १५ वर्ष की अवस्था से मिलता है; जब वे पिता के बार-बार मना करने पर भी, उनसे अपशब्द सुनने पर भी देश-प्रेम सूचक वेश-भूषा, स्वतन्त्र–विचार-धारा को अपनाने लगे थे[4]। उनका देश-प्रेम धीरे-धीरे प्रकृति-प्रेम, संस्कृति-प्रेम के साथ बढ़ता ही गया। इसका प्रमाण उस युग की उनकी प्रकृति-प्रेम-संबंधी तथा राष्ट्रीय कविताओं में मिलता है। शुक्ल जी राष्ट्रीय-आदर्श की भावनाओं से इतनी तीव्र मात्रा में प्रभावित थे कि उनके भावों तथा मनोविकारों से सम्बन्ध रखने वाले शाश्वत कोटि के विषयों के ऊपर लिखे हुए निबन्धों में भी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक तथा भाषा सम्बन्धी राष्ट्रीय समस्याओं का चित्रण, विषयान्तरिता के स्थलों पर बड़े ही मार्मिक तथा व्यंग्यात्मक ढंग से हुआ है। उन स्थलों पर उनका राष्ट्र-मंगलकारी सुझाव देना भी वे नहीं भूलते हैं। उनके रस-सिद्धान्त के विवेचन में उनका राष्ट्रीय आदर्श किस प्रकार समाहित है यह विकास वाले अध्याय में दिखाया जा चुका है[5]। राष्ट्रीय आदर्शों में उनके सच्चे विश्वास का इससे बढ़कर क्या प्रमाण हो सकता है कि उस पराधीनता के युग में जब कि अपने देश के अधिकांश लोग अपनी भाषा में बोलना, लिखना, शिक्षा-पाना हीनता की बात समझते थे; अपने साहित्य की बात करना, उसकी स्वतन्त्रत विशेषताओं

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ४३८. २—सरस्वती—अक्टूबर १९१६.

३—आनन्द कादम्बिनी—सं० १९५४. ज्येष्ठ-अग्रहायण।

४—साहित्य-संदेशः शुक्लांक पृ० ३७२. ५—इसी प्रबन्ध का विकास नामक अध्याय

में विश्वास करना, उसका अध्ययन, अध्यायन करना, उसकी सर्जना एवं विकास में योग देना लज्जा की बात समझते थे; अपनी संस्कृति एवं दर्शन में निष्ठा रखना रूढ़िवादिता का लक्षण मानते थे; अपने देश की सभ्यता एवं शिक्षा, पद्धति में विश्वास करना अगति का चिह्न तथा देश की प्रकृति से प्रेम करना सभ्य समाज में जंगलीपन समझते थे; ऐसे समय में भी आचार्य शुक्ल ने स्वतन्त्रता के बीज-तत्व—स्वतन्त्र-भावना, स्वतन्त्र-चेतना, स्वतन्त्र विचार को भारतीय संस्कृति का मूलतत्व बतलाया; इस स्वतन्त्र—चेतना के मूल आश्रय राम, कृष्ण को पूर्ण पुरुष सिद्ध किया; उनकी भक्ति को जीवन की स्वीकृति, संरक्षण, अनुराग, विकास आदि का लक्षण मानकर उनके उपासक कवियों की प्रशंसा की। हमारे स्वतन्त्र भावों, विचारों को नष्ट करने वाली पश्चिमी संस्कृति को मर्कट-तुल्य, मत्स्य-तुल्य कहकर उसकी निन्दा की[1]; पश्चिमी शिक्षा-पद्धति तथा उसके माध्यम अंग्रेजी-भाषा को स्वतन्त्र चेतना का विघातक कहा; भारतीय कवियों, वाल्मीकि, तुलसी आदि को अपना आदर्श कवि माना[2]; भारतीय समीक्षा के मुख्य सिद्धान्त—रस-सिद्धान्त को विश्व-समीक्षा का सर्व श्रेष्ठ सिद्धान्त कहा; भारतीय दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त—लोक-धर्म को अपना मुख्य संदेश बनाया, देश की प्रकृति तथा संस्कृति को देश-प्रेम का सच्चा आलम्बन घोषित किया; देश-भक्ति में रसकी सत्ता सिद्ध की;[3] राष्ट्रीय विचार-धारा को लेकर चलने वाले, राष्ट्र के प्रश्न एवं समस्याओं पर लिखने वाले, उनके मंगलकारी सुझाव देने वाले कवियों, लेखकों की प्रशंसा की; राष्ट्रीय तत्वों, भावनाओं, विचारों से विमुख करने वाली रहस्यवादी, रीति-वादी, कलावादी, अन्तश्चेतनावादी, प्रतीकवादी, संवेदनावादी काव्य-प्रवृत्तियों का विरोध किया। शुक्ल जी का राष्ट्र-प्रेम अत्यन्त व्यापक कोटि का था। वह प्रान्त प्रेम, हिन्दू-प्रेम, हिन्दू देश की स्वतन्त्रता तक ही सीमित नहीं था; सम्पूर्ण मानवता तक व्याप्त था। मानव ही नहीं प्रकृति के छोटे-छोटे जीवों के संरक्षण तक व्याप्त था[4]। इसलिए उन्होंने कविता का लक्ष्य अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा तथा निर्वाह माना है। किन्तु वे देश-प्रेम की क्रमिक सीढ़ियाँ मानते हैं, अतएव वे सच्चे-देश-प्रेम या देश-भक्ति की स्थापना के लिए देशबद्ध मनुष्यत्व का अनुभव अनिवार्य मानते हैं[5]। उनकी दृष्टि में जो व्यक्ति अपने माता, पिता, पास,-पड़ोस के फूल पौधे, लता-वृक्ष, अपने देश के रीति-रिवाज, पर्व, उत्सव, सभ्यता, संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि से प्रेम नहीं करता,

---

१—चि० प० भाग, पृ० ५२.   २—रस-मीमांसा, पृ० ११०.

३—प्रसाद, प्रेमचन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—हि० सा० का इति०, आधुनिक काल।

४—चि० प० भाग, पृ० ७.   ५—रस-मीमांसा, पृ० १५१.

जो अपने देश की रूप-माधुरी पर मुग्ध नहीं हो सकता, उसका प्रेम झूठा है, आडम्बर है[1]। इसलिए वे बलपूर्वक कहते हैं कि जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता, वह देश-प्रेम का दावा नहीं कर सकता[2]। शुक्ल जी यह नहीं चाहते कि जैसे एक अमेरिकन फारस वालों को उनके देश का सारा हिसाब किताब समझा कर चला गया, वैसे ही भारत के लोग भी अमेरिकनों से देश-प्रेम करना सीखें, और विलायती बोली में अर्थ-शास्त्र की दुहाई देकर देश-प्रेम का ढोंग रचें[3]। शुक्ल जी की अन्तर्राष्ट्रीयता तथा मानतावाद का प्रमाण पहले दिया जा चुका है। यहाँ इतना ही कहना है कि वे देश-प्रेम के बिना मानवतावाद को ढोंग समझते थे। वे मानवतावाद को देश-प्रेम का क्रमिक विकास समझते हैं। इसलिए वे अपने देश की स्वतन्त्रता को दूसरे देशों की स्वतन्त्रता-प्राप्ति का साधन मानते हैं। शुक्ल जी के समय में शाश्वत साहित्य रचने, मानवतावादी काव्य लिखने तथा देश की समस्याओं को भूलकर निर्लिप्त भाव से सौन्दर्य की उपासना करने की बातें अक्सर सुनी जाती थीं। किन्तु उन्होंने अपने देश के सामाजिक या राजनीतिक प्रश्नों के प्रति साहित्यकारों की उदासीनता का घोर विरोध किया है। वे देश-प्रेम रहित स्वार्थी व्यक्ति को आधा मरा मानते हैं, और उसके अभाव में मानवतावादी प्रेम को ढोंग[4]।

शुक्ल जी का देश-प्रेम सच्चा था, वह हृदय से निकला हुआ था, बुद्धि से नहीं। इसलिए वे हृदय-रहित केवल बुद्धि द्वारा किये गये देश-प्रेम सूचक कार्यों को देश-प्रेम का लक्षण नहीं मानते थे। जैसे देश-प्रेम के ऊपर-केवल वक्तृता देने वालों, केवल चन्दा इकट्ठा करने वालों, केवल देश-वासियों की औसत आमदनी निकालने वालों को वे देश-प्रेमी नहीं मानते थे[5] तथा मनोवेग वर्जित देश-प्रेम को ढोंग या आडम्बर कहते थे। इसलिए उन्होंने समाज सुधार तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों के बीच उच्चाशय तथा गम्भीर मनोवृत्ति वालों के साथ रहने वाले कुछ तुच्छ मनोवृत्ति वाले लम्पटों, छिछोरों एवं स्वार्थी व्यक्तियों की निन्दा की है[6] तथा राष्ट्रीय जागरण एवं शिक्षा का लक्षण सदाचार पर श्रद्धा एवं अत्याचार पर क्रोध प्रगट करना बताया है[7]। वे धनी वर्ग के देश-प्रेम के ढोंग तथा शोषण से भली-भाँति परिचित थे। अतः उन्होंने धनीवर्ग के

१—चि० प० भाग, पृ० १०४,१०५. २—रस-मीमांसा, पृ० १५१.
३—चि० प० भाग, पृ० १०५. ४—चि० प० भाग, पृ० २१८.
५— वही पृ० २०३. ६— वही पृ० ३८,१०५
७— वही पृ० २८.

देश-प्रेम का स्थान-स्थान पर मखौल उड़ाया है:—"देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके मांदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों पर रीझकर या कम से कम न खीझकर—बिना मन मैला किये कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे[१] ।" फिर उनके शोषण पर व्यंग करते हुए कहते हैं—"मोटे आदमियों तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशों से ही सही तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता[२] ।"

शुक्ल जी का राष्ट्र-प्रेम मनोवैज्ञानिक है। वे सब प्रकार के प्रेम भाव को साहचर्य-जनित मानते हैं। अतः वे प्रेमभाव उत्पन्न करने के लिए आलम्बन का सानिध्य आवश्यक ही नहीं अनिवार्य समझते हैं। इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने देश-प्रेम का भाव उत्पन्न करने के लिए उसके आलम्बन का साहचर्य अनिवार्य बताया है। उनकी दृष्टि में देश का बाह्य तथा अंतः स्वरूप देश-प्रेम का आलम्बन है। देश का बाह्य स्वरूप उसके प्राकृतिक सौंदर्य में तथा अन्तःस्वरूप उसकी संस्कृति में पाया जाता है। अतः शुक्ल जी की यह दृढ़ मान्यता है कि यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित होना अनिवार्य है[३] ।

शुक्ल जी का राष्ट्र-प्रेम सांस्कृतिक है, क्योंकि वे भारतीय-संस्कृति को देश-भक्ति के आलम्बन का एक प्रमुख अंग मानकर चलते हैं; वे देश-प्रेम का भाव उत्पन्न होने के लिए संस्कृति के सब रूपों का ज्ञान ही नहीं, अनुभूति भी आवश्यक मानते हैं। उनकी देश-भक्ति का आदर्श भारतीय है। वे स्वातन्त्र्य की बीज-भावना—स्वतन्त्र चेतना, स्वतन्त्र विचार या भाव को भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता मानते हैं। वे देश स्वातन्त्र्य की प्रेरणायें यूरोप से न लेकर प्राचीन भारतीय संस्कति से ग्रहण करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

शुक्ल जी के राष्ट्र-प्रेम के स्वरूप सम्बन्धी विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई कि उनकी समीक्षा का राष्ट्रीय आदर्श था—पाठकों, लेखकों एवं समीक्षकों में अपने देश की साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा दार्शनिक विचारधारा, सिद्धान्त, आदर्श आदि की स्वतन्त्रता, निजी विशेषता, ब्याप्ति, मौलिकता, देन आदिका ज्ञान करा कर उनके प्रति गौरवपूर्ण आस्था उत्पन्न करते हुए इन सबके द्वारा उनमें स्वतन्त्रता की बीज भावना—स्वतन्त्र चेतना, स्वतन्त्र विचार आदि से प्रेम उत्पन्न करके स्वदेशाभिमान जगाना, स्वतन्त्रता प्राप्ति के तत्वों, देशकी समस्याओं तथा प्रश्नों की ओर उन्मुख करना तथा हिन्दी-साहित्य एवं समीक्षा में राष्ट्रीय विचार धारा के अनुकूल स्वतन्त्र व्यक्तित्व पैदा करने की प्रेरणा भरना।

१—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० १०५. २—वही पृ० १०५.
३— वही पृ० १०६.

में प्रेमचन्द्र के राष्ट्रीय आदर्श को स्वीकार करते हुए उन्होंने जन साधारण के जीवन पर लिखे हुए उनके उपन्यासों की प्रशंसा की तथा उन्हें हिन्दी का सर्व श्रेष्ठ उपन्यासकार घोषित किया, राष्ट्रीय प्रेरणाओं एवं आदर्शों को सुसंगठित करने में सर्वाधिक समर्थ प्रसाद के नाटकों की सराहना की तथा राष्ट्रीय आदर्शों के विस्तृत चित्रण के लिए प्रसाद को ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए कई बार सुझाव दिया।

हिन्दी-समीक्षा के पुनर्निर्माण का आदर्श:—

शुक्ल जी की समीक्षा का सबसे महत्वपूर्ण आदर्श हिन्दी-समीक्षा के पुन-र्निमाण का था और यह आदर्श उनके समीक्षा-सम्बन्धी लक्ष्य के संस्कार के अनुकूल था। शुक्ल जी के समीक्षा सम्बन्धी लक्ष्य के संस्कारों का पता काव्य में रहस्यवाद अभिभाषण आदि अनेक पुस्तकों में व्यक्त इनके दृढ़ विचारों से लगता है जिनमें वे अन्धानुकरण की भर्त्सना करते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में नकल से किसी जाति के असली गौरव का ह्रास होता है, उससे उसकी संस्कृति तथा सभ्यता सम्बन्धी उद्भावना का अभाव सूचित होता है; जिसकी नकल की जाती है वह उसे और भी उपेक्षा की दृष्टि से देखता है[१]। शुक्ल जी की यह दृढ़ धारणा है कि एक जगह की प्रचलित और सामान्य वस्तुओं को दूसरी जगह विकृत रूप में रखकर नवीनता की विज्ञप्ति करना किसी सभ्य जाति को शोभा नहीं देता। यह नवीनता नहीं, अपने स्वरूप का घोर अज्ञान है, अपनी शक्ति का घोर अविश्वास है, अपनी बुद्धि और निर्माण-शक्ति का घोर आलस्य है, पराक्रान्त हृदय का घोर नैराश्य है; कहां तक कहें घोर साहित्यिक गुलामी है[२]। उसी स्थल पर शुक्ल जी ने स्पष्ट स्वर में यह भी बात कही है कि हम पुरानी लकीर के फकीर न कभी रहे हैं और न हैं। अभिभाषण में व्यक्त इनकी कामना से यह विदित होता है कि वे हिन्दी साहित्य को विश्व की नित्य और अखण्ड विभूति से शक्ति, सौन्दर्य और मंगल का प्रभूत संचय करके एक स्वतन्त्र नवनिधि के रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं[३]। इसका तात्पर्य यह कि शुक्ल जी हिन्दी की स्वतन्त्र प्रगति तथा स्वतंत्र विकास के समर्थक हैं[४]। शुक्ल जी की समीक्षा का लक्ष्य समझने के लिए उनकी दृष्टि में स्वतन्त्र प्रगति तथा स्वतन्त्र विकास का क्या अर्थ है इसे अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है।

शुक्ल जी बाहरी रंग को अपने रंग में इस प्रकार मिलाने के समर्थक हैं कि इसकी पृथक सत्ता कहीं से परिलक्षित न हो। उनका मत है कि अपने विचारों

१—काव्य में रहस्यवाद, पृ० १४९. २— वही पृ० १५०,
३—अभिभाषण, पृ० १११ ४—काव्य में रहस्यवाद, पृ० १५०.

का ऐसा स्वतन्त्र, सबल तथा सघन प्रसार हो कि बाहर से आते हुए विचार अपनी उछल कूद अलग न दिखाकर, उसी में समाते जांय, उसी के वेग को बढ़ाते जांय। इसका नाम है स्वतन्त्र प्रगति और स्वतन्त्र विकास[1]। इसका तात्पर्य यह है कि शुक्ल जी बाहर के नाना वादों और प्रवादों की ओर आंखें मूंद कर लपकने के पक्षपाती नहीं हैं। वे अपने विचार के परीक्षालय में उनकी अच्छी तरह जांच पड़ताल करके उनके सत्य एवं संदेश के ग्रहण के समर्थक हैं। इस-परीक्षालय की नूतन प्रतिष्ठा वे भारतीय रस-निरूपण पद्धति का आधुनिक मनो-विज्ञान, मानवशास्त्र, समाज-शास्त्र, दर्शन, इतिहास आदि के नये नये अनुभवों की सहायता से खूब प्रसार एवं संस्कार करके युगादर्श एवं आवश्यकता के अनुसार उसका पुनर्निर्माण करके करना चाहते हैं[2]।

अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि शुक्ल जी के समीक्षा सम्बन्धी पुनर्निर्माण का प्रमाण क्या है? उनके समीक्षा सम्बन्धी पुनर्निर्माण के निम्नांकित प्रमाण हैं:—

१. शुक्ल जी ने काव्य, नाटक, कहानी, निबन्ध, उपन्यास, आलोचना आदि विविध साहित्य रूपों तथा उनके विभिन्न काव्य तत्वों—अलंकार, रीति, गुण, रस, कल्पना, आनन्द आदि की संस्कृत से आई हुई पुरानी अथवा अंग्रेजी के अंधानुकरण के आधार पर लिखी हुई नई परिभाषाओं, मान्यताओं, धार-णाओं को ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया वरन् युग की आवश्यकता, आदर्श, समस्या आदि के अनुसार उनमें संशोधन किया, उनका समन्वय करके पुन-र्निर्माण किया।

२. हिन्दी के साहित्यिक प्रतिमानों को विश्व-दर्शन, विश्व-संस्कृति, विश्व-साहित्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया।

३. हिन्दी की व्यावहारिक समीक्षा को स्थूल, गुण-दोष निर्देशन वाली बंधी लकीर से बाहर करके उसके भीतर ऐतिहासिक परिस्थिति, युग-चेतना, सांस्कृतिक तत्व, मानवता-तत्व आदि की व्याख्या करके, काव्य-पद्धति के भीतर अलंकार, रीति, भाव-व्यंजना आदि का नये ढंग से सूक्ष्म विवेचन करके कवि की तत्का-लीन तथा आधुनिक उपयोगिता स्पष्ट करके उस युग में अथवा समूचे साहित्य में कवि का स्थान निरूपित करके उसे बहुत व्यापक और वैज्ञानिक बनाया।

४. हिन्दी-साहित्य के इतिहास लिखने की इतिवृत्तात्मक प्रणाली में संशोधन किया।

१—काव्य में रहस्यवाद, पृ० १२०. २— वही पृ० १२१.

इस आदर्श पर विचार करते हुए अब तीसरा प्रश्न यह उठता है कि शुक्ल जी के समीक्षा सम्बन्धी पुनर्निर्माणों का आदर्श क्या है ?

१. शुक्ल जी के समीक्षा सम्बन्धी पुनर्निर्माण का प्रथम आदर्श है—स्वतंत्र चेतना की भूमिका पर मनोविज्ञान आदि नये विषयों की सहायता से रस-सिद्धान्त का परिष्कार, प्रसार करके उसके भीतर पश्चिम के सत् सिद्धान्तों का संश्लेषण करते हुए हिन्दी-समीक्षा का स्वतन्त्र व्यक्तित्व निर्मित करना।

२. हिन्दी साहित्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व, प्रकृति, विकास, आदि की रक्षा करना।

३. हिन्दी-समीक्षा का पुनर्निर्माण करके तत्कालीन समीक्षा सम्बन्धी अनेक सैद्धान्तिक उलझनों को सुलझाना, वेबुनियाद मूल्यांकनों के भ्रमजाल को काटना, साहित्यकारों को उनकी विकृत रुझानों से मुक्त करना, हिन्दी-साहित्य के अगतिशील, उच्छृंखल तथा अनुत्तरदायी तत्वों को बढ़ने नहीं देना, अपने पुनर्निर्माणों की कसौटी द्वारा हिन्दी-साहित्य के विभिन्न रूपों की परीक्षण-विधि बताना, हिन्दी-साहित्य के विकास में बाधक देशी-विदेशी सभी परम्पराओं, वादों एवं प्रभावों का खण्डन करके उसके विकास-मार्ग को प्रशस्त करना।

४. हिन्दी-समीक्षा के प्रतिमानों को विश्व-साहित्य-समीक्षा की भूमिका पर प्रतिष्ठित करना।

अब देखना यह है कि इन आदर्शों का इनकी समीक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा ? काव्य की परिभाषा, लक्षण, लक्ष्य, प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-स्वरूप, काव्यानुभूति, कविता तथा कवि का महत्व, स्थान आदि पर अपनी विस्तृत रसवादी दृष्टि से विचार करते हुए उन्होंने समाज की आवश्यकता, उपयोगिता तथा आदर्शों के अनुसार उनका स्वरूप नये ढंग से निरूपित किया, कविता और कवि को राष्ट्रजीवन की समस्याओं के सुलझाने में उच्च स्थान दिया; काव्यादर्शों को राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक बनाते हुए उन्हें विश्व-भूमिका पर प्रतिष्ठित किया; भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों—रस, अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य आदि की सामाजिक, मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए युग की आवश्यकतानुसार काव्य में उनके स्वरूप, स्थान, प्रयोग आदि का पुनर्निर्माण किया। रस-सिद्धान्त के भीतर उन्होंने भारतीय अन्य काव्य-सिद्धान्तों—अलंकार, रीति, गुण, औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा पश्चिमी काव्य तत्वों—कल्पना, सत्य, संगति, सार्थकता, ऐतिहासिक तथ्य, युग-चेतना, चरित्र-चित्रण, प्रभाव आदि का समावेश कर उसकी वस्तु भूमिका विस्तृत निर्माण करके उसके ः सभी काव्य-सिद्धान्तों का संश्लेषण किया।

उन्होंने हिन्दी के विविध साहित्य-रूपों—निबन्ध, कहानी, उपन्यास, प्रगीत, नाटक, आलोचना आदि की संस्कृत तथा अंग्रेजी के साहित्य रूपों से भिन्न पर दोनों के प्रमुख तत्वों के समन्वय द्वारा अपनी विस्तृत रस-दृष्टि से नई व्यवस्था, नई व्याख्या तथा नया स्वरूप निरूपित किया।

उन्होंने मूल तथा तद्भव भावों की मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक व्याख्या करके; स्थायी भाव के मूल-तत्व—संवेदन, प्रवृत्ति, वासना, संस्कार, इन्द्रियवेग आदि का विकासवादी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके; भावोदय, भावशान्ति, भावसंधि, भावशवलता, आदि का मनोवैज्ञानिक विवेचन करके; रस-परिभाषा, रस-व्याप्ति, रस-प्रकृति, रस-कार्य, रसानुभूति की विशेषताओं का मनोवैज्ञानिक निरूपण करके; रसावयों, रस-प्रक्रिया तथा रस-स्वरूप का मनोविज्ञान की सहायता से नवीन स्वरूप निर्मित करके; रस के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आधार को स्पष्ट करते हुए जीवन तथा साहित्य में रस की महत्ता तथा व्यापकता को नये ढंग से प्रतिपादित कर उसे अत्यन्त वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। इस प्रकार उन्होंने समीक्षा सिद्धान्तों की व्याख्या में जीवन-मीमांसा का पुट भरकर, शास्त्रीय विषयों के विवेचन में युगकी विभिन्न समस्याओं—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक आदि को व्यंग्य रूप में निरूपित करके रस-सिद्धांत को राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक बनाने का प्रयत्न किया; रस सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों, गुत्थियों तथा उलझनों को सुलझाया; रस की सार्वभौम त्रिकालवर्तिनी सत्ता सिद्ध कर उसे सार्वभौम समीक्षा-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया; रस-सिद्धान्त को अन्य साहित्य रूपों में प्रयोग करने की दिशा का संकेत करके उसकी समीक्षा सम्बन्धी उपयोगिता को विस्तृत किया; हिन्दी की व्यावहारिक समीक्षा में अन्तर्भाष्य के साथ साथ अवान्तरार्थी विषयों को अनुबन्धित करने की विधि बताकर व्यावहारिक समीक्षा का पुनर्निर्माण किया; हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विकास को लोकप्रवृत्तियों के प्रतिविम्ब रूप में निरूपित कर साहित्य-इतिहास लिखने की नवीन प्रणाली को जन्म दिया; हिन्दी-साहित्य के विकास में बाधक देशी-विदेशी सभी काव्य परम्पराओं तथा काव्य-प्रवृत्तियों का खण्डन तथा साधक प्रवृत्तियों तथा तत्वों का समर्थन करके दोनों के समन्वय द्वारा हिन्दी-समीक्षा का पुनर्निर्माण किया।

सातवाँ अध्याय

आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्तों के मूल स्रोतः—

जैसे कवि के व्यक्तित्व-निर्माण में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीन मुख्य तत्व काम करते हैं, तद्वत समीक्षक के व्यक्तित्व-निर्माण में भी[1]। किसी समीक्षक के समीक्षा-सिद्धान्त उसके व्यक्तित्व के अनुसार ही निर्मित होते हैं। अतः उसके समीक्षा-सिद्धान्तों के मूलस्रोत. उसके व्यक्तित्व के प्रमुख तत्वों—प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास में मूलतः पाये जाते हैं। समीक्षक की प्रतिभा को भावयित्री प्रतिभा कहते हैं[2]। इसी प्रतिभा-शक्ति के विकास के कारण समीक्षक साहित्य के मूल्यवान् विचारों एवं भावों के मूल्यांकन में रुचि लेता है; कवि-कर्म की भीतरी बाहरी सभी क्रियाओं एवं तत्वों को समझने तथा समझाने की चेष्टा करता है तथा उसके मूल-तत्वों के ग्रहण में समर्थ होता है। आलोचक के प्रतिभा सम्बन्धी कतिपय गुण—जैसे, विचारशीलता[3], गंभीरता, स्वतंत्रता[4], तार्किकता[5], सहृद-

---

१—टीका आणि टीकाकार, डा० वा० भा० पाठक, पृ० ६५.

There is, however, no doubt that whatever man desires to do, to think, or, since it is here a question of literature, to write, depends in a more or less intimate manner on the race from which he springs, whence he derives his natural attributes: not less does it depend on the kind of society and civilisation in which he was educated and also on the time, and incidental circumstances and events which occur daily in the course of life.—Essays by Sainte Beuve, P. 228, 229.

२—भावंकस्योपकुर्वाणाभावयित्री, काव्य-मीमांसा. चतुर्थ अध्याय, पृ० ४८ मधुसूदनी टीका।

३—भावकस्तुविचारशीलः वही, पृ० ४६

4—He does not trust ready made opinion without judging it.

Reader & Critic, Hallbrook & Jackson.

5—Critiic is supposed to have more logical mind to wield a more consistent pen. Ssbert Oitwell.

यता[१]; कतिपय प्रवृत्तियां-जैसे, क्षीर-नीर विवेकी प्रवृत्ति[२]; अतृप्त कोटि की जिज्ञासा-वृत्ति, तथ्यातथ्य-निरूपण की प्रवृत्ति, आत्मवैशिष्ट्य की प्रवृत्ति सहज मानी जाती हैं[३]।

शुक्ल जी में कारयित्री तथा भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभायें थीं, इसलिए वे कविता तथा आलोचना दोनों के प्रणयन में समर्थ हुए। उनमें भावयित्री प्रतिभा कारयित्री से अधिक शक्तिशाली थी, इसलिए वे आलोचना लिखने में अधिक सफल हुए शुक्ल जी का बचपन से ही तुलसी की कविता सुनने में आनन्द लेना, किशोरावस्था में वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास आदि की कविताओं को सुनकर आनन्द-विभोर हो जाना, घर में सरकारी नौकरी का वातावरण होते हुए भी साहित्यास्वादन की ओर झुकना[४] आदि बातें इस बात की सूचक हैं कि इनमें भावयित्री प्रतिभा जन्मजात थी। इनमें समीक्षक की सहज प्रवृत्तियां-सहृदयता, गम्भीरता, स्वतंत्रता, अंतर्मुखी प्रकृति, तथ्यातथ्य-निरूपण की प्रवृत्ति, अतृप्त कोटि की जिज्ञासा, क्षीर-नीर-विवेकी प्रवृत्ति तथा आत्मवैशिष्ट्य की प्रवृत्ति, बचपन से ही सहज रूप में वर्तमान थी। आत्मवैशिष्ट्य की प्रवृत्ति के कारण इनमें आत्मविश्वास; निर्भीकता तथा स्वतंत्रता की वृत्ति आई, जिससे वे साहित्यिक विकास में बाधक देशी तथा विदेशी वादों के जालमें नहीं फँसे, भारतीय तथा योरोपीय समीक्षा-सिद्धान्तों पर अपना स्वतंत्र निर्णय देने में सफल हुए तथा कवियों पर अपनी स्वतंत्र धारणा बनाने में समर्थ। जन्मजात निर्भीकता के कारण वे बड़े से बड़े व्यक्तियों, दार्शनिकों और कवियों के असत्-पक्षों के खंडन में रंचमात्र भी भयभीत नहीं हुए। स्वतंत्र प्रवृत्ति के कारण वे परप्रत्ययी नहीं हुए। रस-सिद्धान्त के स्वतंत्र निरूपण का श्रेय इनकी स्वतंत्र प्रकृति को भी है। कबीर, केशवदास, क्रोचे, रवीन्द्र आदि के खंडन में इनकी निर्भीकता, आत्म-वैशिष्ट्य नामक प्रवृति का भी पर्याप्त योग है। रहस्यवाद, वक्रोक्तिवाद आदि के खंडन का बीज इनके आत्मविश्वास में भी मिलता है। आत्मवैशिष्ट्य की प्रवृत्ति के कारण दासता के युग में भी वे विदेशी समीक्षा-

---

1—The critic endowed with sympathetic understanding will be just and fair. The role of Critic, Somanath Dhar.

२—यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः।
सो स्मिन्ऽभावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्मत्सरः। काव्य-मीमांसा, अध्याय ४, पृ० ५१।

३— वही चतुर्थ अध्याय, पृ० ५२; ५३.

४—साहित्य सन्देश-शुक्लांक—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल-एक झांकी, पं. केशवचन्द्र शुक्ल, पृ० ३७२, ३७३।

पद्धतियों के जाल में नहीं फंसे, भारतीय समीक्षा के मूल सिद्धान्त रस-सिद्धान्त को विश्व-समीक्षा-सिद्धान्त सिद्ध करने में समर्थ हुए। अतृप्त कोटि की जिज्ञासावृत्ति के कारण आरम्भ से ही ये बहुत ही अध्ययनशील रहे; संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, बंगला आदि कई भाषाओं के साहित्य के अध्ययन में समर्थ हुए; मनोविज्ञान, दर्शन, मानव-शास्त्र, विज्ञान, समाजशास्त्र आदि कई विषयों के ज्ञान-संचयन में सन्नद्ध रहे; भारतीय-समीक्षा के इतने वृहत्काय इतिहास के मन्थन में सफल हुए; उसके मूल सिद्धान्त रस के सांगोपांग अध्ययन में समर्थ हुए तथा मनोविज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र आदि अनेक विषयों की सहायता से उसकी सामग्री को सर्वांगीण रूप से व्यवस्थित करने में सफल।

गम्भीर प्रकृति के कारण ही वे साहित्य-दार्शनिक बने, उनमें मननशीलता, तथ्यातथ्य-निरूपण की विशेषता आई। इस विशेषता के कारण ही वे किसी सिद्धान्त या वृत्ति की मूल बातों को पकड़ सके, उसके नित्य-अनित्य, एकदेशीय सार्वभौम स्वरूप को शीघ्र ही पहचान सके। उनकी समीक्षा को सारवान बनाने में उनकी दार्शनिक विशेषता का बहुत योग है। इसी प्रवृत्ति के कारण वे रस के दार्शनिक स्वरूप को पकड़ सके; प्राचीन आचार्यों की रस, अलंकार, रीति, आदि सम्बन्धी सामग्री का तथ्यातथ्य-निरूपण कर सके, रस के सार्वभौम स्वरूप को ग्रहण कर सके तथा साहित्य के अनित्य सिद्धान्तों को आत्म-रूप में नहीं रख सके। साहित्य के सारवान पदार्थ रस को आत्म-रूप में प्रतिष्ठित करने में उनका अध्ययन ही उत्तरदायी नहीं है वरन् किसी वस्तु के मूल को पकड़ने वाली उनकी मननशील दार्शनिक प्रवृत्ति भी।

सहृदयता के कारण उनकी समीक्षा में सचाई का सिद्धान्त आया, उन्होंने जो सोचा वही लिखा और उसी को कार्य रूप में परिणत करने का प्रयत्न किया। सहृदयता के कारण पाठक की आवश्यकताओं को समझकर उनके साथ तादात्म्य स्थापित करने में वे सफल हुए। इसलिए वे सभी पाठकों के श्रेय एवं प्रेय को अनुबंधित करने वाले रस-सिद्धान्त को साहित्य के सार्वभौम एवं सार्वकालिक सिद्धान्त सिद्ध करने की ओर झुके, पाठकों की जीवन के साथ अपनी, समीक्षा का संबंध सर्वत्र स्थापित कर सके, साहित्य के पुराने सिद्धान्तों के उपवृंहण में समर्थ हुए तथा उन्हें नव्यतम रूप देने में सफल। इस प्रकार उनके द्वारा निरूपित पुराने सिद्धान्तों के नव्यतम, सजीव एवं समयोपयोगी स्वरूप का बीज इनकी स्वतंत्रता तथा सहृदयता की प्रवृत्ति में भी मिलता है अन्यथा ये भी परप्रत्ययी समीक्षक बन जाते।

प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी सिद्धान्त का स्रोतः—

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यही है कि इनके समीक्षा-सिद्धान्तों के निरूपण का श्रेय केवल इनकी अध्ययन सामग्री को ही नहीं देना चाहिए, इनके संस्कार, प्रवृत्ति एवं तज्जन्य मौलिक विशेषताओं को भी। व्युत्पत्ति के भीतर समीक्षक का पारिवारिक वातावरण, निवास-स्थान, निरीक्षण, यात्रा, संस्था-सम्पर्क, मित्र-मण्डली, विद्यालयों की शिक्षा, विविध विषयों की अध्ययन-सामग्री, युग-प्रवृत्तियां, युग प्रेरणाओं आदि उन तत्वों का समावेश होता है जिनसे उनकी समीक्षात्मक प्रतिभा का निर्माण एवं विकास होता है। अतः किसी समीक्षक के समीक्षा-सिद्धान्तों के मूल स्रोत के निर्णय में उपर्युक्त किसी तत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ,-उनके प्रकृति-दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्त का मूलस्रोत केवल उनके द्वारा समधीत, काव्य में स्वतंत्र रूप से प्रकृति-दर्शन करने वाले वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, वर्डसवर्थ के प्रकृति वर्णन ही नहीं, अथवा उनके द्वारा अनुवादित एडिशन का 'कल्पना का आनन्द' नामक विशद निबन्ध ही नहीं जिसमें प्रकृति-दर्शन अथवा स्वतंत्र रूप से प्रकृति वर्णन में आनन्द की-भारतीय पदावली में रस की सत्ता मानी गई है, वरन् इसके निर्माण में उनके निवास-स्थान, उनके रागात्मक निरीक्षण, उनकी मित्र-मंडली एवं युग-प्रवृत्तियों का भी योग है। इनकी जन्मभूमि, अगोना के हरे भरे खेतों, बड़ी-बड़ी अमराइयों, कमल-क्रीड़ा-लसित बड़े बड़े तालों से सुशोभित प्रकृति की एक रमणीय रम्य-स्थली है जिसकी गोद में इनका शैशव बीता; राठ रहते हुए बुन्देलखंड की पहाड़ियां तथा विन्ध्याटवी का भी प्रभाव इनके हृदय पर पड़ा, किन्तु प्रकृति का सबसे अधिक प्रभाव मिर्जापुर की सघन वन्य-वृक्षों से लदी पर्वत-मालाओं, ऊंची नीची पर्वत-स्थलियो के बीच क्रीड़ा करते हुए टेढ़े-मेढ़े नालों, सुदूर तक फैले हुए हरे-भरे लहलहाते कछारों, बड़ी बड़ी चट्टानों के मध्य से लहराते हुए निर्झरों, रंग-विरंग के शिलाखण्डों पर बहती हुई नदियों की निर्मल धाराओं तथा फूली फली अमराइयों के समीप बसी हुई ग्राम्य-बस्तियों के साहचर्य का पड़ा[१]।

प्रकृति के प्रति उनके प्रकृष्ट रागात्मक सम्बन्ध तथा उनकी प्रकृति-सम्बन्धी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का परिचय[२] मृत्यु के डेढ़ माह पूर्व मिर्जापुर के कवि-

---

१—साहित्य-सन्देश. शुक्लांक, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, एक झांकी, पृ० ३७१.

२—उनका प्रति वर्ष हिन्दी विभाग के अध्यापकों के साथ वर्षा ऋतु में एक बार मिर्जापुर की प्रकृति की रम्यस्थली में रमण करने के लिए जाना, सभी प्रकार के पाटल प्रसूनों का नाम बताने में समर्थ होना, प्रकृति की विमुग्धकारी छवि देख कर उसको साष्टांग दण्डवत् करना, उनके प्रकृष्ट प्रकृति प्रेम एवं सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचायक है।

सम्मेलन में दिये हुए उनके उस भाषण से मिलता है जिसमें उन्होंने कहा था "यद्यपि मैं काशी में रहता हूँ और लोगों का यह विश्वास है कि यहां मरने से मुक्ति मिलती है तथापि मेरी हार्दिक इच्छा तो यही है कि जब मेरे प्राण निकलें तब मेरे सामने मिर्जापुर का यही भूखण्ड रहे। मैं यहां के एक-एक नाले से परिचित हूँ। यहां की नदियों, काटों, पत्थरों तथा जंगली पौदों में एक-एक को जानता हूँ[1]।" प्रकृति-दर्शन में यदि स्वतंत्र रस शुक्ल जी को प्रत्यक्ष जीवन में न मिलता तो फिर वे प्रकृति के इतने सूक्ष्म निरीक्षण तथा उसके साथ इस प्रकार का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में सफल न होते अर्थात् प्रकृति में स्वतंत्र रस मानने का स्रोत इनके प्रकृति निरीक्षण तथा प्रकृति के प्रति इनके रागात्मक सम्बन्ध में भी मिलता है। मिर्जापुर में रहते हुए लगभग १४-१५ वर्ष की अवस्था में इन्हें रामानन्द, परमानन्द तथा जैजैलाल जैसे विद्यार्थियों कि मित्र-मंडली मिली; जो प्रायः नित्य प्रकृति की रम्यस्थली में घूमने की शौकीन थी[2]। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस मित्र मंडली से भी शुक्ल जी को प्रकृति में रमने की तथा रस अनुभव करने की प्रेरणा मिली होगी।

आधुनिक सभ्यता की कृत्रिमता और आडम्बर से शुक्ल जी बहुत ही क्षुब्ध थे क्योंकि इसने मनुष्य को प्रकृति से दूर ढकेल दिया था। प्रकृति से किनारा खींचने से मनुष्य की जीवन-शक्ति नष्ट हो रही थी, उसके समुचित विकास के लिए केवल नरता का क्षेत्र संकीर्ण प्रतीत हो रहा था। धातु के कुछ टुकड़े सभ्यता की ओट में उसे जीवन की मंगल-विधायिनी विभूति से दूर फेंक एक दूसरे के रक्त-शोषण में मग्न कर रहे थे।[3] सुख की खोज में विकृति की ओर दौड़ते हुए भ्रान्त जगत को मृग-मरीचिका सदृश प्रताड़ित होते देख कर उनकी आत्मा तड़प उठी थी। युग की उपर्युक्त प्रवृतियों से करुणार्द्र होकर उन्होंने रूसो, रस्किन, वर्डसवर्थ के समान उद्भ्रान्त जगत को प्रकृति को ओर लौटने का सन्देश दिया। उनकी दृष्टि प्रकृति के विशाल रूप मनुष्य को फैशन के बनावटी और संकुचित घेरे से बाहर निकाल कर व्यापक और उदार

१—साहित्य-सन्देश शुक्लांक. अन्तिम आकांक्षा, सोहनलाल द्विवेदी पृ० ३६६,

२—साहित्य-सन्देश शुक्लांक, पृ० ३७२।

३—विश्व-बीच नर के विकास हेतु नरता ही, होगी किन्तु अलम् न मानव विचार ले।
झलक २-१

रूपों से तुम्हारे पले होंगे जो हृदय, वे ही
मंगल की-योग-विधि पूरी पाल पावेंगे। झलक २-४

वनाने में समर्थ है, उसे विकृति की मृग-मरीचिका से उन्मुक्त कर उसमें जीवन-शक्ति तथा उसे विकसित करने की प्रेरणा भरने में समर्थ हैं।[1]

शुक्ल जी का युग राष्ट्रीयता का युग था। उस समय देश में राष्ट्र के सच्चे प्रेमियों के साथ-साथ कुछ राष्ट्र प्रेम के ढोंगी, देशहितैषिता के लम्बे-चोंगे पहनने वाले धूर्त एवं आडम्बरी भी पैदा हो गये थे। उस युग के राष्ट्र-प्रेम के ढोंगियों तथा धूर्तों पर उन्होंने अपने निबन्धों में स्थान स्थान पर व्यंग्य किया है।[2]

ऐसी अवस्था में इस बात की आवश्यकता थी कि शुक्ल जी सच्ची देश-भक्ति तथा सच्चे राष्ट्रप्रेम की कसौटी भी बताते। शुक्ल जी ने इस आवश्यकता की पूर्ति करते हुए राष्ट्र की प्रकृति को राष्ट्र प्रेम के आलम्बन रूप में चित्रित[3] किया। उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई कि प्रकृति के आलम्बन रूप वर्णन के सिद्धान्त-निर्माण में युग-प्रवृत्तियों का भी कुछ योग रहा है।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि शुक्ल जी में प्रकृति-प्रेम का संस्कार शैशवावस्था से वर्तमान था। वह उनकी प्राकृतिक स्थलों की यात्रा, किशोरावस्था में प्रकृति-क्षेत्र में प्रतिदिन के पर्यटन, उनके विभिन्न निवास स्थानों में प्राप्त प्रकृति की रमणीय शोभा के साहचर्य; वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत कवियों के प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी श्लोकों के श्रवण एवं अध्ययन, अपने काव्य में प्रकृति का स्वतंत्र रूप से वर्णन करने वाले वर्डसवर्थ जैसे अंग्रेजी कवियों के प्रवृति वर्णन सम्बन्धी कविताओं के अध्ययन तथा उनकी प्रकृति प्रेमी मित्र-मंडली से अंकुरित हुआ तथा तत्कालीन वैज्ञानिक युग में 'प्रकृति की ओर लौट चलो' नामक संदेश को वड़े बड़े दार्शनिकों एवं लेखकों[4] से ज्ञात करने से, एडिसन के 'कल्पना का आनन्द' नामक सैद्धान्तिक निबंध के अध्ययन तथा अनुवाद से, जिसमें प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन तथा स्वतंत्र रूप से प्रकृति के वर्णन में स्वतंत्र कोटि के आनन्द की सत्ता मानी गई थी, स्वतंत्र रूप में प्रकृति वर्णन करने वाली उनकी कविताओं से क्रमशः पल्लवित होता गया। अंततोगत्वा

१— नर भव-शक्ति की अनन्तरूपता है खिली
तुझे अन्धकूपता से बाहर बढ़ाने को।
रूप जो आभास तुझे सत्य सत्य देंगे अस
उन्हीं को समर्थ जान अन्तस जगाने को।
—हृदय का मधुर भार, झलक २-७

२— चिन्तामणि प्रथम भाग, पृ० १२, ३८, २०३।

३—रूसो, रस्किन, इमरसन

४—नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, सन् १९०९ ई०

इनकी उपज्ञात समीक्षात्मक प्रतिभा ने इसे नवीन काव्य-सिद्धान्त का रूप दिया, अर्थात् प्रकृति-वर्णन में प्रकृति के प्रति कवि के भाव को रतिभाव, कवि को आश्रय, प्रकृति को आलम्बन, प्रकृति-दर्शन अथवा वर्णन से प्राप्त कवि के हर्ष को संचारी, पुलक को अनुभाव मानकर उसमें स्वतंत्र की सत्ता सिद्ध की, और उसे शृंगार की ही कोटि का माना। आचार्य शुक्ल के पूर्व काव्य तथा कहीं कहीं सैद्धान्तिक समीक्षा[1] में भी प्रकृति के स्वतंत्र वर्णन का रूप तथा उल्लेख मिलता हैं, किन्तु इनके पूर्व किसी आचार्य ने इसे सैद्धान्तिक रूप नहीं दिया था।

शुक्ल जी के आगमन के पूर्व हिन्दी-काव्यशास्त्र के पास निजी कहलाने योग्य वस्तु बहुत ही कम थी। इसलिए उन्होंने हिन्दी-समीक्षा के पुनर्निर्माण द्वारा उसमें स्वतंत्र नवनिधि भरने का लक्ष्य बनाया। जो व्यक्ति जिस वस्तु को लक्ष्य बनाता है उसीका बारबार अभ्यास करता है। शुक्ल जी भारतीय-समीक्षा का पुनर्निर्माण रससिद्धान्त की व्यापक भूमि पर करके, उसके भीतर विदेशी विभिन्न वादों के संदेशों एवं सत्पक्षों को आत्मसात करने की शक्ति निर्मित कर, जीवन के अन्य पक्षों—सांस्कृतिक, दार्शनिक, राष्ट्रीय आदि को समाविष्ट करने की व्याप्ति उसमें सिद्धकर, उसमें साहित्य के अन्य सिद्धान्तों—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य आदि को संश्लिष्ट कर, उसे विदेशी वादों—मार्क्सवाद, अन्तश्चेतनावाद, संवेदनावाद, प्रतीकवाद, प्रकृतिवाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद आदि के कुप्रभावों से उन्मुक्त कर उसके पथ-प्रदर्शन द्वारा हिन्दी-साहित्य को स्वतंत्र प्रगति तथा विकास की ओर उन्मुख करते हुए उसे स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करना चाहते थे।

समीक्षा-सिद्धान्त-निरूपण वाले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि रस-सिद्धान्त शुक्ल जी का अंगी सिद्धान्त है, अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य, ध्वनि आदि सिद्धान्त उनके अंग सिद्धान्त हैं। अतः क्रम के अनुसार उनके अंगी सिद्धान्त रस सिद्धान्त के मूल स्रोत पर विचार करना चाहिए।

रस सिद्धान्त का स्रोतः—

समीक्षा-सिद्धान्त-निरूपण वाले अध्याय में रस-सिद्धान्त पर विचार रस-परिभाषा, रसावयव-स्वरूप, उनका पारस्परिक सम्बन्ध, रस-प्रक्रिया, रस-स्थान, रस-स्वरूप, रस-व्याप्ति, रस-प्रकृति, रसानुभूति की विशेषतायें तथा काव्य के अन्य तत्वों के साथ रस के सम्बन्ध शीर्षकों में हुआ है। अतः रस-सिद्धान्त के मूल स्रोत पर विचार करते समय रस-सम्बन्धी उपर्युक्त सभी सामग्रियों के स्रोत पर विचार किया जायगा। यहां भी यह स्मरण दिला देना आवश्यक है कि शुक्ल

1—रस-वाटिका-गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पृ० ५.

जी के रस-सिद्धान्त की सामग्री का मूल स्रोत केवल शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन ही नहीं है वरन् उनके व्यक्तित्व के मूल संस्कार, उनके जीवन की दृढ़ इच्छा, उनका प्रमुख जीवन-सिद्धान्त, युग के आदर्श आदि भी हैं। शुक्ल जी के व्यक्तित्व के मूल संस्कार-मर्यादा, उदात्तता, गम्भीरता एवं आदर्शवादिता के थे। रस-सिद्धान्त इन संस्कारों के अनुकूल पड़ता था। आचार्य शुक्ल के जीवन की दृढ इच्छा या लक्ष्य हिन्दी-समीक्षा को प्रशस्त भूमि पर स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान कर उसके आधार पर समग्र हिन्दी साहित्य को एक स्वतंत्र नवनिधि के रूप में विश्व के सामने उपस्थित करना था। उपर्युक्त लक्ष्य-सिद्धि की अनुकूलता उन्हें रस-सिद्धान्त में ही मिल सकती थी।

शुक्ल जी ने अपने अंगी जीवन-सिद्धान्त लोकधर्म के अनुकूल पड़ने वाले सिद्धान्त---रस-सिद्धान्त को प्रमुख सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया, यह पहले बताया जा चुका है। "काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था" नामक निबन्ध की सामग्री से यह स्पष्ट है कि वे लोकमंगल या लोकधर्म को रस की कसौटी मानते हैं[1]। इस प्रकार रस-सिद्धान्त को प्रमुख सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करने में उनके जीवन-दर्शन का भी प्रभाव है।

इस युग में समाज-सुधार, धर्म सुधार, राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणायें लोक-धर्म पर आधारित थीं। इस प्रकार काव्य में लोक-मंगल को अपनाने वाले रस-सिद्धान्त का ग्रहण युग प्रवृत्ति के अनुकूल था। अतः यह निष्कर्ष निकालना सरल है कि रस-सिद्धान्त को प्रमुख सिद्धान्त के रूप में अपनाने में युग-प्रवृत्तियों का भी प्रभाव है। शुक्ल जी द्वारा रस-सिद्धान्त का समीक्षा के प्रमुख सिद्धान्त के रूप में ग्रहण तत्कालीन भारतीय साहित्य की परम्परा के भी अनुकूल था। शुक्ल जी तक आते-आते रीति, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य, ध्वनि आदि की परम्परायें संस्कृत तथा हिन्दी में लगभग मर चुकी थीं। अलंकारवाद का नाम लेने वाले किसी कोने में एकाध कभी-कभी दिखाई या सुनाई पड़ते थे। अर्थात् शुक्ल जी तक आते-आते रस-सिद्धान्त सर्वमान्य हो चुका था। रस-मीमांसा के अध्ययन से यह भली-भांति विदित होता है कि शुक्ल जी रस पर लिखने के पूर्व संस्कृत तथा हिन्दी के समीक्षा-साहित्य एवं उनकी साहित्यिक परम्पराओं का सम्यक् अध्ययन कर चुके थे, अर्थात् वे संस्कृत, हिन्दी की जीवित साहित्यिक परम्परा—रस-परम्परा से भली-भांति अवगत हो चुके थे। ऐसी स्थिति में यह अनुमान लगाना सरल है कि उनके रस-सिद्धान्त के चयन में भारतवर्ष की जीवित साहित्यिक-परम्परा का भी पर्याप्त योग है।

१—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ३०२,

उनके ऊपर सबसे अधिक प्रभाव डालने वाले हिन्दी के मूर्धन्य कवि तुलसी के मानस में रस ही प्रमुख साहित्यिक सिद्धान्त के रूप में—(प्राण रूप में) विराजमान था। उनके काव्यादर्शों को निर्मित करने में सहायक वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि में भी रस की ही प्रधानता थी[1]। अतः रस को प्रधान काव्य-सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करने में उपर्युक्त कवियों का प्रभाव भी अवश्य रहा होगा।

रस-सिद्धान्त के चयन में सहायक प्रभावों एवं स्रोतों को देखने के पश्चात् अब रस-सिद्धान्त की सामग्री के स्रोतों पर विचार करना चाहिए।

क्रम के अनुसार सर्वप्रथम रस-परिभाषा के स्रोत पर विचार किया जाता है।

रस-परिभाषा:—

शुक्ल जी रस की परिभाषा 'हृदय की मुक्तावस्था' 'लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा' के रूप में करते हैं[2]। अर्थात् रस-दशा में सहृदय का हृदय स्वार्थ-बंधनों से मुक्त होकर अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। रस-दशा के विवेचन में हृदय-विस्तार, विकास, स्वार्थ बंधनों के भग्न होने का तथ्य तथा हृदय की मुक्तावस्था सम्बन्धी सामग्री भट्टनायक के भावकत्व व्यापार में[3], विश्वनाथ के रस-स्वरूप-विवेचन में[4], तथा जगन्नाथ की रस-परिभाषा में[5] मिलती है। भट्टनायक के भावकत्व व्यापार में साधारणीकरण, निर्वैयक्तिकता, हृदय विस्तार, विकास, सत्वोद्रेक की चर्चा; विश्वनाथ के रस-स्वरूप-विवेचन में सत्वोद्रेक, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मयता (चित्त-विस्तार) "स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः" का उल्लेख जगन्नाथ की रस-परिभाषा में "भग्नावरणाचिदेव रसः" का तथ्य मिलता है। शुक्ल जी अपने साधारणीकरण के विवेचन में भट्टनायक से सबसे अधिक प्रभावित हैं; साहित्य-दर्पण की अंग्रेजी विमला-टीका का उन्होंने विस्तृत अध्ययन किया था; पं० राज जगन्नाथ के रसगंगाधर का उल्लेख रस-मीमांसा

१—रस-मीमांसा, पृ० ११०–१२०. २—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० १९२, २०९.

३—हृदि विस्तारविकासलक्षणेन सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति विलक्षणेन परब्रह्मास्वाद सविधेन भोगेन परं भुज्यते इति।

अभिनवभारती में अभिनव गुप्त द्वारा भट्टनायक भावकत्व व्यापार का विवेचन— पृ० २७८, २७९.

४—सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।

५—भग्नावरणाचिदेवरसः।

में कई स्थानों पर मिलता है। इससे अनुमान लगाना सरल है कि शुक्ल जी ने उक्त तीनों आचार्यों का गम्भीर अध्ययन किया था। रस-परिभाषा के निर्माण-काल में उक्त तीनों आचार्यों की रस-सम्बन्धी उपर्युक्त सामग्री, उनके जीवन के प्रमुख सिद्धान्त---लोक-धर्म, उनके काव्यादर्शों के संस्कार—लोक-हित तथा उनके युगादर्श—लोक-मंगल के प्रभाव के फल स्वरूप उन्हें मिली। इस कारण उन्होंने उपर्युक्त सामग्री को अपने व्यक्तित्व के सांचे में ढालकर युगादर्श की अनुरूपता के अनुसार निर्मित कर उसे नव्यतम स्वरूप दिया।

भाव तत्व का स्रोत:—

शुक्ल जी के रस-सिद्धान्त में भाव-विवेचन की सामग्री का स्रोत शैण्ड, मैकडूगल, एडमन्ड, स्पेन्सर, एंजिल, रिचर्ड तथा साहित्य-दर्पणकार की भाव-विवेचन-सम्बन्धी सामग्री में मिलता है, किन्तु सबसे अधिक सामग्री उन्होंने शैण्ड से ली है। रस-मीमांसा के परिशिष्ट में काव्य वाली पुस्तक के लिए अंग्रेजी में दी गई मनोविज्ञान सम्बन्धी टिप्पणियों में एकाध को छोड़कर प्राय: सभी शैण्ड की पुस्तक "Foundation of character" से ली गई हैं। मन-संघटन के नियम "Laws of the organigation of mind" सम्बन्धी टिप्पणी शैण्ड लिखित "Foundation of character" नामक पुस्तक के Book I, chapt. II, III पृ० २०,२७,२८ से संकलित हैं, स्थायी भाव-चक्र (System of sentiments) सम्बन्धी टिप्पणी पृ० ३६,४०, ४१ से ली गई हैं। भाव-चक्र (System of emotioans) संबन्धी टिप्पणी पृ० २७,२८,२६ के आधार पर है। भाव एवं स्थायी-भाव के निर्माणकारी तत्व, पृ० २८, २६, ४०, ४१ के आधार पर है। मूलभाव सम्बन्धी टिप्पणी पृ० २६,३० Book I chapt. II के आधार पर है। भाव-विवेचन वाले अध्याय में मनोविज्ञान सम्बन्धी प्राय: सभी पाद-टिप्पणियां शैण्ड से तथा साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी टिप्पणियां साहित्य-दर्पण से दी गई हैं। भाव-विवेचन करते समय शुक्ल जी ने इस विषय में यथा प्रसंग शैण्ड की वैज्ञानिकता एवं आधुनिकता की प्रशंसा की है।[1] उनके मतों को अपनी मनोवैज्ञानिक सामग्री के प्रमाणार्थ उद्धृत किया है,[2] कहीं कहीं उनका नाम लेते हुये उनकी सामग्री का ज्यों का त्यों उपयोग किया है।[3] उपर्युक्त प्रमाणों से यह बात स्पष्ट हो गई कि भाव-विवेचन की मनोवैज्ञानिक सामग्री का मूल स्रोत शैण्ड की पुस्तक, (Foundation of character) है तथा शास्त्रीय सामग्री का मूल स्रोत साहित्य-दर्पण है।

१—रस-मीमांसा, पृ० १७० २— वही पृ० १६७, १६८

३— वही पृ० २११.

चिन्तामणि के प्रथम निबन्ध भाव का मनोविकार की मनोवैज्ञानिक सामग्री का मूलस्रोत शैण्ड की पुस्तक Book I, chapt. X, XI है 'भाव या मनोविकार' निबन्ध में शुक्ल जी ने स्थायी भाव के मूल में रहने वाले भाव की परिभाषा, उत्पत्ति, विकास, स्वरूप, जीवन तथा साहित्य में उनकी महत्ता, व्यापकता, कार्यतत्व, उपयोगिता, नैतिक आधार तथा आदर्श पर विचार किया है। इधर शैण्ड ने अपनी पुस्तक के प्रथम अध्याय के दशम तथा एकादश-परिच्छेद में स्थायी भाव के प्रयोजन[१]; कार्य[२], आदर्श[३], गुण[४], विशेषता[५], पूर्णता[६], नैतिकता[७], उसके वैयक्तिक सामाजिक स्वरूप[८] तथा उसके साथ रहने वाले तद्भव भावों पर विचार किया है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में स्थायी भावों के ऊपर ऐसी सुविस्तृत सामग्री नहीं मिलती। आचार्य शुक्ल जी ने शैण्ड का गम्भीर अध्ययन किया था, इसलिए यह अनुमान लगाना सरल एवं स्वाभाविक है कि स्थायी तथा संचारी भावों पर लिखे निबन्धों की बीजभूत सामग्री का स्रोत शैण्ड की उक्त पुस्तक है। शैण्ड ने स्थायी-भाव सम्बन्धी अपनी सामग्री का उपयोग व्यक्तित्व चरित्र-निर्माण तथा उसके विकास के लिए किया; स्पष्टता के लिये उसमें अंग्रेजी साहित्य तथा समाज के उदाहरण दिये। शुक्ल जी ने उस सामाग्री का उपयोग साहित्य में रस-व्याख्या की दृष्टि से भाव-निरूपण के सन्दर्भ में किया है। उन निबन्धों में शुक्ल जी के उदाहरण, पात्र, घटनायें, निजी हैं। उन्होंने अपने युगकी विभिन्न समस्याओं का पुट यथास्थान उसमें रखा है, व्यंग्य-विनोद का पुट तथा उनको उपस्थित करने का ढंग नया है, भारतीय साहित्य, समाज एवं संस्कृति की भूमिका में सभी सामग्री नियोजित की गई है। इस प्रकार शुक्ल जी के व्यक्तित्व की छाप उन पर पूर्ण रूप से लगी है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि स्थायी भाव के मूल में रहने वाले भाव के विवेचन की सामग्री का मूल स्रोत शैण्ड की उक्त पुस्तक है।

1—Purpose of a sentiment, P. 117.

2—Duties of a sentimets, P. 113.

3—Ideals of the sentiment, P. 112.

4—Natural virtues of a sentiment, P. 116.

5—Distinctive qualities of different sentiment, P. 116.

6—Perfection of a sentiment, P. 116.

7—Ethics of a sentiment, P. 116.

8—Social & Individual aspect of a sentiment, P. 1

रस-मीमांसा में विवेचित भाव का लक्षण[१], उसके मूल निर्माणकारी तत्व[२] तथा भावों का सम्बन्ध[3] शैण्ड के आधार पर है। शुक्ल जी का भाव-लक्षण शैण्ड की पुस्तक के पृष्ठ ६४ पर दिये हुए भाव-लक्षण के अनुसार है। प्रमाणार्थ दोनों की सामग्री यहाँ दी जाती है।

An emotion includes a cognitive attitude (in the sense of a perception or thought), a conative attitude (in the sense of an impulse) and feeling attitude of a particular kind.—Foundation of Character, P. 64.

Thus an emotion is a synthesis of cognition, conation and feeling. Ibid, P. 64.

आचार्य शुक्ल कृत भाव-लक्षण:—

प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है। रस-मीमांसा, पृ० १६८।

भाव-लक्षण सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों सामग्रियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि शुक्ल जी के भाव-लक्षण का स्रोत शैण्ड का उक्त भाव लक्षण है।

शुक्ल जी को, भाव को एक व्यवस्था या मानसिक शारीरिक विधान के रूप में मानने का बीजभूत विचार शैण्ड से मिला[४]। रस-मीमांसा में शुक्ल जी द्वारा निरूपित भाव-चक्र के विभिन्न निर्माणकारी तत्वों[५]—संवेदन, वासना, प्रवृत्ति, मनोवेग, इन्द्रियवेग, भावना, प्रत्यय-बोध, इच्छा, संकल्प; विचार, शारीरिक-व्यापार, विशेष कर्मों की प्रेरणा आदि का स्रोत शैण्ड की उक्त पुस्तक ही जान पड़ती है, क्योंकि संस्कृत के लक्षण-ग्रंथों में भाव के उक्त निर्माणकारी तत्वों का सूक्ष्म पृथक्करण नहीं मिलता। अधिक से अधिक भाव के निर्माणकारी तत्वों में वासना, चित्तवृत्ति, संविद्, भावना का उल्लेख किन्हीं-किन्हीं लक्षण ग्रन्थों में मिलता है[६]। भाव के निर्माणकारी तत्वों से सम्बन्ध रखने वाली शैण्ड की पंक्तियाँ तुलनात्मक अध्ययन, अनुमान तथा निष्कर्ष के लिये आगे दी जाती हैं।

१—रस-मीमांसा, पृ० १६८. २— वही पृ० १६४ तथा १६८.
३— वही पृ० १६६. ४—रस-मीमांसा, पृ० १६६,१७०.
५— वही पृ० १६२ से १६४,१६८ से १७१ तक।
६—अभिनव-भारती, पृ० २८१, २८४, २८५.

"When we speak of the system of an emotion we mean that the constituent enter it to it—the thought that it has or may have, its characteristic feeling and tendencies the organic process belonging to it and the behaviour which is the outcome of these constitutents–all bear reference to a common end." Foundation of Character, P. 279

"There is an indissoluble connection between an emotion and the impulse and the instincts belonging to its system."... Foundation of character, P. 329.

"Sentiments and emotions were detached from the process of perception, thought, feeling and will—thus they were deprived of the living interest........ Ibid, Prefece P. 1.

"From Descartes to Hume–all the old writers included desire among emotion." Ibid. P. 459.

"The emotion with its impulses, instincts, acquired tendencies and behaviour constituted in our view, a single system innately determined to the persuit of a particular end." Ibid, P. 457.

"The appetites include impulses and each impulse is connected with its particular instinct. Ibid, P.458.

शुक्ल जी द्वारा निरूपित सवेदन, वासना, भाव तथा मनोवेग का अन्तर[1] मूलत: शैण्ड की उक्त पुस्तक के द्वितीय अध्याय के प्रथम परिच्छेद (instincts and emotion) के आधार पर लिखा गया है।[2] वासना और रस के अन्तर के[3] स्पष्टीकरण में शुक्ल जी ने साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद से सहायता ली है।[4] वासना, प्रवृत्ति, भाव तथा मनोमय कोश के निर्माण[5]

१—रस-मीमांसा, पृ० १६२, १६३, १६४.

२—Foundation of Character, P. 177 to 196.

३—रस-मीमांसा, पृ० १६३, ४—साहित्य-दर्पण, ३१ की वृत्ति।

५—रस-मीमांसा, पृ० १६१

की विकासवादी व्याख्या हैकेल की प्रसिद्ध पुस्तक (Riddle of the Universe) के आधार[1] पर है। शुक्ल जी द्वारा मूल और तद्भव रूप में भावों का वर्गीकरण[2] शैण्ड कृत Emotion के दो मुख्य वर्गीकरण Primary emotion तथा Subsidiary emotion के आधार पर है।[3]

शुक्ल जी की दृष्टि में स्थायीभाव भी एक भाव-चक्र है जिसके अंतर्गत भिन्न-भिन्न "भाव और अनुभूतियाँ संघटित हैं।[4] वे इसे भावकोश का विधान मानते हैं।[5] उनको स्थायीभाव के विवेचन की मनोवैज्ञानिक सामग्री,[6] उसे भावकोश या स्थायी भाव-चक्र मानने एवं भाव विधान से उच्चतर समझने का तथ्य[7] तथा स्थायीभाव के निर्माणकारी विभिन्न मनोवैज्ञानिक तत्वों की बीजभूत सामग्री[8] शैण्ड से प्राप्त हुई है। उक्त सामग्री से सम्बन्ध रखने वाली शैण्ड की पंक्तियां प्रमाणार्थ नीचे दी जाती हैं।

"These higher systems we shall call sentiments to distinguish them from the lesser system of the emotions (Foundation of character–system of Semtiment, Book I chapter, Fourth, P. 50)

The sentiment is a system of higher order than emotion." Ibid., 532.

"Every sentiment tends to include in its system all the emotions, thoughts, volitional processes and qualitis of character which are of advantage to it for the attainment of its ends. Ibid, Book I, chapter X, P. 106.

शुक्ल जी भावों को कर्म का प्रवर्तक तथा शील का संस्थापक मानते हैं।[9] इस तथ्य का स्रोत भी शैण्ड की उक्त पुस्तक ही है। प्रमाणार्थ शैण्ड की पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जा रही हैं:—

१—विश्वप्रपंच की भूमिका, पृ० ८६, ९२   २—रस-मीमांसा, पृ० १६६.

३—Foundation of Character, Book I chap. III, P, 25.

४—रस-मीमांसा, पृ० १७०, ४२६, ४२७,   ५—वही पृ० १७०.

६— वही पृ० ४२६   ७—वही पृ० १७१.

८— वही पृ० ४८३   ९—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० ९.

"The system of the emotions are forces that enable us to perform the actions constituting the expression and behaviour characteristic of them." Foundation of Character Book ii, chapter ii, P. 197.

"Primary emotions are root forces fo charaeter ibid, Book ii, Chapter ii. P. 197.

आचार्य शुक्ल किसी भाव की प्रकृतिस्थ दशा को शीलदशा मानते हैं। इस स्थिति में भाव एक ही आलम्बन के प्रति व्यक्त नहीं होता वरन् व्यक्तियों के प्रति समय समय पर प्रगट होता है। भावों की शील-दशा, तथा काव्य में शील-निरूपण अथवा चरित्रचित्रण को रस के भीतर रखने की बात शुक्ल जी को शैण्ड की उक्त पुस्तक पढ़ने से सूझी। भावों की शीलदशा का स्रोत शैण्ड की उक्त पुस्तक के प्रथम अध्याय के द्वादश परिच्छेद में मिलता है। उस परिच्छेद के नाम (The sentiment as the source of the Types of character) से ही शुक्ल जी के स्रोत का आभास हो जाता है। स्पष्टता के लिये उस परिच्छेद की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं:-

"The qualities that a sentiment acquires for its own needs in becoming fixed, tend to qualify the character as a whole. ibid, Book 1, chap. 12, P.119.

"For as the sentiment forms its characteristic thought and conduct, these, with their qualities become fixed and habitual and interfere with the acquisition of opposite in other sentiments. Thus if a man has learnt to be open and candid through his early affection for others and trust in them or as a secondary feature of his manliness and contempt of deciet, he tends to carry this quality in to his dealings with men in general." Iblid. Book 1, chap.12, P.121.

"Still in all such cases the qualities acquired by one sentiment tend, through the habit of their exercise to become fixed in the character and to spread beyond their original limits," Ibid. P. 122.

Thus every sentiment tends to form a type of character of its own.-Foundation of chatacter, P.123

"For in proportion as the sentiment becomes predominant the emotional disposition which it does not need, atrophy; and those which are hostile to it are suppressed; while the great multitudes of its qualities as we have just seen tend to counteract the opposite qualities of other system.–Ibid., P. 123.

चरित्र-चित्रण में इस सिद्धान्त को प्रयुक्त करने का स्पष्ट उल्लेख शैण्ड ने किया है। कदाचित् इसी से शुक्ल जी को शील-दशा, शील-निरूपण अथवा चरित्र-चित्रण को रस के भीतर रखने की बात सूझी। प्रमाणार्थ शैराड की पंक्तियां नीचे दी जा रही हैं:

"when ever a particular sentiment becomes so predominant that all the effects which it always tends to produce are actually manifested. It has been one of the great objects of literature to represent such clear cut types of character.–Foundation of character, P. 123.

सुःखात्मक एवं दुखात्मक रूप में साहित्य के स्थायी भावों के वर्गीकरण[1] का बीज, सुखात्मक एवं दुःखात्मक वर्ग के विभिन्न भावों के विभिन्न तत्वों के वर्गीकरण का आधार[2] शैण्ड की उक्त पुस्तक है।[3] किन्तु प्रत्येक वर्ग में आने वाले भावों का तार्किक विवेचन, उस वर्ग में उनकी प्रतिष्ठा का[4] कारण अधिकांश मात्रा में शुक्ल जी की मौलिक वस्तु है। इन स्थलों पर मनोवैज्ञानिकों का सहारा[5] शुक्लजी ने भारतीय आचार्यों के रस-विवेचन को वैज्ञानिक सिद्ध करने के लिये, उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि बताने के लिए लिया है। साहित्य के प्रधान स्थायी-भावों के सम्बन्ध में उन्होंने जो प्रमुख बातें बताई हैं उनका स्रोत भारतीय है[6], पर उनके समर्थन की सामग्री आधुनिक मनोविज्ञान से ली है—विशेषतः शैण्ड से। रस-निरूपण के भीतर आनेवाले मूल भावों का

---

१ रस-मीमांसा, पृ० १६१। २— वही, पृ० १६२, १६३.

3–A joy and sorrow, in contrast with curiosity present a rather the character of emotion. Ibid Book I, Chap III P, 29.

3b—Foundation of character, Book II Chap. II, p. 218.

४—रस-मीमांसा, पृ० १६४ से १६८.

५— वही पृ० १६५. ६— वही पृ० १६४, १६६, १६७.

समर्थन[1] एवं स्थायीभाव के लक्षण तथा विवेचन का[2] स्रोत शृंगार-प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि भारतीय साहित्य-शास्त्र के ग्रंथ हैं। विवेचन में उक्त ग्रंथों का प्रत्यक्ष उल्लेख तथा उद्धरण सबसे अधिक मात्रा में मिलता है। रस-अवस्था में भावों के नाम-परिवर्तित होजाने का मनोवैज्ञानिक कारण, वात्सल्य को भी रस-स्थिति प्राप्त करने योग्य भाव मानने का कारण तथा शृंगार-रस को रसराज कहने का मनोवैज्ञानिक कारण भारतीय लक्षण-ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्हें शैण्ड से भी अवश्य मिला होगा। क्योंकि तत्सम्बन्धी सामग्री शैण्ड की पुस्तक में भी मिलती है। प्रमाणार्थ इन तीनों तथ्यों से सम्बन्धित शैण्ड की पंक्तियां नीचे दी जाती हैं:--

"Now it is probably in the sentiments that the innate system of primary emotions undergo most alterations." Faundation of character, Book 1 chap. VII, P. 71.

"Maternal love was a single instinct and it comes under primary emotion." Ibid. Book 1. chap. Fourth, P. 54.

"Love appears to organise the entire mind and heart. Here not only various emotions but qualities of character and conduct are assigned to love."–Ibid. Book 1, chap. Fourth P. 54.

असम्बद्ध भावों के रसवत् ग्रहण तथा रस-विरोधी विचार का स्रोत:–

भावोदय, भावशांति, भावशबलता, भाव-सन्धि तथा रस-विरोध विचार की शास्त्रीव सामग्री का मूल स्रोत साहित्यदर्पण प्रतीत होता है। क्योंकि इस प्रसंग के विवेचन में पाद-टिप्पणियां तथा उदाहरण प्राय: साहित्य-दर्पण से ही दिये गये हैं। विरोधी भावों के मिश्रण के नियम की मनोवैज्ञानिक सामग्री शैण्ड की पुस्तक "Foundation of character Book II chap. v (Some of the laws and of the blending of opposite emotions) के आधार पर दी गई प्रतीत होती हैं। शुक्ल जी की दृष्टि से विरोधी भावों के मिश्रण के नियम:—

"यदि विरुद्ध भाव किसी दूसरे भाव या रस के अंग होकर आवें तो वे एक साथ रह सकते हैं"—रस-मीमांसा, पृ० २५५।

१—रस-मीमांसा, पृ० १९७. २— वही पृ० १७२

"विरोध की मात्रा का निर्णय दो भावों की प्रवृतियों के मिलान से हो सकता है। जैसे, रति भाव आलम्बन को प्यार से प्रसन्न करने के लिए प्रवृत्त करता है करुणा उसके हित-साधन या प्रबोध के लिए। अतः अल्पकारण से उत्पन्न साधारण करुणा विजातीय होने पर भी रति-भाव की विरोधी नहीं"।— रस-मीमांसा, पृ० २५४।

उक्त वाक्यों से शुक्ल जी का तात्पर्य यही जान पड़ता है कि दो विरोधी भाव किसी प्रकार की रसावस्था में तभी मिल सकते हैं जब उनकी विजातीय या विरोधी प्रवृत्तियों का शमन हो जाय। शैण्ड में भी विरोधी भावों के मिश्रण का यही नियम मिलता है। उदाहरणार्थ, शैण्ड की पंक्तियां देखिए:—

" And thus it seems that the most opposite emotions may be fused together when their tendencies are reconciled. Foundation of character, Book ii, chap. V P. 253.

दोनों आचार्यों के उपयुक्त उद्धरणों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात सिद्ध हो गई की शुक्ल जी के विरोधी भावों के मिश्रण के नियम की मनोवैज्ञानिक सामग्री का स्रोत शैण्ड है।

चकपकाहट संचारी की उद्भावना का स्रोतः—

चकपकाहट नामक नवीन संचारीभाव भी शुक्ल जी को शैण्ड की उक्त पुस्तक के विस्मय (Surprise) नामक परिच्छेद को पढ़ते समय कदाचित् सूझा। उक्त परिच्छेद में विस्मय के भेदों का विवेचन करते समय शैण्ड ने (sensational surpriuse) की जो व्याख्या की है तथा जो उदाहरण दिये हैं वे शुक्ल जी के चकपकाहट नामक संचारी भाव की व्याख्या से मिलते हैं। उक्त अवसर पर शुक्ल जी ने पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का स्पष्ट उल्लेख भी किया है। और वंडर तथा सरप्राइज (Wonder and Surprise) के भेद का नाम लिया है। वंडर और सरप्राइज का तुलनात्मक विवेचन शैण्ड में मिलता है। प्रमाणार्थ दोनों आचार्यों की पंक्तियां यहां नीचे दी जाती हैं :-

शुक्ल जी द्वारा चकपकाहट का विवेचनः—

आश्चर्य को लेकर कविजन अद्भुत रस का विधान करते हैं जिसमें कुतूहल-वर्द्धक बातें हुआ करती हैं। इस आश्चर्य से मिलता जुलता एक और हलका भाव होता है जिससे कोई और अच्छा नाम न मिलने के कारण हम चकपकाहट कह सकते हैं और आश्चर्य के संचारी रूप में रख सकते हैं।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने दोनों वंडर और सरप्राइज में भेद किया है। आश्चर्य किसी विलक्षण बात पर होता है–ऐसी बात पर होता है जो साधारणतः नहीं हुआ करती। चकपकाहट किसी ऐसी बात पर होती है जिसकी कुछ भी धारणा हमारे मन में न नहीं हो, और जो एकाएक हो जाय। जैसे, किसी दूर देश में रहने वाले मित्र को सहसा सामने देखकर हम चकपका उठते हैं।[1]

अब शैण्ड की पंक्तियां देखिये:—

"When we are startled our surprise is sensational. Thus we are startled by a sudden loud noise or by some one springing upon us from a hiding place··· we are startled by sudden sensation, not by our cognition of its object or cause, we must feel the shock before cognixing the object ··················we are startled by any strong or rapid change of sensory stimulation; and our surprise is mixed with fear. Foundation of character, Book. ii chap. 12 P. 423.

दोनों आचार्यों के उद्धरणों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो गई कि शुक्ल जी के चकपकाहट नामक संचारी भाव के आविष्कार का स्रोत शैण्ड की उक्त पुस्तक का उपर्युक्त अंश है।

भाव तथा स्थायीभाव के निरूपण में शुक्ल जी के मूलस्रोत को दिखाने का यह अर्थ कदापि नहीं कि वे कोरमकोर परप्रत्ययी थे अथवा पूर्व एवं पश्चिम की बातों को ज्यों का त्यों ग्रहण करते थे। शैण्ड आदि योरोपीय मानसशास्त्र—वेत्ताओं की मनोवैज्ञानिक सामग्री को लेकर उन्होंने संस्कृत–साहित्य-शास्त्र के रस निरूपण में प्रयुक्त भाव सम्बन्धी सामग्री को मनोविज्ञान की कसौटी पर कसने का प्रयत्न किया है और इस परीक्षा में उनकी दृष्टि में जहां संस्कृत के आचार्यों की कमी दिखाई दी है उसे उन्होंने निर्भीकता से व्यक्त किया है। जैसे, शुक्ल जी ने क्रोध को स्थायी-भाव मानने वाले आचार्यों की बात का खंडन किया है और उस स्थल पर युक्तियुक्त ढंग से यह बतलाया है कि क्रोध वास्तव में स्थायीभाव नहीं है, स्थायीभाव है वैर।[2] इसी प्रकार शृंगार में रति को स्थायी भाव न मानकर राग को मूल संस्थापक भाव माना है।[3]

१—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १०७-१०८.

२—रस-मीमांसा, पृ० १७६. ३— वही पृ० १७६.

भरतमुनि की रस परिभाषा सम्बन्धी सूत्र का दोष भी स्पष्ट रूप से बताया है।[१] इसी प्रकार रस-निरूपण की दृष्टि से मनोवैज्ञानिकों की सहायता लेकर शुक्ल जी ने रस में निहित सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्यों को जो प्राचीन आचार्यों द्वारा आधुनिक मानस-शास्त्र के आविष्कार के अभाव में विवेचित नहीं हो सके थे, उन्हें अपनी विवेचना में खोलने का प्रयत्न करते हुए, उनके सूक्ष्म भेदोंपभेदों का विश्लेषण करते हुए, उनके सूक्ष्म अवान्तर रूपों का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने भारतीय समीक्षा की रस-सामग्री को परिवर्धित किया है।

शुक्ल जी ने अपने रस-निरूपण में मनोवैज्ञानिकों की कमी को भी निर्भीकता से बतलाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने रस को मनोवैज्ञानिक बनाने में शैण्ड आदि मानस-शास्त्रियों का भाव-निरूपण जहां तक सहायता पहुंचा सकता था उतना ही लिया। उदाहरणार्थ, शुक्ल जी मनोवैज्ञानिकों के मूल एवं तद्भव भावों की धारणा का ज्यों का त्यों समर्थन नहीं करते।[२] वे मनोवैज्ञानिकों द्वारा निरूपित सभी प्रकार के मूल भावों के आलम्बनों में साधारणीकरण की समता नहीं मानते हैं। इसीलिए उनके द्वारा निरूपित सभी मूलभावों को वे साहित्य-शास्त्र में मूलभाव की संज्ञा नहीं देते। जैसे, मनोवैज्ञानिकों ने आनन्द को मूल भाव माना है किन्तु शुक्ल जी उसके मूल भावत्व का खंडन करते हुए उसे तद्भव या संचारी के भीतर रखते हैं।[३] मनोविज्ञानियों ने स्थायी दशा एवं शीलदशा के भेद की ओर ध्यान न देकर दोनों प्रकार की मानसिक दशाओं को एक ही में गिना दिया है किन्तु शुक्ल जी ने उन्हें अलग अलग रूप में निरूपित किया है।[४]

भावव्यवस्था तथा वर्गीकरण का स्रोतः—

स्थायी तथा संचारी भावों की व्यवस्था[५] तथा उनके वर्गीकरण के आधार[६] का स्रोत नाट्यशास्त्र, साहित्य-दर्पण आदि भारतीय ग्रन्थ हैं। स्थायी तथा संचारी की व्यवस्था, अधिकार-व्यवस्था के रूप में नाट्यशास्त्र में मिलती हैं।[७]

१—रस-मीमांसा, पृ० २०४. २— वही पृ० १७९-१८०.

३— वही पृ० १९७. ४— वही पृ० १८७.

५— वही पृ० १९८. ६— वही पृ० १९९.

७—"विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत्" भरतमुनि।

शुक्ल जी ने स्थायी-संचारी की अधिकार-व्यवस्था वहीं से ली है। स्थाथी और संचारी के वर्गीकरण का मूल आधार शुक्ल जी आलम्बन मानते हैं।[1] उनकी दृष्टि में प्रधान अर्थात् स्थायी भाव का आलम्बन सामान्य होता है। उसके प्रति मनुष्य मात्र का वही भाव होगा जो आश्रय का है। संचारियों का आलम्बन विशेष कोटि का होता है। जो विशेष आलम्बन होगा उसके प्रति श्रोता या दर्शक स्वभावतः उसी भाव का अनुभव नहीं करेगा जिसे व्यंजित करता हुआ आश्रय दिखाया गया है।[2] आलम्बन के सामान्य तथा विशेष धर्म के आधार पर स्थायी तथा संचारी का वर्गीकरण साहित्य-दर्पण से लिया गया है।[3] आलम्बन के आधार पर स्थायी और संचारी का वर्गीकरण शार्ङ्ग-देव के संगीतरत्नाकर में मिलता है:—

रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठ विभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नाः त एव व्यभिचारिणः॥

इस प्रकार शुक्ल जी द्वारा आलम्बन के आधार पर स्थायी तथा संचारी के रूप में भाव-वर्गीकरण के आधारभूत सिद्धान्त का स्रोत संगीत-रत्नाकर, साहित्य-दर्पण, आदि भारतीय ग्रन्थों में मिलता है। रसावस्था तक पहुंचने की दृष्टि से स्थायी और संचारी भाव का अन्तर साहित्य-दर्पण के आधार पर निरूपित किया गया है। इस अवसर पर रस-मीमांसा में साहित्य-दर्पण के उद्धृत श्लोक से इस बात का प्रमाण मिल जाता है:—

रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते।
साहित्य-दर्पण तृतीय परिच्छेद, रस-मीमांसा में उद्धृत पृ० २०३।

संचारी नीरूपण का स्रोतः—

शुक्ल जी ने संचारी का लक्षण, कार्य, स्वरूप, विशेषता आदि का निरूपण नाट्यशास्त्र, काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण के आधार पर किया है। सबसे अधिक आधार साहित्य-दर्पण का है, क्योंकि इस प्रसंग में सबसे अधिक उदाहरण साहित्य-दर्पण से उद्धृत किये गये हैं।[4] विवेचन में मनोवैज्ञानिक प्रामाणिकता के लिए कहीं कहीं शैण्ड से भी सहायता ली गई है।[5]

१—रस-मीमांसा, पृ० २०५. २— वही पृ० १९९.

३—विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ३।१४०.

४—रस-मीमांसा पृ० २०० से २३८.

५— वही पृ० २११, २१२.

रसावस्था में रसावयवों की अखण्डता का स्रोतः—

शुक्ल जी की दृष्टि में रसावस्था में रसावयवों का ज्ञान समूहावलम्बनात्मक ज्ञान-स्वरूप न होकर पानक-रस-न्याय के समान अखण्ड कोटि का होता है।[1] रस-स्थिति में रसावयवों की अखण्डता सम्बन्धी तथ्य का स्रोत साहित्य-दर्पण है।[2] शुक्ल जी रसावस्था में रसावयवों का संश्लेषण दध्यादि-न्याय[3] अथवा प्रपाणक-न्याय के समान[4] मानते हुए उनके द्वारा रस की अभिव्यक्ति दधि अथवा प्रपाणक के समान मानते हैं। शुक्ल जी ने रसावयवों का संश्लेषण तथा इनके संश्लेषण द्वारा रसाभिव्यक्ति सम्बन्धी विचार अभिनवगुप्त[5] तथा साहित्य दर्पणकार[6] से लिया है। क्योंकि अभिनवगुप्त तथा विश्वनाथ की उक्त विचारों से सम्बन्धित उपमायें उन्होंने ज्यों की त्यों अंकित की हैं। रस-प्रक्रिया में शुक्ल जी ने मुख्यतः साधारणीकरण तथा व्यंजना-सिद्धान्त का विवेचन किया है। उनके साधारणीकरण सम्बन्धी विचारों का मूल स्रोत भट्टनायक, भट्टतौत, अभिनव तथा विश्वनाथ के साधारणीकरण-सम्बन्धी विचारों में मिलता है।

रस-प्रक्रिया का स्रोतः—

रस की पूर्ण स्थिति में कवि, नायक तथा सहृदय—तीनों के साधारणीकरण[7] वाली बात शुक्ल जी ने भट्टतौत से[8] साधारणीकरण में आलम्बन के लोक-धर्मी स्वरूप पर बल[9] तथा आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण[10] का तथ्य भट्टनायक से,[11] आश्रय के साथ तादात्म्य तथा विभावादिक के साधारणी-

---

१—रस-मीमांसा—पृ० २०४.

२—सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः—साहित्यदर्पण—३।२,

३—रस-मीमांसा—पृ० ४१४.   ४—रस-मीमांसा—पृ० १७५.

५—पानकादिरसास्वादोऽपि किं गुड़मरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्।—
अभिनवभारती   पृ० २८६.

६—व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तर परिणतो व्यक्तीकृत एव रसः।—
साहित्यदर्पण, हि० वि० टीका—पृ० ६७   ७—रस-मीमांसा पृ० ६७, ६६.

८—नायकस्य कवेः श्रोतुः समानानुभवस्तथा—भट्टतौत, लोचन पृ० २६ पर उद्धृत.

६—चिन्तामणि पहला भाग —पृ० ३१३, ३३८   १०- वही पृ० ३१३.

११—निविड़निज मोह संकटतानिवारणकारिणा विभावादि साधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रसः।
अभिनवभारती में भट्टनायक सम्बन्धी विवेचन से. पृ० २७८.

करण[1] वाली बात साहित्य-दर्पण से[2], साधारणीकरण के मूलाधार कवि तथा सहृदय के सामाजिक मन की विशेषतायें[3] अभिनवगुप्त[4] से ग्रहण की हैं।

शुक्ल जी का मत है कि काव्यानुभूति ही वह प्रधान वृत्ति है जो व्यंजना की प्रेरणा करती है। अतः व्यंजना या व्यंजक उक्ति से भिन्न काव्यानुभूति कोई वस्तु नहीं[5]। इस प्रकार शुक्ल जी व्यंजक वाक्य में रस मानते हैं[6] अर्थात् उनकी दृष्टि में कलात्मक उक्ति में ही रस होता है। काव्यमयी वाणी या उक्ति ही उनके लिये सब कुछ है क्योंकि उनके मत से उक्ति ही कविता है जो रसानुभूति कराती है[7]। उक्ति ही काव्य है अथवा उक्ति में ही रस है—शुक्ल जी के इस सिद्धान्त का स्रोत कर्पूरमंजरी, काव्य-मीमांसा, सरस्वती कण्ठाभरण, आदि ग्रन्थों में है:—

उक्ति विसेसो कव्वं भासा जा होइ सा होउ—कर्पूरमंजरी—राजशेखर—

"उक्ति मार्गम् अधिहृदयं प्रतिभासयति या सा प्रतिभा।"......

काव्य-मीमांसा...राजशेखर, पृ० ११

विशिष्टा भणितिर्या स्याद उक्ति तां कवयो विदुः। .....

सरस्वती कण्ठाभरण · भोज, पृ० १,७६

यहाँ पर शुक्ल जी उक्ति में ही कविता अथवा रस मानकर रीति का समर्थन तोकरते हैं पर उसे काव्यात्मा का पद नहीं देते[8]। इनकी दृष्टि में काव्यात्मा का पद रस को ही मिल सकता है[9]। शुक्ल जी ने जिस व्यंजनात्मक अथवा कलात्मक उक्ति का प्रतिपादन किया है उसका समर्थन भोज, अभिनवगुप्त,

---

१—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ३१२.

२— तत्प्रभावेण यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।—हि०वि० टीका ३।१०

३—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २९२. २९४, ३२३, ३२४, ३३१, ३९२,

४—कविर्हि सामाजिक तुल्य एव अभि०भा० पृ० २९५, येषां काव्यानुशीलनाभ्यासविशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी भवनयोग्यता हृदयसंवादभाजः ते सहृदयाः।
लोचन पृ० ११.

५—काव्य में रहस्यवाद पृ० ८१. ६—वही पृ० ६६.

७— वही पृ० ६७, ६८. ८—रस-मीमांसा पृ० ३७०.

९—अभिभाषण पृ० ३०.

भट्टनायक आदि रसवादी आचार्य भी करते हैं। उक्त तीनों रसवादी आचार्य रस-उत्पत्ति-हेतु काव्य-कला की आवश्यकता स्वीकार करते हैं।

व्यंजना प्रक्रिया का स्रोतः—

आचार्य शुक्ल रस को व्यंग्य मानते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि में रस व्यंजना प्रक्रिया से उत्पन्न होता है[१]। वे रस-प्रक्रिया में भटनायक के साधारणीकरण के सिद्धान्त का समर्थन बहुत दूर तक करते हुए भी रस निष्पत्ति में उनके तीनों व्यापारों—अभिधा, भावकत्व एवं भोजकत्व के स्थान पर व्यंजना प्रक्रिया को ही मानते हैं। उनके व्यंजना-सिद्धान्त का मूल स्रोत आनन्दवर्धन, अभिनव-गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों की रस-प्रक्रिया है, जिसमें रस निष्पत्ति व्यंजना-प्रक्रिया द्वारा सिद्ध की गई है। उनके द्वारा विवेचित शब्द शक्तियों की सामग्री का मूल स्रोत साहित्य-दर्पण है। शुक्ल जी के विवेचन में अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना की परिभाषा, उनके उदाहरण, उनके भेदोपभेदों की विवेच्य सामग्री तथा उदाहरण अधिकांश साहित्यदर्पण से लिये गये हैं[२]। शब्द-शक्तियों के विवेचन वाले परिच्छेद की प्रायः सभी पाद टिप्पणियां साहित्यदर्पण की हैं[३]। व्यंजना की स्थापना के तर्क भी प्रायः साहित्यदर्पण से लिए गये हैं[४]। व्यंजना-प्रक्रिया से रसाभिव्यक्ति को सिद्ध करने का आधार ध्वन्यालोक, अभिनव-भारती, साहित्यदर्पण आदि से लिया गया है। शुक्ल जी वस्तु-व्यंजना तथा अलंकार-व्यंजना को अनुमान प्रक्रिया से सिद्ध कर, उनकी प्रक्रियाओं को रस-व्यंजना की प्रक्रिया से भिन्न मानते हैं। प्राचीन रसवादी आचार्यों के समान उनका अन्तर केवल संलक्ष्यक्रम एवं असंलक्ष्यक्रम ध्वनि का ही नहीं मानते[५]। वस्तु-व्यंजना के सम्बन्ध में शुक्ल जी महिभट्ट का पक्ष ठीक मानते हैं। इस प्रकार वस्तु-व्यंजना की प्रक्रिया सम्बन्धी धारणा का स्रोत "व्यक्ति विवेक" है। किन्तु वहां भी वे वस्तु-व्यंजना तथा अलंकार-व्यंजना की अनुमान-प्रक्रिया को महिमभट्ट की अनुमान-प्रक्रिया से कुछ भिन्न मानते हैं। काव्यगत वस्तु-व्यंजना तथा अलंकार-व्यंजना की अनुमान-प्रक्रिया को वे व्यवहारगत अनुमान प्रक्रिया में रखकर उसे न्यायगत अनुमान प्रक्रिया से भिन्न करते हैं[७]।

१—काव्य में रहस्यवाद पृ० ६८. २—साहित्यदर्पण द्वितीय तथा पंचम परिच्छेद,

३—रस-मीमांसा पृ० ३७० से ४१४ तक ४—साहित्यदर्पण पचम परिच्छेद,

५—अभिभाषण पृ० ९, ६— वही पृ० १०.

७—रस-मीमांसा, पृ० ४११, ४१२, ४१३.

रस का स्वरूप स्रोतः—

शुक्ल जी रस को आस्वाद-स्वरूप मानते हैं[1]। रस को आस्वाद स्वरूप मानने का विचार भरत, भट्टनायक अभिनवगुप्त तथा विश्वनाथ में मिला है[2]। शुक्ल जी अपने रस सम्बन्धी विचारों में इन्हीं आचार्यों से सबसे अधिक प्रभावित हैं। अतः यह अनुमान लगाना सरल है कि रस को आस्वाद स्वरूप मानने का विचार शुक्ल जी को भरत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त तथा विश्वनाथ से मिला। शुक्ल जी रसास्वाद को अपने निजी अर्थ में आनन्द स्वरूप मानते हैं। इसीलिए वे रसानन्द शब्द को परम्परागत अर्थ अथवा व्यक्तिगत सुखभोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण नहीं करते[3]। उसका अर्थ हृदय की व्यक्ति बद्ध अवस्था से मुक्त होना मानते हैं[4]। उनके मत में हृदय की इसी मुक्त दशा के कारण दुखात्मक भाव भी रसात्मक हो जाते हैं[5]। उनकी दृष्टि में करुणा, क्रोध, जुगुप्सा, भय आदि दुःखात्मक भाव रसावस्था में सामाजिक रूप धारण करने पर सत्वोद्रेक के कारण प्रकृत स्वरूप का विसर्जन कर देते हैं। अतः क्षोभकारक नहीं होते[6]। रसावस्था में हृदय की मुक्तावस्था, सत्वोद्रेकता, सामाजिकता सम्बन्धी विचार उन्हें भट्टनायक,[7] अभिनवगुप्त,[8] विश्वनाथ,[9] जगन्नाथ[10] आदि से प्राप्त हुए।

१—चिन्तामणि प० भाग पृ० ३४२.

२—आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः। नाट्यशास्त्र पृ० ७१,
परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते इति । हृदयदर्पण अभिनव-भारती में उद्धृत पृ० २१६
आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थ-मुच्यते। अभिनवगुप्त.
अयमास्वाद्यते रसः। साहित्यदर्पण ३.२.

३—चिन्तामणि प० भाग पृ० ३४२.

४—वही पृ० ३४२.। ५— वही पृ० ३४२,

६—अभिभाषण पृ० ४१.

७—हृदिविस्तार विकासलक्षणेन सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय निज संविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वाद संविधेन भोगेन परं भुज्यते इति । हृदय दर्पण
अभि० भा० में उद्धृत. पृ० २७८, २७९.

८—कविगत साधारणीभूत संविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नाट्य व्यापारः सैव च संवित् परमार्थतो रसः। अभिनव भारती, अध्याय ६.

९—साहित्यदर्पण,-रस स्वरूप ३.२.

१०—वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः। रस गंगाधर पृ० २३.

शुक्ल जी रस को लौकिक मानते हैं, इसीलिए रसानुभूति को प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अनुभूति नहीं मानते बल्कि उसी का एक उदात्त या अवदात स्वरूप मानते हैं।[१] उनके विचार से काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में ही होती है, और भावानुभूति की स्थिति में भाव के संचरण का क्षेत्र जगत का यह व्यक्त प्रसार ही होता है। इसको और स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी यह कहते हैं कि रसानुभूति जीवन के भीतर की ही अनुभूति है—आसमान से उतारी हुई कोई वस्तु नहीं है।[२] उन्होंने रस के लोकोत्तरत्व, ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व तथा अलौकिकत्व की व्याख्या इस लोक से सम्बन्ध न रखने वाली किसी स्वर्गीय विभूति के रूप में नहीं किया है।[३] उनके मत में रसानुभूति अपनी सामाजिकता, चिन्मयता, सत्वोद्रेकता, हृदय की मुक्तावस्था, अहं के विसर्जन के कारण लोकोत्तर, अलौकिक या आध्यात्मिक कही जा सकती है।[४] उनकी दृष्टि में रस-स्थिति में अभेद-स्थिति, विश्वात्मक अनुभूति, चेतना की आवरणभग्नता, व्यक्तित्व की परिहार-दशा उत्पन्न होने के कारण ही आचार्यों ने उसे ब्रह्मानन्द-सहोदर की उपाधि दी है।[५] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी रस को लौकिक मानते हुए मनोमय-कोश से आगे नहीं बढ़ने देना चाहते। इसीलिए उन्होंने उसके आध्यात्मिक, अलौकिक एवं लोकोत्तर पक्ष का खण्डन किया है। यहाँ उनके समीक्षा-सिद्धान्तों के स्रोत की दृष्टि से प्रश्न यह है कि उनके द्वारा निरूपित रस के लौकिक स्वरूप का स्रोत क्या है। रसवादी आचार्यों में भरतमुनि ने रस को अलौकिक नहीं कहा है। रस को अलौकिक कहने की चाल दार्शनिक व्याख्याकारों के कारण पड़ी। भरतमुनि ने विभावों एवं अनुभावों को लोक प्रसिद्ध माना है एवं नाटक को लोकवृत्त का अनुकरण।[६] भरत के अनुयायी धनंजय भी अपने दशरूपक में नाट्य को "अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्" कह कर रस के लौकिकत्व का समर्थन करते हैं। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस को लौकिक मानने की धारणा शुक्ल जी को भारतीय आचार्यों से ही मिली होगी, विशेषतः भरत तथा धनंजय से। शुक्ल जी की उक्तियां से विदित है कि उन्हें रस को मनोमय कोश के भीतर रखने वाले सिद्धान्त का स्रोत कुछ दूर तक आधुनिक मनोविज्ञान से तथा कुछ दूर तक भारतीय काव्य दृष्टि से प्राप्त हुआ।

१—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २४४. २—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ८२.

३—चिन्तामणि, पहला भाग. पृ० २३६.

४—चिन्तामणि, पहला भाग, १६२, २०७. २११, २३६, २३७.

५—चिन्तामणि, पहला भाग, २३६.

६—तत्र विभावानुभावौ लोक प्रसिद्धावेव । लोकस्वभावोपगतत्वाच्चैषां लक्षणं नोच्यते। नाट्यशास्त्र, पृ० ८०। लोकवृत्तानुकरणं नाट्यं। वही १।१०६.

इस तथ्य की स्पष्टता के लिए शुक्ल जी की उक्तियां नीचे दी जा रही हैं :—

"प्रत्यय बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति—इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है"। रस-मीमांसा, पृ० १७८। शुक्ल जी ने भाव की उक्त परिभाषा के अतिरिक्त भाव-विधान, भाव-कोश की व्याख्या, मनोमय कोश के रचनात्मक तत्व तथा नियम शैण्ड की प्रसिद्ध पुस्तक "फाउण्डेशन ऑफ कैरेक्टर" से लिये हैं। इससे यह अनुमान लगाना सरल है कि रस को मनोमय कोश के भीतर रखने का प्रामाणिक विचार उन्हें आधुनिक मनोविज्ञान से मिला है। आचार्य शुक्ल का दृढ़ मत है कि भारतीय काव्य दृष्टि गोचर अभिव्यक्ति को लेकर ही चलती रही है। चेतना के कोने के बाहर न वह झांकने जाती है, न जा ही सकती है, मनुष्य के ज्ञान क्षेत्र के भीतर ही उसका संचरण होता है।[1] वे भारतीय काव्य की आत्मा रस मानते हैं। इस प्रकार उनकी उक्त उपर्युक्त उक्तियों तथा धारणाओं से यह अनुमान लगाना सरल है कि उन्हें रस को मनोमय कोश के भीतर रखने का बीजभूत विचार भारतीय काव्य-दृष्टि से मिला तथा उसको प्रामाणिक करने की सामग्री उन्हें आधुनिक मनोविज्ञान से प्राप्त हुई।

शुक्ल जी रस को लौकिक मानते हुए भी सुखात्मक भावों की अनुभूति सुखात्मक तथा दुःखात्मक भावों की अनुभूति दुःखात्मक नहीं मानते, साथ ही परम्परा गत अर्थ में उसे आनन्दात्मक भी नहीं मानते।[2] वे रस को सुख-दुःख की भावना से परे मानते हैं।[3] उनका तर्क है कि करुण रस प्रधान नाटक देखते समय दर्शकों के निकलने वाले आंसू दुःख के ही आंसू होते हैं। उनके आंसू को आनन्द का आंसू कहना वे बात टालना समझते हैं। दर्शक वास्तव में दुःख का ही अनुभव करते हैं किन्तु हृदय की मुक्तावस्था, सत्वोद्रेकता, चिन्मयता के कारण वह दुःख भी रसात्मक हो जाता है।[4] यह दुःख उनके मत के अनुसार लौकिक दुःख से भिन्न होता है।[5] इसी प्रकार क्रोध, जुगुप्सा, भय आदि भाव रसावस्था में दुखात्मक ही होते हैं पर रसावस्था में सामाजिक रूप धारण करने के कारण सत्वोद्रेकता की विशेषता से संपृक्त होने के कारण अपने प्रकृत स्वरूप का विसर्जन कर देते हैं, अतः क्षोभकारक नहीं होते अर्थात् संविद्विश्रान्ति कोटि के होते हैं। उनकी दृष्टि में काव्यानुभूति काल का

१—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ५६, २—अभिभाषण, पृ० ४१.

३—चिन्तामणि. पहला भाग, पृ० ३५५, ४—वही पृ० ३०२

५—अभिभाषण, पृ० ४१.

सुख भी निर्वैयक्तिक होने के कारण लौकिक सुख से भिन्न होता है। इस प्रकार शुक्ल जी रस को न तो पुराने आचार्यों के समान आनन्दात्मक ही मानते हैं और न लौकिक अर्थ में सुखदुखात्मक ही, वरन् लोकोत्तर या अलौकिक आनन्द से भिन्न, लौकिक सुख-दुख की भावना से परे हृदय की मुक्तावस्था से उद्भूत संविद्विश्रान्ति कोटि का अनुभव मानते हैं।[१] हमारे यहाँ के साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में रस के इस स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न हजारों वर्षों से हुआ है। रामचन्द्र गुणचन्द्र,[२] रुद्रभट्ट[३] तथा मधुसूदन सरस्वती[४] ने इसे सुख-दुःखात्मक कोटि का माना है, अन्य आचार्यों ने आनन्दात्मक[५]। शुक्ल जी ने इस प्रसंग में निस्संकोच पूर्वक यह कहा है कि पुराने आचार्यों की तद्विषयक उक्त धारणाओं से उनका समाधान नहीं होता।[६] इस अवसर पर मनोवैज्ञानिकों से भी उन्होंने अपनी असहमति प्रगट की है। उनका कहना है कि मनोविज्ञानियों ने काव्य-श्रवण से उत्पन्न भावानुभूति को क्रीड़ावृत्ति अथवा अनुभूत्याभास मानकर संतोष किया है[७], मेरा अपना विचार कुछ और ही है। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस के उक्त स्वरूप का स्रोत न तो केवल भारतीय आचार्यों का मत है न केवल आधुनिक मानस-शास्त्रियों का। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्ल जी ने रामचन्द्र–गुणचन्द्र द्वारा निरूपित रस के सुख-दुखात्मक स्वरूप, भट्टनायक के सत्वोद्रेक, अभिनवगुप्त के संविद्विश्रान्ति, विश्वनाथ के चिन्मयता तथा मानस-शास्त्रियों के सौन्दर्यानुभूति काल की अहं विसर्जन तथा निस्संगता (Impersonality and detachment) नामक विशेषताओं के संश्लेषण से रस का उपर्युक्त स्वरूप निर्मित किया है।

प्रत्यक्ष रूप-विधान, स्मृतिरूप-विधान तथा कल्पित रूप-विधान के रूप में रसात्मक बोध के त्रिविध स्वरूपों के वर्गीकरण का मूल स्रोत एडिसन का

१—इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय

२—सुख-दुखात्मको रसः, नाट्य-दर्पण, कारिका १०९।

३—करुणभयानामपि उपादेयत्वं सामाजिकानाम् रसस्य सुखदुखात्मकतया तदुभय लक्षणेन उपपद्यते। अतएव तदुभयजनकत्वम्, रसकलिका।

४—द्रवीभावस्य च सत्वधर्मत्वात् तं विना च स्थायीभावासम्भवात् सत्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोऽशमिश्रणात् तारतम्यम् अवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवः। भक्तिरसायन, पृ० २२।

५—भरत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्य।

६—अभिभाषण, पृ० ४१।   ७—वही, पृ० ४१।

'कल्पना के आनन्द' (pleasures of Imagination) नामक निबंध है। एडिसन ने अपने उक्त सुदीर्घ काय निबंध में इस बात का विस्तार से विवेचन किया है कि प्रत्यक्ष जीवन के सुन्दर एवं साधारण रूपों के दर्शन से कल्पनात्मक आनन्द उत्पन्न होता है[१]। इसी प्रकार स्मृति के सहारे उठे हुए अखण्ड कोटि के रूपों एवं दृश्यों से भी कल्पनाजन्य आनन्द मिलता है[२]। कल्पित-रूप-विधान के भीतर उसने साहित्यगत आनन्द का विवेचन किया है[३]। शुक्ल जी द्वारा विवेचित त्रिविध रूप में रस-स्वरूप[४] के वर्गीकरण का स्रोत एडिसन का उक्त निबंध है। प्रामाणिकता के लिए एडिसन की तत्सम्बन्धी पंक्तियां नीचे दी जाती हैं:-

"Imust therefore desire him to remember that by the pleasures of the imagination I mean only such pleasures as arise originally from sight and that I divide these pleasures into two kinds; my design being first of all to discourse of those primary pleaures of the imagination, which entirely proceed from such objects as are before our eyes; and in the next place to speak of those secondary pleasures of the imagination which flow from the ideas of visible objects, when the objects are not actually before the eyes, but are called up in to our memories or formed in to agreeable visions of things that are either absent or fictitious."—The Spectator, Vol. III No. 411, june 21 (1712) p. 277.

1—The Spectator, paper II on pleasures of imagination, No. 412, june 23 (1712).

2—Ibid. paper VII Ibid. No. 417 June 28, 1712.

3—Ibid. paper VI, VIII, IX, X. No. 416. June, 1712.

VIII P. 418 June 30, 1712,

IX P. 419, July I, 1712,

X P. 420 Jnly II, 1712.

४—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० ३३० ।

त्रिविध रूप में रसात्मक-बोध के वर्गीकरण सम्बन्धी शुक्ल जी की पंक्तियां:-
"अतः रूप-विधान तीन प्रकार के हुए-

१—प्रत्यक्ष रूप-विधान
२—स्मृत रूप-विधान और
३—कल्पित रूप-विधान।

इन तीनों प्रकार के रूप-विधानों में भावों को इस रूप में जागरित करने की शक्ति होती है कि वे रस-कोटि में आ सकें।" चिं० प० भा० पृ० ३२०।

शुक्ल जी द्वारा प्रत्यक्ष रूप-विधान-जन्य रस-स्वरूप तथा स्मृति-रूप-विधान जन्य रस-स्वरूप का विवेचन एडिसन के पूर्वकथित दो प्रकार के रसात्मकबोध के स्वरूपों की सामग्री के आधार पर निर्मित हुआ है। कल्पित-रूपविधान-जन्य रस स्वरूप की सामग्री का मूल-स्रोत भारतीय साहित्य-शास्त्र है। उसको स्पष्ट करने में तथा उसके विविध तत्वों को विवृत करने में एडिसन, अन्य यूरोपीय मानस-शास्त्रियों तथा साहित्य-शस्त्रियों का यत्र-तत्र प्रभाव है। शुक्ल जी द्वारा निरूपित रसात्मक-बोध के त्रिविध स्वरूपों के स्रोत की स्पष्टता के लिए शुक्ल जी तथा एडिसन की पंक्तियां तुलनात्मक अध्ययन तथा निष्कर्ष हेतु नीचे दी जाती हैं :—

प्रत्यक्ष रूप-विधान से संबन्धित शुक्ल जी की पंक्तियां :

"रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अन्त-र्वृत्ति नहीं है[1]। प्रत्यक्ष या वास्तिविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अन्त-र्गत मानने में कोई बाधा नहीं। मनुष्य जाति के सामान्य आलम्बनों के आखों के सामने उपस्थित होने पर यदि हम उनके प्रति अपना भाव व्यक्त करेंगे तो दूसरों के हृदय भी उस भाव की अनुभूति में योग देंगे और यदि दूसरे लोग भाव व्यक्त करेंगे तो हमारा हृदय योग देगा। इसके लिये आवश्यक इतना ही है कि हमारी आंखों के सामने जो विषय उप-स्थित हों वे मनुष्य मात्र या सहृदय मात्र के भावात्मक सत्व पर प्रभाव डालने वाले हों[2]।"

एडिसन की पंक्तियां:—

"By the pleasures of the imagination or fancy, I here mean such as arise from visible objects, either when we call up their in to our minds by paintings,

१—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० ३४४। २—वही पृ० ३३८।

statues, descriptions, or any the like occasion".–The Spectator, Vol. III, No. 411, June 21, 1712, P. 277.

"I shall first consider those pleasures of the Imagination which arise from the actual view and survey of outward objects, and these I think, all proceed from the sight of what is great, uncommon or beautiful".—The Spectator, Vol. III. N. 412, June 23, 1712, P. 279.

शुक्ल जी तथा एडिशन की उपर्युक्त पंक्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि शुक्ल जी के प्रत्यक्ष-रूप-विधानजन्य रस-स्वरूप का मूल स्रोत एडिसन का उक्त निबंध है। इसके पश्चात् इस मत की पुष्टि के लिए उन्हें प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक समीक्षक रिचर्ड्स की भी तद्विषयक कुछ पंक्तियां मिलीं जिनका उल्लेख उन्होंने उक्त विवेचन के प्रसंग में किया है।

रिचर्ड्स की पंक्तियाँ :—

"There is no such gulf between poetry and life as over- literary persons sometimes suppose. There is no gap between our every day emotional life and the material of poetry. The veral expression of this life, at its finest, is forced to use the technique of poetry. If we do not live in consonance with good poetry, we must live in consonance with bad poetry. I do not see how we can avoid the conclusion that a general insensitivity to poetry does witness allow level of general imaginative life."—Practical criticism (Summary) [१]

प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति कोटि में आ सकती है। इसी बात की ओर ध्यान दिलाना शुक्ल जी के निबंध "रसात्मक-बोध के विविध रूप" का उद्देश्य है।[२] शुक्ल जी के प्रत्यक्ष रूप विधान के स्रोत का उल्लेख ऊपर हो चुका। यहाँ स्मृति-रूप-विधान के स्रोत पर विचार किया जायगा।

१—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० ३४१ पर उद्धृत।

२—चिंतामणि पहला भाग, पृ० ३३१.

तुलनात्मक अध्ययन तथा निष्कर्ष के लिए शुक्ल जी तथा एडिसन के निबंधों की स्मृति-रूप-विधान सम्बन्धी पदावली नीचे दी जाती है।

शुक्ल जी की पंक्तियां :—

"जिस प्रकार हमारी आंखों के सामने आए हुए कुछ रूप-व्यापार हमें रसात्मक भावों में मग्न करते हैं उसी प्रकार भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई कुछ परोक्ष वस्तुओं का वास्तविक स्मरण[1] अथवा उसके किसी एक अंश को देखकर उसके पूर्ण स्वरूप का स्मरण,[2] अथवा तत्सदृश कुछ वस्तुओं को देखकर उसके पूर्ण दृश्य का स्मरण[3], अथवा अध्ययन या श्रवण द्वारा अनुभवगोचर की हुई अतीत कालीन वस्तुओं, व्यक्तियों तथा स्थलों के स्मारकों भग्नावशेषों को देखकर[4] अथवा पढ़कर[5] उनके पूर्ण स्वरूप का स्मरण, प्रत्यभिज्ञान तथा अनुमान भी रसात्मक होता है"।

एडिसन की पंक्तियां :—

"Secondary pleasures of the Imagination which flow frow the ideas of the Visible objects, when the objects are not actually before our eyes, but are called upon in to our memories or formcd in to agreeable visions of things that are either absent or Fictitious."—The Spectator, Vol. III No. 411, June 21, 1712.

"We may observe, that any single circumstance of what we have formerly seen often raises up a whole scene of imagery and awakens number less ideas that before slept in the imagination; such a particular smell or colour is able to fill the mind; on a sudden, with the picture of the fields or gardens where we first met with it, and to bring up in to view all the variety of images that once attended.

१—चिन्तामणि पहला भाग पृ० ३४५. २— वही पृ० ३४८.

३—वही, पृ० ३५३. ४— वही प० ३५२.३५६,३५७.

५—वही, पृ० ३४९.

it. Our imagination takes the hint, and leads us unexpectedly in to cities or theatres, plains or meadows."
The Spectator Vol., III, No. 417, June 28, 1712.

" We may further observe; when the fancy thus reflects on the scenes that have past in it formerly, those, which were at first pleasant to behold, appear more so upon reflection, and that the memory heightens the delightfulness of the original."–The Spectator, Vol. III No. 417. June 28, 1712.

"When I say the ideas we receive from statues, descriptions or such like occasions, are the same that were once actually in our view, it must not be understood that we had once seen the very place, action or person which are carved or described. It is sufficient that we have seen places, persons or actions in general which bear a resemblance, or at least some remote analogy with what we find represented. Since it is in the power of the imagination, when it is once stocked with particular ideas, to enlarge, compound and vary them at her own pleasure." "The Spectator. Vol. III No, 416; June 27, 1712. P. 290–291.

"This secondary pleasure of the imagination proceeds from that action of the mind, which compares the ideas arising from the origiral objects with the ideas we receive from the statue, pictute, description or sound that represents them."–The spectator, Vol. III No. 416, June 27, 1712, P. 291, 292.

शुक्ल जी तथा एडिसन की उपर्युक्त पदावलियों की तुलना से यही निष्कर्ष निलता है कि उनके स्मृति-रूप-विधान सम्बन्धी रस-स्वरूप का मूल स्रोत एडिसन का उक्त निबंध ही है।

शुक्ल जी के कल्पित रूप-विधान-जन्य रस-स्वरूप का मूल-स्रोत संस्कृत के साहित्य-शास्त्र के रस सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलता है जिसका दिग्दर्शन यथा प्रसंग

इसके पहले हुआ है और आगे भी किया जायगा, यहाँ इतना ही कहना है कि इसकी कतिपय सामग्री का स्रोत एडिसन के 'कल्पना के आनन्द' (The pleasures of imagination) नामक निबंध में भी मिलता है। उदाहरणार्थ यह पहले बताया जा चुका है कि प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन से उद्भूत आनंद में शुक्ल जी ने रसानंद की सत्ता मानी है। एडिसन भी प्रकृति-वर्णन तथा दर्शन में,[१] शुक्ल जी के समान ही उसके ऊजड़ तथा बेढंगे भाग के वर्णन एवं दर्शन में [२] आनन्द की उपलब्धि संभव मानता है। इससे अनुमान लगाना सरल है कि शुक्ल जी को प्रकृति के आलम्बन रूप में रस की सत्ता मानने में एडिशन से कुछ प्रेरणा अवश्य मिली होगी।

एडिसन की दृष्टि में कल्पनानन्द, मन की शक्तियों को बहुत ही मधुर परिश्रम देता है जो बिना किसी कष्ट और कठिनता के उनको निरुद्यमता वा आलस्य से उठाकर सचेत करता है[3]। इधर शुक्ल जी के मत से भी रसानन्द हृदय के भावों का व्यायाम कराता है[४] और उसे भाव सम्बन्धी कार्य की ओर वेग से अग्रसर करता है। एडिसन कल्पना के आनन्द को दोष-रहित तथा पाप-शून्य मानता है।

---

1 &2. "He meets with a secret refreshment in a description and often feels a greater satisfaction in the prospects of ields and meadows, than another does in the possession. It gives him, indeed, a kind of property in every thing he sees, and makes the most rude uncultivated parts of nature administer to his pleasure; so that he looks upon the world, as it were in another light and discovers in it a multitude of charms that conceal themselves from the generality of mankind." The Spectator, Vol. III, No. 411, June 21, 1712, P. 278.

3. "Of this nature are those of the imagination, which do not require such a bent of thought as is necessary to our more serious employment, nor at the same time, suffer the mind to sink in to that negligence and remissness, which are apt to accompany our more sensual delights but like a gentle exercise to the faculties, awaken them from sloth and idleness without putting them upon any labour or difficulty.—The Spectator, Vol III, No, 411, June 21, 1712, P. 278.

४—इसी प्रबंध का चौथा अध्याय

उसके मत से कल्पनानन्द शरीर और मन दोनों पर बहुत उत्तम प्रभाव डालता है[1]। मन को उदात्ततर स्थिति की ओर ले जाता है[2]। इधर शुक्ल जी भी रसानन्द की स्थिति को निर्वैयक्तिक, सात्विक आदि कहकर उसे पाप-शून्य एवं निर्दोष समझते हैं। उनके अनुसार रसानन्द मन को स्वस्थ एवं उदात्त बनाता हुआ जीवन के महान आदर्शों की ओर उन्मुख करता है।

एडिसन कल्पित रूपविधानजन्य आनन्द को लौकिक मानता है[3]। इधर शुक्ल जी भी रस को लौकिक कहते हैं। यद्यपि शुक्ल जी द्वारा रस को दोष-रहित, निर्वैयक्तिक, सात्विक, लौकिक मानने वाले मत का मूल स्रोत भारतीय है। किन्तु शुक्ल जी द्वारा एडिसन के उक्त निबन्ध के अनुवाद तथा उसमें रस-स्वरूप सम्बन्धी उपर्युक्त सामग्री की अनुरूपता देखकर यही अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्हें रस-स्वरूप सम्बन्धी उपर्युक्त धारणा को अपनाने में एडिसन से भी अवश्य कुछ बल मिला होगा।

एडिसन रसानन्द को कल्पना का आनन्द मानता है। वह कल्पनानन्द के आस्वादनार्थ कवि तथा सामाजिक दोनों के लिए कल्पना का विकास अनिवार्य समझता है[4]। इधर शुक्ल जी भी काव्य की पूर्ण अनुभूति के लिए

1—Delightful scenes, whether in nature, painting or poetry have a kindly influence on the body, as well ason the mind, and not only serve to clear and brighten the imagination, but are able to disperse grief and melancholy and to set the animal spirits in pleasing and agreeable motions." The Spectator, Vol. III, No. 411, June 21, 1712, P. 278.

2—"The pleasures of the imagination, taken in the full extent, are not so gross as those of sense, nor so refined as those of the understanding. The lost are indeed more preferable, because they are found on some new knowledge or jmprovement in the mind of man.".—Ibid.

3—Ibid.Paper I, VI, VIII, IX, X, XI,.

4—"But this is certain that a noble writer should be born with this faculty in its full strength and vigour, so as to be able to receive lively ideas from outward objects, to retain them long and to range them together, upon occasion, in such figures and representations as are most likely to hint the fancy of the reader. A Poet should take as much pains in forming his imagintion, as a philosopher in cultivating his understanding" The Spectator, Vol. III, June 28, No. 417, 1712, P. 294.

कल्पना का व्यापार कवि तथा श्रोता दोनों के लिए अनिवार्य मानते हैं[1]। काव्यगत रस अथवा काव्यानन्द के विवेचन में भारतीय साहित्य-शास्त्र में कल्पना का विवेचन कहीं नहीं मिलता । अतः एडिसन तथा शुक्ल जी की उपर्युक्त तुलना से यह अनुमान लगाना सरल है कि वे साहित्यगत रस-स्वरूप को कल्पित-रूप विधान कोटि का मानने में एडिसन से प्रभावित थे ।

रस कोटियों का स्रोतः—

शुक्ल जी ने रस की तीन कोटियां मानी हैं: उत्तम, मध्यम तथा अधम ।[2] उनके अनुसार रस की उत्तम कोटि, जिसमें आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण होता है,[3] आलम्बन लोकधर्मी कोटिका होता है,[4] आश्रय के साथ तादात्म्य होता है,[5] कवि, नायक, सामाजिक तीनों का साधारणीकरण होता है[6]—भारतीयों द्वारा प्रतिपादित रसस्थिति है जिसका प्रतिपादन भट्टनायक, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के ग्रन्थों में मिलता है। शुक्ल जी की उक्ति से भी यह विदित होता है कि उनके द्वारा निरूपित रस की उत्तम स्थिति का स्रोत भारतीय साहित्य शास्त्र है ।

शुक्ल जी ने रस की मध्यम दशा के भीतर भाव की शील दशा;[7] भाव स्थिति[8], रसाभास[9], भावाभास[10], भावशबलता[11], भावोदय[12], भावसंधि[13], आदि को रक्खा है। रस की इस मध्यम दशा को रस दशा मानकर शुक्ल जी ने मानव-चरित्र की विलक्षणताओं, मनुष्य-चरित्र के सूक्ष्म भेदोपभेदों, उसके विभिन्न प्रकार के व्यवहारों आदि के द्वारा उसके यथार्थ पक्ष को भी रस की सीमा के भीतर समाहित करने का प्रयत्न किया है। अब देखना यह चाहिए कि रस की इस मध्यम दशा का स्रोत क्या है? इस विषय में शुक्ल जी की निजी उक्ति यही स्पष्ट करती है कि इसका स्रोत भारतीय है। इसकी स्पष्टता के लिए शुक्ल जी का मत यहां ज्यों का त्यों रखना आवश्यक है:—"रसात्मक प्रतीति

१—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० ३६९.

२—अभिभाषण, पृ० ८६.

३—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० ३१२.

४—चिन्तामणि पहला भाग पृ० ३१३.

५— वही पृ० ३१४. ६—रस-मीमांसा, पृ० ६९.

७—अभिभाषण, पृ० ८५.

८—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ५६. ६०.

९—रस—मीमांसा, पृ० ९१, ६२.

१०—चिन्ता० प० भा०, पृ० ३१४,३१५.

११—१२,१३, रस—मीमांसा, पृ० २३६.

एक ही प्रकार की नहीं होती। दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण-ग्रन्थों की रस-पद्धति के भीतर ही, सूक्ष्मता से विचार करने से मिलती है। भारतीय भावुकता काव्य के दो प्रकार के प्रभाव स्वीकार करती है:–

१.—जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना।

२.—जिस भाव की व्यंजना हो उसमें लीन तो न होना, पर उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।

दूसरे प्रकार के प्रभाव को मध्यम स्थान प्राप्त है। पूर्ण रस की अनुभूति प्रथम प्रकार का प्रभाव है। जिन्हें साहित्य में स्थायी भाव कहते हैं केवल उन्हीं की अनुभूति पूर्ण रस के रूप में होती है....... यह नहीं कि चाहे जिस भाव का विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा विधान किया जाय वह पूर्ण रस के रूप में अनुभूत होगा।"[1] शुक्ल जी के उपर्युक्त कथन से विदित है कि वे विभावानुभावादि सहित संचारी भावों के स्वतंत्र वर्णन से उत्पन्न प्रभाव या अनुभूति को रस की मध्यम दशा के भीतर रखते हैं और उसका स्रोत वे भारतीय काव्य शास्त्र बताते हैं। साहित्य-दर्पण में संचारी भावों के स्वतंत्र वर्णन से उत्पन्न प्रभाव भाव-कोटि का कहा गया है:–

सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः
उद्बुद्ध मात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते। तृतीय परिच्छेद।

यह बात पहले कही जा चुकी है कि शुक्ल जी ने संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में साहित्य-दर्पण का अध्ययन सबसे अधिक किया था। अतः यह अनुमान लगाना सरल है कि उक्त कोटि की मध्यम रस-दशा का स्रोत साहित्य-दर्पण है।

भावों की शील दशा जो उनकी प्रकृतिस्थ दशा कही जाती है, जो पात्रों के शील-निरूपण या चरित्र-चित्रण में अभिव्यक्त होती है, जहां एक ही भाव अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति दिखाई पड़ता है, शुक्ल जी के अनुसार रस की मध्यम कोटि के भीतर आती है[2]। इसका मूल स्रोत शैण्ड की प्रसिद्ध पुस्तक 'फाउन्डेशनआफ् कैरेक्टर' के प्रथम परिच्छेद का बारहवां अध्याय है जहां प्रत्येक अनुशासक मूल भाव विशिष्ट प्रकार के चरित्र का निर्माता माना गया है इस स्रोत की स्पष्टता के लिए शैण्ड की तत्सम्बन्धी कुछ पंक्तियां नीचे दी जाती हैं।

"Every master sentiment tends to form a type of character of its own." P. 123.

१—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ६६. २—अभिभाषण, पृ ८९.

"When ever a particular sentiment beeomes so predominant that all the effects which it always tends to produce are actually manifested. It has been one of the great objects of Literature to represent such clear cut types of character" P. 123.

"With this conception of the all pervasive influence of the sentiment in character, there is naturaally connected the problem of tracing the different types of character which different sentiments tend to develop." P. 123.

"For in proportion as the sentiment becomes predominant, the emotional disposition which it does not need atrophy; and those which are hostile to it are suppressed; while the great multitudes of its qualities, as we have just seen, tend to counteract the opposite qualities of other system. Thus although a sentinemt is only an organisation of a part of the character, it is in a dynamical relation to the rest and gives a peculiar orientation to the whole." P.123.

भावों की शील दशा में एक ही भाव अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रतिदिखाई पड़ता है। इस विचार का स्रोत शैण्ड की निम्नांकित पंक्तियों में मिलता है।

"For as the sentiment forms its characteristic thought and conduct; these, with their qualities, become fixed and habitual and interfere with the acquisition of opposite qualities in other sentiments. Thus if a man has learnt to be open and candid through his early affections for others and trust in them or as secondary feature of his manliness and contempt of deceit; he tends to carry this quality in to his dealings with man in general and has an aversion to all duplicity." Foundation of character P. 121.

रस की मध्यम कोटि के भीतर शुक्ल जी ने भावदशा तथा शीलदशा के अतिरिक्त अन्तःप्रकृति वैचित्र्य को रखा है जो भावोदय, भाव-संधि, भावाभास, रसाभास, भाव-शवलता, तथा भाव-शान्ति के माध्यम से व्यक्त होती है। क्योंकि विचित्र प्रकृति वाले व्यक्ति में ही दो विरोधी भावों का एक साथ उदय, दो विरोधी भावों की संधि, एक साथ अनेक विरोधी भावों की उत्पत्ति, दो विरोधी भावों की एक साथ ही शान्ति दिखाई पड़ती है। इस प्रकार भावोदय, भावशान्ति, भाव-शवलता, भावसंधि आदि का अन्तःप्रकृति-वैचित्र्य के भीतर समावेश कर शुक्ल जी ने मानव चरित्र की विलक्षणताओं को रस के भीतर रखने का प्रयत्न किया। भाव, भावाभास, रसाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशान्ति, भाव-शवलता आदि से उत्पन्न अनुभूति में रसानुभूति से स्पष्ट अन्तर शुक्ल जी को ध्वन्यालोक तथा साहित्य-दर्पण ग्रन्थों से मिला। आनन्दवर्धन तथा साहित्यदर्पणकार की दृष्टि से भाव, भावाभास, रसाभास, भावशान्ति, भावसंधि, भावोदय, भावशवलता आदि असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य रूप में अंगी भाव से स्थित होने पर रस-श्रेणी में आते हैं।

रसभावतदाभास तत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्मांऽगिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।२। कारिका ३।

रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भाव-शवलता-रूप आस्वाद्य प्रधान ध्वनियां असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के भेद हैं। ये अंगी रूप में वर्णित होने पर रस की तरह आभासित होती हैं। भासमान शब्द के द्वारा आनन्दवर्धन ने इन्हें उत्तम रस-स्थिति से अलग कर दिया है। भासमान शब्द की यहां दूसरी व्यंजना यह है कि ये उपर्युक्त रस-स्थितियां उत्तम या पूर्ण रस-स्थिति से हीन कोटि की होती हैं।

साहित्यदर्पणकार का भी मत है कि भाव, भावाभास, रसाभास, भावशान्ति भावोदय, भावसंधि, भावशवलता आदि सभी रसन से—आस्वादित होने से रस ही हैं।

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
संधिः सवलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः। तृतीय परिच्छेद। २५९

वहीं साहित्यदर्पणकार ने यह स्पष्ट बताया है कि भावादिक में भी आस्वादन-रूप रसन धर्म का सम्बन्ध होने के कारण रस पद का लक्षणा से प्रयोग होता है।

रसनधर्मयोगित्वाद्भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः।
तृतीय परिच्छेद। २५९ कारिका की वृत्ति

भावादिकों में लक्षणा से रस पद का प्रयोग करके साहित्य-दर्पणकार ने उन्हें पूर्ण रस से अलग करते हुए उत्तम रस-दशा से उनका अन्तर भी स्पष्ट कर दिया है। आगे उनके न्यून रसत्व का विश्लेषण भी किया है। जैसे, देव, मुनि, गुरु विषयक रति को प्रधानतया प्रतीत होने पर भी उन्हें भाव कहा है। इसी प्रकार विभावादिक सामग्री से अशक्त या हीन स्थायी को भाव के भीतर रखा है। विभावादिक सामग्री की न्यूनता, अशक्तता अथवा हीनता के कारण ही उक्त प्रकार के काव्य को विश्वनाथ द्वारा भाव-व्यंजक काव्य की उपाधि मिली।[1] भावाभास तथा रसाभास में आलम्बन अनुचित या हीन कोटि के होते हैं।[2] इस प्रकार भावाभास, रसाभास आदि आलम्बन के अनौचित्य के कारण पूर्ण रस से अलग कोटि के हो जाते हैं। साहित्य-दर्पणकार ने इनकी अनुभूति में आभास शब्द का प्रयोग कर उन्हें रस या रसानुभूति से हीनतर कोटि का सिद्ध किया है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने ध्वन्यालोक तथा साहित्यदर्पण के उक्त अंशों के आधार पर तथा आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर अधिक बल देने के कारण एवं अपनी नीतिवादी दृष्टि के प्रति निष्ठा रखने के कारण भाव, भावाभास, रसाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावशबलता आदि में मध्यम कोटि की रस स्थिति देखी।

आचार्य शुक्ल रस की एक निकृष्ट दशा भी मानते हैं जिसके अंतर्गत वे चमत्कारवादियों के कुतूहल को रखते हैं। उनका कथन इस प्रकार है—"चमत्कारवादियों के कुतूहल को भी काव्यानुभूति के अन्तर्गत ले लेने से रसानुभूति की क्रमशः उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन दशायें हो जाती हैं।"[3] शुक्ल जी की उपर्युक्त उक्ति से यह स्पष्ट है कि उनके द्वारा मान्य रस की निकृष्ट दशा का स्रोत आनंदवर्धन का ध्वन्यालोक ग्रन्थ है जिसमें उन्होंने चित्र काव्य को भी अधम काव्य के भीतर स्थान दिया है।[4]

रस-व्याप्ति का स्रोतः—

शुक्ल जी ने रस की व्याप्ति बहुत विस्तृत मानी है। उनका विश्वास है कि नये नये अनुभवों तथा विषयों के अध्ययन से इसके ढांचे का फैलाव अनेक दिशाओं में हो सकता है। उन्होंने अपनी सैद्धान्तिक समीक्षा के प्रयत्नों द्वारा रस को शील-निरूपण, युगचेतना, विचार तत्त्व, सामान्य मानव-दशा, संस्कृति तत्त्व

१—साहित्यदर्पण, ३।२६०.

२—अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः ॥—साहित्यदर्पण, ३।२६२.

३—अभिभाषण, पृ० ८६. ४—तृतीय उद्योतः, कारिका ४३ तथा उसकी वृत्ति.

दार्शनिक तत्त्व, ऐतिहासिक परिस्थिति आदि विविध दिशाओं में फैलाने का प्रयत्न किया है। रस-व्याप्ति सम्बन्धी शुक्ल जी की उक्ति से यह स्पष्ट है कि उन्हें रस की विस्तृत-व्याप्ति भारतीय समीक्षा से मिली। स्रोत की स्पष्टता के लिए वह उक्ति नीचे दी जाती है:—

"रस-निरूपण पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से खूब प्रसार और संस्कार करना पड़ेगा। इस पद्धति की नींव बहुत दूर तक डाली गई है। पर इसके ढांचों का, नये नये अनुभवों के अनुसार अनेक दिशाओं में फैलाव बहुत जरूरी है।[१]" शुक्ल जी के उपर्युक्त कथन से प्रस्तुत विषय सम्बन्धी दो निष्कर्ष निकलते हैं:—पहला, यह कि उनकी दृष्टि में भारतीय काव्य-शास्त्र में रस की व्याप्ति बहुत विस्तृत कोटि की है। दूसरा, यह कि उन्होंने मनोविज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों के अपने अध्ययन से इसको विस्तृत करने का प्रयत्न किया। इसीलिए वे अपने अनुभव के आधार पर हिन्दी के समीक्षकों को मनोवैज्ञानिक अध्ययन द्वारा रस की व्याप्ति को विस्तृत करने का आदेश अपने उपर्युक्त कथन में दे रहे हैं।

शुक्ल जी ने संस्कृत के जिन लक्षण ग्रन्थों का अध्ययन किया था उनमें रस की विस्तृत व्याप्ति का संकेत मिलता है; जैसे, ध्वन्यालोक, अभिनवभारती, दशरूपक आदि में। उन्होंने रस-व्याप्ति में रस का सम्बन्ध काव्य के अन्य तत्त्वों—अलंकार, गुण, रीति; वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य से भी स्थापित किया है।[२] इसकी प्रेरणा उन्हें ध्वन्यालोक से मिली, जिसमें रस का सम्बन्ध काव्य के अन्य तत्त्वों से स्थापित किया गया है। आनन्द की दृष्टि में रस, भाव आदि के तात्पर्य से अलंकारों की स्थिति काव्य में चारुत्व-साधक हो जाती है।[३] अन्यत्र उन्होंने कहा है कि अलंकार रस के आश्रित होकर काव्य में कटकादि के समान रहते हैं।[४] उनकी दृष्टि में माधुर्यादि गुण भी काव्य में आत्मभूत रस का अवलम्बन शौर्यादिवत् करते हैं।[५] ध्वन्यालोककार की दृष्टि में

१—काव्य में रहस्यवाद पृ० १५१.

२—इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय

३—रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।

अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥—ध्वन्या० का० २।५ की व्याख्या में.

४—अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥—वही—का० २।६.

५—ये तमर्थं रसादिलक्षणभंगिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्—

—ध्वन्या०—२।६ की वृत्ति.

ध्वन्यालोककार ने समग्र काव्य-तत्वों का ही नहीं संसार के सभी पदार्थों का रस से सम्बन्ध स्थापित किया है:—

वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वा अंगत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन।—ध्वन्यालोक—

अभिनवगुप्त भी समग्र विश्व को रसमय मानते हैं:—

तेन रसमयमेव विश्वम्। 'अभि० भा०— पृ० २६५.

दशरूपकार के मत से संसार का प्रत्येक पदार्थ रस का अंग है:—

'रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचम्'
उग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद् वाप्यवस्तु कविभावकभावनीयं,
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके। —दशरूपक ४।८५.

उपर्युक्त आचार्यों के साथ शुक्ल जी के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उनके द्वारा निरूपित संसार के सभी विषयों तथा पदार्थों तक फैली रस की विस्तृत व्याप्ति का स्रोत आनन्द, अभिनव, एवं दशरूपककार की उपर्युक्त पंक्तियों में दिखाई पड़ता है।

रस के मनोवैज्ञानिक पक्ष—जैसे, स्थायीभाव, संचारीभाव, विभावादि के भीतर काव्य के अनेक तत्त्व समाहित थे। उनको उन्होंने पश्चिमी मानस-शास्त्रियों के अध्ययन द्वारा विवृत्त करने का प्रयत्न किया। जैसे, भाव-विधान के भीतर किस प्रकार इन्द्रियवेग, मनोवेग, वासना, प्रवृत्ति, अनुभूति, प्रत्यय-बोध, इच्छा आदि तत्व निहित हैं; स्थायी भाव-प्रणाली के भीतर किस प्रकार एक प्राथमिक भाव, स्थिति-भेद से अनेक तद्भूत या साधित भाव तथा सहचर भावनाओं का संगठन रहता है; जिसमें वासना, मनोवेग, इन्द्रियवेग, प्रवृत्तियाँ, अन्तःकरण वृत्तियां, विवेकात्मक बुद्धि-व्यापार, संकल्प, इच्छा तथा शरीर-व्यापार मूल भाव के शासन के भीतर कार्य करते हैं; विभाव के भीतर किस प्रकार काव्य के सब प्रकार के वर्ण्य आ जाते हैं; संचारी के भीतर किस प्रकार तैंतीस के अतिरिक्त अन्य कई तद्भव भाव आ सकते हैं; किस प्रकार अनुभाव शारीरिक व्यापार ही है, रस-दशा के भीतर किस प्रकार शील-दशा आती है[1] आदि।

१—इसी प्रबन्धका चतुर्थ अध्याय

भारतीय साहित्य-शास्त्र में आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम रस में काव्य के विभिन्न तत्वों को संश्लिष्ट करने की शक्ति देखी, पश्चिम में शैण्ड ने[१]। संयोग से शुक्ल जी ने दोनों का गम्भीर अध्ययन किया था। इसलिये वे उनसे प्रेरणा ग्रहण कर रस द्वारा काव्य के विभिन्न तत्त्वों को समाहित तथा संश्लिष्ट करने में समर्थ हुए, साथ ही रस की व्याप्ति उन सभी तत्त्वों तक विस्तृत करने में सफल। उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकला कि आचार्य शुक्ल की रस-व्याप्ति का मूल स्रोत भारतीय है; उसकी विवृत्ति-विशेषतः मनोवैज्ञानिक तत्वों की विवृत्ति का स्रोत पश्चिम के मानस-शास्त्री आचार्यों के ग्रन्थों में मिलता है।

शुक्ल जी के अंगी-सिद्धान्त का स्रोत देखने के पश्चात् अब उनके अंग-सिद्धांत के स्रोत पर विचार करना चाहिए। क्रम के अनुसार सर्व प्रथम अलंकार मत के स्रोत पर विचार किया जाता है।

अलंकार मत का स्रोतः—

शुक्ल जी अपने अलंकार-विवेचन में विश्वनाथ एवं भोज की अलंकार-परिभाषाओं को उद्धृत करते हुए[२] उनके इस विचार से सहमत हैं कि अलंकार पहले से सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं[३]। इस अवसर पर वे वर्ण्य एवं वर्णन-प्रणाली को एक मान कर अलंकार के भीतर रीति, गुण, रस आदि काव्य की सारी सामग्री समेटने वाले, तथा अलंकार को काव्य का सर्वस्व मानने वाले अलंकारवादियों के मतों का खण्डन करते हैं[४]। अलंकारों के स्थान के विषय

1—"Emotions were detached from the process of perception, thought, feeling and willing and thus they were deprived of the living interest which they haye in drama:and novel. Foundaiion of Character, P. 1, Preface.

"To bring together the various aspects of thc subject, which in literature are treated in isolation from one another, to lead up to a general cenception of it is one of the important aim of this book."— Ibid.

२—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० २५१. ३— वही पृ० २५१.

४— वही पृ० २४८, २४६.

में वे रस-ध्वनिवादी आचार्यों के विचारों[1] का समर्थन करते हुए उन्हीं के समान[2] अलंकारों को काव्य में साधन रूप में स्वीकार करते हैं, तथा उन्हीं के समान उनका सम्बन्ध वर्णन-प्रणाली से स्थापित करते हैं। इसी के आधार पर वे कुन्तक के समान वर्ण्य से सम्बन्ध रखने वाले अलंकारों का खण्डन करते हैं[3] और वहां कुन्तक का मत भी उद्धृत करते हैं[4]। रस-ध्वनिवादी आचार्यों के समान[5] वे अलंकार-प्रयोग का कारण रसावेश, मार्मिक-भावना या अनुभूति तीव्रता मानते हैं[6]। उनके स्थान के विषय में वे मम्मट के मत 'अनलंकृति पुनः क्वापि' का समर्थन करते हुए उनका स्थान हारादिवत् मानते हैं[7]। अलंकारों की संख्या के विषय में वे दण्डी[8] एवं रुद्रट[9] के समान अलंकारों की इयत्ता नहीं मानते[10]। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी की अलंकार-धारणा का मूल स्रोत रस-ध्वनिवादी आचार्यों की अलंकार धारणा में निहित है। यत्र-तत्र उन्होंने अलंकार वादियों की एकाध धारणा का भी स्वागत किया है; जैसे अलंकारों की संख्या के विषय में वे दण्डी के इस मत का स्वागत करते हैं कि अलंकारों की इयत्ता नहीं है।

१—चिन्तामणि पहला भाग २४७.

२— विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन
काले च ग्रहण त्यागौ नातिनिर्वहणैषिता। २।१८
निर्व्यूढ़ापि चांगत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलंकारवर्गस्यांगत्वसाधनम्। —ध्वन्यालोक। २/१९

३—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० २५०—२५१।

४— वही, पृ० २५१.

५—प्रतिभानुग्रवशात् स्वयमेव संपत्तौ—अभिनवगुप्त
रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यःसोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ १६॥ ध्वन्यालोक, २/१६.

६—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० २५१.

७— वही पृ० २३१।२५१.

८—काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते। (दण्डी)
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान कार्त्स्न्येन वक्ष्यति। काव्यादर्श २।१.

—ततो यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकाराः तावन्तः अलंकाराः काव्या। लंकार,

१०—चिन्तामणि पहला भाग पृ० २५२.

रीतिमत का स्रोतः—

शुक्ल जी रीति को काव्य-शरीर का अंग-विन्यास मानते हैं[1], उसकी सार्थकता रस के आश्रित होकर रस-परिपाक करने में मानते हैं[2]। उसको वस्तु-तत्व से अलग निरूपित करते हुए उसका सम्बन्ध भाषा-पक्ष से स्थापित करते हैं[3]। इस अवसर पर वे रीतिवादियों के रीति के भीतर काव्य के अंतरंग तथा वहिरंग दोनों तत्वों को समेटने वाले विचार तथा 'रीतिरात्माकाव्यस्य' सम्बन्धी धारणा का खण्डन करते हैं[4]। संस्कृत-समीक्षा में रस-ध्वनिवादियों का रीति-सम्बन्धी मत ऐसा ही है:—

'गुणानाश्रित्यतिष्ठन्ती, माधुर्यादीन्, व्यनक्ति सा रसान्।' ध्वन्यालोक ३।५.

'पदसंघटना रीति रंगसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनां॥ सा०द० ९।१

शुक्ल जी अपने उपर्युक्त रीति-मत को व्यक्त करते हुए आनन्द तथा विश्वनाथ के रीति सम्बन्धी उक्त मतों का समर्थन करते हैं[5]। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष यह निकला कि शुक्ल जी की रीति-सिद्धान्त सम्बन्धी धारणा का मूल स्रोत विश्वनाथ तथा आनन्द की रीति सम्बन्धी धारणाओं में निहित है।

गुण मत का स्रोत—

शुक्ल जी गुण को रस-धर्म मानते हुए उन्हें रस के आश्रित मानते हैं[6]। उनके मत से गुण रस-परिपाक के सहायक तथा उत्कर्षकारक होते हैं[7]। उनकी दृष्टि में गुण चित्तवृत्तियों के तद्रूप हैं[8]। अतः वे रस के मूलाधार हैं। उनके मतानुसार गुणों की संख्या तीन है—ओज, प्रसाद तथा माधुर्य। संस्कृत-समीक्षा में रसध्वनिवादियों का गुण सम्बन्धी मत ऐसा ही है। शुक्ल जी ने उनका

---

१. रस-मीमांसा, पृ० ३७०,

२—अभिभाषण, पृ० ९२.

३—चि० प० भाग, पृ० २३८ से २४६.

४—रस-मीमांसा, पृ० ३७०.

५—रस-मीमांसा, पृ० ३७०.

६—रस-मीमांसा; पृ० ३६८.

७—सूरदास-आचार्य शुक्ल, पृ० २००.

८— वही पृ० १५६, १६१, १६३ और २४४

गम्भीर अध्ययन किया था; अपनी काव्य सम्बन्धी अन्य अनेक धारणाओं में उनसे प्रभावित थे। अतः उनकी गुण सम्बन्धी धारणाओं से उनका प्रभावित होना स्वाभाविक है। स्रोत की स्पष्टता के लिए रसध्वनिवादियों की गुण-सम्बन्धी पंक्तियां नीचे दी जाती हैं:—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।—ध्वन्यालोक २।६.

ये रसस्यांगिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः।

उत्कर्ष हेतवः ते स्युः अचलस्थितयो गुणाः। -काव्यप्रकाश ८।६६.

रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा गुणाः।

माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा॥—साहित्यदर्पण ८।१.

चित्तद्रवीभावमयोऽह्लादो माधुर्यमुच्यते।—सा० द० ८।२.

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।—सा० द० ८।४.

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च। —सा० द० ८।७

ध्वनि मत का स्रोत:—

रस-मीमांसा पुस्तक के परिशिष्ट में शब्द-शक्ति सम्बन्धी शुक्ल जी का प्रायः सम्पूर्ण विवेचन—काव्य में अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना, तीनों की सत्ता का समर्थन, उसके अंतर्गत विवेचित ध्वनि के विभिन्न अर्थ, उसके भेदोपभेदों का विवेचन तथा उदाहरण, व्यंजना-स्थापना सम्बन्धी मत एवं तर्क प्रायः साहित्य-दर्पण की विमला टीका तथा काव्य-प्रकाश की वामनाचार्य झड़कीकर कृत बाल-बोधिनी टीका से लिए गये हैं[१]। ध्वनि-मत में रस-निष्पत्ति व्यंजना-प्रक्रिया द्वारा सिद्ध की गई है। अभिनवगुप्त, विश्वनाथ महापात्र आदि रसवादी भी रस-निष्पत्ति व्यंजना-प्रक्रिया से सिद्ध करते हैं। शुक्ल जी ने भी रस-निष्पत्ति व्यंजना-प्रक्रिया से स्वीकार की है[२]। रसध्वनिवादियों के समान शुक्ल जी ने रस एवं ध्वनि का समन्वय किया है[३]। ध्वनिवादियों के समान वे रस की प्रकृति व्यंजनात्मक मानते हैं[४]।

१—रस-मीमांसा की भूमिका, भू० ले० : पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ४, ५.

२—रस-मीमांसा पृ० ४०६.

३—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ६६.

४—रस-मीमांसा पृ० ४०८.

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी के ध्वनि-मत का मूल स्रोत ध्वनिवादी आचार्यों में मुख्यतः मम्मट तथा आनन्दवर्धनाचार्य हैं तथा रसवादी आचार्यों में अभिनवगुप्त तथा विश्वनाथ।

वस्तु-व्यंजना तथा अलंकार-व्यंजना के सम्बन्ध में उन्होंने साहित्यदर्पणकार के मत का खण्डन किया है[1] और दोनों की प्रक्रिया को अनुमानप्रक्रिया से सिद्ध किया है[2]। शुक्ल जी की दृष्टि में भाव-व्यंजना तथा वस्तु-व्यंजना का अन्तर केवल प्रक्रिया की दृष्टि से ही नहीं है कि एक का बोध-व्यंजना की प्रक्रिया से होता है, और दूसरे का अनुमान-प्रक्रिया से वरन् दोनों सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्तियाँ हैं[3]। भाव-व्यंजना का सम्बन्ध अनुभूति या भाव से है। उसका कार्य है भाव का संचार करना तथा अनुभूति उत्पन्न करना। वस्तु-व्यंजना का संबंध तथ्य या वृत्त से है, उसका कार्य है तथ्य या वृत्त का बोध कराना[4]। वस्तु-व्यंजना सम्बन्धी उपर्युक्त मत उन्हें महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक से मिला जिसमें उसकी प्रक्रिया अनुमान-प्रक्रिया से सिद्ध की गई है, तथा उनका सम्बन्ध तथ्य या वृत्त से स्थापित किया गया है। इस स्रोत को शुक्ल जी की प्रत्यक्ष उक्ति[5] ही प्रमाणित करती है। अतः अन्य प्रमाणों की आवश्यता नहीं।

अभिधा सिद्धान्त का स्रोतः—

शुक्ल जी काव्य में तीनों शब्द-शक्तियों की सत्ता मानते हुये अभिधा की प्रधानता एवं व्यापकता के मत का समर्थन करते हैं। लक्षणा एवं व्यंजना के मूल में भी अभिधा की ही सत्ता मानते हैं तथा काव्य-चमत्कार, सौन्दर्य तथा रमणीयता वाच्यार्थ में निहित समझते हैं[6]; किन्तु ध्वनिवादी शुक्ल जी के इस मत के विरुद्ध हैं। वे काव्य में ध्वनि की प्रधानता मानते हुये काव्य की रमणीयता या सौन्दर्य व्यंग्यार्थ में निरूपित करते हैं। अब देखना यह चाहिये कि काव्य में अभिधा की प्रधानता तथा वाच्यार्थ में रमणीयता मानने वाले शुक्ल जी के इस मत का स्रोत क्या है? इस प्रसंग में शुक्ल जी ने उसी स्थल पर स्वयं यह लिखा है कि काव्य-मीमांसा की यह पद्धति हमारे यहाँ स्वीकृत है।[7]

१—रस-मीमांसा पृ० ४११, ४१२.

२— वही पृ० ४१२. अभिभाषण पृ० १०

३—अभिभाषण पृ० १०.

४— वही पृ० ९.

५— वही पृ० १०.

६—इसी प्रबन्ध का चौथा अध्याय

७—अभिभाषण पृ० १२

उसी स्थल पर अभिधावादी हिन्दी आचार्य देव का उन्होंने उल्लेख भी किया है[1]। संस्कृत आचार्यों में जितने आचार्य व्यंजना को नहीं मानते वे प्रायः सभी काव्य में अभिधा की प्रधानता मानते हुए वाच्यार्थ में काव्य का चमत्कार मानते हैं। उनमें मुकुलभट्ट, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट तथा दशरूपककार विशेष उल्लेखनीय हैं।' इन आचार्यों में शुक्ल जी भट्टनायक से सबसे अधिक प्रभावित थे। अतः यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि काव्य में अभिधा की प्रधानता एवं वाच्यार्थ की रमणीयता सम्बन्धी उनके मतों का स्रोत भट्टनायक का ग्रन्थ हृदयदर्पण है। हृदयदर्पण अपने सम्पूर्ण रूप में आज उपलब्ध नहीं है, उसकी उक्तियां अथवा व्याख्यायें ही अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में मिलती हैं। अतः स्रोत दिखाते समय उन्हीं से सन्तोष करना पड़ेगा:—

अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्य ताभ्यां विभिद्यते।

भट्टनायक, अग्निपुराण में उद्धृत, ३३७।२–३.

मीमांसक लोग 'अभिधा' पर विशेष आग्रह रखते हैं, भट्टनायक का भी आग्रह 'अभिधा' पर ही है।

..........काव्य में रमणीयता का उदय.......भट्टनायक के अनुसार अभिधा के द्वारा होता है।—भारतीय साहित्य-शास्त्र : बलदेव उपाध्याय, पृ० ३७३.

डा० राघवन भट्टनायक के अभिधा-व्यापार एवं वाच्यार्थ में काव्य की रमणीयता सम्बन्धी मतों का उल्लेख निम्नांकित शब्दों में करते हैं:—

"This beauty of form or peculiar grace in poetic expression can be called the characteristic poetic Abhidha Vyapar, using Abhidha here in wide sense"

Bhoja's Shringar Prakash, Vol. I Part I, by Dr. V. Raghavan, P. 112.

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी द्वारा निरूपित अभिधा का व्यापक स्वरूप एवं वाच्यार्थ में काव्य की रमणीयता की निहिति मानने वाला उनका मत भट्टनायक के उपर्युक्त मत से साम्य रखता है। अतः शुक्ल जी के अभिधा सम्बन्धी मत का स्रोत भट्टनायक का उक्त मत ही प्रतीत होता है।

१—अभिभाषण पृ० १४.

वक्रोक्ति मत का स्रोतः--

कुन्तक अपने वक्रोक्ति-सिद्धांत में प्राथमिक महत्व वक्रता को देते हैं किन्तु शुक्ल जी रस-ध्वनिवादियों के समान प्राथमिक महत्व भाव या अनुभूति को देते हैं। इसलिए उन्हें कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धांत वहीं तक मान्य है जहां तक वह भावानुमोदित तथा अनुभूति-प्रेरित हो[1]। यही मत रस-ध्वनि-वादियों का भी है:—

अतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया—तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलंकारमात्रतैवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालंकाररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः। ध्वन्यालोक। ३।३६ की वृत्ति

शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेण अवस्थानम्।—लोकोत्तरेण चैवातिशयः। तेन अतिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम्॥—लोचन, पृ० २०८।

कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य-जीवित मानते हुए उसे काव्य का नित्य लक्षण कहते हैं[2]। शुक्लजी रसवादियों के समान रसको काव्यात्मा मानते हुए उसे काव्य का नित्य लक्षण घोषित करते हैं[3]। वे आचार्य मम्मट के समान ही वक्रोक्ति को काव्य का नित्य लक्षण नहीं मानते[4]। वे रस-ध्वनिवादियों के समान काव्य में वक्रोक्ति का स्थान रस-सापेक्ष्य कोटि का निरूपित करते हैं, वक्रोक्तिवादियों के समान निरपेक्ष-कोटि का नहीं। उनकी दृष्टि में भावोद्रेक से उक्ति में जो वक्रता आती है वही काव्य में ग्राह्य है[5] ऐसी वक्रोक्ति जिसकी तह में कोई भाव न हो वह चाहे कितने ही अनोखे ढंग से कही गई हो, उसमें चाहे कितना ही लाक्षणिक चमत्कार हो वह प्रकृत कविता के भीतर स्थान नहीं पा सकती[6]।

१—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ०२३४.

२—वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्। सालंकारस्य काव्यता। १।६, वक्रोक्तिजीवितम्.

३—रस-मीमांसा, पृ० १०४, १०५.

४—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २३१.

५—सूरदास, आचार्य शुक्ल, पृ० २३६.

६—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७२.

...वादियों के समान शुक्ल जी अनुभूति को काव्य का भेदक तत्व मानते ... औक्तिवादियों के समान उक्ति-वैशिष्ट्य को नहीं। रस-ध्वनिवादियों के वक्रोक्ति सिद्धान्त से शुक्ल जी के वक्रोक्ति संबंधी मत का साम्य देखकर यह अनुमान लगाना सरल है कि उनके वक्रोक्ति मत का स्रोत रस-ध्वनिवादियों का वक्रोक्ति संबंधी मत है।

औचित्य मत का स्रोत:—

शुक्ल जी के औचित्य-सिद्धान्त का मूलस्रोत औचित्य-वादियों के औचित्य संबंधी मत में न मिलकर रस-ध्वनिवादियों के औचित्य संबंधी मत में मिलता है। क्योंकि क्षेमेन्द्र का औचित्यवाद काव्य के विविध तत्वों के सम्बन्धों की चर्चा के रूप में औचित्य सिद्धान्त को उपस्थित करता है किन्तु रस-ध्वनिवादी आचार्य औचित्य की चर्चा मुख्यत: रस के आलम्बनौचित्य के विवेचन के प्रसंग में उठाते हैं। शुक्ल जी भी प्रत्यक्ष रूप से औचित्य की चर्चा रस-ध्वनिवादियों के समान आलम्बनौचित्य तथा रसाभास एवं भावाभास के प्रसंग में करते हैं। क्षेमेन्द्र के समान काव्य के विविध तत्वों के सम्बन्धों के औचित्य-रूप में नहीं। तुलनात्मक अध्ययन तथा निष्कर्ष-आनयन के लिए शुक्ल जी तथा रस-ध्वनिवादियों की औचित्य संबंधी कतिपय पंक्तियां नीचे दी जाती हैं:—

शुक्ल जी का कहना है कि आलम्बन के अनौचित्य से साधारणीकरण नहीं होता[1], फलतः रस-भंग हो जाता है, उसका प्रभाव हलका या कम हो जाता है[2]। उनके मत से हमारे यहां भावाभास तथा रसाभास के भीतर यही बात सूचित की गई है[3]। अर्थात् उत्तमकोटि की रसानुभूति के लिए शुक्ल जी औचित्य की स्थिति आवश्यक ही नहीं अनिवार्य मानते हैं। शुक्ल जी की उक्त पदावली में हमारे यहां का तात्पर्य भारतीय-संस्कृत-समीक्षा है। भारतीय संस्कृत समीक्षा में मम्मट तथा विश्वनाथ ने रस तथा भाव के अनुचित वर्णन को रसाभास एवं भावाभास कहा है:—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः।

भाव.प्रोक्तः तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः॥ का० प्र०, ४।३५.

अनौचित्य प्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः। साहित्य-दर्पण, ३।२६२

१—अभिभाषण, पृ० ३७.

२— वही पृ०३७.

३— वही पृ० ३७.

इन दोनों आचार्यों के अतिरिक्त आनन्दवर्धन रसभंग का मूल कारण अनौचित्य तथा रस-परिपाक का परम रहस्य औचित्य मानते हैं:—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्य बन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥

हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० २५६

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी के औचित्य सम्बन्धी मत का मुख्य स्रोत उनकी उक्तियों के संकेतानुसार काव्य-प्रकाश तथा साहित्यदर्पण का औचित्य सम्बन्धी मत सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त मत-साम्य के कारण ध्वन्यालोक का तत्सम्बन्धी मत भी शुक्ल जी के औचित्य मत का गौण स्रोत प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तन-धारा ही शुक्ल जी की काव्य-मीमांसा की मूल धारा है। उनके समीक्षा-सिद्धान्तों के सभी मूल स्रोत संस्कृत-समीक्षा-सिद्धान्तों से निकले हैं, उसमें पाश्चात्य साहित्य-धारा सहायक धारा के रूप में मिली है, मूल स्रोत के रूप में नहीं। पश्चिमी समीक्षा के अध्ययन द्वारा उन्होंने भारतीय काव्य-तत्वों तथा काव्य-सिद्धान्तों को कहीं कहीं खोलने का प्रयत्न किया[१], कहीं कहीं अपने तत्वों की पदावली के स्थान पर उनके तत्वों की पदावली का प्रयोग करके विवेचन में आधुनिकता एवं वैज्ञानिकता भरने का प्रयास किया है; जैसे, भावना-व्यायार के स्थान पर उन्होंने कल्पना-व्यापार का प्रयोग किया है, यह जानते हुए कि पश्चिम वाले जिसे कल्पना तत्व कहते हैं वही संस्कृत-समीक्षा में भावना-तत्व के नाम से अभिहित है[२]। हिन्दी के नये साहित्य-रूपों, जैसे, उपन्यास, कहानी आदि के निरूपण में उन्होंने पश्चिम के उन साहित्य-रूपों के ढांचों को ही अपनाया है, पर वहाँ भी उनकी आत्मा भारतीय ही रखी है; उन साहित्य-रूपों का निरूपण रस-सिद्धान्त के व्यापक स्वरूप के अनुसार ही किया तथा उनकी व्यावहारिक समीक्षा के लिए रसवाद के व्यापक स्वरूप के प्रयोग का ही आदेश दिया है। न्यूमन के निबन्ध 'literature' के आधार पर 'साहित्य' नामक निबन्ध उन्होंने लिखा है किन्तु उसमें रस को ही साहित्य-सिद्धान्त के अंगी-सिद्धांत के रूप में रखा है तथा

१—शैण्ड तथा एडिसन के अध्ययन द्वारा उन्होंने रस-तत्वों तथा रस-स्वरूप को विवृत किया है तथा भावना-व्यापार को स्पष्ट किया है।

२—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २११, २१६, २२०.

अलंकार, गुण, रीति आदि को अंग सिद्धांत के रूप में[1]। अरस्तू के कार्यान्वय (unity of action) त्रय संकलन, कथा-तत्व आदि का प्रयोग शुक्ल जी ने जायसी की व्यावहारिक समीक्षा में किया है[2] किन्तु वह काव्य में वस्तु-विधान का एक सामान्य तत्व है सिद्धांत नहीं। उन्होंने बाहर के स्रोतों को जहां कहीं मिलाया है वहां उन्हें अपने अनुरूप बनाकर, अपना वेग बढ़ाने के लिये। जैसे, उन्होंने पश्चिम की आधुनिक समीक्षा-शैली का प्रयोग हिन्दी की प्रगति बढ़ाने के लिए किया है किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि वह शैली है, सिद्धांत नहीं। पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों से जहां कहीं वे प्रभावित हैं वहां उनमें भारतीय सिद्धांतों की अनुरूपता देखकर। उदाहरणार्थ, रिचर्डस से प्रभावित होने का मूल कारण उसके सिद्धान्तों में भारतीय रस एवं ध्वनि सिद्धान्तों की अनुरूपता की उपस्थिति है। जहां कहीं पश्चिमी सिद्धान्तों का समन्वय उन्होंने पूर्वी समीक्षा-सिद्धांतों से किया है वहां उन्हें भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों के अनुरूप बनाकर। जैसे, उनका कल्पना-सिद्धान्तों पश्चिमी समीक्षा का सिद्धान्त है, बिम्बग्रहण या संश्लिष्ट चित्रण की बात भी उन्हें एडिसन में मिली किन्तु इनका प्रयोग उन्होंने अपने काव्य-विवेचन में रस-सिद्धांत के अनुरूप बनाकर किया है। जो समीक्षक उनके समीक्षा सिद्धांतों का मूल स्रोत शैण्ड, रिचर्डस्, न्यूमन, एडिसन, रस्किन, टालस्टाय, स्काटजेम्स, वाल्टरपेटर, अबरक्राम्बे, वर्सफोल्ड, हडसन, मेरेडिथ आदि में उनकी समीक्षा-कृतियों में केवल उनका नामोल्लेख देखकर ढूँढ़ना चाहते हैं वे अंग्रेजी साहित्य से अभिभूत हैं[3]।

पश्चिमी तत्वों या समीक्षकों का नाम शुक्ल जी ने प्रायः साक्षी के रूप में अथवा भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों की विश्वात्मकता सिद्ध करने के लिये लिया है। जैसे, पश्चिम के अनुभूति तत्वका नाम उन्होंने रस के प्रसंग में यह बतलाने के लिये लिया कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में रस या भाव कहलाती है। रस-विवेचन के अवसर पर सौन्दर्यानुभूति AestheticoExperience का उक्लेख कहीं देखकर शुक्लजी के रस-मत का स्रोत पश्चिमी समीक्षा में खोजना बुद्धि-विभ्रम के सिवाय और कुछ नहीं, क्योंकि उन्होंने सौन्दर्यानुभूति

१—इसी प्रबन्ध का दूसरा अध्याय

२—जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका पृ० ७२.

३—'आज' काशी विशेषांक, १७ फरवरी १९५७. महान आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

का उल्लेख उसे रसदशा के समान या अनुरूप बताने के लिए किया है। शुक्ल जी के काव्यशास्त्र में नैतिक मूल्यों की प्रबल प्रतिष्ठा देखकर उसका स्रोत भारतीय न बताकर पश्चिमी बताना, उसपर रस्किन तथा टालस्टाय का प्रभाव बताना अपनी वस्तु को पराई कहना है। काव्य मे लोक मंगल की साधनावस्था एवं सिद्धावस्था में डंटन के शक्ति-काव्य (Poetry as an energy) : तथा कला-काव्य (Poetry as an art) का उद्धरण देखकर[1] उसका स्रोत डंटन में ढूंढना कहीं की बात कहीं लगाना है। तुलसीदास के विवेचन में एक स्थान पर प्रेषणीयता (communicabiliy) का प्रयोग देखकर[2] शुक्ल जी के रीति-सिद्धान्त का स्रोत अबरक्राम्बे के प्रेषणीयता-सिद्धान्त में बताना पूर्व को पश्चिम कहना है।

माना कि शुक्ल जी की समीक्षा पर यत्र तत्र पश्चिमी-समीक्षा-सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा है; उन्होंने यत्र तत्र पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों से भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों के समन्वय का प्रयत्न भी किया है; तथा उनकी कतिपय समीक्षा-प्रवृत्तियां पश्चिम के कुछ समीक्षकों[3] की कतिपय समीक्षा-प्रवृत्तियों के अनुरूप भी पड़ती हैं किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उनके सिद्धान्तों का मूल स्रोत पश्चिमी है। क्योकि प्रभाव एवंस्रोत दो भिन्न भिन्न वस्तुएं हैं, स्रोतसे किसी वस्तु का उद्गम होता है, और प्रभाव तो स्रोत से वस्तु के उद्भूत होने के पश्चात् उसके स्वरूप-निर्माण या निर्धारण-काल में पड़ता है।

जो आचार्य पश्चिम के विभिन्न वादों—कलावाद, अभिव्यंजनावाद प्रतीकवाद, छायावाद, मार्क्सवाद, अंतश्चेतनावाद; स्वप्नवाद आदि का सदा खण्डन करता रहा हो, जो पश्चिम के अनुकरण को साहित्यिक गुलामी एवं मस्तिष्क-शून्यता कहता रहा हो, जिसकी साहित्यिक परम्परा तथा रिक्थ अत्यन्त समृद्धशाली रही हो, जिसको अपनी साहित्यिक परम्परा की उदात्तता एवं विशदता तथा संस्कृति की उच्चता पर अडिग विश्वास एवं अनन्य आस्था रही हो वह अपने समीक्षा-सिद्धान्तों की मूल प्रेरणा तथा मूल स्रोत भला पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों से कैसे ग्रहण करेगा?

———

१—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २९२. २—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७५

३-अंग्रेजी के अभिनव परम्परावादी समीक्षक, रिचर्ड्स

आठवाँ अध्याय

आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त

तुलनात्मक अध्ययन

खण्ड अ.

भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों से तुलना:—

शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन को सुसम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करने के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा के प्रमुख सिद्धान्तों के उन प्रस्थापकों तथा समर्थकों से उनकी तुलना की जाय जिनसे वे प्रभावित हैं, अथवा जिनकी प्रवृत्तियां उनमें अधिकांश मात्रामें मिलती हैं। शुक्ल जी भारतीय समीक्षा के रसवाद से सबसे अधिक प्रभावित हैं; गौण रूप से अन्य सिद्धान्तों से भी उन्होंने प्रभाव ग्रहण किया है। अतः औचित्य की दृष्टि से शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों की तुलना मुख्यतः भारतीय समीक्षा के प्रमुख आचार्यों—विशेषतः रसवादी आचार्यों से तथा गौणतः अलंकार-वादी, रीतिवादी, गुणवादी, वक्रोक्तिवादी, ध्वनिवादी तथा औचित्यवादी आचार्यों से की जायगी।

शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों की प्रवृत्तियां जिन अंग्रेजी समीक्षकों की प्रवृत्तियों से साम्य रखती हैं, अथवा जिन समीक्षकों एवं प्रवृत्तियों का उन्होंने घोर खण्डन अथवा मण्डन किया है; अथवा जिनसे वे अत्यधिक प्रभावित हैं या अंग्रेजी समीक्षा की जिन प्रवृत्तियों अथवा विचारधाराओं के वे निकट पहुंचे हैं, अथवा जिनके सिद्धान्तों या तत्वों का उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में प्रयोग किया है, उनसे भी प्रसंग रूप में तुलना की जायगी।

तुलना का उद्देश्य होता है—प्रस्तुत विषय की विशेषताओं तथा अभावों को स्पष्ट करते हुए उसकी संभावित पूर्णता की ओर संकेत करना। इस उद्देश्य की पूर्तिके लिए तुलना में एक ओर शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों की विशेषता तथा अभावों पर दृष्टि रखी जायगी, दूसरी ओर उनके पूर्ववर्ती तथा समकालीन आचार्यों के सिद्धान्तों के अभावों की ओर, जिनको उन्होंने दूर करने का प्रयत्न किया।

हम पहले यह कह चुके हैं कि शुक्ल जी ने रस-सिद्धान्त को अंगी सिद्धान्त के रूप में तथा अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, औचित्य तथा वक्रोक्ति को

...भाषा में शास्त्रीयता एवं दार्शनिकता का ... किन्तु शुक्ल जी की रस-परिभाषा में सामाजिकता पर अधिक बल है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों की रस-परिभाषा में प्रायः संस्कृत आचार्यों की रस-परिभाषाओं की उद्धरणी मात्र है तथा उनके समकालीन समीक्षकों की रस-परिभाषाओं में मौलिकता का अभाव है। उदाहरणार्थ, कुछ परिभाषायें तुलना की स्पष्टता के लिए नीचे दी जा रही हैं :—

शास्त्रीय परिभाषायें :—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"—नाट्यशास्त्र, भरतमुनि

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणियानि च।
रत्यादिः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः" ॥ ४३। २७। २८।—
काव्यप्रकाश, मम्मट; चतुर्थ उल्लास।

"विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥" ३।१. साहित्य दर्पण.

दार्शनिक परिभाषायें :—

"आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थमुच्यते।"—अभिनवगुप्त.

"भग्नावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायीभावोरसः।"—रस-गङ्गाधर.

शुक्ल जी की सामाजिक परिभाषा :—

"लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।
चि० प० भाग—पृ० ३०६.

रीतिकालीन रस-परिभाषायें :-

"मिलि विभाव, अनुभाव अरु संचारी सु अनूप।
व्यंग कियो थिर भाव जो, सोई रस सुख भूप॥"—

रस-रहस्य - कुलपति—तृतीय प्रकरण, छन्द ३४.

"जो विभाव अनुभाव अरु, विभिचारिनु करि होइ।
थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोइ॥"

—भाव-विलास-देव.

समकालीन समीक्षकों की रस-परिभाषायें :--

"स्थायी भाव का परिपक्व रूप ही रस है।" "रस्यते इति रस:।" जो रसित-"आस्वादित हो उसे रस कहते हैं।"—काव्य-दर्पण—पं० रामदहिन मिश्र.—पृ० ५७.

"रस की उत्पत्ति का अर्थ है आनन्दपूर्ण एक विशेष मानसिक अवस्था का उत्पन्न हो जाना।"—साहित्यालोचन--श्यामसुन्दरदास—पृ० ४२.

शुक्ल जी के पूर्ववर्ती तथा समकालीन हिन्दी आचार्य मनोविज्ञान-शास्त्र के आविष्कार के अभाव में अथवा उसके अनुशीलन के अभाव में विभिन्न स्थायी भावों के लक्षण, उनके विभिन्न निर्माणकारी-तत्व, उनके सूक्ष्म भेदोपभेद, साहित्य तथा जीवन में उनकी व्यापकता तथा महत्ता, उनकी उत्पत्ति का आधार तथा क्रमिक विकास तथा उनकी विशेषताओं का विवेचन नहीं कर सके हैं। स्थायी भावों के निरूपण के समय उनका विवेचन प्रायः एकसा है। संस्कृत अथवा हिन्दी के अधिकांश रस-ग्रन्थों में स्थायी तथा संचारी भावों के नाम भर गिना दिये गये हैं। अधिक से अधिक उनके अनुभावों एवं विभावों की तालिका उनके साथ प्रस्तुत की गई है। यदि कहीं संस्कृत अथवा हिन्दी-ग्रन्थों में मूल तथा तद्भव भावों का विवेचन हुआ भी है तो वह शिक्षमाणों के लिए ही लिखा हुआ जान पड़ता है, पाठक मात्र के लिए नहीं। किन्तु शुक्ल जी के मूल तथा तद्भव भावों का विवेचन पाठक मात्र के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है। उनके रसावयवों के विवेचन में मनोवैज्ञानिक आधार, जीवन की पृष्ठभूमि, अनुभूति का माध्यम सर्वत्र वर्तमान है; किन्तु संस्कृत-आचार्यों के विवेचन में शास्त्रीयता का ही आधिक्य है। स्थायी तथा संचारी भावों की जैसी जीवन सम्बन्धी साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक व्याख्या शुक्ल जी के रस-विवेचन में मिलती है, वैसी उनके पूर्व हिन्दी अथवा

संस्कृत-साहित्य के किसी शास्त्रीय-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती। रसावयवों का सूक्ष्म वर्गीकरण, उनमें निहित विभिन्न मानसिक तत्वों का विश्लेषण, उनके भेदोपभेदों का पारस्परिक अंतर, उनकी साहित्यिक तथा जीवनगत व्याप्ति, रस-स्थिति में उनके संयोग का स्वरूप, व्याख्या के समय उनके विरोधी तथा समानवर्ती भावों से तुलना आदि का जैसा सूक्ष्म एवं विस्तृत, मनोवैज्ञानिक एवं तार्किक विवेचन शुक्ल जी में मिलता है वैसा उनके पूर्ववर्ती या समकालीन किसी संस्कृत या हिन्दी के आचार्य में नहीं मिलता।

शुक्ल जी संस्कृत आचार्यों के समान ही विभाव का रूप अत्यन्त व्यापक कोटि का मानते हैं। उन्होंने विभाव के भीतर मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत, घटना, परिस्थिति, वातावरण आदि सृष्टि के चेतन-अचेतन सभी पदार्थों को रखकर संस्कृत-आचार्यों[1] द्वारा निरूपित विभाव के व्यापक स्वरूप को बहुत स्पष्ट कर दिया है। हिन्दी के आचार्यों[2] ने हाव को अनुभाव के अन्तर्गत रखा है किन्तु शुक्ल जी ने उसे अधिकांश मात्रा में विभाव के अंतर्गत रखने के औचित्य का प्रतिपादन किया है[3]। संस्कृत के आचार्यों ने हाव को परिस्थिति भिन्नता के अनुसार अनुभाव तथा उद्दीपन दोनों के अंतर्गत रखा है[4]। संस्कृत के अधिकांश आचार्य काव्यगत प्रकृति-वर्णन को उद्दीपन के भीतर रखने का आदेश देते हैं[5]। किन्तु शुक्ल जी केवल उसके उद्दीपन-रूप का समर्थन नहीं करते, वे उसे आलम्बन-रूप में ही अधिकांश मात्रा में चित्रित देखना चाहते हैं[6]।

१—वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यंकस्यचिद् रसस्य भावस्य वा अंगत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्ति-विशेषा हि रसादयः। न च तदस्ति वस्तु किंचिद् यन्न चित्तवृत्ति विशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात्।ध्वन्यालोक-पृ० ४९९.

२—काव्य-दर्पण-पं० रामदहिन मिश्र. पृ० ८२.

३—गोस्वामी तुलसीदास पृ० ५१, ५२.

४—कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावत्वं विषयत्वेनोद्दीपनविभावत्वम्। रस-तरंगिणी.

५—रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरम्।
चेतनानाममुख्यानां जड़ानां चापि भूयसा॥ वक्रोक्तिजीवितम्-कुन्तक,
साहित्य-दर्पण ३।८. ३।११ पृ० १२८, १२६, हि० विमला टीका

६—रस-मीमांसा पृ० १५७.

संस्कृत के प्रायः सभी आचार्य अनुभाव के चार भेद मानते हैं:—कायिक वाचिक, मानसिक तथा आहार्य[1]। शुक्ल जी अनुभाव का रूप मुख्यतः शारीरिक ही मानते हैं, अतः वे उसके वर्गीकरण तथा भेदोपभेद का प्रयत्न नहीं करते[2]।

शुक्ल जी संस्कृत के रसवादी आचार्यों[3] के समान रसावस्था में रसावयवों का संश्लेषण दध्यादि न्याय अथवा प्रपाणक-न्याय के समान मानते हुए उनके द्वारा रस की अभिव्यक्ति दधि अथवा प्रपाणक के समान मानते हैं[4]।

प्राचीन रसवादी आचार्यों ने रस-प्रक्रिया को अपने दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है। भट्टलोल्लट ने मीमांसा, शंकुक ने न्याय, भट्टनायक ने सांख्य तथा अभिनवगुप्त ने शैवाद्वैत द्वारा रस-प्रक्रिया को समझाने का प्रयत्न किया है। इसलिए उन आचार्यों के रस-प्रक्रिया-विवेचन में दार्शनिकता एवं आध्यात्मिकता का पुट आ गया है[5]। शुक्ल जी ने रस-प्रक्रिया–विवेचन में केवल मनोविज्ञान का सहारा लिया है, इसलिए उनका विवेचन आध्यात्मिक एवं दार्शनिक पुट से मुक्त है और इसी कारण वह अधिक यथार्थ तथा न्यायसंगत हुआ है।

रस-प्रक्रिया का मुख्य सम्बन्ध साधारणीकरण-व्यापार से है, अतः इस सम्बन्ध में पुराने आचार्यों से शुक्ल जी की तुलना आवश्यक है। भट्टनायक साधारणीकरण का सामर्थ्य भावकत्व-व्यापार में[6], अभिनवगुप्त व्यंजना-व्यापार में[7], किन्तु शुक्ल जी लोक-धर्मी आलम्बन में मानते हैं[8]। भट्टनायक के मत में साधारणीकरण में केन्द्रीय वस्तु काव्य–शक्तियां[9], अभिनवगुप्त की दृष्टि में सहृदयता[10] तथा आचार्य शुक्ल के मत में आलम्बन का लोक-धर्मी व्यक्तित्व है[11]।

१—स चानुभावः कायिकमानसाहार्यसात्विक भेदाच्चतुर्धा। र० त०—पृ० १०.

२—रस-मीमांसा—पृ० २१६.

३—व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसः। साहित्य-दर्पण, हि० विमला टीका, पृ० ६६. पानक रस न्यायेन चर्व्यमाणः।—काव्यप्रकाश, हरिमंगल मिश्र हिन्दी-अनुवाद, चतुर्थ उल्लास, पृ० ४६.

४—रस-मीमांसा—पृ० १७९, ४१४। ५-रस-विमर्श-के० ना० वाटवे, पृ० १५६.

६—विभावादिसाधारणीकरणात्माभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो। भट्टनायक (अभिनव-भारती से) पृ० २७८-२७६.

७—अभिनव भारती-पृ० २८६। ८-चि० प० भाग-पृ० ३१२.

९—अभिनव-भारती-पृ० २७८.

१०—हृदय-संवादात्मक-सहृदयत्व-बलात-अभिनवगुप्त.

११—चिन्तामणि पहला भाग पृ० ३१२.

साधारणीकरण-सिद्धान्त के प्रतिपादन में उन्होंने आलम्बनत्व-धर्म के साधारणीकरण पर विशेष बल देकर काव्य में लोक-धर्म की आवश्यकता एवं महत्ता पर विशेष बल दिया है। काव्य में लोक-धर्म की आवश्यकता एवं महत्ता पर इतना अधिक स्पष्ट बल तथा विस्तृत विवेचन शुक्ल जी के पूर्व किसी भारतीय आचार्य ने नहीं किया था।

आचार्य भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण का मूलाधार कवि की कारयित्री शक्ति है, अभिनवगुप्त की दृष्टि में व्युत्पन्न सहृदय तथा शुक्ल जी की दृष्टि में आलम्बन। साधारणीकरण के स्वरूप में कवि, सहृदय तथा नायक तीनों का साधारणीकरण शुक्ल जी तथा संस्कृत के आचार्यों को समान रूप से मान्य है[१]। शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण की मध्यम स्थिति जहां पाठक का आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होकर केवल कवि की भावना या अनुभूति के साथ साधारणीकरण होता है[२], प्राचीन आचार्यों के साधारणीकरण सम्बन्धी विवेचन में नहीं मिलती, केवल कहीं कहीं उसका संकेत मिलता है। केवल कवि के भाव के साथ साधारणीकरण का संकेत भट्टतौत में मिलता है:—

'कुवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।'

इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण की मध्यम स्थिति प्राचीन आचार्यों की साधारणीकरण सम्बन्धी-परम्परा के मेल में हैं।

साधारणीकरण का प्रभाव—व्यक्तित्व-परिहार, सत्वगुण-उद्रेक, संविद्विश्रान्ति आदि मानने में शुक्ल जी[३] तथा प्राचीन आचार्य[४] समान रूप से सहमत हैं। साधारणीकरण के प्रमुख तीन तत्वों—कवि, आलम्बन तथा सहृदय पर शुक्ल जी तथा संस्कृत के आचार्यों की दृष्टि समान रूप से गई है। शुक्ल जी ने साधारणीकरण के मूल तत्व—आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर सबसे अधिक बल दिया है। आलम्बनत्व धर्म के ऊपर बल देकर प्रकारान्तर से उन्होंने कवि-कर्म के साधारणीकरण पर बल दिया है किन्तु भट्टनायक आदि ने प्रत्यक्ष रूप से कवि-कर्म के साधारणीकरण पर सर्वाधिक बल दिया है।

१—रस-मीमांसा पृ० ९७, 'नायकस्यं कवेः श्रोतुः समानानुभवस्तथा। भट्टतौत.

२—चिं० प० भाग पृ० ३१४, ३१५. ३—चिं० प० भाग पृ० ३३६, ३३७.

४— .... भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभव स्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोनुवेधवैचित्र्यबलाबदि विस्तार विकास लक्षणेन सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय निज संविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वाद संविधेन भोगेन परं भुज्येत इति। भट्टनायक.

शुक्ल जी द्वार ा निरूपित साधारणीकरण की उत्तम स्थिति[१] प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस की पूर्ण स्थिति है जिसमें कवि, नायक तथा पाठक—तीनों का साधारणीकरण होता है[२]। उन्होंने साधारणीकरण-प्रक्रिया की अवस्थाओं[3] का स्पष्ट उल्लेख करके उसके स्वरूप को पहले से अधिक साफ कर दिया है।

पुराने आचार्यों ने काव्य एवं नाटक में प्रायः शृंगार, वीर, अथवा रौद्र रस को ही लेकर साधारणीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया था किन्तु शुक्ल जी ने इससे आगे बढ़कर साहित्य के अन्य रूपों तथा अन्य रसों के साथ इसके प्रयोग की विधि बताई है[४]। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने अपने साधारणीकरण-विवेचन में आधुनिक मनोविज्ञान का सहारा लेकर उसमें अपने व्यक्तित्व का पुट भरकर साधारणीकरण के विवेचन को पहले की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक तथा सामयिक बनाकर साधारणीकरण की पुरानी परम्परा को पुनरुज्जिवित करने का प्रयत्न किया है, पहले से उसे और स्पष्ट कर दिया है तथा उसकी मध्यम स्थिति का विवेचन कर उसमें यथार्थता तथा व्यापकता ला दी है।

संस्कृत के अधिकांश आचार्य रस को अलौकिक तथा आनन्दात्मक मानते हैं[५], किन्तु शुक्ल जी उसे लौकिक तथा सुख-दुखात्मक कोटि का मानते हैं[६]। संस्कृत के कतिपय आचार्य भी रस को सुख-दुखात्मक कोटि का मानते हैं[७]। किन्तु लौकिक अर्थ में ही। आचार्य शुक्ल रस को लौकिक अर्थ में सुख-दुखात्मक नहीं मानते, क्योंकि उनकी दृष्टि में रस-स्थिति में हृदय की मुक्तावस्था के कारण रस का सुख-दुखात्मक स्वरूप हृदय-विकासक होने के कारण हृदय-संकोचक लौकिक सुख-दुख से भिन्न हो जाता है[८]।

१—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ३१२, ३१३.

२—रस-मीमांसा, पृ० ६६.

३—रस-मीमांसा पृ० ६६.

४— वही पृ० १८८, २६७, २६८.

५—भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, जगन्नाथ.

६—चि० प० भाग, पृ० ३३६. अभिभाषण, पृ० ४१.

७—रामचन्द्र, गुणचन्द्र, रुद्रभट्ट, भोज आदि। सुखदुखात्मको रसः। नाट्यदर्पण—रामचन्द्र गुणचन्द्र, कारिका—१०६.

८—चि० प० भाग पृ० ३३६.

शुक्ल जी ने न तो रस-स्वरूप को हलका एवं छिछला बनाने की संभावना उत्पन्न करने वाली मनोरंजन, आनन्द आदि पदावलियों का प्रयोग रस-स्वरूप के विवेचन में किया है और न अलौकिक, आध्यात्मिक, ब्रह्मानन्द-सहोदर, मधु-मती भूमिका आदि विशेषणों का उपयोग किया है जो उसे रहस्यात्मक बना देते अथवा इस लोक से परे की वस्तु सिद्ध करने में सहायक सिद्ध होते।

भरत[१] एवं भट्टनायक[२] के समान शुक्ल जी[3] रस को आस्वाद-स्वरूप तथा विश्वनाथ[४] के समान चिन्मय, सात्विक, एवं वेद्यान्तरस्पर्श-शून्य कोटि का मानते है।

रसात्मक वोध के तीन प्रकार—कल्पित रूप-विधान, प्रत्यक्ष रुप-विधान तथा स्मृत-रूप-विधान भारतीय आचार्यों के विवेचन में नहीं मिलते। उनके काव्य-विवेचन में रस-विश्लेषण के समय केवल कल्पित रूप विधान का स्वरुप मिलता है किन्तु वहाँ भी इस नाम से उसका विश्लेषण नहीं है। रस-स्वरुप के विवेचन में कल्पना के महत्व का आविष्कार तथा उसका बिस्तृत विवेचन भारतीय साहित्य शास्त्र में शुक्ल जी के पूर्ववर्ती किसी आचार्य के विवेचन में नहीं मिलता[५]। शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस की दो कोटियाँ—उत्तम तथा मध्यम, उन्हीं के शब्दों में भारतीय लक्षण-ग्रन्थों में प्रतिपादित रसानुभूति की दो कोटियाँ—रस स्थिति तथा भाव-स्थिति के समान हैं[६]। शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित रसानुभूति की प्रथम कोटि भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित पूर्ण रस की स्थिति के समान है जिसमें कवि, नायक तथा सामाजिक तीनों का साधारणीकरण होता है तथा आलम्बन लोक-धर्मी कोटि का होता है। शुक्ल जो द्वारा विवेचित रस की मध्यम स्थिति रस-ध्वनि के अतिरिक्त असंलक्ष्य क्रमव्यंग्य के शेष भेदों—भाव स्थिति, रसाभास, भावाभास, भावशवलता, भावोदय तथा भावसंधि को अपने भीतर समेट लेती है। ऐसी स्थिति में न तो आलंबन के साथ साधारणीकरण न आश्रय के साथ तादात्म्य होता है, केवल कवि की भावना के साथ साधारणीकरण होता है[७]। रसानुभूति की यह मध्यम स्थिति विश्वनाथ आदि पुराने आचार्यों द्वारा प्रतिपादित भाव व्यंजक काव्य से उद्भूत अनुभूति के

१—नाट्यशास्त्र—६। ३४, ६।३६. २—सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।—काव्य प्रकाशः मम्मट द्वारा व्याख्या, चतुर्थ उल्लास,

३—रस-मीमांसा पृ० १०१. ४—साहित्यदर्पणे ३।२.

५—चि० प० भाग पृ० ३२१. ६—काव्य में रह० पृ० ४६.

७—चि० प० भाग पृ० ३१५.

समान है, जिसे उक्त आचार्य न्यूनरसत्व की संज्ञा देते हैं[१]। शुक्ल जी ने रस की इस मध्यम स्थिति के भीतर मानव-चरित्र की विलक्षणताओं, दुर्बलताओं, अन्तः प्रकृति-वैचित्र्यों तथा नाना शील-दशाओं आदि के समावेश द्वारा मानव-जीवन के यथार्थ पक्ष को भी रस के भीतर समाहित करने का प्रयत्न कर[२] रस के भीतर मानव-जीवन की व्यापक अनुभूति के सन्निवेश द्वारा उसकी व्याप्ति को बहुत विस्तृत कर दिया है। शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न अनुभूति को शुक्लजी ने भावास्वादन कोटि का मान कर उसे भी रस की मध्यम स्थिति के भीतर रखा है। प्राचीन आचार्यों ने प्रकृत्यौचित्य के विवेचन में रस को समाहित करने का प्रयत्न किया है क्योंकि उनकी दृष्टि में प्रकृत्यौचित्य से स्थायी भाव में औचित्य आता है जिससे प्रथम कोटि की रसानुभूति होती है[३]।

आचार्य शुक्ल द्वारा निरूपित रस की तृतीय स्थिति चमत्कारवादियों के कुतूहल-जन्य काव्यानुभूति के समान है[४]। जैसे, आनन्दवर्धन ने चित्र या अलंकृत काव्य को अधम काव्य के भीतर रखा है[५] तद्वत शुक्लजी ने चमत्कारवादी काव्य से उद्भूत अनुभूति को रस की अधम स्थिति के भीतर स्थान दिया है क्योंकि उनकी दृष्टि में इन्हें पढ़कर पाठक के हृदय में कम से कम कुतूहल नामक भाव तो उत्पन्न होता ही है। शुक्ल जी ने भाव दशा तथा कुतूहल-दशा को रस के भीतर समेटकर भरत, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा साहित्य-दर्पणकार के समान ही रस के स्वरूप को व्यापक कर दिया है।

प्राचीन आचार्यों के समान शुक्ल जी रस के स्वरूप को विश्वात्मक एवं त्रिकालवर्ती कोटि का मानते हैं[७]। इसी से वे रस में मानव-जीवन का नित्य-स्वरूप देखते हैं[८] तथा रसगङ्गाधरकार आदि के समान रस का स्वरूप भग्नावरणाचित कोटि का मानते हैं[९]।

१—रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ,
सन्धिः शवलता चेति सर्वेऽपि रसनादसाः।
रसानधर्मयोगित्वाद्भावादिष्यपि रसत्वमुपचारादित्यप्रभायः। साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद

२—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ३१४ से ३१८

३—भावौचित्य तु प्रकृत्यौचित्यात्। प्रकृतिर्हि, उत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादिभावेन च विभेदिनी। ध्वन्यालोक, हि० अनु०, पृ० २५८

४—अभिभाषण पृ० ८६ ५—ध्वन्यालोक, ३।४२, ४३

६—वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेन उक्तत्वात्। अ. गुप्त. पृ० २८५
चिरंचित्तेऽवतिष्ठन्ते संबध्यन्तेऽनुबन्धिभिः,
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते। स. कंठा ५।१६

७—अभिभाषण पृ० ५० ८—चिन्ता० प० भाग पृ० ३५४

९—चि० प० भाग पृ० ३३६, ३३७

शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस की विस्तृत व्याप्ति भारतीय रसवादी आचार्यों द्वारा स्वीकृत रस-व्याप्ति के समान है। उन्होंने रस की वस्तु-भूमि का जितना विस्तार किया है[1], उसका संकेत पुराने आचार्यों के तत्सम्बन्धी विवेचनों के प्रसंगों में मिलता है। आचार्य शुक्ल ने स्वयं स्वीकार किया है कि भारतीय रसवादी आचार्यों के रस-सम्बन्धी-ग्रन्थों में काव्य की विविध दिशाओं में रस के फैलाव का संकेत मिलता है[2]। शुक्ल जी अपने गंभीर मनोवैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा उस संकेत को समझने में समर्थ हुए और इसी कारण उन्होंने रस-पद्धति को विश्व-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ एवं सर्व व्यापक समीक्षा-पद्धति सिद्ध करने के लिए उसके संकेतों को खोलने का प्रयत्न किया है।

प्राचीन आचार्यों के समान शुक्ल जी भी रस की व्याप्ति जीवन तथा साहित्य के प्रत्येक तत्व तक मानते हैं। जिस प्रकार आनन्दवर्धन तथा दशरूपक-कार की दृष्टि में संसार का प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी रस का अंग बनता है[3], उसी प्रकार शुक्ल जी की दृष्टिमें सृष्टि का कोई भी पदार्थ आलम्बन हो सकता है[4]। प्राचीन आचार्यों ने प्रत्यक्ष जीवनानुभूति में रस की सत्ता मानी है[5] केवल रस-विवेचन में उसका विश्लेषण नहीं किया है। शुक्ल जी ने रसानुभूति-विवेचन अथवा रसात्मक बोध के विविध रूपों के विवेचन के समय उसका विश्लेषण भी किया है। लोल्लट का इस विषय में स्पष्ट कथन है कि रसवत वस्तु का ही विन्यास काव्य में उचित होता है, रसहीन वस्तु का नहीं[6]। इससे निष्कर्ष

१—इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय, रस-व्याप्ति

२—काव्य में रहस्यवाद पृ० १५१.

३— रम्यं जुगुप्सितमुदारमथपि नीचम्
उग्रं प्रसादि गहन विकृतं च वस्तु।
यद् वाप्यवस्तु कवि भावक भावनीयं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके। - दशरूपक— ४।८५

'वस्तु च सर्वमेव जगदगतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य चांगत्वं प्रतिपद्यते।
न तदस्ति वस्तु किंचित् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति।
—ध्वन्यालोक-

४—रस-मीमांसा पृ० ११०.

५—तेन रसमयमेव विश्वम्। अ० भा०

६—किन्तु रसवंत एव निबन्धो युक्तः, न तु नीरसस्य इति अपराजितः।
भट्टलोल्लट, काव्य-मीमांसा में उदधृत पृ० ४५.

यह निकला कि काव्यके भीतर प्रतिष्ठित प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक तत्त्व तक रस की व्याप्ति है। भरत का स्पष्ट कथन है कि काव्य में रस के बिना कोई अर्थ प्रवर्तित नहीं हो सकता[1]। रस ही काव्य का मूल होता है, उसी से सब भाव, सब अर्थ व्यवस्थित होते हैं[2]। अभिनवगुप्त की दृष्टि में भी रस-समूह ही काव्य का मूल होता है[3]। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती के छठें अध्याय में रस का सम्बन्ध काव्य के सभी वस्तु-तत्त्वों--दर्शन-तत्त्व, संस्कृति-तत्त्व, युग-चेतना-तत्त्व, ऐतिहासिक तत्त्व आदि से स्थापित किया है। आनन्द ने ध्वन्यालोक में रस का सम्बन्ध काव्य के कलात्मक तत्त्वों—अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य आदि से घनिष्ठ रूप में स्थापित किया है[4]। पं० राज जगन्नाथ की रस-परिभाषा स्पष्ट रूप से रस का सम्बन्ध दर्शन से स्थापित करती है[5]। भट्टतौत प्रत्यक्ष रूप से रस का सम्बन्ध दर्शन से स्थापित करते हैं[6]। भट्टनायक, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रस-स्वरूप के भीतर चिन्मयता, सामाजिकता, सत्त्वोद्रेकता, हृद्-विस्तार आदि का सन्निवेश कर प्रकारान्तर से रस का सम्बन्ध संस्कृति-तत्त्व से स्थापित किया है। ध्वन्यालोक में प्रबन्ध के अन्तर्गत रसाभिव्यक्ति के छः हेतुओं द्वारा कारण-कार्य सम्बन्ध से

१—नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। नाट्यशास्त्र,

२—यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा,
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता। नाट्यशास्त्र ६।४२

३—एवं मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः। अभिनव-भारती पृ० २९५

४— रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्। हिन्दी ध्वन्यालोकः २।५ पृ० १२२

ये तमर्थं रसादिलक्षणमंगिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वही २।६ की वृत्ति
गुणानाश्रित्यतिष्ठन्ती, माधुर्यादीन्, व्यनक्ति सा रसान्। वहीं ३।६

तथाहि अनया अतिशयोक्त्या अर्थः सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते तथा प्रमदोद्यानादिविभावतां नीयते, विशेषेण भाव्यते, रसमयीक्रियते।—ध्वन्यालोक—

'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥'—ध्वन्यालोक

५—भग्नावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावोरसः।—रसगंगाधर,

६—'स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढ़ा लोके कविश्रुतिः॥'—काव्यानुशासनमें उद्धृत, पृ० ३७९.

रस की व्याप्ति; काव्यादर्श, प्रकृत्यौचित्य अर्थात् शील-निरूपण तत्व, कथा-तत्व, ऐतिहासिक-तत्व, कल्पना-तत्व, परिस्थिति तथा अलंकार-तत्व तक फैली हुई दिखाई पड़ती है[१]। आनन्द ध्वन्यालोक में रस का सम्बन्ध नाटक अथवा प्रबन्ध काव्य की कथावस्तु तथा ऐतिहासिक घटनाओं से स्थापित करते हुए प्रत्यक्ष रूप में दिखाई पड़ते हैं[२]। उसी स्थलपर ध्वन्यालोककार भावौचित्य का सम्बन्ध प्रकृत्यौचित्य से स्थापित करके रस का सम्बन्ध चरित्र-चित्रण से स्थापित कर देते हैं[३]।

सभी भारतीय रसवादी आचार्यों ने रस का सम्बन्ध अनुभूति से प्रत्यक्ष रूप में स्थापित किया था। रसानुभूति-विवेचन में बोध वृत्ति का स्पष्ट उल्लेख अभिनव गुप्त ने किया था[४]। किन्तु कल्पना-तत्व से रस का स्पष्ट रूप में प्रत्यक्ष सम्बन्ध किसीने आविष्कृत नहीं किया था; मनोविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा शुक्ल जी ने रस का सम्बन्ध कल्पना-तत्व से स्पष्ट रूप से स्थापित किया और साहित्यजन्य रस को उन्होंने कल्पित रूप-विधान के भीतर रखकर उसे कल्पनाजन्य आनन्द कहा[५]। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि भारतीय रसवादी आचार्यों के रस सम्बन्धी विवेचन से काव्य के वस्तु-पक्ष एवं कलापक्ष के प्रत्येक तत्व तक रस-विस्तार का संकेत मिलता है। शुक्ल जी ने उन संकेतों को पकड़ कर अपने मनोविज्ञान के अध्ययन की सहायता से रस की व्याप्ति को पुराने आचार्यों के समान ही काव्य के वस्तु-पक्ष एवं कलापक्ष के प्रत्येक तत्व तक फैलाने का प्रयत्न किया है[७]। उन्होंने अपने रस-विवेचन में रस की व्याप्ति को एक ओर काव्य की विविध दिशाओं—काव्यादर्श, कल्पना-तत्व, बुद्धितत्व, अनुभूति-तत्व, वर्ण्य-तत्व, शीलनिरूपण-तत्व, युग-तत्व, संस्कृति-तत्व, दर्शन-तत्व, ऐतिहासिक-तत्व तक फैलाने का प्रयत्न किया है, तो दूसरी ओर इसमें भारतीय साहित्य के

१—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत:, कारिका—१०, ११, १२ १३, १४.

२—औचित्यवत: कथा शरीरस्य वृत्तयोत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यंजक इत्येतेनैतत् प्रतिपादयति यदितिहासादिषु कथासु रसवतीषु विविधासु सतीष्वपि यत्तत्र विभावाद्यौचित्यवत् कथा शरीरं तदेव ग्राह्यं नेतरत्। वृत्तादपि च कथाशरीरानुत्प्रेक्षिते विशेषत: प्रयत्नवता भवितव्यम्।—हिन्दी ध्वन्यालोक, कारिका १४ की वृत्ति, पृष्ठ २६३.

३—भावौचित्य तु प्रकृत्यौचित्यात्। प्रकृतिर्हि, उत्तममध्यमाधमभावेनं दिव्यमानुषादि भावेनं च विभेदिनी।—वही—पृ० २५८.

४—रसनाबोधरूपैव—अभि० भा०, २८५

५—चिं० प० भाग—पृ० ३६०, ३६१.

६—चिं० प० भाग—पृ० ३३०.

७—इसी प्रबन्ध। चतुर्थ अध्याय

विभिन्न वादों—अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य के सारवान तत्वों को आत्मसात करने की शक्ति एवं विदेशी वादों के सारभूत तत्वों को पचाने का सामर्थ्य भरने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार पुराने आचार्यों की तुलना में शुक्ल जी ने रस की वस्तु-भूमि को अधिक विस्तृत करने का प्रयत्न किया है।

भारतीय रसवाद के मनोवैज्ञानिक पक्ष में काव्य के अनेक तत्व समाहित थे किंतु मानस-शास्त्र के अभाव में रसवादी आचार्यों द्वारा वे आविष्कृत नहीं हो सके थे। यदि कहीं आविष्कृत भी हुए थे तो केवल सांकेतिक रूप में। उनका विवेचन वहाँ नहीं हो सका था। शुक्ल जी ने मनोविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा प्राचीन आचार्यों के रस-व्याप्ति सम्बन्धी संकेतों को खोलने का प्रयत्न किया और बताया कि रस के भीतर मूल भाव, साधित भाव, वासना, संवेदन, इच्छा, प्रत्यय-बोध, कल्पना-तत्व, अनुभूति, इन्द्रिय-वेग, मनोवेग, अन्तःकरण-वृत्तियाँ, विवेकात्मक बुद्धि-व्यापार आदि अनेक तत्व आते हैं। उन्होंने चिंतामणि (पहला भाग) के मनोविकार सम्बंधी निबंधों में रस के अंतर्गत आने वाली मनुष्य की ऐसी मानसिक अवस्थाओं का विवेचन किया है जो रस की बँधी लीक पीटने वाले आचार्यों में नहीं मिलतीं[1]।

शुक्ल जी ने रस के साहित्यिक प्रतिमान को मनोविज्ञान, इतिहास, विश्व-दर्शन, विश्व-संस्कृति, तुलनात्मक समीक्षा आदि की भूमिका पर प्रतिष्ठित कर उसे साहित्य का राष्ट्रीय ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिमान बनाने का प्रयत्न किया और बल पूर्वक यह बतलाया कि मनुष्य मानसिक दृष्टि से सर्वत्र एक है। अतएव किंचित् परिष्कार से रसवाद का प्रतिमान सभी देशों के साहित्य पर प्रयुक्त हो सकता है। इस प्रकार उन्होंने रस का सम्बन्ध दूसरे देशों के साहित्य से भी स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने रस की व्याप्ति को जितना विस्तृत करने का प्रयत्न किया, उतना पुराने आचार्य नहीं कर सके थे।

शुक्ल जी आनंद, अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ आदि के समान रस की प्रकृति व्यंजनात्मक एवं भावात्मक मानते हैं[2]।

१—इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय—.

२—विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥—काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास, ४३।२८.

साहित्य दर्पण. ५।८

कवि, कविता एवं सहृदय की दृष्टि से शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस का कार्य आनन्द, अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि प्राचीन आचार्यों के समान बहुत ही उदात्त कोटि का है। प्राचीन आचार्यों के समान वे[2] रस का कार्य एक ओर कवि को परप्रतीति से भरना, लोक-हृदय में लीन करना, साधारणीभूत संवित् की उपलब्धि कराना, दूसरी ओर कविता को उसके चरम-लक्ष्य—सार्वभौम मानव-सत्य, लोक-मङ्गल की सिद्धि में समर्थ बनाना, तीसरी ओर सहृदय की भावात्मक सत्ता का प्रसार एवं परिष्कार करते हुए उसे अधिकाधिक सामाजिक बनाना, उसे मानवता की ऊँची से ऊँची सीढ़ी तक पहुँचाना मानते हैं।

प्राचीन आचार्यों के समान शुक्लजी रसानुभूति का प्रधान लक्षण निर्वैयक्तिकता, सामाजिकता, सार्वकालीनता तथा विश्वात्मकता मानते हैं[3]। इसी विशेषता पर प्राचीन आचार्यों तथा शुक्ल जी का साधारणीकरण-सिद्धांत अवलम्बित है। उनके द्वारा निरूपित रसानुभूति की दूसरी विशेषता—आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण में निहित है[4]। यह विशेषता भी भट्टनायक, विश्वनाथ आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत है[5]।

१—कविगत साधारणीभूत सविन्मूलश्च काव्य पुरस्सरो नाट्य व्यापारः सैव च संवित परमार्थतो रसः। अभिनव-भारती, अध्याय ६.

विश्वश्च यस्काव्यम्।

स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः। साहित्य दर्पण ३।२,

......हृदि विस्तार विकास लक्षणेन......।—भट्टनायक, अ० भा० पृ० २७६ पर उद्धृत.

२—इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय,

३—रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥

महिम भट्ट, व्य० वि०, पृ० १०८.

४—चिंतामणि, पहला भाग, पृ० ३१२, ३३६.

५—साहित्य दर्पण, ३।६, १०, ११.

शुक्ल जी रसानुभूति को सौन्दर्यानुभूति कोटि की मानते हैं[१]। वामन तथा उनके पश्चात् प्रायः सभी आचार्य रसानुभूति को सौन्दर्यानुभूति तुल्य मानते हैं[२]। विभाव पक्ष की उत्तमता अथवा औचित्य के आधार पर रसानुभूति की उत्तमता, आनन्द, अभिनव, क्षेमेन्द्र, मम्मट, विश्वनाथ आदि सभी को मान्य है[३]। रसानुभूति की उत्तम, मध्यम श्रेणी निश्चित करने में शुक्ल जी ने इसी कसौटी का प्रयोग किया है[४]। अर्थात् शुक्ल जी द्वारा निरूपित रसानुभूति प्राचीन आचार्यों द्वारा विवेचित रसानुभूति के समान ही औचित्य एवं नीति की भावना से अनुशासित है[५]।

रस-संख्या के विषय में संस्कृत-आचार्य यद्यपि एक मत नहीं हैं[६], तथापि अधिकांश आचार्य रसों की संख्या नौ ही मानते हैं[७]। शुक्ल जी भी अधिकांश रसवादी पुराने आचार्य द्वारा निश्चित नव स्थायी भावों को सार्वभौम मानव-जीवन के प्रतिनिधि भावों के रूप में निरूपित करते हुए रस-संख्या नव ही मानने के पक्ष में जान पड़ते हैं। इसीलिए वे अन्य आचार्यों द्वारा निरूपित नवातिरिक्त रसों[८]—वात्सल्य, प्रेयस माया-रस, भक्ति-रस आदि को शृंगार के भीतर समेट लेते हैं। रस-संख्या की दृष्टि से साहित्य में नव रसों की सत्ता मानते हुए भी वे शान्त रस में लोक-धर्म एवं लोक-प्रवृत्तियों की उदासीनता मानकर[९] काव्य में भरत मुनि आदि के समान आठ रसों की ही

१—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २२५.

२—सौन्दर्यमलंकारः। सदोषगुणालंकारहानादाना भ्याम्। वामन, काव्यालंकार सूत्र, १·१।२-३.

३—अनौचित्य प्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः। साहित्य दर्पण, ३।२६२,

४—काव्य में रहस्यवाद पृ० ५६.

५—अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन.

६—भरत ने ८; उद्भट, आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने ६, रुद्रट, विश्वनाथ, मधुसूदन सरस्वती तथा भानुदत्त ने १०; भोज ने १२; और हरिपाल देव ने १३ रस माने हैं।

७—उद्भट, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त तथा मम्मट.

८—रस-मीमांसा पृ० १७०.

९—वही पृ० १७२.

प्रधानता मानते हैं।

रस-प्रधानता के विषय में संस्कृत-आचार्य सहमत नहीं हैं। अभिनव गुप्त शान्त रस को प्रधान मानते हैं तो अग्निपुराणकार, रूद्रट, आनन्दवर्धन तथा भोज श्रृंगार को, रूप गोस्वामी तथा मदुसूदन सरस्वती भक्ति-रस को प्रधान मानते हैं तो कवि कर्णपूर प्रेम रस को; नारायण पंडित अद्भुत-रस को प्रधान मानते हैं तो भवभूति करुण को[१]। शुक्ल जी अग्निपुराणकार, रुद्रट, आनन्दवर्धन, भोज आदि पुराने आचार्यों के समान श्रृंगार को प्रधान रस मानते हुए उसे रसराजत्व की उपाधि देते हैं[२], पर मनोवैज्ञानिक ढंग से उसका अत्यन्त व्यापक स्वरूप निरूपित कर। उनके द्वारा निरूपित श्रृंगार का स्वरूप साहित्य-दर्पणकार के समान नर-नारी विषयक काम-भावना के भीतर सीमित नहीं[३]। मीरा, जायसी आदि भक्त कवियों के समान अपार्थिव नहीं, रीतिवादियों के समान शारीरिक नहीं, वरन् वह इतना व्यापक है कि वह अनेक अंतर्वृत्तियों, भावों तथा अनेक चारित्रिक विशेषताओं को अपने भीतर समेट लेता है[४], मनुष्य के सम्पूर्ण मस्तिष्क को नियंत्रित करने का सामर्थ्य रखता है तथा अपने विस्तृत शासन के भीतर सुखात्मक एवं दुखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकारों को समाहित कर लेता है[५]।

शुक्ल जी संस्कृत के रस-ध्वनिवादी आचार्यों—आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि के समान रस का सम्बन्ध काव्य के अन्य तत्त्वों-अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य से अंगांगि कोटि का मानते हैं।

अलंकार-सिद्धान्त से तुलना :—

वे अलंकारवादियों के समान अलंकार की व्याप्ति या सम्बन्ध वर्ण्य से[६] न मानकर आनन्द, अभिनव, मम्मट आदि रस-ध्वनिवादियों के समान उसका संबंध वर्णन-प्रणाली से मानते हैं[७]। इसीलिए उन्होंने वर्णन-प्रणाली से सम्बन्ध

१—रस-विमर्श—के० ना० वाटवे पृ० २२६ से २३४।

२—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० १२१

३— शृंगहि मन्मथोद्भेदस्तदागमन हेतुकः।
उत्तम प्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते। साहित्य-दर्पण

४—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० १२१

५— वही लोभ और प्रीति नामक निबंध

६— वही पृ० २४८ ७— वही पृ० २४६

रखनेवाले अलंकारों का खण्डन किया है[1]। अलङ्कारवादी काव्य का भेदक तत्व—अलङ्कार मानते हैं, शुक्ल जी अनुभूति। इसीलिए वे अलङ्कारवादियों के समान अलङ्कार को काव्य का सर्वस्व या साध्य न मान कर रसवादियों के समान साधन मानते हैं[2]। उनकी दृष्टि में कविता का साध्य या आत्म तत्व रस है किंतु अलङ्कारवादियों की दृष्टि में कविता का आत्मतत्व या साध्य अलङ्कार है। शुक्ल जी मम्मट आदि के समान अलङ्कार के बिना भी काव्य का अस्तित्व सम्भव मानते हैं[3] पर भाव या अनुभूति के बिना नहीं, किंतु अलङ्कारवादी अलङ्कार के बिना काव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं मानते[4]।

शुक्ल जी के पूर्व अलङ्कार-विवेचन के प्रसङ्ग में भारतीय आचार्यों ने कल्पना का प्रयोग नहीं किया था। शुक्ल जी ने पश्चिमी-समीक्षा से कल्पना-तत्व ग्रहण कर अलङ्कार-विवेचन की स्पष्टता के लिए उसका सम्यक् उपयोग किया है[5]।

शुक्लजी अलङ्कारों को काव्य के अन्तर से प्रकट होता हुआ देखना चाहते हैं; मार्मिक भावना या अनुभूति के कारण उनका प्रयोग उचित समझते हैं, पर अलङ्कारवादियों के समान काव्य में यत्न से उनका प्रयोग उचित नहीं समझते[7]। इस प्रकार वे काव्य से अलङ्कार का सम्बन्ध आन्तरिक कोटि का मानते हैं, वाह्य कोटि का नहीं। अलङ्कारों की संख्या के विषय में दण्डी आदि अलङ्कारवादियों से सहमत हैं कि अलङ्कारों की इयत्ता अलङ्कार-ग्रन्थों में वर्णित अलङ्कारों की संख्या तक ही नहीं है[8]।

गुण सिद्धान्तसे तुलना :—

शुक्ल जी दण्डी, वामन आदि के समान गुण को शब्द तथा अर्थ का धर्म न मान कर[9] रसध्वनिवादियों के समान रस का धर्म मानते हैं[10]। इस

१—रस-मीमांसा, पृ० ११२ २—रूपकादेरलंकार वर्गस्यांगत्व साधनम्। ध्वन्यालोक
चि० प० भाग, पृ० २४७ ३—अनलंकृती पुनः क्वापि। मम्मट
४— अंगीकरोतियः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृतां चन्द्रालोक १।८।
५—रस-मीमांसा पृ० ३५१, ३५५ ६—चि० प० भाग पृ० २५१
७—सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः अनया अर्थो विभाव्यते,
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलकारोऽनया बिना। भामह
८—काव्यादर्श, दण्डी २।१ जायसी ग्रन्थावली की भूमिका पृ० ११५
९—ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्बन्ति ते गुणाः। काव्यालंकारसूत्र ३, १, १,
१०— ये रसस्यांगिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः। मम्मट
रस-मीमांसा पृ० ३६८

प्रकार गुणवादी तथा रीतिवादी गुण को रीति अथवा शब्दार्थ चमत्कार का मूल तत्व मानते हैं। उदाहरणार्थ, प्रसाद गुण चित्त की निर्मलता एवं समरसता की स्थिति है जो सभी रसों के आस्वादन के लिये अनिवार्य है[१] क्योंकि चित्त के निर्मल अथवा समरस हुए बिना रसानुभूति सम्भव ही नहीं है। रीतिवादी गुण का आधार शब्द-अर्थ का चमत्कार या रीति-चमत्कार मानते हैं[२], किन्तु शुक्ल जी गुण का आधार रस मानते हैं[३]। इसीलिए वे गुण को शब्दार्थ चमत्कार अथवा रीति चमत्कार न मानकर ध्वनि रसवादियों के समान चित्तवृत्तियों के तद्रुप मानते हैं[४]। शुक्ल जी के मतानुसार रसानुभूति की अवस्था में चित्त की तीन अवस्थायें होती हैं—द्रुत, दीप्ति तथा व्यापकत्व। अतः उनकी दृष्टि में गुणों की आधार-भित्ति द्रुत, दीप्ति तथा व्यापकत्व नामक तीनों चित्तवृत्तियाँ ही हैं; इसी कारण वे रस ध्वनिवादियों के समान गुणों की संख्या—ओज, प्रसाद, माधुर्य तीन ही मानते हैं। वे दण्डी, वामन, भोजादि के समान उनकी संख्या में वृद्धि करना उचित नहीं समझते।

शुक्ल जी भट्टनायक[५] के समान गुण को रसास्वादन की पूर्व स्थिति मानकर[६] रस-परिपाक में सहायक मानते हैं[७]। सभी संस्कृत आचार्यों के समान शुक्ल जी इस बात पर सहमत हैं कि गुण काव्य के उत्कर्ष साधक तत्व हैं[८]। किन्तु उनकी दृष्टि में गुण रस के आश्रय से काव्य का उत्कर्ष करते हैं, शब्द अर्थ के चमत्काराश्रय से नहीं, जैसा कि रीतिवादियों का मत है।

१—समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति,
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः। ध्वन्यालोक। चिन्तामणि पहला भाग पृ० २४४

२—काव्यालंकारसूत्र, ३।१, १, १, २१७, ८

३—सूरदास, आचार्य शुक्ल पृ० १६३

४—वही पृ० १५६ १६१ १६३ से १६५ तक

५—द्रुतिविस्तार विकासात्मा रजरतमोवैचित्र्यानुविद्धसत्वमयनिज—
चित्स्वभाव निर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः लोचन में भट्टनायक सम्बन्धी विवेचन से

६—चि० प० भाग पृ० २४४

७—सूरदास, आचार्य शुक्ल पृ० २००

८—उत्कर्षहेतवः ते स्युः अचलस्थितयो गुणाः काव्यप्रकाश

९—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २४५ रस-मीमांसा पृ० ३६८

वामन के अनुसार गुण काव्य का शोभाकारक धर्म है[1], शुक्ल जी के अनुसार काव्य के अंतरंग व्यक्तित्व का धर्म है[2]। इस प्रकार काव्य में गुण की अनिवार्यता सभी मानने हैं—रीतिवादी शब्द-अर्थ का धर्म बताकर और शुक्ल जी तथा अन्य रसध्वनिवादी रस का धर्म बताकर। वामन के अनुसार रस गुण का अंग है[3], रसध्वनिवादियों के अनुसार गुण रस का अंग है[4]।

रीति-सिद्धान्तसे तुलनाः—

वामन के समान शुक्ल जी काव्य में रीति की स्वतन्त्र तथा सर्वतंत्र सत्ता नहीं मानते[5]। वे आनन्द, विश्वनाथ के समान उसे रस के आश्रित मानते हैं[6]। उनकी दृष्टि में रस रीति का प्रमुख नियामक-हेतु है, किन्तु रीतिवाद में रस रीति का अंग माना गया है और वह भी महत्वपूर्ण अंग नहीं क्यों कि उसका समावेश बीस गुणों में से केवल कान्ति गुण में किया गया है[8]। वामन की रीति अपने आप में सिद्धि है; किन्तु शुक्ल जी की रीति आनन्द, विश्वनाथ के समान रसाभिव्यक्ति का साधन तथा रस की उपकर्त्री है[9]। वे रीति का आधार-तत्व पद-संघटना मानते हैं[10], रीतिवादियों के समान गुण नहीं[11]। इसीलिए वे रीति का मुख्य सम्बन्ध भाषा-पक्ष से स्थापित करते हैं[12] तथा अपने विवेचन में भाषा नामक परिच्छेद के भीतर उसका निरूपण करते हैं[13]।

१—काव्यशोभायाः कर्तारोधर्मागुणाः। काव्यालंकारसूत्र ३।१।१

२—रस-मीमांसा पृ० ३६८

३—दीप्त रसत्वं कान्तिः। काव्यालंकार सूत्र ३।२।१५

४—ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। काव्यप्रकाश

५—रस-मीमांसा पृ० ३७०

६—गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान। ध्वन्यालोक ३।५

७—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २४४, २४५, २४६ ८—काव्यालंकार सूत्र ३।२।१५

९—पदसंघटना रीतिरंगसंस्था विशेषवत्, उपकर्त्री रसादीनाम्। साहित्यदर्पण। विश्वनाथ

१०—रस-मीमांसा पृ० ३७०

११—विशिष्टपदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। काव्यालंकार सूत्र १।२।७।८

१२—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २३८

१३— वही पृ० २३८ से २४६ तक

प्रकार गुणवादी तथा रीतिवादी गुण को रीति अथवा शब्दार्थ चमत्कार का मूल तत्व मानते हैं। उदाहरणार्थ, प्रसाद गुण चित्त की निर्मलता एवं समरसता की स्थिति है जो सभी रसों के आस्वादन के लिये अनिवार्य है[1] क्योंकि चित्त के निर्मल अथवा समरस हुए बिना रसानुभूति सम्भव ही नहीं है। रीतिवादी गुण का आधार शब्द-अर्थ का चमत्कार या रीति-चमत्कार मानते हैं[2], किन्तु शुक्ल जी गुण का आधार रस मानते हैं[3]। इसीलिए वे गुण को शब्दार्थ चमत्कार अथवा रीति चमत्कार न मानकर ध्वनि रसवादियों के समान चित्तवृत्तियों के तद्रुप मानते हैं[4]। शुक्ल जी के मतानुसार रसानुभूति की अवस्था में चित्त की तीन अवस्थायें होती हैं—द्रुत, दीप्ति तथा व्यापकत्व। अतः उनकी दृष्टि में गुणों की आधार-भित्ति द्रुत, दीप्ति तथा व्यापकत्व नामक तीनों चित्तवृत्तियाँ ही हैं; इसी कारण वे रस ध्वनिवादियों के समान गुणों की संख्या—ओज, प्रसाद, माधुर्य तीन ही मानते हैं। वे दण्डी, वामन, भोजादि के समान उनकी संख्या में वृद्धि करना उचित नहीं समझते।

शुक्ल जी भट्टनायक[5] के समान गुण को रसास्वादन की पूर्व स्थिति मानकर[6] रस-परिपाक में सहायक मानते हैं[7]। सभी संस्कृत आचार्यों के समान शुक्ल जी इस बात पर सहमत हैं कि गुण काव्य के उत्कर्ष साधक तत्व हैं[8]। किन्तु उनकी दृष्टि में गुण रस के आश्रय से काव्य का उत्कर्ष करते हैं, शब्द अर्थ के चमत्काराश्रय से नहीं, जैसा कि रीतिवादियों का मत है।

१—समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति,
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः। ध्वन्यालोक। चिन्तामणि पहला भाग पृ० २४४

२—काव्यालंकारसूत्र, ३।१, १, १, २।७, ८

३—सूरदास, आचार्य शुक्ल पृ० १६२

४—वही पृ० १५६ १६१ १६३ से १६५ तक

५—द्रुतिविस्तार विकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्वमयनिज—
चित्स्वभाव निर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः लोचन में भट्टनायक सम्बन्धी विवेचन से

६—चि० प० भाग पृ० २४४

७—सूरदास, आचार्य शुक्ल पृ० २००

८—उत्कर्षहेतवः ते स्युः अचलस्थितयो गुणाः काव्यप्रकाश

९—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २४५ रस-मीमांसा पृ० ३६८

वामन के अनुसार गुण काव्य का शोभाकारक धर्म है[१], शुक्ल जी के अनुसार काव्य के अंतरंग व्यक्तित्व का धर्म है[२]। इस प्रकार काव्य में गुण की अनिवार्यता सभी मानते हैं—रीतिवादी शब्द-अर्थ का धर्म बताकर और शुक्ल जी तथा अन्य रसध्वनिवादी रस का धर्म बताकर। वामन के अनुसार रस गुण का अंग है[३], रसध्वनिवादियों के अनुसार गुण रस का अंग है[४]।

रीति-सिद्धान्तसे तुलनाः—

वामन के समान शुक्ल जी काव्य में रीति की स्वतन्त्र तथा सर्वतंत्र सत्ता नहीं मानते[५]। वे आनन्द, विश्वनाथ के समान उसे रस के आश्रित मानते हैं[६]। उनकी दृष्टि में रस रीति का प्रमुख नियामक-हेतु है, किन्तु रीतिवाद में रस रीति का अंग माना गया है और वह भी महत्वपूर्ण अंग नहीं क्यों कि उसका समावेश बीस गुणों में से केवल कान्ति गुण में किया गया है[८]। वामन की रीति अपने आप में सिद्धि है; किन्तु शुक्ल जी की रीति आनन्द, विश्वनाथ के समान रसाभिव्यक्ति का साधन तथा रस की उपकर्त्री है[९]। वे रीति का आधार-तत्व पद-संघटना मानते हैं[१०], रीतिवादियों के समान गुण नहीं[११]। इसीलिए वे रीति का मुख्य सम्बन्ध भाषा-पक्ष से स्थापित करते हैं[१२] तथा अपने विवेचन में भाषा नामक परिच्छेद के भीतर उसका निरूपण करते हैं[१३]।

१—काव्यशोभायाः कर्तारोधर्मागुणाः। काव्यालंकारसूत्र ३।१।१

२—रस-मीमांसा पृ० ३६८

३—दीप्त रसत्वं कान्तिः। काव्यालंकार सूत्र ३।२।१५

४—ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। काव्यप्रकाश

५—रस-मीमांसा पृ० ३७०

६—गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान। ध्वन्यालोक ३।५

७—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २४४, २४५, २४६ ८—काव्यालंकार सूत्र ३।२।१५

९—पदसंघटना रीतिरंगसंस्था विशेषवत्, उपकर्त्री रसादीनाम्। साहित्यदर्पण। विश्वनाथ

१०—रस-मीमांसा पृ० ३७०

११—विशिष्टपदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। काव्यालंकार सूत्र १।२।७।८

१२—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २३८

१३— वही पृ० २३८ से २४६ तक

वामन आदि रीतिवादी आचार्य रीति के भीतर काव्य के वहिरङ्ग तत्व — पद-बन्ध, शब्द-गुम्फ, नाद-सौंदर्य, शब्द-चमत्कार, अलङ्कार आदि तथा अन्तरङ्ग तत्व—गुण, रस, ध्वनि, शब्द-शक्ति तथा दोषाभाव को समेटते हुए उसे काव्यात्मा के पद पर आसीन करते हैं[१]। किंतु शुक्ल जी रसध्वनिवादी आचार्यों के समान वस्तु तथा शैली अथवा रीति को अलग अलग तत्व मानते हुए[२] रीति को पद-सङ्घटना कह कर[३] उसे काव्य के वाह्यांग तत्वों के भीतर रखते हैं[४], काव्य-शरीर का अङ्ग-विन्यास मानते हैं[५]। वामन आदि रीतिवादियों के समक्ष रीति-निरूपणके समय शब्द-अर्थ के सौन्यर्य का ही चरम मान था किंतु शुक्ल जी के समक्ष रीति-विवेचन के समय ध्वनि-रसवादियों के समान रस का मानदण्ड था। रीतिवादियों के अनुसार रीति की सार्थकता शब्द-चमत्कार एवं अर्थ-चमत्कार को उत्पन्न करने में हैं किंतु शुक्लजी के अनुसार रीति की सार्थकता रस के आश्रित होकर रस-परिपाक में सहायता पहुँचाने में है[६]। शुक्ल जी के रीति-विवेचन में लेखक के व्यक्तित्व का विवेचन नहीं है, जिसका संकेत अथवा उल्लेख उनके पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी, कुन्तक, शारदातनय आदि कर चुके थे।

रीतिकालीन हिंदी आचार्यों के रीति-विवेचन में सैद्धांतिक दृष्टि से ाई नवीनता नहीं है। क्योंकि उन्होंने संस्कृत के आचार्यों की ही सैद्धान्तिक बातों को हिंदी-भाषा में छन्द-बद्ध-रूप में रखने का प्रयत्न किया है। आधुनिक युग में डा० श्यामसुन्दर दास के साहित्यालोचन, प्रो० गुलाबराय के दो ग्रन्थ—सिद्धान्त और अध्ययन तथा काव्य के रूप और श्री सुधांशु के दो ग्रन्थ—जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त तथा काव्य में अभिव्यंजनावाद में रीति या शैली का विवेचन प्राच्य एव पाश्चात्य शैली-सिद्धान्तों के समन्वय के सिद्धान्तों के आधार पर किया गया हैं। किन्तु शुक्ल जी ने रीतिवाद का विवेचन

१—रीतिरात्मा काव्यस्य। काव्यालंकार सूत्र

२—सूरदास, आचार्य शुक्ल पृ० २००

३—रस-मीमांसा पृ० ३७०

४—सूरदास, आचार्य शुक्ल पृ० २००

५—रस-मीमांसा पृ० ३७०

६—सूरदास, आचार्य शुक्ल पृ० २००, २४४

७—भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डा० नगेन्द्र पृ० १६२

संस्कृत-समीक्षा के प्रमुख रीति-तत्वों के आधार पर ही किया है।

ध्वनि-सिद्धान्त से तुलना:—

शुक्ल जी रस-निष्पत्ति व्यञ्जना-प्रक्रिया से मानते हुए[1], काव्य में तीनों शब्द शक्तियों में विश्वास करते हुए[2] काव्य-चमत्कार या सौन्दर्य वाच्यार्थ में मानते हैं[3], क्योंकि उनकी दृष्टि में चमत्कार या वचन-भंगिमा अयोग्य एवं अनुपपन्न पदों में ही रहती है और अयोग्य एवं अनुपपन्न पदों की सत्ता वाच्यार्थ में रहती है। उनके मत में लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में बुद्धि ग्राह्य या योग्य अर्थ होने के कारण वचन- भंगिमा का लोप हो जाता है, अभिष्ट तथ्य काव्योपकरण से वियुक्त हो जाता है, अतः उसमें काव्यत्व नहीं रहता[4], किन्तु ध्वनिवादी काव्य का चमत्कार या सौन्दर्य ध्वन्यार्थ या व्यंग्यार्थ में मानते हैं[5]।

आचार्य शुक्ल की दृष्टि में व्यंजक वाक्य ही काव्य होता है[6], ध्वनिवादियों की दृष्टि में व्यंग्य भाव या वस्तु[7]। वे काव्य में रमणीयता का सम्बन्ध सुन्दर पदार्थ से स्थापित करते हैं[8], क्योंकि हृदय को रमाने की योग्यता भाव उत्पन्न करने वाले सुन्दर पदार्थ में होती है, भाव में नहीं[9]। इसलिए वे कवि का काम मूर्त भावना उपस्थित करना मानते हैं, बुद्धि के सामने कोई तथ्य या विचार लाना नहीं[10]। अतएव उनकी दृष्टि में वही उक्ति काव्यात्मक हो सकती है जो सुन्दर पदार्थ का चित्र निरूपित करने में समर्थ हो। किन्तु ध्वनिवादियों की दृष्टि में व्यंग्य भाव को व्यंजित करने वाली उक्ति काव्य है। शुक्ल जी की दृष्टि में सुन्दर पदार्थ के चित्रण में काव्यत्व निहित है[11], ध्वनिवादियों की

१—रस-मीमांसा पृ० ३८८, ४०१, ४०६

२— वही — परिशिष्ट, शब्द-शक्ति सम्बन्धी विवेचन

३—अभिभाषण पृ० १३

४—अभिभाषण पृ० १५

५—ध्वन्यालोक १।४

६—काव्य में रह० पृ० ६६

७—ध्वन्यालोक १।२,४

८—अभिभाषण पृ० १४, १५

९—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ३२६ ३३०

१०—रस-मीमांसा पृ० ३१०

११—चिन्तामणि पहला भाग पृ० १९८

दृष्टि में सुन्दर भाव की व्यंजना में। क्योंकि ध्वनिमत के अनुसार हृदय को रमाने की क्षमता प्रतीयमान भाव या रस में है[1]। ध्वनिवादियों के मत से वाच्यार्थ स्वयं अपने चमत्कारों के साथ व्यंग्य या ध्वनि का साधन या माध्यम है[2] किन्तु शुक्ल जी के मत में वाच्यार्थ अपने द्वारा निरूपित सुन्दर पदार्थ के साथ रस का माध्यम है[3]। शुक्ल जी जिस अयोग्य एवं अनुपपन्न वाच्यार्थ में काव्य की रमणीयता देखते हैं, उसे ध्वनिवादी काव्य के लावण्य का साधन मानते हैं[4]। उनकी दृष्टि में काव्य-सौन्दर्य में उसका (वाच्यार्थ का) वही योग है जो रस की प्रतीति में अलंकार का[4अ]। आचार्य शुक्ल के मत में काव्य-सत्य का सम्बन्ध लक्ष्यार्थ या ध्वन्यार्थ से होता है[5] किन्तु काव्य-सौन्दर्य का सम्बन्ध सुन्दर पदार्थों के रमणीय चित्रण से होता है,[6] जो वाच्यार्थ द्वारा सम्पादित होता है, ध्वनिवादी काव्य-सत्य तथा काव्य-सौन्दर्य दोनों का सम्बन्ध ध्वन्यार्थ या व्यंग्यार्थ से स्थापित करते हैं[7]। ध्वनिवादी जहाँ काव्य का अनुभूति-तथ्य एवं सौन्दर्य-पक्ष दोनों ध्वनि में, व्यंग्यार्थ में मानते हैं, वहाँ शुक्ल जी काव्य का सौन्दर्य-पक्ष वाच्यार्थ में, एवं अनुभूति तथ्य लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में मानते हैं[8]। यही कारण है कि शुक्ल जी रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया व्यंजना-प्रक्रिया से मानते हुए, व्यंजना शक्ति को सदा स्वीकार करते हुए भी काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में मानते हैं तथा सभी शब्द-शक्तियों में अभिधा की प्रधानता समझते हैं। उनका कहना है कि अभिधा-धाम से बहिर्गत होने पर वह चमत्कार पूर्ण अर्थ वास्तविकता से, बुद्धिग्राह्य अर्थ से अथवा काव्य-सत्य से सम्बन्ध रखने के कारण भावोन्मेषण अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन में असमर्थ हो जाता है।

शुक्ल जी की दृष्टि में वस्तु-व्यंजना एवं भाव-व्यंजना का अन्तर वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर जाने के क्रम के लक्षित अथवा अलक्षित होने में ही नहीं है वरन् अन्य दो बातों में भी है[10]। उनके मत से वस्तु-व्यंजना किसी तथ्य या वृत्त का बोध कराती है, भावव्यंजना भाव का संचार करती है, उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है[11]। शुक्ल जी महिमभट्ट के समान वस्तु-व्यंजना को

१—ध्वन्यालोक १।५ और ३।४ २—वही १।१३।१०। ३—अभिभाषण पृ० १२ के आधार पर

४—ध्वन्यालोक २।४

४—अ हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका। डा० नगेन्द्र पृ० ३८

५—अभिभाषण पृ० १५ ६—रस-मीमांसा पृ० १९५

७—ध्वन्यालोक १।४।९ ८—अभिभाषण पृ० ६ ९—अभिभाषण पृ० १४

१०—चिन्तामणि, दूसरा भाग पृ० १७९ ११—वही पृ० १७६

अनुमान प्रक्रिया से सिद्ध करते हैं[१], तथा भाव-व्यंजना को व्यंजना-प्रक्रिया से।[१] उनकी दृष्टि में भाव का बोध कराना और अनुभूति कराना दो अलग-अलग बातें हैं। अतः वे भाव-व्यंजना तथा वस्तु-व्यंजना को दो भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ मानते हैं।[३] इसी कारण वे वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना दोनों के सम्बन्ध में व्यंजना शब्द का प्रयोग करना भ्रामक समझते हैं।[४] व्यंजना उन्हें वहीं तक मान्य है जहाँ तक उसका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार भाव से अवश्य हो।[५] वे वस्तु-व्यंजना का सम्बन्ध काव्य को धारण करने वाले तथ्य या सत्य से मानते हैं।[६] इसीलिए उसको भाव-व्यंजना की सहायक मानते हैं,[७] किन्तु हमारे यहाँ के पुराने तथा आधुनिक ध्वनिवादी भाव-व्यंजना और वस्तु-व्यंजना दोनों को व्यंजना-प्रक्रिया से ही सिद्ध करते हैं, दोनों में काव्यत्व का दर्शन करते हैं, दोनों को एक ही प्रकार की वृत्ति मानते हैं। उनकी दृष्टि से यदि इनमें कुछ अन्तर है तो बस इतना ही कि वस्तु-व्यंजना में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित होता है, भाव व्यंजना में यह क्रम लक्षित नहीं होता। ध्वनिवादी काव्य में भाव-व्यंजना की प्रधानता मानते हैं, उसी में काव्य की रमणीयता देखते हैं,[९] किन्तु शुक्ल जी काव्य में अभिधा की प्रधानता एवं व्यापकता मानते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य का सौन्दर्य-पक्ष अभिधा द्वारा निरूपित होता है।[१०] उनके मत में लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ को अपने भीतर समाहित करने की शक्ति एवं व्याप्ति अभिधा रखती है।[११] उनके मत में इस प्रकार सभी शब्द-शक्तियों के मूल में अभिधा काम करती है। शुक्ल जी के मत में रसात्मक वाक्य को पढ़ने के पश्चात् सहृदय के मन में उद्भूत आनन्दानुभूति के लिए वाच्यार्थ उत्तरदायी है, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ नहीं,[१२] क्योंकि रसानुभूति या आनन्दानुभूति किसी पदार्थ की कल्पना से होती है,[१३] जो वाच्यार्थ की सहायता से निर्मित होता है,[१४] लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ की सहायता से नहीं, जिसका सम्बन्ध काव्य में प्रायः तथ्य, सत्य या भाव से होता है,[१५] किन्तु यहाँ पर शुक्ल जी से असहमति प्रकट करते हुए ध्वनिवादी यह कहेंगे कि रसानुभूति या आनन्दानुभूति ध्वन्यार्थ से होती हैं, व्यंजित रमणीय भाव से

१—अभिभाषण पृ० १०   २—वही पृ० ६   ३—वही पृ० ६
४—वही १०   ५—रसमीमांसा पृ० ४१०   ६—चिन्तामणि, दूसरा भाग पृ० १७
७—का में र६० पृ०६६   ८—हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका पृ० ६६
९—ध्वन्यालोक १।४   १०—अभिभाषण पृ० १२, १४   ११—वही पृ० ८
१२ वही पृ० १३   १३—रस-मीमांसा पृ० ११६, १२२ के आधार पर
१४ रस-मीमांसा पृ० १४३ १५५ के अधार पर   १५—अभिभाषण पृ० १५

होती है[१]। ध्वनिवादियों की दृष्टि में काव्य के अन्य तत्व-वाच्यार्थ, अलंकार, गुण, रीति आदि ध्वनि के साधन हैं[२], शुक्ल जी की दृष्टि में रस के[३]। ध्वनिवादियों के अनुसार ध्वनि, काव्य का सर्वव्यापक एवं सर्वातिशायी तत्व है, शुक्ल जी के अनुसार रस। ध्वनि-मत में काव्य की कसौटी ध्वनि है, अतः वही काव्य का नियामक तत्व है। शुक्ल जी के अनुसार रस काव्य की कसौटी है, अतः वही काव्य का नियामक-तत्व है[४]। ध्वनिवादियों की दृष्टि में काव्य की आत्मा ध्वनि है, शुक्ल जी की दृष्टि में रस[५]। ध्वनिवादी और शुक्ल जी[७] दोनों काव्य का लक्ष्य, रस-व्यंजना द्वारा सहृदय का मन आह्लादित करना मानते हैं। ध्वनिवादी औचित्य-भंग को रस-भंग का मूल कारण मानकर काव्य की भित्ति सामाजिक मानते हैं[८]। शुक्ल जी भी रस की कसौटी लोक-धर्म मान कर काव्य की भित्ति सामाजिक घोषित करते हैं। जहाँ व्यंग्य वाच्यार्थ से बढ़कर होता है वहाँ शुक्ल जी उसका सम्बन्ध विभाव से जोड़ कर उसे वाच्यार्थ की स्थिति से श्रेष्ठ कहते हुए ध्वनिवादियों के समान ध्वनि-काव्य को गुणीभूत व्यंग्य-काव्य से श्रेष्ठ मानते हैं। शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस की उत्तम, मध्यम तथा अधम दशायें आनन्दवर्धन के उत्तम, मध्यम तथा अधम काव्य के आधार पर निरूपित की गई हैं। शुक्ल जी की अलंकार, गुण, रीति तथा औचित्य सम्बन्धी धारणायें ध्वनिवादियों की तत्सम्बन्धी धारणाओं से बहुत दूर तक साम्य रखती हैं, जिनका दिग्दर्शन अलंकार मत, गुणमत तथा रीतिमत की तुलना के समय हो चुका है। ध्वनिवादियों के साथ उनकी औचित्य सम्बन्धी धारणा के साम्य का दिग्दर्शन औचित्यमत के तुलनात्मक अध्ययन के साथ आगे किया जायगा। ध्वनिवादियों के समान[९] शुक्ल जी ने भी ध्वनि और रस के समन्वय का प्रयत्न किया है। ध्वनिमत में रस-ध्वनि ही काव्य का जीवन है, सर्वश्रेष्ठ ध्वनि है; शुक्ल जी के रस-मत में रस, व्यंजना-प्रक्रिया से सिद्ध किया गया है तथा काव्य में व्यंजना-शक्ति की सत्ता मानी गई है।

१—ध्वन्यालोक १।२,५,६।२।३

२— वही १।४,९,१३।२।४

३—सूरदास, आचार्य शुक्ल पृ० २००

४—चिन्तामणि प्रथम भाग पृ० २२१, २२५, २३०, २३७, २४४, २४७

५—ध्वन्यालोक १।२ रस-मीमांसा पृ० १०५

६— वही १।२

७—रस-मीमांसा पृ० १८८

८—अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्

९—नया साहित्यः नये प्रश्न पृ० ११३

वक्रोक्ति सिद्धान्त से तुलना

कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त वर्णनावादी सिद्धान्त है[२], अतः वह कवि-कर्म, कवि-व्यापार तथा वर्णन—पक्ष का अधिक विवेचन करता है। शुक्लजी द्वारा निरूपित रस-सिद्धान्त चर्वणावादी-सिद्धान्त है, अतः वह पाठक के काव्यास्वादन-पक्ष अथवा सामाजिक-पक्ष का अधिक विश्लेषण करता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कुन्तक की दृष्टि जहाँ काव्योक्ति अथवा काव्य-स्वरूप के विवेचन की ओर अधिक केन्द्रित रही है[३], वहाँ शुक्लजी की दृष्टि काव्यार्थ, काव्यास्वाद तथा काव्य के प्रभाव पक्ष के विश्लेषण की ओर अधिक सजग रही है। कुन्तक में यदि भाव से अधिक रूप के प्रति आग्रह है तो शुक्ल जी में रूप से अधिक भाव के प्रति। कुन्तक जहाँ काव्योक्ति में वक्रता की विवेचना कर्ता या उसकी कृति को दृष्टि में रखकर करते हैं,[४] काव्य के कर्तृत्व-पक्ष, अथवा कवि के व्यक्तित्व-पक्ष पर अधिक बल देते हैं,[५] वह शुक्लजी काव्य के सामाजिक पक्ष पर। कुन्तक जहाँ काव्य में सौन्दर्य भरने का अधिक श्रेय कवि-प्रतिभा को देते है,[६] वहाँ शुक्ल जी वस्तुवादी होने के कारण काव्य में सौन्दर्य भरने का अधिक श्रेय काव्य-वस्तु या वर्ण्यवस्तु को।[७] कुन्तक ने काव्य-सौन्दर्य का विवेचन कवि की दृष्टि से अधिक किया है,[८] पाठक की दृष्टि से कम, किन्तु शुक्ल जी ने काव्य-सौन्दर्य का विश्लेषण पाठक की दृष्टि से अधिक किया है। यही कारण है कि कुन्तक के गुण-विवेचन में पद-रचना के ही तत्वों का अधिक समावेश है, किन्तु शुक्ल जी के गुण-विवेचन में गुण चित्तवृत्तियों के तद्रूप माने गये हैं। यदि कुन्तक काव्य-सौन्दर्य को व्यक्तिनिष्ठ

१—हिन्दी का सामयिक साहित्य: पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० १६२

२—वक्रोक्ति और अभिव्यंजना की भूमिका, भू० ले०: वि० प० मिश्र पृ० ७

३— वही — — पृ० ६

४—साहित्य-संदेश, आलोचनांक, अक्टूबर-नवम्बर १९५१ भारतीय आलोचना: पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० १९०

५—स्वभावोहिमूर्ध्निवर्तते,

६—यत्किंचनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिमोद्भवम्। वक्रोक्तिजीवित १।२८

७—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २२१, २२५, २२६, २२८

८—वक्रोक्ति और अभिव्यंजना की भूमिका, पृ० ७

अधिक मानते हैं तो शुक्ल जी वस्तुनिष्ठ। समुद्रबन्ध की दृष्टि में वक्रोक्तिवाद व्यापारमुखी सिद्धान्त है तो रस-सम्प्रदाय व्यंग्यमुखी सिद्धान्त। इस प्रकार शुक्ल जी का रसवाद काव्य के व्यंग्यमुखी सिद्धान्त से सम्बन्ध रखता है।[१]

व्यापारमुखी सम्प्रदाय होने पर भी वक्रोक्ति सम्प्रदाय के विवेचन का केन्द्र-विन्दु काव्य का कला या रूप-पक्ष ही है,[२] यद्यपि आचार्य कुन्तक ने बड़े कलात्मक ढंग से वक्रोक्ति के भीतर रस के समाहार का प्रयत्न किया है;[३] इधर शुक्ल जी के काव्य-विवेचन का केन्द्रीय विन्दु अनुभूति या भाव-पक्ष है, यद्यपि इन्होंने भी काव्य के कला-तत्वों को पर्याप्त मात्रा में विवेचित करने का प्रयत्न किया है[४], पर वह उनके विवेचन का मुख्य अंग नहीं बन सका है। शुक्ल जी ने काव्य के भाव-पक्ष की मार्मिक व्याख्या करते हुए उसके प्राण-तत्व रस पर सर्वाधिक बल दिया है किन्तु कुन्तक ने काव्य के कला-तत्वों की मार्मिक व्याख्या करते हुए उसके कला-पक्ष पर सर्वाधिक बल दिया। कुन्तक की वक्रता सम्बन्धी धारणा बहुत ही सूक्ष्म एवं व्यापक कोटि की है[५]; वह शुक्ल जी के तथाकथित वक्रताहीन उद्धरणों में अनेक रूपों में वर्तमान है[६]। अतः कुन्तक द्वारा निरूपित वक्रता की अनिवार्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता, किन्तु वह होगी भाव-प्रेरित ही। ऐसी स्थिति में प्राथमिक महत्व भाव का ही है किन्तु कुन्तक भाव को प्राथमिक महत्व नहीं दे सके हैं, उन्होंने

१—इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम् द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येणाऽभोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पंचसु पक्षेष्वाद्यः उद्भटादिभिरंगीकृतः द्वितीयो वामनेन तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचम आनन्दवर्धनेन॥ भारतीय साहित्यशास्त्रः प्रथम खण्ड,

बलदेव उपाध्याय। पृ० २३ पर उद्धृत

२—भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डा० नगेन्द्र पृ० ४६१

३— शरीरमिदमर्थस्य रामणीयकनिर्भरम्।
उपादेयतया ज्ञेयं कवीनां वर्णनास्पदम्॥ वक्रोक्तिजीवित ३।६

४—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २२६, २३५, २३६, २३८, २४४, २४७

५—भारतीय साहित्य-शास्त्र की भूमिका पृ० ४६२

६— वही पृ० ४६२

प्राथमिक महत्व वक्रता को ही दिया है,[1] किन्तु शुक्ल जी ने अपने काव्य-विवेचन में सर्वत्र प्राथमिक महत्व भाव को दिया है; इसलिए उन्हें काव्य में वक्रोक्ति वहीं तक मान्य है जहाँ तक वह भावानुमोदित हो अथवा किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो[2]। कुन्तक काव्य की प्रकृति अलंकार-मूलक मानते हैं,[3] वक्रता को काव्य का अनिवार्य माध्यम मानते हैं,[4] किंतु शुक्ल जी काव्य की प्रकृति भावमूलक मानते हैं[5]: उनकी दृष्टि में वक्रता का माध्यम अपनाये बिना भी काव्य रचा जा सकता है[6]। वक्रता को काव्य का अनिवार्य माध्यम मानकर कुंतक काव्य में उक्ति की असाधारणता को ही महत्व देते हैं, किंतु शुक्ल जी आवश्यकतानुसार साधारण-असाधारण दोनों को[7]। कुंतक के मत में काव्य का मूल तत्व वक्रता या अलंकार है, रस तत्व गौण है[8]। शुक्ल जी के मत में अनुभूति या भाव तत्व प्रमुख है, वक्रोक्ति तत्त्व गौण है[9]। अर्थात् वक्रोक्तिवाद की दृष्टि से काव्य का भेदक तत्व उक्ति वैशिष्ट्य है[10], शुक्ल जी की दृष्टि से अनुभूति।

कुंतक वक्रोक्ति को काव्य-जीवित या आत्मा मानते हैं[11], शुक्ल जी रस को। वक्रोक्ति को काव्य-जीवित मानने से या अंगी तत्व मानने से यही तात्पर्य निकलता है कि कुंतक की दृष्टि में रस के बिना भी काव्य रह सकता है[12], किंतु वक्रोक्ति के बिना नहीं। अर्थात् कुंतक काव्य में वक्रता की स्थिति अनिवार्य मानते हैं। इसके ठीक विरुद्ध शुक्ल जी के मत में वक्रोक्ति के बिना केवल मार्मिक भाव-स्पर्श के सद्भाव में भी काव्य का अस्तित्व संभव है[13],

---

१—भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका पृ० ४६२

२—चिन्तामणि पहला भाग पृ० २३७

३—वक्रोक्ति जीवितम् १।१७

४—वक्रोक्ति जीवितम् १।७

५—इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय

६—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २३१,२३२

७—रस-मीमांसा पृ० १०३

८—तत्वं सालकारस्य काव्यता वक्रोक्ति जीवितम् १।६

९—हिन्दी का सामयिक साहित्य: पं० वि० प्र० मिश्र पृ० १६२

९—सूरदास : आचार्य शुक्ल पृ० २००

१०—साहित्य-संदेश, आलोचनांक,भारतीय आलोचना:वि० प्र० मिश्र पृ० १६०

११—वक्रोक्ति: काव्य जीवितम्

१२+१३—भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका पृ० ४५३

किंतु रस के विना नहीं। कुंतक के मत में काव्य की स्थिति वक्रता-विरहित रूप में सम्भव नहीं है[१], किंतु वक्रता रस के विना भी अनेक रूपों में विद्यमान रह सकती है[२], अर्थात् काव्य, रस के विना भी वक्रता के सद्भाव में जीवित रह सकता है, किंतु रस के आधार पर वक्रता के अभाव में जीवित नहीं रह सकता। किंतु शुक्ल जी रस की स्थिति वक्रता-विरहित रूप में भी संभव बतलाते हैं[३]। निष्कर्ष यह कि कुंतक जहाँ काव्य में वक्रोक्ति का स्वतंत्र महत्व मानते हैं, वहाँ शुक्ल जी उसका भाव-सापेक्ष्य महत्व स्वीकार करते हैं। जैसे, कुंतक ने काव्य के समस्त उपादानों को वक्रोक्ति की सीमा में अंतर्निविष्ट करने का प्रयत्न किया[४], तद्वत् शुक्ल जी ने काव्य के समस्त तत्वों को रस के भीतर समाहित करने का प्रयत्न किया।

शुक्ल जी और कुन्तक दोनों वर्ण्य से सम्बन्ध रखने वाले अलंकारों—स्वभावोक्ति, हेतु, लेश, सूक्ष्म, रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वी तथा समाहित का खण्डन करते हैं[५]। औचित्य की अनिवार्य स्थिति दोनों को मान्य है; कुंतक की दृष्टि में औचित्य वक्रता का अनिवार्य गुण है,[६] शुक्ल जी को दृष्टि में रस का[७]। दोनों काव्य का परिणाम सहृदयाह्लाद मानते हैं[८]। दोनों आचार्य अभिधा का स्वरूप बहुत व्यापक मानते हैं किंतु शुक्ल जी अभिधा का स्वरूप व्यापक मानते हुए भी लक्षणा एवं व्यञ्जना की सत्ता स्वीकार करते हैं[९], किंतु कुन्तक लक्षणा, व्यञ्जना को अभिधा के भीतर समाहित कर देते हैं[१०]। दोनों आचार्य काव्य का चमत्कार वाच्यार्थ में मानते हैं।[११]

१—भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका पृ० ४६२

२—भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका पृ० ४६२

३—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २३१

४—वक्रोक्ति और अभिव्यंजना: रामनरेश वर्मा पृ० ८२

५-चि० प० भाग पृ० २४९,२५०,२५१। वक्रोक्ति जीवित १।११,१४ तथा ३।४,११,१२,१३

६—वक्रोक्ति जीवित १।५७ की वृत्ति ७—अभिभाषण पृ० ३७, ३९, ४०

८—वक्रोक्ति जीवित १।३ और चि० प० भाग पृ० २१९,२२१

९—इसी प्रबन्ध का चौथा अध्याय

१०—वक्रोक्ति जीवित १।१० की वृत्ति

११—वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा व० जी० १।१० की वृत्ति
अभिभाषण पृ० १३

सिद्धान्त के रूप में वक्रोक्ति की चर्चा हिन्दी-साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में शुक्ल जी के अतिरिक्त पद्मसिंह शर्मा तथा रत्नाकर जी ने की है। अन्य आचार्यों ने वक्रोक्ति का निरूपण शब्दालंकार[1] अथवा अर्थालंकार[2] के अंतर्गत अथवा किसी किसी ने दोनों[3] के अन्तर्गत किया है। पद्मसिंह शर्मा संस्कृत के वक्र-तावादी आचार्यों-दण्डी, भामह आदि की भाँति वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का पर्याय तथा उसे समस्त अलंकार-प्रपंच का मूलाधार मानते हैं[4]। शुक्ल जी भी वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का मूलाधार मानते हैं, पर भाव-प्रेरित होने पर ही[5]। रत्नाकर जी वक्रोक्ति को काव्य का भेदक तत्व मानते हैं, कुन्तक के समान उसे काव्य के प्रमुख लक्षण के रूप में निरूपित करते हैं तथा उसे समस्त रसों की खानि समझते हैं[6]। इसके विरुद्ध शुक्ल जी रस को काव्य का भेदक तत्व मानते हैं[7] तथा उसे काव्य के प्रमुख लक्षण के रूप में निरूपित करते हैं।

औचित्य सिद्धान्त से तुलना

क्षेमेन्द्र काव्य का सर्वाधिक व्यापी तत्व औचित्य मानते हैं[8], शुक्ल जी रस। क्षेमेन्द्र जहाँ काव्य का विवेचन औचित्य के विभिन्न तत्वों के आधार पर करते हैं, वहाँ शुक्ल जी काव्य का विश्लेषण रस के विभिन्न तत्वों के आधार पर करते हैं। क्षेमेन्द्र का औचित्य-सिद्धान्त काव्य के विविध तत्वों के सम्बन्धों की सबसे अधिक व्याख्या करता है, किन्तु शुक्ल जी का रस-सिद्धान्त अपनी विस्तृत व्याप्ति द्वारा काव्य का एक समग्र दर्शन उपस्थित करने में समर्थ होता है[9]। क्षेमेन्द्र काव्य के अन्य तत्वों का समाहार औचित्य के भीतर करने का प्रयत्न करते हैं, तो शुक्ल जी रस के भीतर।

१—हिन्दी के अधिकांश रीतिवादी आचार्य चिन्तामणि आदि तथा
कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया आदि

२—केशव, जसवन्तसिंह तथा भूषण   ३—मिश्रबन्धु

४—बिहारी सतसई   पृ० १०७   ५—चिं० प० भाग   पृ० २३७

६—कविवर बिहारी   पृ० ३, १६०

७—काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्याप्ति-जीवितम्। औ० वि० च० का० १०

८—उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते, औ० वि० चर्चा, का० ७

९—इसी प्रबन्ध का चौथा अध्याय

जिस प्रकार-क्षेमेन्द्र निरूपित औचित्य की सीमा अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, रस तथा भाषा के विभिन्न तत्वों को ही स्पर्श नहीं करती वरन् काव्य-सत्य, कल्पना-तत्व, युग-तत्व, शील-निरूपण-तत्व, काव्य-वस्तु, काव्य-स्वरूप, काव्य-नामकरण आदि को भी स्पर्श करती है[१]। उसी प्रकार शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस की सीमा अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, औचित्य को ही नहीं अपनाती वरन् युग-तत्व, दार्शनिक तत्व, ऐतिहासिक तत्व तथा संस्कृति-तत्व को भी अपनाकर चलती है[२]।

औचित्य एवं रस का घनिष्ठ सम्बन्ध दोनों को मान्य है। क्षेमेन्द्र की दृष्टि में यदि औचित्य रस-सिद्ध काव्य का स्थिर जीवित है[३], तो शुक्ल जी की दृष्टि में औचित्य रस के परिपाक का मूल कारण है[४]। दोनों आचार्यों की दृष्टि में औचित्य; अलंकार, गुण, रीति, रस आदि का मूल नियामकतत्व है[५]। दोनों की दृष्टि में अलंकार, गुण, रीति आदि रहने पर भी औचित्य के विना काव्य निर्जीव हो जाता है[६]। दोनों के मत में रस की सत्ता से काव्य जीवन-धारण करता है[७]। क्षेमेन्द्र की दृष्टि में औचित्य की सत्ता से रस युक्त काव्य अमर हो जाता है[८], शुक्ल जी के मत में औचित्य से रस अपनी पूर्ण स्थिति—उत्तम स्थिति प्राप्त करता है[९]। औचित्य-विहीन होने पर रस-काव्य को भाव-काव्य मानकर शुक्ल जी उसे मध्यम काव्य की संज्ञा देते हैं[१०]। क्षेमेन्द्र के मत में काव्य-सौन्दर्य का मूल कारण औचित्य है[११], शुक्ल जी की दृष्टि में रस।

१—यह तथ्य क्षेमेन्द्र द्वारा निरूपित औचित्य के २७ भेदों से ज्ञात होता है।

२—इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय

३—औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। औ० वि० च०, का० ५

४—अभिभाषण पृ० ३७   ५—औचित्य-विचार चर्चा, कारिका ३,४,५,६

६—तेन विनास्य गुणलंकार युक्तस्यापि निर्जीवत्वात्। औ० वि० च० का० ५ की वृत्ति

७—औचित्य विचारचर्चा का० ५ की वृत्ति तथा अभिभाषण पृ० ३०

८—औचित्य विचार चर्चा, का० ५   ९—अभिभाषण पृ० ६५

१०—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ३१४

११—औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे। औ० वि० चर्चा, का० ३

क्षेमेन्द्र की दृष्टि में काव्य के सभी अंग, उपांग, तत्व औचित्य से ही तेज, शक्ति, ज्योति, जीवनी धारण करते हैं, शुक्ल जी की दृष्टि में रस से। क्षेमेन्द्र के मत में काव्य के अच्छे-बुरे, उत्तम-अनुत्तम, श्रेष्ठ-निकृष्ट होने की कसौटी औचित्य है[1], शुक्ल जी के अनुसार रस[2]। क्षेमेन्द्र के विचार से काव्य के अन्य तत्व औचित्य की छत्रछाया में अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं[3], शुक्ल जी के मत से रस की छत्रछाया में[4]। क्षेमेन्द्र की दृष्टि में काव्य का सहज स्वभाव औचित्यमूलक है, नीतिमूलक है, किंतु शुक्ल जी की दृष्टि में भावमूलक। दोनों आचार्यों ने काव्य में भव्यता, उदात्तता, शुद्धता, मर्यादा एवं आदर्शवादिता के सिद्धांतों पर सर्वाधिक बल दिया है। दोनों आचार्य काव्य में सार्वभौम मानव-सत्य[5] पर बल देते हैं, एक औचित्य के माध्यम से और दूसरा रस के माध्यम से।

भारतीय समीक्षा के सम्प्रदायगत सिद्धांतों के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् अब भारतीय काव्य-दर्शन के साथ शुक्ल जी के काव्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। काव्य-दर्शन में काव्य की परिभाषा, लक्षण, प्रयोजन, हेतु प्रक्रिया, पक्ष, काव्य-स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य-कसौटी, काव्याधिकारी, काव्य शक्ति, काव्य-महत्व आदि का विचार किया जाता है। अतः शुक्ल जी के काव्य-दर्शन की तुलना प्राचीन आचार्यों से इन्हीं दृष्टियों से की जायगी।

काव्य-दर्शन की तुलनाः—

रसवादी आचार्यों के समान शुक्ल जी ने भी रस की परिभाषा सहृदय की दृष्टि से की है, किंतु रसवादी आचार्यों की परिभाषाओं[6] में शास्त्रीयता का पुट अधिक है। इधर शुक्ल जी की काव्य-परिभाषा में शास्त्रीयता की रंचमात्र भी गंध नहीं है। वह जीवन की भूमिका पर अनुभूति के माध्यम से युग की आवश्यकता के अनुकूल निर्मित हुई है। राष्ट्र की उस युग की राष्ट्रीय एवं

१—काव्य हृदय-संवाद सत्यप्रत्यय निश्चयात्,
तत्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयतां कवेः। औ० वि० चर्चा।

२— इसी प्रबंध का चतुर्थ अध्याय

३—औ० वि० चर्चा का० ४,६

४—इसी प्रबंध का चतुर्थ अध्याय

५—क्षेमेन्द्र निरूपित तत्वौचित्य तथा प्रबन्धार्थ औचित्य के भीतर एवं शुक्ल जी के रस-स्वरूप के भीतर सार्वभौम मानव सत्य निहित हैं।

६—रसात्मकं वाक्यं काव्यं। विश्वनाथ ॥ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। जगन्नाथ
तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृति पुनः क्वापि। मम्मट.

सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति में समर्थ होती हुई भी वह सार्वभौम एवं सार्वकालिक विशेषता रखती है। इस विशेषता का मूल स्रोत भारतीय आचार्यों की काव्य-परिभाषा एवं व्यापक काव्य-दृष्टि में निहित है, जो सदा व्यक्तिगत कोटि की रही है। रसवादी आचार्यों के अतिरिक्त अन्य संस्कृत आचार्यों की अधिकांश परिभाषायें[1] काव्यांगों अथवा काव्य-स्वरूप की दृष्टि से निरूपित की गई हैं। उनमें शास्त्रीय पदावली का प्रयोग अधिक है। ऐसा जान पड़ता है कि परिभाषा करते समय परिभाषाकारों के समक्ष काव्य की व्याख्या ही एक मात्र विषय है, किन्तु शुक्ल जी के समक्ष परिभाषा-निरूपण के समय केवल काव्य ही नहीं वरन् उस युग के समाज की मूल चेतना, दृष्टि एवं आवश्यकता भी है, अतः वे अपनी परिभाषा में काव्यांग तथा काव्य-स्वरूप के साथ साथ उस युग के समाज की मूल चेतना, दृष्टि एवं मानसिक आवश्यकता को भी उसमें समेटना चाहते हैं। शुक्ल जी हृदय की मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी द्वारा किये गये शब्द-विधान को कविता कहते हैं और उसकी साधना को भाव-योग कहकर उसे कर्म-योग एवं ज्ञान-योग के समकक्ष रखते हैं[2]। शुक्ल जी यहाँ कविता को योग कहकर केवल कविता का ही स्थान तथा गौरव नहीं बढ़ाते वरन् कवि को भी उसके प्राचीन गौरव के पास पहुँचाते हैं, जब वह ऋषि[3], मंत्र-द्रष्टा[4] तथा क्रान्तदर्शी[5] की संज्ञा से अभिहित होता था। परिभाषा की व्याख्या करते समय शुक्ल जी मुक्ति का अर्थ आध्यात्मिक या धार्मिक रूप में न लेकर सामाजिक रूप में लेते हुए उसकी व्याख्या हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाने के रूप में करते हैं[6]। शुक्ल जी के युग में हमारा देश परतन्त्र था, उसे परतंत्रता के पाश से विमुक्ति दिलाने के लिए सामाजिक भावना की अभिवृद्धि की परम आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को पहचान करके शुक्ल जी ने उसे अपनी काव्य-परिभाषा में

१—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। भामह। शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावलिः। दण्डी।

काव्यशब्दोयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। वामन।

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापारशालिनि।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि। कुन्तक।

२—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० १६३

३—नानृषिः कविः। भट्टतौत।

४—ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।

५—कवयः क्रान्तदर्शिनः।

६—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० १६३

प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि यह परिभाषा रसवादी आचार्यों की परिभाषा —'रसात्मकं-वाक्यं काव्यं', 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यं', तथा महिमभट्ट की मानवतावादी विश्वात्मक काव्य–दृष्टि[१] के आधार पर की गई है, किंतु इसमें काव्य एवं जीवन के मूल तत्व एवं उदात्त उद्देश्य बहुत ही सुन्दर, व्यवस्थित एवं सुसंगत ढंग से रखे गये हैं। काव्य की इतनी विशाल अतिव्याप्ति और अव्याप्ति को बचाकर, चलने वाली परिभाषा को उपस्थित करने का श्रेय हिन्दी में शुक्ल जी को ही है।

भारतीय काव्यशास्त्र के सभी प्रतिनिधि काव्य-लक्षणों में काव्य शब्दार्थ-रूप माना गया है[२]। शुक्ल जी भी अपने काव्य-लक्षण–निरूपण में शब्द और अर्थ दोनों को रखते हैं[३]। रसवादियों के समान शुक्ल जी काव्य का नि य लक्षण अलंकार, वक्रोक्ति का अनूठापन न मानकर, अनुभूति या रस मानते हैं। रस-ध्वनिवादियों के समान वे काव्य का भेदक तत्व अनुभूति समझते हैं। शुक्ल जी रसवादियों के समान अमर काव्य या अमर कवि का लक्षण रस या साधारणी-करण की विशेषता मानते हैं[४]। वे आनन्दवर्धन के समान काव्य-लक्षणों का निरूपण कवि के प्रतिभा-प्रतिबन्ध के लिए नहीं वरन् उसको मार्ग-विलोकन की दृष्टि प्रदान करने के लिए मानते हैं[५]। काव्य के व्यावर्तक धर्म का उल्लेख कुन्तक ने वक्रता, विश्वनाथ ने रसात्मकता, जगन्नाथ ने रमणीयता के रूप में किया, तद्वत् शुक्ल जी ने रस या अनुभूति के रूप में किया, किंतु उसकी व्याख्या उन्होंने अत्यन्त सामाजिक रूप में की। इसीलिए उन्होंने कविता को अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा तथा निर्वाह का साधन माना है[६]। काव्य का इतना सामाजिक तथा मानवतावादी लक्षण हिंदी-समीक्षा में सर्वप्रथम शुक्ल जी द्वारा निरूपित हुआ।

१— साहि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात् करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः। व्य० वि०, पृ० १०८

२—भामह, वामन, कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, जगन्नाथ आदि के काव्य-लक्षण। कांव्य-मीमांसा, मधुसूदनी-विवृत्ति-सहिता पृ० ८२, ८३

३—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० १९३

४— जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्। भतृहरि

५—ध्वन्यालोक ३।१२

६—अभिभाषण, पृ० ६७,७०.

भारतीय गम्भीरचेता आचार्यों के समान शुक्ल जी भी काव्य का प्रयोजन-अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति मानते हैं[१]। दूसरे शब्दों में जीवन की सिद्धि को काव्य की चरम सिद्धि मानते हैं। उन्होंने काव्य-प्रयोजन अधिकांश मात्रा में सामाजिक की दृष्टि से निरूपित किया है, उसमें सामाजिकता के ऊपर ही सर्वाधिक बल है[२]। मम्मट के समान शुक्ल जी ने कवि की दृष्टि से भी काव्य का प्रयोजन निरूपित किया है किन्तु वह निरूपण बहुत ही सूत्रात्मक एवं गौण कोटि का है[३]। वे कवि के लिए कविता का प्रयोजन केवल अर्थोपार्जन या केवल यश-सिद्धि बहुत हीन कोटि का मानते हैं[४]; उनकी दृष्टि में कवि सौन्दर्यानन्द की अभिव्यक्ति स्वान्तः सुखाय करता है[५], किंतु शुक्ल जी द्वारा निरूपित कवि का स्वान्तः सुख तुलसी के स्वान्तः सुख के समान इतना विस्तृत कोटि का होता है कि उसमें अखिल मानवता को सुख मिल सकता है[६]। इससे निष्कर्ष यह निकला कि काव्य-प्रयोजन में कवि या पाठक के आनन्द को शुक्ल जी मम्मट के समान ही 'सकल प्रयोजन मौलिभूत' कहते हैं[७]।

भारतीय रसवादी आचार्यों के समान शुक्ल जी भी काव्य का चरम फल रस ही मानते हैं, किंतु वे रस का विस्तृत स्वरूप निरूपित कर तथा रसास्वादन का फल व्यक्तित्व-परिहार, सर्वभूत को आत्मभूत समझने की भावना का उदय, लोक-मंगल सम्बन्धी भावना का जागरण, सत्वोद्रेक आदि बताकर कविता के विभिन्न प्रयोजनों—चतुर्वर्ग फल प्राप्ति, लोक-हित, अन्तश्चमत्कार, नवीनौचित्य, आनन्द; शिवेतररक्षा, व्यवहारविद्‌ता, सद्यःपरनिर्वृत्ति, कान्तासम्मित उपदेश आदि को उसके भीतर समाहित कर देते हैं।

१— चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते। साहित्यदर्पण-१.२
रस-मीमांसा। पृ० ३६७

२—इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय

३—चिन्तामणि, पहला भाग; पृ०—२५२, २५३

४— वही पृ० २५२

५— वही पृ० २५३

६— वही पृ० २५२

७—.........सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्......... काव्यप्रकाश-कारिका २ की वृत्ति

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी की काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी सामग्री शास्त्रसम्मत होते हुए भी मौलिक कोटि की है। उसमें मौलिकता का पुट युगानुकूलता के तत्व को अपनाने तथा नवीन पदावली के प्रयोग के कारण आ गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य का इतना व्यापक तथा उदात्त प्रयोजन शुक्ल जी के पूर्व अथवा उनके युग में किसी दूसरे हिन्दी-समीक्षक द्वारा निरूपित नहीं हुआ था।

दण्डी से लेकर जगन्नाथ तक प्रायः सभी प्रतिनिधि आचार्यों[१] के समान शुक्ल जी भी प्रतिभा को काव्य का मूल हेतु मानते हैं[२], निपुणता और अभ्यास को उसका पोषक तत्त्व। काव्य-हेतुओं के सापेक्षिक महत्व के विषय में भारतीय काव्य-शास्त्र का प्रतिनिधि मत यही रहा है। भारतीय आचार्यों के मत से प्रतिभा रसावेश से प्रेरित प्रज्ञा का एक रूप है[3], अपूर्ववस्तुनिर्माण उसका प्रमुख धर्म है और प्राक्तन-जन्य संस्कार उसका कारण है[५]। प्रतिभा का उक्त स्वरूप शुक्ल जी को भी मान्य है किन्तु उसके निरूपण के लिए उन्होंने आधुनिक पदावली—जैसे, कल्पना-शक्ति, संवेदन-शक्ति, अन्तः प्रेरणा, भावुकता, मर्म-भेदन-शक्ति आदि का प्रयोग किया है। प्रतिभा के स्वरूप के विषय में पुराने आचार्यों द्वारा निरूपित अतिप्राकृत, अलौकिक या दैवी धारणा उन्हें स्वीकार नहीं थी, उनके पुष्ट विवेक ने इस प्रकार की रहस्यमयी कल्पनाओं को दृढ़ता के साथ अस्वीकार किया है। प्रतिभा की महत्ता, आवश्यकता तथा कार्य का विवेचन शुक्ल जी ने सर्वत्र रसवादियों के अनुसार किया है। उन्होंने कतिपय अलंकारवादियों के समान व्युत्पत्ति को प्रतिभा से अधिक

१—काव्यादर्श—दण्डी, १।१०३;१०४

काव्यालंकार वामन १।३।१२-१८

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। आनन्दवर्धन

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ काव्यप्रकाश १।३

२—रस-मीमांसा। पृ० १००

३-४—प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। तस्याः विशेषो रसावेश

वैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्। अभिनवगुप्त, लोचन पृ० २९

५—प्राक्तनाद्यतन संस्कारपरिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा। कुन्तक

महत्व नहीं दिया है[१] ।

रसवादी आचार्यों की दृष्टि में कवि रस-स्रष्टा होने के पूर्व रसभोक्ता होता है। आनन्द के मत में उसे रचना-काल में रस-परतन्त्र होना चाहिए[२]। भोज की दृष्टि में रस-युक्त कवि ही काव्य-सृष्टि करने में समर्थ हो सकता है[३]। अभिनव के विचार से कविगत रस ही काव्य-सृष्टि में मूलबीज के समान होता है[४]। भट्टनायक बलपूर्वक यह कहते हैं कि जब तक कवि रस से पूर्ण नहीं होता तब तक वह रस का उद्गीकरण कैसे करेगा[५]। काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत भी उक्त रसध्वनिवादी आचार्यों के उपर्युक्त मतों के समान ही है। क्योंकि उनकी दृष्टि में भी कवि भावातिरेक के कारण ही रचना करने में समर्थ होता है[६]। उन्होंने कवि की काव्य-प्रेरणा की दशा को रस-दशा के नाम से अभिहित किया है, रसानुभूति के प्रकाशन को काव्य-नाम दिया है[७]।

भारतीय आचार्यों के अनुसार काव्य-सृजन के समय कवि का चित व्यक्तिगत अनुभूतियों से ऊपर उठकर वर्ण्य के साथ एकतान हो जाता है[८]। इसी को कुछ आचार्य आलम्बन के साथ कवि का साधारणीकरण- व्यापार कहते हैं[९]। इसी को अभिनव गुप्त ने "रसावेशवैशद्य सौन्दर्य", महिमभट्ट ने "स्तिमितचित्त", रुद्रट ने मन की समाहिति तथा भट्टनायक ने भावना-व्यापार, आनन्दवर्धन ने रस-व्यापार के नाम से अभिहित किया है[१०]। शुक्ल जी ने भी काव्य-प्रक्रिया

१—कवेः सम्भ्रियते शक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि। का० मी०, अ० ५, पृ० १६

२—कविना प्रबन्धमुपनिबध्नता सर्वात्मा रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। ध्वन्या० ३।१४ वृत्ति

३—रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति—स० क० १।२

४—एवं मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः। अभिनवभारती, पृ० २९५

५—यावत् पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्। भट्टनायक

६—काव्य में रहस्यवाद पृ० ६

७—चिन्तामणि प० भाग पृ० १९२, १९३ के आधार पर

८—अरस्तू का काव्यशास्त्रः भूमिका डा० नगेन्द्र पृ० ३३

९—भट्टतौत

१०—काव्यालंकार १।१५ रुद्रट

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा। ध्वन्या० पृ० २२७

को रसवादी आचार्यों के समान भाव-प्रक्रिया, भावना-व्यापार, साधारणीकरण-व्यापार कहना उचित समझा है[१]। उनके मत से इस प्रक्रिया में अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, कल्पना, विचार सभी भावना के आदेश पर चलते हैं। इस विषय में रसवादियों का भी यही मत है।

शुक्ल जी रसवादी आचार्यों के समान कवि-कर्म के मूल में अनुभूति की सत्ता मानते हैं[२]। इसलिए वे शब्द विधान के माध्यम से एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कवि-कर्म समझते हैं[३]। भट्टतौत कवि-कर्म को 'दर्शनात् वर्णनाच्च' से व्यक्त करते हैं, अर्थात् उनकी दृष्टि में कवि-कर्म में प्रथम दर्शन होता है, तदनन्तर वर्णन[४]। भट्टतौत के शिष्य अभिनवगुप्त कवि-कर्म को काव्य-निर्माण तथा व्यंजना-व्यापार से व्यक्त करते हैं[५]। व्यंजना-व्यापार में भी अनुभूति का उदय होना सर्वप्रथम आवश्यक है, तदनन्तर काव्य के अन्य तत्व उसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि के पास दौड़ते हुए आते हैं। भट्टनायक के मत से कवि-कर्म के तीन अंग हैं:—अर्थ-ग्रहण कराना, भावन कराना और आस्वाद या आनन्द की प्रतीति कराना। इन अंगों का विश्लेषण करने पर इन तीनों में भावन ही वास्तविक कवि-कर्म सिद्ध होता है, क्योंकि पहला तो केवल आधार मात्र है जो वाणी के सभी रूपों में सामान्य है और तीसरा अर्थात् भोजकत्व परिणाम है। तात्पर्य यह कि भट्टनायक के मत से कवि-कर्म मूलतः भावन-व्यापार है[६]। मम्मट कवि-कर्म को निर्मिति तथा पं० राज जगन्नाथ प्रतिपादक शब्द से व्यक्त करते हैं[७]। शुक्ल जी कवि-कर्म को बिम्ब या मूर्तभावना उपस्थित करना समझ कर उसका मुख्य सम्बन्ध कल्पना-पक्ष से जोड़ते हैं[८]।

१—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २३६

वही पृ० २२०

रस-मीमांसा पृ० ६६

२—काव्य में रहस्यवाद पृ० ८१ ३—का० में रह० पृ० ७६

४—दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः। काव्यानुशासन, पृ० ३७६

५—ध्वन्यालोक, लोचन पृ० २६

६—अरस्तू का काव्य-शास्त्र, भूमिका—डा० नगेन्द्र पृ० १७

७—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० ३१०

८— " वही पृ० ३११, ३६१, ३३२

भारतीय आचार्यों के उपर्युक्त मतों से स्पष्ट है कि वे कवि-कर्म का सम्बन्ध भावना से जोड़ते हैं। शुक्ल जी ने कई स्थलों पर भावना और कल्पना को पर्याय शब्द के रूप में प्रयुक्त किया है[1]। इससे स्पष्ट है कि कवि-कर्म-सम्बन्धी उनके मत में तथा भारतीय रसवादी आचार्यों के तत्सम्बन्धी मतों में कोई अन्तर नहीं है। शुक्ल जी की दृष्टि में कवि-कर्म की सिद्धि रसाभिव्यक्ति से होती है। कवि-कर्म-सिद्धि की उनकी दृष्टि में दो अवस्थायें हैं:—प्रथम, सौन्दर्य का साक्षात्कार तथा द्वितीय, स्वान्तः सुखाय उसका वर्णन[2]। शुक्ल जी का यह मत भट्टतौत के मत से साम्य रखता है, जिसमें कवि-कर्म-सिद्धि के लिए दर्शन एवं वर्णन दोनों अनिवार्य-माने गये हैं।

रसवादियों के समान शुक्ल जी को भी कवि-कर्म विधान के दो पक्ष मान्य हैं[3]:-विभाव पक्ष एवं भाव पक्ष। कवि की अनुभूति में विभाव एवं भाव दोनों पक्षों का संश्लेषण शुक्ल जी को मान्य है, रस-विषयक यह मत रसवादियों को भी मान्य है।

भारतीय आचार्यों के मत से काव्य सृजन या निर्माण की वस्तु है[4]। किंतु उनके मतानुसार सृजन का अर्थ पुनर्निर्माण है, विद्यमान वस्तु के मर्म का प्रकाशन है, अभूत वस्तु का उत्पादन नहीं है[5]। शुक्ल जी का मत भी भारतीय आचार्यों के उक्त मत से अभिन्न है[6]।

भारतीय काव्य-शास्त्र में कवि-स्वभाव तथा कवि-कृति के स्वरूप में घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है[7]। भारतीय आचार्यों के अनुसार उदात्त प्रकृति का कवि ही उदात्त काव्य की रचना कर सकता है। शुक्ल जी को भी उक्त मत मान्य है[8]।

भारतीय रसवादी काव्य-शास्त्रियों[9] के समान शुक्ल जी[10] ने भी काव्य के दो पक्ष निर्धारित किये हैं। एक है अन्तरंग पक्ष, जिसमें कवि वस्तु के मर्म का दर्शन करता है, दूसरा है बहिरंग पक्ष जिसमें वह अपनी अनुभूति को कलात्मक ढंग से चित्रित करता है। एक को भाव या रस पक्ष कहते हैं दूसरे को कलापक्ष।

१—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २१६। २. वही, २५३।

३—रस-मीमांसा, पृ० १०६।

४—अपारे काव्यसंसारे कविरेवः प्रजापतिः। यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥ ध्वन्यालोक।

५—स्वभाव व्यतिरेकेण वस्तुमेव न युज्यते। वक्रोक्ति जीवित १।१२.

६—जायसी-ग्रंथावली की भूमिका

७—स्वभावोहि मूर्ध्निवर्तते। कुन्तक

८—स यत्स्वभावः कविः तदनुरुपं काव्यं —राजेश्वर.

९—दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः। भट्टतौत.

१०—सूरदास, आचार्य शुक्ल, —पृ० २००

शुक्ल जी ने भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित सभी काव्य-तत्वों--रस, अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य पर विचार किया है। इन्हीं तत्वों के आधार पर उन्होंने काव्य का स्वरूप खड़ा किया है। अपने काव्य-विवेचन में अथवा काव्य-स्वरूप की प्रतिष्ठा करते समय उन्होंने पश्चिमी काव्य-तत्वों से सम्बन्धित पदावली जैसे, अनुभूति, राग, बुद्धि एवं कल्पना का भी उपयोग किया है, किन्तु इन पदावलियों से सम्बन्ध रखने वाले तत्व भारतीय काव्य-तत्वों में समाहित हैं। जैसे, अनुभूति एवं राग तत्व रस में, कल्पना-तत्व वक्रोक्ति, अलंकार तथा ध्वनि में तथा बुद्धि-तत्व औचित्य तथा रस में अन्तर्निहित हैं। उपर्युक्त तत्वों से सम्बन्ध रखने वाली शुक्ल जी की धारणायें अधिकांश मात्रा में रसवादियों से, तथा कुछ दूर तक ध्वनिवादियों से साम्य रखती हैं, जिनका दिग्दर्शन तथा तुलनात्मक विवेचन इसी अध्याय में पहले हो चुका है। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि उन्होंने रस-तत्व द्वारा पूर्वी तथा पश्चिमी काव्य-तत्वों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय काव्य तत्वों में उनकी दृढ़ आस्था थी, इसीलिए उन्होंने उपर्युक्त भारतीय काव्य तत्वों को उनकी शास्त्र जड़ीभूत व्याख्या से मुक्त करने का प्रयत्न करते हुए उन्हें जीवन की भूमिका पर प्रतिष्ठित कर युग की आवश्यकतानुसार उनको परिष्कृत करने का प्रयत्न किया है।

भारतीय साहित्य शास्त्र में अलंकारवादी अलंकार को काव्य की आत्मा, रीतिवादी रीति को काव्यात्मा, वक्रोक्तिवादी वक्रोक्ति को काव्य-जीवित, ध्वनिवादी ध्वनि को काव्यात्मा तथा रसवादी आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते हैं, तद्वत शुक्ल जी रसवादी होने के कारण रस को काव्यात्मा के पद पर आसीन करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे भी प्राचीन भारतीय आचार्यों के समान अपने सिद्धान्त के प्रति अनन्य थे।

भारतीय-काव्य-शास्त्र में गद्य-पद्य दोनों को काव्य माना गया है, वहाँ छन्द-अछन्द का विवाद कभी नहीं रहा[१]। शुक्ल जी भी भारतीय आचार्यों के समान गद्य-पद्य दोनों को काव्य मानते हैं[२]। किन्तु वे काव्य नामक साहित्य-

---

१—शब्दार्थौ सहितौ । गद्यं पद्यंच तदद्विधा । काव्यालकार-भामह १।१६

२—अभिभाषण —पृ० १०६.

रूप के लिए रसात्मकता के अतिशय के कारण छन्द आवश्यक समझते हैं[१]; काव्य और छन्द में नित्य संबंध मानते हैं। भारतीय आचार्यों के अनुसार भी काव्य छन्द के विशिष्ट माध्यम से ही अपने रूप-वैशिष्ट्य की रक्षा कर सकता है। भारतीय आचार्यों के समान शुक्ल जी ने भी अपने काव्य-शास्त्र में नैतिक मूल्यों की प्रबल प्रतिष्ठा की है[२]।

जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनिवादी होने के कारण काव्य का वर्गीकरण ध्वनि के आधार पर किया है[३], तद्वत् शुक्ल जी ने रसवादी होने के कारण काव्य का वर्गीकरण रस के आधार पर किया है[४]।

शुक्ल जी भारतीय काव्य-शास्त्रियों[५] के समान कविता का संबंध ब्रह्म की इसी व्यक्त सत्ता से स्थापित करते हैं। उसकी उपयोगिता इसी लोक के लिए मानते हैं। उसका साध्य लोक मंगल निरूपित करते हैं और अव्यक्त या अलौकिक जगत से संबंध रखने वाली कविताओं तथा काव्यवादों का खण्डन करते हैं[६]।

रसवादी आचार्यों के समान शुक्ल जी भी कविता की कसौटी रस मानते हैं तथा उन्हीं के समान वे कविता की विभिन्न शक्तियों—रमणीयता, प्रभविष्णुता, आनन्द, अन्तश्चमत्कार आदि की सत्ता रस के कारण समझते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्रियों की भांति शुक्ल जी भी कविता का कार्य सुंदर एवं शिव की सिद्धि प्राप्त करना तथा मानवता की उच्च भूमियों का दर्शन कराना मानते हैं।

१—काव्य में रहस्यवाद —पृ० १३५.

—अरस्तू का काव्य-शास्त्र, डा० नगेन्द्र —पृ० ५३ (भूमिका)

३—ध्वन्यालोक —३।४२.

४—जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका —पृ० १६२.

५—कविवचनायत्ता लोकयात्रा ।—राजशेखर.

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यव्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥ —कुन्तक.

दुखार्त्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ —नाट्यशास्त्र १।११

६—काव्य में रहस्यवाद —पृ० ७.

७—अरस्तू का काव्य शास्त्र, भूमिका —पृ० ५४.

रस-मीमांसा —पृ० ६०, ६१

भरत,[१] भामह,[२] अभिनवगुप्त[३] आदि भारतीय आचार्यों के समान शुक्ल[४] जी भी काव्य का संबंध समग्र जीवन से स्थापित करते हैं।

भारतीय-साहित्य-चिन्तकों की ही भांति आचार्य शुक्ल भी साहित्य को दर्शन अर्थात् जीवन और जगत् को देखने की विशेष दृष्टि के रूप में मानते हैं।[५] इसलिए उसे भावयोग या अनुभूति-योग कहते हैं।[६] भरत मुनि,[७] आचार्य कुन्तक[८] आदि के समान शुक्ल[९] जी काव्यको बहुत ही महत्वपूर्ण वस्तु मानते हैं, जिससे जीवन के सभी पुरुषार्थों की सिद्धि हो सकती है, जिससे सब प्रकार के लोगों को आनन्द एवं मंगलकी सिद्धि मिल सकती है। भारतीय आचार्यों के साथ शुक्ल जी के उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वे भारतीय काव्य-शास्त्रियों की लम्बी परम्परा में एक श्रेष्ठ विचारक सिद्ध होते हैं और काव्य-चिंतन की दृष्टि से वे अभिनव गुप्त, मम्मट आदि की श्रेणी में स्थान पाने की क्षमता रखते हैं।

पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों से तुलना

पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों के इतिहासको शुक्ल जी के साथ तुलना की सुविधा की दृष्टि से हम तीन युगोमें बांट सकते हैं—प्राचीन काल, मध्यकाल तथा आधुनिक काल। कालक्रमानुसार शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों की तुलना सर्वप्रथम पाश्चात्य समीक्षा के प्राचीन सिद्धान्तों से की जायगी। अंग्रेजी समीक्षा-साहित्य के प्राचीन काल में चार प्रकार के सिद्धान्त मिलते हैं:—

१—सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यं ह्यस्मिन् प्रतिष्ठितम्। भरतमुनि, नाट्यशास्त्र १।११६

२—न स शब्दो न तद्वाच्यं न तच्छिल्पं न सा क्रिया।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः।—काव्यालङ्कार

३—सप्तद्वीपगत भावानुकीर्तनरूपे नाट्ये दृश्यमाने यन्न दृश्यते न हृदयगोचरम् इति तादृश ज्ञानादिकम् नास्तीति शेषम्। —अभिनव-भारती, पृ० ४२।

४—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७।

५—आज काशी विशेषांक—१७, फरवरी १९५७, महान् आलोचक रा० च० शुक्ल विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

६—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० १९३।

७—उत्तमाधममध्यानां नाराण्यंकर्म संश्रयम्।
हितोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति।—नाट्यशास्त्र, १।१०९, ११०।

८—धर्मादिसाधनोपायः चतुर्वर्गक्रमोदितः।
काव्यबंधोऽभिजातानाम् हृदयाह्लादकारकः॥—वक्रोक्ति-जीवितम्, १।३.

९—रस-मीमांसा. पृ. ३९७।

१ प्लेटो, अरस्तू आदि का अनुकृति सिद्धान्त।

२ सिसरो, होरेस, डायोनीसियस आदि का रीतिवादी सिद्धान्त।

३ लांजाइनस का उदात्तता का सिद्धान्त।

४ प्लाटिनस, आदि का अध्यात्मवादी सिद्धान्त।

इन चारो में शुक्ल जी अरस्तू से अधिक प्रभावित दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में अरस्तू द्वारा प्रतिपादित त्रय-संकलन, महत्वपूर्ण कार्य, कार्यान्वय, कथा के आदि, मध्य तथा अन्त से संबंध रखने वाले तत्वों का उपयोग उनका नाम लेते हुए किया है।[1] उनका रस-सिद्धान्त लांजाइनस के उदात्तता सिद्धान्त से कुछ साम्य रखता है। अध्यात्मवादी तथा रीतिवादी सिद्धान्त उनके रस-सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ते हैं। अतः शुक्ल जी की तुलना मुख्य रूप से अरस्तू से, गौण रूप से लांजाइनस से तथा उनके सिद्धान्तों के विषम रूप को स्पष्ट करने के लिए अध्यात्मवादियों तथा रीतिवादियों से प्रसंग रूप में की जायगी।

प्राचीन काल के समीक्षा सिद्धान्तों से तुलना:—

अरस्तू: अरस्तू काव्य को कला की श्रेणी में रखते हैं[2] किन्तु शुक्लजी का मत है कि काव्य को चित्रकला, मूर्तिकला आदि हलकी कलाओं के साथ रखने से काव्य समीक्षा का स्वरूप हलका हो जाता है तथा काव्य-लक्ष्य सम्बन्धी धारणा संकुचित हो जाती है। उनकी दृष्टि में काव्य को एक कला मानने के ही कारण काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में योरोप में शिल्प वाली तथा बेल-बूटे नक्काशी वाली हलकी धारणा उत्पन्न हुई तथा काव्य का उद्देश्य मनोरंजन माना जाने लगा।[3] उनका मत है कि 'कला कला के लिए' 'कला कल्पना की नूतन सृष्टि है,' 'काव्य कल्पना का लोक है' ये सब उक्त बेलबूटे वाली हलकी धारणा के कच्चे बच्चे हैं।[4] अरस्तू काव्य को कला मानने के कारण उसे अनुकरणमूलक कहते हैं, किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में वह अभिव्यक्ति मूलक है।[5] अरस्तू की धारणा में काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवन का पुनः सृजन है।[6] शुक्ल जी के अनुसार जगत

१—जायसी-ग्रंथावली की भूमिका, आचार्य शुक्ल, पृ० ७१, ७२, ७३।

2—The poetics of Aristotle ch. I P. 7 (Translated by S. H. Butcher)

३—अभिभाषण, पृ० १६, १७।

४—वही, पृ० १७।

५—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ५।

६—अरस्तू का काव्यशास्त्र-भूमिका, लेखक-डाक्टर नगेन्द्र, पृ० २६; २७।

की नाना वस्तुओं, व्यापारों और बातों को ऐसे रूप में रखना कि वे हमारे भावचक्र के भीतर आ जाँय काव्य का लक्ष्य है।[१] जगत के नाना रूपों तथा नाना सम्बन्धों की योजना के चित्रण को काव्य का लक्ष्य बनाना अनुकृति सिद्धान्त के बहुत निकट है। अरस्तू की काव्य-धारणा अधिकांश मात्रा में कविदृष्टि से निर्मित हुई है, उसमें काव्य के रूप-पक्ष की प्रधानता है, किन्तु शुक्ल जी की काव्य परिभाषा या काव्य-धारणा अधिकांश मात्रा में सामाजिक की दृष्टि से निर्मित हुई है, उसमें काव्य के अन्तरंग पक्ष की प्रधानता है। अरस्तू काव्य या कला का मूल तत्व अनुकरण मानते हैं तथा उसी को काव्य की आत्मा भी घोषित करते हैं[२ अ], किन्तु शुक्लजी रस को काव्य की आत्मा मानते हैं।[२]

अरस्तू ने कवि के व्यक्तित्व, काव्य-विषय, माध्यम तथा रीति के आधार पर काव्य तथा कला का वर्गीकरण किया है।[3] शुक्ल जी में काव्य रूपों का इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं मिलता। यदि उन्होंने कहीं प्रसंगवश काव्य का वर्गीकरण किया भी है तो रस के आधार पर।[४] अरस्तू के काव्यशास्त्र में काव्य के रूप-पक्ष तथा साहित्य एवं कला के भेदोपभेदों के वर्गीकरण तथा विश्लेषण पर सर्वाधिक दृष्टि है, किन्तु शुक्ल जी में काव्य के सिद्धान्तो का अधिक विवेचन है। इसीलिए अरस्तू के काव्य-विवेचन में जहां काव्य के रचना विधान पर सर्वाधिक बल है, वहां शुक्ल जी के काव्य विवेचन में काव्य के आत्म-पक्ष पर। इसी कारण शुक्ल जी में साहित्य-रूपों का विवेचन केवल प्रसंगवश मिलता है। किन्तु अरस्तू के काव्य-शास्त्र में त्रासदी, कामदी, महाकाव्य आदि काव्य-रूपों का विवेचन सैद्धान्तिक रूप में मिलता है। अरस्तू के काव्य-शास्त्र में त्रासदी को अन्य साहित्य-रूप से श्रेष्ठ सिद्ध करने का तथ्य सैद्धान्तिक दृष्टि से प्राप्त होता है[५], किन्तु शुक्ल जी ने महाकाव्य की श्रेष्ठता अन्य साहित्य रूपों की तुलना में प्रसंगवश ही कही है[६]।

१—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७१।

२—अ The Poetics of Aristotle. Ch. I Sec. 2, P, 7.

२—रस-मीमांसा, पृ० १०५।

3—The poetis of Aristotle, Ch. III. P. 13. & Ch. IV. P. 17.

४—जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका, आचार्य शुक्ल, पृ० १६२।

5—The Poetics of Aristotle. Ch. XXVI, P. 111.

६—जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका, आचार्य शुक्ल, पृ० २०२।

काव्य के रूप-पक्ष पर अधिक बल देने के कारण ही अरस्तू ने चरित्र की अपेक्षा कथा-वस्तु का अधिक महत्व प्रतिपादित किया है[1]। इतना ही नहीं त्रासदी में तो वह कथा-वस्तु को उसकी आत्मा तक घोषित करता है[2]। किन्तु शुक्ल जी काव्य में आत्म-पक्ष पर अधिक बल देने के कारण नाटक में भी रस को ही आत्मा कहते हैं।

अरस्तू ने त्रासदी को काव्य का सर्वोतम रूप मानते हुए प्रायः उसी के आधार पर अपने काव्य-सिद्धान्तों का निर्माण किया है। इधर शुक्ल जी ने महाकाव्य को काव्य का सर्वोत्तम रूप मानते हुए प्रायः उसी के आधार पर अपने काव्य-सिद्धान्तों का भवन-निर्माण किया है। गीति-काव्य का उचित सम्मान दोनों में से किसी आचार्य ने नहीं किया है।

दोनों आचार्यों की दृष्टि में काव्य विशेष के माध्यम से सामान्य की अभिव्यक्ति है[3]। इसीलिए दोनों को साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन मान्य है। दोनों के मत से काव्य का स्वरूप मूर्त तथा व्यक्ति कोटि का होता है[4]। शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित आलम्बन का लोक-धर्मी स्वरूप अरस्तू द्वारा प्रतिपादित त्रासदी के नायक के स्वरूप से बहुत दूर तक साम्य रखता है[5]।

अरस्तू प्रतिभा के महत्व को स्वीकार करते हुए भी व्युत्पत्ति पर ही अधिक बल देते हुए प्रतीत होते हैं[6]। इसके विरुद्ध शुक्ल जी काव्य-हेतु में प्रतिभा को प्रमुख मानते हैं[7]। दोनों आचार्यों ने प्रतिभा के स्वरूप के विषय में दैवी या अलौकिक मत का खण्डन किया है[8]। दोनों आचार्य काव्य के स्वरूप तथा कवि-स्वभाव में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं[9]।

1—The Poetics of Aristotle. tr. by S. H. Butcher. p. 27.

2—Ibid. Ch. VI. p. 29.

3—Ibid. Ch. XV. p. 57. & चि० प० भाग, पृ० ३१० ।

4—Ibid. Ch- VI. p. 25, 27, 29 & चि० प० भाग, पृ० ३०६ ।

5—Ibid. Ch. VI. p. 29, XV. p. 53, 57.

6—Ibid. Ch. XXV. p. 107.

७—रस-मीमांसा पृ० १०० ।

8—Rhetoric. 1-3/1358/A 37. & अभिभाषण, पृ० ७४ ।

9—The Poetics of Aristotle. p. 17. & चि० प० भाग, पृ० २५२ ।

अरस्तू की दृष्टि में काव्य का प्रयोजन ज्ञानार्जन तथा आनन्द है[१]। शुक्ल जी का काव्य-प्रयोजन इनसे विस्तृत कोटि का है, क्योंकि वे काव्य का प्रयोजन जीवन की चरम सिद्धि मानते हैं[२]।

अरस्तू छन्द को काव्य के लिए अनिवार्य माध्यम नहीं मानते[3], किन्तु शुक्ल जी मानते हैं[४]। दोनों आचार्यों की दृष्टि में कला का संवेदन बुद्धि के प्रति न होकर भावुकता तथा मन की मूर्तिविधायिनी शक्ति के प्रति होता है[५]। अरस्तू की दृष्टि में मनोवेगों के अन्तर्गत वे सब भाव आते हैं जिनमें मनुष्यों के निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता रहती है, जिनके साथ दुख या सुख की अनुभूति लगी रहती है[६]। इधर शुक्ल जी भी भाव को सुख-दुखात्मक मानते हुए उनमें संकल्प को प्रभावित करने की क्षमता मानते हैं[७]। अरस्तू ने मनोवेगों के विषय में जो तीन बातें कहीं हैं[८] वे शुक्ल जी के रस-सिद्धान्त के अनुभाव, आलम्बन तथा उद्दीपन से साम्य रखती हैं:—

१. मनोवेग के उद्भव-काल की मनस्थिति

२. वह व्यक्ति या वस्तु जिसके प्रति मनोवेग उतपन्न होता है, और

३. मनोवेग का कारण या आधार।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अरस्तू द्वारा प्रतिपादित मनोवेग-शुक्ल जी द्वारा निरूपित स्थायी के अति सन्निकट है। दोनों आचार्य काव्यानन्द को सार्वभौम कोटि का मानते हैं[९], किन्तु उनके काव्यानंद के स्वरूपों में भिन्नता है। अरस्तू के काव्यानन्द में बुद्धि-तत्व तथा कल्पनातत्व की मात्रा राग-तत्व से अपेक्षाकृत अधिक है[१०], किन्तु शुक्ल जी द्वारा निरूपित

1—The Poetics of Aristotle. Ch. IV. p. 15.

२ रस-मीमांसा पृ० ३६७।

3—The Poetics of Aristotle, Ch, IX, p. 35.

४—काव्य में रह० पृ० १३५।

५—चिन्तामणि प० भाग पृ० २३८।

६—अरस्तू का काव्य-शास्त्र, भूमिका, डा० नगेन्द्र पृ० १५५।

७—अभिभाषण, पृ० ४१, और र० मी० पृ० १७१।

८—अरस्तू का काव्य-शास्त्र, भूमिका, डा० नगेन्द्र पृ० १५५।

9—The Poetics of Aristotle. p. 15. अभिभा० पृ० ५०।

10—Ibid. Ch. XIV, p. 49, Ch. XV, p. 57.

काव्यानन्द में राग-तत्व की प्रधानता है[१]। उन्होंने काव्यानन्द को साधारणीकरण की प्रक्रिया से सिद्ध किया है, किन्तु अरस्तू की काव्यानन्द की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखने वाले विवेचन-सिद्धान्त में इसका कहीं उल्लेख नहीं है। उसने काव्य-सामान्य के स्वरूप के विवेचन में जहाँ काव्य को सामान्य की अभिव्यक्ति तथा नाम-रूप से विशिष्ट व्यक्तियों के माध्यम से सार्वभौमता की सिद्धि को काव्य का लक्ष्य कहा है, वहाँ प्रकारान्तर से साधारणीकरण के एक तत्व का संकेत मात्र मिलता है[२]।

अरस्तू द्वारा निरूपित त्रासदी का प्रभाव एक प्रकार का मिश्र भाव है जिसमें करुणा तथा भय का मिश्रण रहता है[३]। किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में करुण रस का स्थायी भाव शोक मूलतः अमिश्र भाव है। उन्होंने भयानक को एक अलग रस माना है। अरस्तू त्रासहीन करुण प्रसंग को आदर्श त्रासद स्थिति नहीं मानते[४]। किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में त्रासहीन करुणा भी आदर्श त्रासदस्थिति पैदा कर सकती है।

शुक्ल जी द्वारा निरूपित करुण रस की स्थिति अरस्तू के त्रासद-करुण प्रभाव से उदात्ततर कोटि की है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में करुण रस की अनुभूति साधारणीकृत होने पर व्यक्तिबद्ध राग द्वेष से मुक्त होने पर सत्वोद्रेक के कारण शोकादि दंशों से विरहित हो जाती है[५]। किन्तु अरस्तू की दृष्टि में वैयक्तिक करुणा तथा भय के अतिशय उत्तेजन तथा तदनन्तर उनके शमन से शोकादि का दंश नष्ट हो जाता है[६]। अर्थात् मानसिक विरेचन की प्रक्रिया द्वारा भाव-कटुता नष्ट हो जाती है। शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस स्वरूप में तमोगुण तथा रजोगुण के तिरोभाव में उद्वेग का शमन आ जाता है, किन्तु उनके द्वारा निरूपित करुण रस में उद्वेग का शमन ही नहीं उसका आस्वाद भी निहित है। इस प्रकार अरस्तू द्वारा निरूपित काव्यास्वाद स्वरूप में काव्यानन्द का अभावात्मक पक्ष ही आता है[७]।

१—अभिभाषण पृ० ४३।

२ The Poetics of Aristotle. Ch. IV. p. 15.

३ Ibid :Ch. VI, p. 23.

४ Rhetoric. 2-8|1386-A 21.

५—अभिभाषण पृ० ७०, और चि० प० भाग, पृ० ३४३।

६ The Poetics of Aristotle. Ch. VI. p. 23.

७—अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका पृ० ६०।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी का काव्यानंद सम्बन्धी विवेचन अधिक व्यापक तथा पूर्ण है।

अरस्तू का विरेचन सम्बन्धी मत त्रासदी-आस्वादन का साधक तत्व है[1]। वह एक प्रकार का साहित्यिक अभिमत है, सिद्धान्त नहीं, जो अपने ढङ्ग से त्रासदी के आस्वाद पक्ष की समस्या का समाधान करता है, किन्तु शुक्ल जी का रस सिद्धान्त इससे बहुत व्यापक कोटि का सिद्धान्त है जो सब प्रकार की कलाओं के लिए सर्वत्र प्रयुक्त हो सकता है। विरेचन में भय एवं करुण भावों के अतिशय उत्तेजन द्वारा उन मनोवेगों का शमन किया जाता है। इस प्रकार विरेचनमत रस के अभावात्मक पक्ष को लेकर चलता है, किन्तु शुक्ल जी का रस-सिद्धान्त काव्यानन्द के भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों पक्षों को लेकर चलता है। करुणा एवं भय नामक मनोवेगों के उत्तेजन, तदनन्तर उनके शमन से उत्पन्न मनःशान्ति काव्यानन्द का अभावात्मक पक्ष है, कलात्मक आस्वाद उसका भावात्मक पक्ष है, किन्तु यह भावात्मक पक्ष अरस्तू के विरेचनमत-सम्बन्धी शब्दों की परिधि के बाहर है[2]। विरेचन से अरस्तू का अभिप्राय करुणा तथा भय नामक भावों के बाह्य उत्तेजन और उनके शमन से उत्पन्न भाव-संशुद्धि तक सीमित है[3]। किन्तु शुक्ल जी का रस-मत भाव-संशुद्धि के आगे भाव-परिष्कार तथा भावोदात्तता का तथ्य भी अपने भीतर समाहित कर लेता है[4]। इस प्रकार शुक्ल जी के रस-सिद्धान्त के भीतर विरेचनमत अंतर्भूत हो जाता है। अरस्तू का विरेचन-मत करुणा तथा भय इन्हीं दो भावों से संबंध रखता है, किन्तु शुक्ल जी का रस-मत मनुष्य के सभी भावों, सम्पूर्ण जीवन तथा समग्र प्रकृति से सम्बन्ध रखता है।

अरस्तू का विरेचन-मत एक स्थूल मत है जो अधिक से अधिक काव्यानन्द

१—सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त। डा० नगेन्द्र पृ० ५८६।

2 Tradegy, then, is an imitation of an action that is serious complete, and of a certain magnitude; in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play; in the form of action, not of narrative; through pity and fear effecting the proper purgation of these emotions. Aristotle's Poetics, Ch. VI, p. 23.

३—सेठ गो० अभि० ग्रन्थ। पृ० ५८७। ४—अभि० पृ० ७०।

की भूमिका मात्र तैयार करता है, किन्तु शुक्ल जी का रस-सिद्धान्त एक सूक्ष्म सिद्धान्त है, जिसमें काव्यानन्द की भूमिका, प्रकृति तथा स्वरूप सब वर्तमान हैं। विरेचन में न तो स्व का उन्नयन अन्तर्भूत है, न सत्व का उद्रेक और न कलागत आनन्द का आस्वाद, किन्तु शुक्ल जी का रस-सिद्धान्त इन सबको अपने भीतर समाहित कर लेता है। विरेचन में भय एवं करुणा सम्बन्धी भावों के अतिशय उत्तेजन से कटु भावों का शमन होता है, किंतु रस में स्थायी-भावों का अतिशय उत्तेजन क्षोभकारक माना जाता है। रस-दशा में तमोगुण तथा रजोगुण के तिरोभाव के उपरान्त सामाजिक भावना के उदय के कारण सत्व का उद्रेक होता है। विरेचन मत के अनुसार मनःशान्ति या निर्मलता जो वैयक्तिक कटु-भावों के रेचन से आती है, अभावात्मक कोटि की है, किन्तु रस-दशा की संविद्विश्रान्ति सामाजिक भावों के आस्वाद से आती है, अतः वह भावात्मक कोटि की है। अतः अरस्तू द्वारा प्रतिपादित विरेचनजन्य प्रभाव तथा शुक्ल जी के रस-प्रभाव में क्षतिपूर्ति तथा लाभ का अन्तर है।

अरस्तू का त्रासदी सम्बन्धी मत उसके काव्य सम्बन्धी मत से कई स्थलों पर मेल नहीं खाता, क्योंकि वह त्रासदी के विवेचन के समय अपने काव्य सम्बन्धी मतों को मानों भूल सा जाता है; इससे उसके सैद्धान्तिक विवेचन में असंगतियाँ आ जाती हैं। उदाहरणार्थ वह त्रासदी के विवेचन में निहित नैतिक तत्वों की रक्षा कविता के विवेचन में करने में असमर्थ हो जाता है; किंतु शुक्ल जी के सैद्धान्तिक विवेचन में इस प्रकार की एक भी असंगति नहीं मिलती। अरस्तू का समीक्षक यदि कवि संबंधी दायित्वों के प्रति अधिक सजग है तो शुक्ल जी का समीक्षक समाज संबंधी दायित्वों के प्रति।

पश्चिमी समीक्षा का प्राचीन रीतिवादी सिद्धान्त

अरस्तू द्वारा काव्य को चित्र-कला, मूर्तिकला आदि की श्रेणी में स्थान मिलने के कारण उसमें रूप-पक्ष की प्रधानता हुई। अरस्तू-प्रतिपादित काव्य के रूप-संबंधी सिद्धान्तों तथा विधि-निषेध सम्बन्धी नियमों को कवि और समीक्षक जब दृढ़ता से पकड़ने लगे, काव्य के रूप सम्बन्धी लक्षणों के भीतर जब काव्य को सीमित करने लगे, काव्य की उत्तमता का निर्णय समीक्षक जब बँधी हुई पुरानी रीतियों तथा नियमों के अनुसार करने लगे, जब कवि की अन्तरंग प्रेरणा तथा प्रतिभा की उपेक्षा होने लगी तब योरोपीय समीक्षा

रीतिवाद में परिणत हो गई[१]। प्राचीन कालीन पाश्चात्य समीक्षा में सिसरो, होरेस, डायोनीसियस आदि रीतिवादी सिद्धान्त के प्रतिनिधि आचार्य हैं। उनकी समीक्षा काव्य के बहिरंग पक्ष तक ही सीमित थी[२]। उनका रीतिवादी सिद्धांत भारतीय समीक्षा के रीतिवादी आचार्य वामन के सिद्धान्त से अधिक साम्य रखता है[3] और इस प्रकार वह अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण शुक्ल जी के रस-सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ता है जिसमें काव्य की विविधता तथा व्यापकता सुरक्षित है[४], काव्य के अन्तरंग पक्ष की प्रधानता है[५], कवि की अन्तःप्रेरणा, अनुभूति तथा प्रतिभा की महत्ता की स्वीकृति है[६], जिसमें कवि का कर्म-क्षेत्र जीवन के कर्मक्षेत्र से अविच्छिन्न संबंध रखता है[७]।

लांजाइनस का उदात्तता-सिद्धान्त

रीतिवाद जब अतिरेकता की सीमा को पहुँचा तब उसके विरोध में लांजाइनस का उदात्तता सिद्धान्त उत्पन्न हुआ। उदात्तता सिद्धान्त का भावपक्ष शुक्ल जी के रस-सिद्धान्त के भाव-पक्ष से बहुत साम्य रखता है। उदात्तता सिद्धान्त के पाँच निर्माणकारी तत्व-उदात्त विचार, प्रबलभाव, अलंकार, रीति आदि शुक्ल जी के रस के निर्माणकारी तथा अनुबन्धित तत्वों से साम्य रखते हैं[८]। लांजाइनस की दृष्टि में उदात्तता का प्रभाव शुक्ल जी के रस-प्रभाव के समान सार्वभौम तथा सार्वकालिक कोटि का होता है[९]। लांजाइनस की पक्तियों में साधारणीकरण का स्पष्ट संकेत वहाँ मिलता है जहाँ वह यह कहता है कि एक ही कविता के विषय में विभिन्न रुचि, भिन्न जीवन, भिन्न आकांक्षा, भिन्न आदत तथा भिन्न युग के लोग एक ही प्रकार की दृष्टि रखते हैं[१०]।

१—नया साहित्य, नये प्रश्न, पृ० ६२।

२—Literary Criticism in Antiquity, Vol. II J. W. H. Atkins. P. 247, 250.

३—भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ० १०२।

४—रस-मीमांसा, पृ० ६५। ५—रस-मीमांसा पृ० १०४।

६— वही, पृ० १००। ७—वही पृ० १०३।

8—Longinus on the Sublime, translated by A. O. Prickart, Sec VIII, P. 13.

9—You may take it that those are beautiful and genuine effects of sublimity which please always and please all. Ibid. Sec. VII, P. 12.

10—For when men of different habits, lives, ambitions, ages take one and the same view about the same writing. Ibid. Sec. VI, P. 12.

दोनों कल्पना को भाव-प्रेरित मानते हैं[१]। दोनों की दृष्टि में कविता में कल्पना का काम शक्ति, सम्पन्नता लाना, मूर्तविधान करना तथा वस्तु, भाव या विचार को स्पष्ट करना है[२]। दोनों काव्य में भावना तथा कल्पना की महत्ता समान रूप से स्वीकार करते हैं[३]। दोनों आचार्य काव्य में विचारों के औदात्य तथा भावों के शक्तिपूर्ण उद्गीरण के समर्थक हैं[४]। लांजाइनस की दृष्टि में कविता की श्रेष्ठता केवल आनन्द, केवल रमणीयता, केवल हृदय अथवा, बुद्धि पर पड़े हुए प्रभाव पर निर्भर नहीं करती वरन् सहृदय के समग्र व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाली शक्ति पर निर्भर करती है[५]। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी का काव्यगत रस-प्रभाव भी इसी प्रकार का होता है[६ अ] और वे रस को ही काव्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड मानते हैं। दोनो की दृष्टि में अच्छी कविता का लक्षण—रमणीयता, अनिवार्य प्रभाव तथा मन में वेगयुक्त प्रवृति उठाने की क्षमता है[६]। दोनों काव्य के कलात्मक साधनों-अलंकार, गुण, रीति आदि का स्रोत प्रबल भावावेग मानते हैं[७]। दोनों आचार्य काव्य में उसके विविध तत्वों-भाव, अलंकार, रीति आदि की उचित व्यवस्था, उनके पारस्परिक उचित सम्बन्ध पर बल देते हैं, अर्थात् दोनों काव्य में औचित्य-सिद्धान्त के समर्थक हैं। दोनों की दृष्टि में कविता द्वारा मनोभावों का परिष्कार तथा उदातीकरण होता है[८] किन्तु लांजाइनस उदात्तीकरण का सम्बन्ध कभी-कभी आध्यात्मिक जगत से स्थापित करते है। शुक्ल जी के उदात्तता का सम्बन्ध इसी जगत तक सीमित है। अर्थात् लांजाइनस का उदात्तता-सिद्धान्त बहुत दूर तक आध्यात्मिक माना जाता है। किंतु शुक्ल जी का उदात्तता-सिद्धान्त विशुद्ध रूप में मनोवैज्ञानिक है। दोनों आचार्य कवि के चरित्र तथा कृति के स्वरूप में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं[९]।

1—Longinus on the Sublime, Sect. XV, p. 32, 33.
चि० प० भाग पृ० ३३० ।

2—Longinus on the Sublime, Sect. XV, p. 33,37. & वही, पृ० २२० ।

3—Longinus on the Sublime, Sect. XV, 32, 37. चि०प०भाग पृ०२१६

4—Ibid.. Sect., VIII, p. 13. & का० में रह० पृ० ७८

5—Ibid. Sect., VII, p. 12. & ६अ, चि० प० भाग, पृ० २२१, २२२

6—Ibid. Sect., VII, p. 12. & का० में रह० पृ० ५७

7—Ibid. Sect., VIII. p. 14. & चि० प० भाग, पृ० २३०, २३७

8—Ibid. Sect., I, p. 2; VII, p. 12.& रस-मीमांसा, पृ० ६, २०

9—Sublimity is the note which rings from a great mind.
Ibid. Sect. IX, p. 14.

चिन्तामणि पहला भाग, पृ० २५२ ।

दोनों साहित्य को समग्र रूप में देखते हुए उसके शाश्वत तथा सार्वभौम सिद्धान्तों तथा तत्वों पर बल देते हैं[१]। दोनों की दृष्टि में काव्य-सौन्दर्य का मापक निरन्तर काव्याभ्यास से परिष्कृत रुचि वाला सहृदय है[२]। दोनों आचार्य काव्य तथा कवि को एक महान, उदात्त तथा पवित्र वस्तु समझते हुए दोनों की अभ्यर्थना करते हैं[३]। लांजाइनस अपनी अभ्यर्थना में कवि तथा काव्य दोनों को अलौकिक तथा असाधारण बना देता है, कवि का महत्व स्थापित करते हुए वह इतनी दूर तक जाता है कि वह कवि को ईश्वर का प्रतिनिधि[४], उसकी अनुभूति को अलौकिक तथा उसकी प्रतिभा को दैवी कहने लगता है[५]। किन्तु शुक्ल जी कवि तथा काव्य को बहुत ही उदात्त तथा महत्वपूर्ण मानते हुए भी उन्हें सदा मानवीय धरातल पर रखते हैं, कवि को समाज या मनुष्यों के प्रतिनिधि बनने तक ही सीमित करते हैं[६], उसकी अनुभूति को इसी जगत की अनुभूति मानते हैं[७], उसकी प्रतिभा की व्याख्या भी भावना, कल्पना, तथा उद्भाविका शक्ति के रूप में लौकिक धरातल पर ही करते हैं[८] तथा कविता को मनोमय कोश से ऊपर जाने नहीं देते[९]। कविता तथा कवि के विषय में असाधारण दृष्टि रखने के कारण लांजाइनस भव्य तथा असाधारण वस्तुओं को ही काव्य-विषय के उपयुक्त समझता है[१०] तथा असामान्य एवं भव्य वस्तुओं में चमत्कार ढूँढने वाली काव्य-दृष्टि को ही मार्मिक काव्य-दृष्टि मानता है[११]। किन्तु शुक्ल जी साधारण-असाधारण सभी विषयों को काव्योपयुक्त समझते हैं तथा सामान्य एवं असामान्य सभी वस्तुओं में सौन्दर्य ढूंढने वाली दृष्टि को मार्मिक काव्य-दृष्टि मानते हैं[१२] लांजाइनस कविता को अलौकिक तथा दैवी मानने

1—Longinus on the Sublime, p. 13. & चि० प० भाग, कविता क्या है, निबन्ध देखिये।

2—Ibid. Sect. XIV, p. 31, 32. & का० में रह०, पृ० ६५।

3—Ibid. Sect. XXXV, p. 65, 66. & चि० प० भाग, पृ० २५२।

4—Ibid. Sect. XXXVI, p. 66.

5—Ibid. Sect. XV, p. 35, 37.

६—चि० प० भाग, पृ० ७।

७ चि० प० भाग, पृ० ३४४।

८—अभिभाषण, पृ० ७४।

९ काव्य में रह० पृ० ३७।

10—Longinus on the Sublime. Sect. XXXV. p. 65, 66.

11—Ibid. Sect. XXXV, p. 65,

१२—रस-मीमांसा, पृ० ११६, ११७। और चि० प० भाग, पृ० २०४ २०५।

के कारण उसके संवेदनों को सुख-दुख की भावनाओं से परे मानते हैं[१], किन्तु शुक्ल जी उसे मानवीय धरातल पर रखते हुए उसके सवेदनों को सुख-दुखात्मक मानते हैं, किन्तु उनके साधारणीकृत होने के कारण उन्हें क्षोभकारक तथा संकोचक नहीं कहते[२] ।

लांजाइनस काव्य के भाव-पक्ष में क्रांतिकारी मत व्यक्त करते हुए भी उसके शरीर पक्ष में प्रायः अरस्तू का ही अनुवर्तन करता हुआ दिखाई पड़ता है[3] । प्रबल भावावेग को काव्य का मूल कारण मानने पर तथा भाव-पक्ष में असाधारणता आने पर शैली बँधे-बँधाये नियमों पर नहीं चल सकती, उसमें नियमों का प्राबल्य नहीं हो सकता, इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को लांजाइनस नहीं पहचान सका, इसलिए उसके सिद्धान्तों में एक असंगति आजाती है । इस कारण सैद्धान्तिक दृष्टि से वह पारदर्शी चिन्तक नहीं बन सका, उसका सिद्धान्त एक समाहित काव्य-सिद्धान्त नहीं हो सका, किन्तु उसकी तुलना में शुक्ल जी काव्य के भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष में सन्तुलन स्थापित करने के कारण एक पारदर्शी चिन्तक की संज्ञा प्राप्त करते हैं तथा उनका काव्य-सिद्धान्त एक समाहित काव्य-सिद्धान्त कहा जा सकता है ।

अध्यात्मवादी काव्य-सिद्धान्त :—

योरोप में खृष्ट की निवृत्तिमुखी पारलौकिक शिक्षा के आधार पर स्थापित अध्यात्मवादी काव्य-सिद्धान्त[४] तथा प्लेटो के काव्य सम्बन्धी आध्यात्मिक मत की पृष्ठभूमि पर स्थापित प्लाटिनस आदि के रहस्यवादी आध्यात्मिक काव्य-सिद्धान्त[५] शुक्ल जी के लोकमुखी वस्तुवादी काव्य-सिद्धान्त रस सिद्धान्त से साम्य नहीं रखते। खृष्ट की शिक्षाओं के आधार पर स्थापित योरोप का अध्यात्मवादी काव्य-सिद्धान्त चर्च-उपयोगी, ईश्वरोन्मुखी, परलोकवादी कविता को ही सफल कविता मानता है[६], किन्तु शुक्ल जी का काव्य-सिद्धान्त लोकमङ्गल में सहायक कविता को ही वास्तविक कविता कहता है[७] ।

1--Longinus on the Sublime, Sect. XXXIX, p. 70, 71.

२—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० ३४२ ।

3—Making of Literature, by R. A. Scott-James, p. 84, 85.

4--Ibid. p. 96

5—Ibid, p. 82.

६—नया साहित्य, नये प्रश्न, पाश्चात्य समीक्षा सैद्धान्तिक विकास, पृ० ६२ ।

७—चिन्तामणि पहला भाग, काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था, पृ० २६१ ।

प्लाटिनस, प्लेटो के काव्य सम्बन्धी आध्यात्मिक मत से प्रेरणा ग्रहण करता हुआ अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर अपने काव्य-विवेचन को प्रतिष्ठित कर उसे आध्यात्मवादी तथा बहुत दूर तक परलोकमुखी बना देता है[१]। किंतु शुक्ल जी कविता का सम्बन्ध इसी जगत और जीवन की अनुभूति से स्थापित करते हुए उसे मनोमय कोश से आगे नहीं बढ़ने देते[२] तथा उसकी सार्थकता इसी लोक के मंगल-विधान के सम्पादन में सहायक होने में मानते हैं।

प्लाटिनस यदि सौन्दर्य को दैवी अथवा अध्यात्मवादी कहता है[3] तो शुक्ल जी उसे वस्तुवादी एवं चाक्षुष रूप देते हैं[४]। प्लाटिनस सौन्दर्य में जहां आत्मा की अनुरूपता, अभिन्नता एवं तदाकारपरिणति का दर्शन करता है[५], वहां शुक्ल जी उसमें हृदय की अनुरूपता, अभिन्नता एवं तदाकारपरिणति का रूप देखते हैं[६]। इस प्रकार प्लाटिनस सौन्दर्य में दैवी तत्व एवं आध्यात्मिकता का समावेश करता है, किन्तु शुक्ल जी उसे लौकिक तत्वों से परे नहीं जाने देते। प्लाटिनस कवि में दैवी शक्ति एवं दैवी प्रेरणा का निरूपण करते हुए कविता को पारलौकिक तथा आध्यात्मिक कहता है[७], पर शुक्ल जी इस मत के घोर विरोधी हैं। उनका मत है कि आध्यात्मिक शब्द काव्य में निरर्थक वाग्जाल का कारण बनता है, अनुभूति की सचाई में कमी लाता है[८]। अतः काव्य या कला के क्षेत्र में उसकी कोई आवश्यकता नहीं है[९]।

मध्यकालीन समीक्षा-सिद्धान्त :—

योरोप की साहित्य-समीक्षा आरम्भ से लेकर चौदहवीं एवं पन्द्रहवीं शताब्दी तक अनुकृति-सिद्धान्त की श्रृंखला में जकड़ी रही। सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में युग की परिस्थितियों के अनुसार पुराने सिद्धान्तों का नवोत्थान होता रहा। वे धीरे धीरे कृत्रिम श्रृंखला से उन्मुक्त किये जाने

1—Making of Literature. p. 82. 83. 96

२—काव्य में रहस्यवाद पृ० ८, ३७

3—Making of literature p. 83

४—चिन्तामणि प० भा० पृ० २२५, २२६

5—Making of Literature p. 83

६—चिन्तामणि प० भाग पृ० २२५

7—Making of Literature p. 83. 90. 96.

८—अभिभाषण पृ० ८२ ९ चि० प० भाग, पृ० ३०९

लगे थे। उनके पुनरुत्थान से योरोपीय समीक्षा में परम्परावाद की नवीन प्रतिष्ठा हुई। इसलिए इस युग को अभिनव-परम्परावादी युग कहते हैं। इन अभिनव-परम्परावादियों की तीन धारायें मानी जा सकती हैं। प्रथम धारा के समीक्षक कारनीले, रेसिन, बोइलो, पोप, ले बासु आदि पुराने नियमों के अन्धानुगमन में अपना इतिकर्तव्य समझते थे। द्वितीय धारा के समीक्षक एडिसन, जानसन आदि ग्रीक साहित्य तथा समीक्षा के अन्तःस्वरूप से प्रेरणा ग्रहण करते थे। तृतीय धारा के समीक्षक लेसिंग, विंकलमैन आदि नवीन जीवन एवं नवीन प्रेरणाओं को आत्मसात् करते हुए प्राचीन ग्रीक कला का सौंदर्यवादी आदर्श अपने सामने रखते थे।

शुक्ल जी का मत पूर्वकालीन अभिनव-परम्परावादियों-कारनीले, रेसिन, बोइलो आदि से साम्य नहीं रखता जो प्रतिभा को नियम-निष्ठ,[1] काव्य-रचना को कवायद,[2] समीक्षक को फील्डमार्शल[3] या न्यायाधीश, साहित्य या समीक्षा में नये प्रयत्नों या विचारों को अव्यवस्थित मन का जंगलीपन[4] तथा प्राचीन नियमों या सिद्धान्तों में संदेह करने वालों को असंस्कृत समझते थे[6], पुराने लक्षण-ग्रथों के आधार पर लक्ष्य-ग्रन्थों की रचना का आदेश देते थे, काव्य की उत्तमता का निर्णय साहित्य की बंधी बँधाई रीति-विधि तथा नियम के अनुसार करते थे, परम्परागत नियमों एवं सिद्धान्तों को मानदण्ड समझते थे,[9] अपने युग के कवियों की सफलता प्राचीन नियमों के अन्धानुकरण की मात्रा पर घोषित करते थे,[10] अपने युग की समीक्षा का भवन निरपेक्षतः परम्परा की भित्ति पर निर्मित करना चाहते थे,[11] कविता या कला का जीवन से कोई संबंध नहीं मानते थे[12] तथा साहित्य एवं समीक्षा में विविधता तथा व्यापकता का सम्मान नहीं करते थे।[13]

---

1 Making of Literature. Ch. XIII. p. 130

2	Ibid. p. 132	3	Ibid. p. 132
4	Ibid. p. 129	5	Ibid. p. 130
6	Ibid. p. 129	7	Ibid. p. 133
8	Ibid. p. 129	9	Ibid. p. 129
10	Ibid. p. 129	11	Ibid. p. 130
12	Ibid. p. 135	13	Ibid. p. 132

अतीत को गौरव-मंडित देखने में, प्राचीन संस्कृति के मूलभूत तत्वों के पुनरुत्थान एवं उसके सत्यों के नवीन चिन्तन में[1], रीतिवाद के विरुद्ध आवाज उठाने में[2], काव्य को शिष्ट समाज के सम्पर्क में प्रतिष्ठित करने में[3], अपना काव्यादर्श प्राचीन काव्यों के आदर्श तथा पुराने सिद्धान्तों के उद्देश्य के आधार पर निर्मित करने में[4], युग की आवश्यकतानुसार प्राचीन समीक्षा-सिद्धान्तों के पुनरुत्थान तथा उनके विशदीकरण की प्रवृत्ति में[5], युग की नवीन समस्याओं का प्राचीन काल के आदर्शों द्वारा हल करने के प्रयत्न में[6], साहित्य में सामाजिकता, गम्भीरता, शालीनता, समन्वय, व्यवस्था, औचित्य, अनुशासन, नीति तथा आभिजात्य के समर्थन में[7], साहित्य का सम्बन्ध मानव-जीवन तथा उसके वातावरण से घनिष्ठ कोटि का स्थापित करने में, उसे समाज के साथ एक विकासमान, प्रवहमान एवं परिवर्तनशील वस्तु तथा समाज-शक्ति मानने में[8], कला, साहित्य तथा समीक्षा पर मानवतावादी लौकिक दृष्टि से चिन्तन करने में[9]; काव्य के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग के समन्वय में[10], कवि एवं सामाजिक की चेतना के सामंजस्य में[11], कवि-प्रतिभा को मूल कारण तथा व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को सहकारी कारण मानने में[12], अभिव्यंजना-सौन्दर्य को

1—Making of Literature. p. 130, 169.

2—English Literary Criticism, 17th and 18th centuries, by J. W. H. Atkins. p. 357.

3—Sidney Making of Literature. p. 117, 118.

4—Addison, Johnson etc. English Literary Criticism, 17th 18 centuries. p. 121, 356.

5—Dryden, Addison, Lessing etc. Ibid. p. 119, 121. 122. 356

6—Addison, johnson, Burke Ibid, p. 366

7—Sidney, Addison, gohnson, Dryden, Lessing. Winckelmann Ibid, p. 118, 119 &
Making of Literature. p. 167. 173,175

8—Dryden, An Essay of Dramatic Poesy, ed. by T. Arnold p. 18, 90

9—Dryden, Addison, Lessing, Winckelmann. Making of Literature. p. 143, 167. 173, 174, 181.
English Literary Criticism, by Atkins. p. 138.

10—Winckelmann, Lessing. Making of Literature. p. 171, 192

11—Dryden, Addison, Winckelmann, Lessing. ibid p. 173.
History of Aesthetics, by B. Bosanquet p. 236

12—Dryden, Addison, Winckelmann, Lessing. Making of literature. p. 147, 151.

वस्तु-सापेक्ष्य समझने में[१], काव्य-निर्माण एवं काव्यानन्द में भाव तथा कल्पना के महत्व एवं स्वरूप के निर्धारण में[२], काव्यानन्द के स्वरूप की व्याप्ति निरुपित करने में[३], काव्य में भाषा के अनुभूतिजन्य सौष्ठव तथा आभिजात्य की स्वीकृति में[४], काव्यानन्द, काव्य-प्रक्रिया, काव्य-शक्ति, समीक्षा-निर्माण सम्बन्धी प्रक्रिया आदि के ऊपर मानस-शास्त्रियों की सहायता से नवीन ढङ्ग का मनोवैज्ञानिक चिन्तन करने में[५], शुक्ल जी की प्रवृत्तियाँ मध्यकालीन तथा उत्तरकालीन अभिनव-परम्परावादी समीक्षकों की प्रवृत्तियों से साम्य रखती हैं।

एडिसन :—

अभिनवपरम्परावादियों में शुक्ल जी ने एडिसन का गम्भीर अध्ययन किया था, उसके कल्पना-सिद्धान्त तथा कल्पनानन्द अथवा काव्यानन्द के विभिन्न स्वरूपों से वे बहुत दूर तक प्रभावित थे। अतः एडिसन से उनकी तुलना स्वतंत्र रूप में आवश्यक है।

दोनों आचार्य वस्तुवादी सिद्धांत के समर्थन में, काव्यानन्द को लौकिक तथा सार्वभौम मानने में[६], कल्पनानन्द या काव्यानन्द के स्वरूप की व्याप्ति के निर्धारण में[७], कल्पनानंद की विशेषताओं के निरूपण में[८], काव्य-रचना तथा काव्यास्वादन में कल्पना के महत्व की स्वीकृति में[९], प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन तथा आलम्बन कोटि के वर्णन में स्वतंत्र कोटि का काव्यानंद मानने में[१०], काव्यगत न्याय, मर्यादा आदि के समर्थन में[११], वर्णन में संश्लिष्टता

---

1 Winckelmann, Lessing; Making of Literature. p. 173
History of Aesthetics. p. 225

2 Dryden. Addison Dennis. Winckelmann. Lessing Making of Literature p. 143, 151, 171, 174.
English Literary Criticism, by Atkins. p. 360

3 – Addison; Making of Literature p 151, 152.

4 – Dryden, Addison, Lessing: English Literary Criticism, by Atkins. p 361.

5 – Johnson, Burke, Kames; Lessing Ibid. p. 356, 357, 360.

6 – The Spectator, v. 3, No. 411, paper I, III, VI, VIII.

7 – The Spectator, v. 3, No 411, 412, p. 277, 279.

8 = Ibid. ... v. 3 No. 411, paper I, VI, VIII, IX, X.

9 = Ibid. ... v. 3 No. 417, p. 294.

10 = Ibid. ... v. 3. No 411, p. 278.

11 = Making of Literature. p. 165.

सिद्धान्त के समर्थन में बहुत दूर तक साम्य रखते हैं। किन्तु शुक्ल जी द्वारा निरूपित काव्यानन्द अधिक उदात्ततर कोटि का है, उसकी व्याख्या बहुत ही व्यापक और गम्भीर कोटि की है। लोक के वस्तुवाद से प्रभावित होकर एडिसन ने कल्पना का सिद्धांत निकाला था और कला की विशेषता उसका रूप-विधान बतलाया था, किन्तु किस प्रकार की कल्पना काव्य के लिये आवश्यक होती है, इसका उत्तर एडिसन के पास नहीं है। कारण यह कि केवल कल्पना और रूप-विधान को काव्य-सौन्दर्य का मूलाधार मानकर इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसका उत्तर तभी सम्भव है जब कल्पना का सम्बन्ध भावानुभूति से जोड़ा जाय। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी कल्पना का सम्बन्ध भावानुभूति से जोड़ने में समर्थ हुये हैं[१] किन्तु एडिसन नहीं।

अभिनव परम्परावादियों में ड्राइडन, लेसिंग तथा विंकलमैन ऐसे समीक्षक हैं जो अपने युग की मान्यताओं से परिसीमित न होकर योरोपीय समीक्षा की स्वतंत्र विचारणा को नयी दिशा प्रदान करने में समर्थ हुये हैं[२], तद्वत् शुक्ल जी भी अपने युग की मान्यताओं से परिसीमित न होकर हिन्दी-समीक्षा के स्वतंत्र चिन्तन को नई दिशा प्रदान करते हैं। अतः इन आचार्यों से शुक्ल जी का तुलनात्मक अध्ययन संक्षिप्त रूप में आवश्यक है।

ड्राइडनः—

साहित्य को विकासमान सत्ता मानने में[3], साहित्याह्लाद को स्वार्थहीन तथा असामान्य समझने में; साहित्य का मूल प्रयोजन आह्लाद मानने में[४], साहित्य को सर्जनात्मक वस्तु समझने में[५], कल्पना-तत्त्व पर आग्रह करने में[६], कल्पना में बुद्धि एवं भाव तत्व के सन्तुलन-स्थापन में[७], कलात्मक मूल्यों के प्रति सजगता रखने में[८], आदर्शवादी प्राचीन काव्या-कृतियों के समर्थन तथा उनसे प्रेरणा ग्रहण करने में[९], पुरानेमहाकाव्यों से प्रभावित

१—अभिभाषण पृ० ३२.

2—English literary Criticism, by AtkinsP. 129, 131,

३—साहित्य-संदेश-शुक्लांक, अप्रैल-मई, १९४१. साहित्य परिभाषा, पृ० ३६४.
Making of lterature. P. १४०.

4—चिं० प० भाग, पृ० २९१. ३२६. Making of lit. P. 141.

५—Making of literature. P. 143. & चिं० प० भाग, पृ० २२०.

६—Making of literature. P. 144. & चिं० प० भाग, पृ० २२०.

७—An essay of dramatic poesy. Dryden. P. 98. का० में रह०, पृ० ७८

८—English literary. Criticism P. 144 & अभिभा०, पृ० १४.

९—English literary Criticism. p. 107, 113. & रस-मीमांसा, पृ० ११

होने में[१], महाकाव्य को सर्वश्रेष्ठ काव्य-रूप मानने में[२], भाव को काव्य के कलात्मक तत्वों का स्रोत समझाने में[३], समीक्षा का उद्देश्य कवि अथवा कृति की विशेषताओं का निरूपण मानने में[४], समीक्षा को प्राचीन सिद्धान्तों की शृंखला से उन्मुक्ति दिलाने में[५], तार्किक निपुणता में[६], आचार्य शुक्ल तथा ड्राइडन बहुत दूर तक साम्य रखते हैं।

युग-तत्व की स्वीकृति में ड्राइडन शुक्ल जी से आगे हैं किन्तु इसके द्वारा उनका काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण इतना सीमित हो गया है कि उससे केवल सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के साहित्य का ही मूल्यांकन हो सकता है किन्तु शुक्ल जी का काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण युग-चेतना को स्वीकार करते हुए भी इतना व्यापक है कि उससे प्रत्येक युग के साहित्य का मूल्याकन हो सकता है।

लेसिंग तथा विंकलमैनः—

पुनरुत्थानवादी साहित्यिक युग का सैद्धान्तिक परिपाक आचार्य लेसिंग तथा विंकलमैन के काव्य-सिद्धान्तों द्वारा हुआ। कला जीवन की अनुकृति है। उसका सौन्दर्य आंगिक संगति या बाह्य नियमों पर आश्रित है। यह ग्रीक युग का मूल सिद्धान्त था। कला अनुभूति की अभिव्यंजना होने के कारण मानसिक अभिव्यंजना है। यह स्वच्छन्दतावादी युग की उपपत्ति है। लेसिंग तथा विंकलमैन के लिए कला मानसिक अभिव्यंजना तो है ही किन्तु वह साथ ही बाह्य सौन्दर्य से समन्वित अभिव्यंजना भी है। इस प्रकार उक्त आचार्यद्वय ने सौन्दर्य और अभिव्यंजना दोनों को स्वीकार किया है। येही दोनों सिद्धान्त पुनरुत्थानवादी युग के मूल साहित्य-सिद्धान्त कहे जा सकते हैं।

जिस प्रकार लेसिंग ने प्राची ग्रीक कला की नये युग की पृष्ठभूमि पर नई व्याख्या की[७], तद्वत् शुक्ल जी ने प्राचीन रस-सिद्धान्त की नई व्याख्या

१—English literary Criticism. p. 107. & रस-मीमांसा, पृ० ८८.

२—जा० ग्र० की भूमि०, पृ० २०२. & English literary Criticism, p. 117.

३—चि० प० भाग, पृ० २३७. & English literary Criticism P. 114, 115.

४—गो० तुलसीदास, वक्तव्य. & Ibid. p. 130.

५—English literary Criticisim. p. 110.

६—Ibid. p. 145. 6—Making of literature. p. 174,

नये युग की पृष्ठभूमि पर की। जिस प्रकार विंकलमैन ने ग्रीक कला को साधन बनाकर नई युग-चेतना का प्रभाव स्पष्ट किया[१], तद्वत् शुक्ल जी ने साहित्य के स्थायी भावों को साधन बनाकर उनकी विवेचना में अपने युग की चेतना को स्पष्ट किया। जिस प्रकार लेसिंग, विंकलमैन प्राचीन ग्रीक कला के विश्लेषण के आधार पर अपना सिद्धान्त निश्चित करते हैं[२] तद्वत शुक्ल जी के अन्तिम निर्णय प्राचीन कला-कृतियों के विश्लेषण पर आश्रित हैं। उन्हीं आचार्यद्वय के समान शुक्ल जी को भी प्राचीन सिद्धान्तों की अनुगामिता मान्य नहीं है। जिस प्रकार लेसिंग तथा विंकलमैन अपने सैद्धान्तिक विवेचनों के द्वारा पश्चिमी समीक्षा के स्वच्छन्दवादी युग का द्वार खोलते हैं[3] तद्वत् शुक्ल जी भी अपनी सैद्धान्तिक समीक्षा-कृतियों के द्वारा हिन्दी-समीक्षा में स्वच्छन्दतावाद का पूर्वाभास देते हैं। दोनों आचार्य साहित्य के अन्तरंग तथा बहिरंग के समन्वय में[४]; काव्य के आत्म-पक्ष तथा शरीर-पक्ष के उच्चतर सामंजस्य को काव्य-कसौटी निरूपित करने में[५]; विभिन्न कलाओं में भेद तथा तारतम्य निरूपित करते हुए काव्य-कला को सर्वश्रेष्ठ मानने में[६]; काव्य-सौन्दर्य को वस्तु-सापेक्ष्य मानने में[७], गत्यात्मक सौन्दर्य के समर्थन में[८]; अनुभूतिजन्य भाषा-सौष्ठव के स्वीकरण में[९], काव्य हेतुओं में प्रतिभा को सर्वाधिक महत्व देने में[१०], प्राचीनता तथा नवीनता के समन्वय के प्रयत्न में[११]; काव्य के प्रति मानवतावादी लौकिक दृष्टि रखने में[१२]; कवि, पात्र तथा सहृदय के भावों के साधारणीकरण की स्वीकृति में[१३]

१—आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० २७८.

२— वही पृ० ३७८, ३७९.

३— वही पृ० ३७८.

४—सूरदास, शुक्ल जी, पृ० २००. & Making of literature, P. 171.

५—सूरदास, पृ० २००.& Making of literature. p. 173.

६—का०. में रह० पृ० १३४, १३५. & Ibid. p. 177.

७— चि० प० भाग. पृ० २२४.& History of Aesthetics. p. २२५

८— का० में रह०. पृ० १०. & History of Aesthetics. p. 226.

९— चि० प० भाग, पृ० २३७. & History of Aesthetics. p. 228.

१०—रस-मीमांसा पृ० १००. & Making of Literature. p. 186.

११—का० में रह० पृ० १५०. & History of Aesthetics. p. 233.

१२-अभिभाषण पृ० ५०. & Ibid. p. 235.

१३-रस-मीमांसा पृ० ९१. & Ibid. 236.

काव्य द्वारा मानव-भावों की संशुद्धि, परिष्कार तथा उदात्तीकरण सम्बन्धी मान्यता में[१], तथा सत्य के साथ सौन्दर्य-तत्व की अनिवार्यता के समर्थन में[२] बहुत दूर तक साम्य रखते हैं। विंकलमैन कला में अभिव्यंजना के अधिक हिमायती हैं[३], उनका सिद्धान्त अभिव्यंजना-सिद्धान्त कहा जाता है जो लेसिंग के सौन्दर्य-सिद्धान्त की अपेक्षाकृत अधिक तात्विक भूमि पर स्थित है। इस प्रकार वह स्वच्छन्दतावाद के अधिक समीप है। सौन्दर्य और उदात्तता के समन्वय के प्रयत्न में[४]; सौन्दर्य एवं अभिव्यंजना के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध-निरूपण में[५]; काव्य का लक्ष्य सफल अभिव्यञ्जना मानने में[६]; प्रेषणीयता सिद्धान्त के ऊपर बल देने में[७] आचार्य शुक्ल और विंकलमैन बहुत समीप दिखाई पड़ते हैं। लेसिंग और विंकलमैन प्राचीन ग्रीक कला का विश्लेषण करते हुए काव्य के सौन्दर्य-पक्ष की ओर अधिक झुके हैं, शुक्ल जी प्राचीन काव्य तथा सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए लोक-मंगल की ओर अधिक झुके हैं। इसीलिए यदि लेसिंग और विंकलमैन अभिव्यंजना को केवल सौन्दर्य से अनुशासित करना चाहते हैं तो शुक्ल जी सौन्दर्य के साथ-साथ लोक-धर्म के तत्वों से भी। यदि शुक्ल जी मंगल और सौन्दर्य में अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं तो लेसिंग तथा विंकलमैन सौन्दर्य तथा अभिव्यंजना में। लेसिंग ने अपने विवेचन में कल्पना-तत्व को भी प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु उसका रूप अधूरा है। इसके विरुद्ध शुक्ल जी का कल्पना-तत्व अपने आप में पूर्ण है। मूर्ति की असुन्दरता लेसिंग को सह्य नहीं है भले ही वह वास्तविक भाव की अभिव्यंजना न कर रही हो, किन्तु शुक्ल जी को वह सुन्दरता सह्य नहीं जो वास्तविक भाव की अभिव्यंजना में असमर्थ हो। अर्थात् लेसिंग का मूल सिद्धान्त सौन्दर्य है, किन्तु शुक्ल जी का मूल सिद्धान्त रस है जो लेसिंग के सौन्दर्य-सिद्धांत को अपने भीतर समाहित कर लेता है। आचार्य शुक्ल और विंकलमैन दोनों कविता या कला को अभिव्यंजना मानते हैं,[८] अभिव्यंजना में ही सौन्दर्य की सत्ता देखते हैं[९], किन्तु विंकलमैन के

१—अभिभाषण, पृ० ७०. & History of Aesthetics p. २३६, २३७.
२—चि० प० भाग, पृ० ३६१. & Ibid. p. २३८.
३—आधु० साहित्य, पश्चिमी काव्य-मत पृ० ३६१.
४—अभिभाषण, पृ० ७० & History of Aesthetics. P. 247
५— वही पृ० १३. & Ibid. २४६.
६—सूरदास, पृ० १५७. &,Ibid. २४८.
७—तुलसीदास, पृ० ७५. & Making of Literature. p १७३
८—सूरदास पृ०१५७ & History of Aesthetic p. 249.
९—अभिभा० पृ० १३. & History of Aesthetics. p 248.

अभिव्यञ्जना सम्बन्धी मत में कई असंगतियाँ पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ, विंकलमैन का यह कहना कि कविता या कला भावना (फीलिंग), बुद्धि (रीज़न) तथा बोधवृत्ति (अंडरस्टैंडिंग) पर प्रभाव डालती है। इससे यह विदित होता है कि या तो विंकलमैन उपर्युक्त पदावलियों के प्रयोग में स्वयं स्पष्ट नहीं हैं अथवा वे इन शब्दों का अवैज्ञानिक प्रयोग कर रहे हैं, जो समीक्षा-विज्ञान की दृष्टि से अनुचित है।[1] इस प्रकार की एक भी असंगति शुक्ल जी के विवेचन में नहीं मिलती।

आधुनिक युग.

स्वच्छन्दतावाद :—

जब योरोपीय समीक्षा पण्डितों तथा शास्त्रकारों द्वारा नियमों में बँधकर निश्चेष्ट होने लगी तब इसमें सजीवता तथा चेतनता लाने के लिए, उसे बन्धन मुक्त करना, उसमें स्वच्छन्द जीवन-शक्ति भरना आवश्यक हो गया। सोलहवीं, सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में योरोपीय समीक्षा में बन्धन-मोचन का कार्य चलता रहा, किन्तु उसे वास्तविक मुक्ति तथा स्वच्छन्द जीवन-शक्ति उन्नीसवीं शताब्दी के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन से मिली।[2] काव्य की पुरानी रूढ़ियों को हटाकर,[3] पुराने वस्तुवादी सिद्धान्त को छिन्न-भिन्न कर,[4] मुक्त कल्पना[5] एवं भावों की अप्रतिबद्ध गति को लेकर,[6] भाववादी सौन्दर्य-

---

1. The appeal to reason, feeling and understanding within the same page is characteristic of Winckelmann, whose apparent laxity of terminology, often amounting to absolute self-contradiction, indicates not merely a neglect of theoretical refinement, but also a genuine concreteness of thought. History of Aesthetics, by B. Bosanquet. P. 241.
2. English Literary Criticism, by Atkins. P. 374.
3. & 4. Making of Literature, P. 194.
5. Ibid. P. 210.
6. Ibid. P. 205, 211.

दर्शन को ग्रहण कर,[१] कवि-मानस की सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास कर,[२] आत्माभिव्यञ्जन के सिद्धांत को अपनाकर,[३] स्वच्छन्द जीवन के समग्र स्वाभाविक प्रवाह को आत्मसात कर योरोप में स्वच्छन्दतावाद का प्रचार हुआ।[४]

शुक्ल जी हिन्दी-साहित्य में रोमान्टिक या स्वच्छन्दतावादी कविता का स्वाभाविक रूप में प्रसार चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के द्वितीय उत्थान की कविता का विवेचन करते हुए नैसर्गिक स्वच्छन्दता की माँग की है।[५] उन्होंने श्रीधर पाठक को हिन्दी स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तक मानते हुए उनकी प्रशंसा की है।[६] रामनरेश त्रिपाठी को उनका अनुवर्ती बतलाया है।[७] इसी प्रकार मुकुटधर पाण्डेय को भी नूतन स्वच्छन्द मार्ग पर चलने वाला कवि कहा है।[८] 'पल्लव की उच्छ्वास, 'आँसू' 'परिवर्तन' 'बादल' आदि रचनाओं का हवाला देकर शुक्ल जी कहते हैं कि यदि छायावाद के नाम से एक वाद न चलता तो पन्त जी स्वच्छन्दता वाद के शुद्ध स्वाभाविक मार्ग पर ही चलते।[९] उन्होंने स्काटलैण्ड के रोमान्टिक कवि वर्न्स की बड़ी प्रशंसा की है, जिसने लोक-गीतों के आधार पर ऐसी रोमान्टिक कवितायें निर्मित कीं जो समाज में अत्यधिक मात्रा में समादृत हुईं।[१०] अपनी 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में उन्होंने वडसवर्थ तथा शेली की प्रकृति सम्बन्धी कविताओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[११] इस जगत एवं जीवन की अभिव्यक्ति तथा अनुभूति को लेकर भाव की स्वाभाविक पद्धति ग्रहण करके चलने वाली शेली तथा वड्सवर्थ की कवितायें उन्हें प्रिय हैं।[१२] उन्होंने गेटे तथा कालरिज के स्वच्छन्दवादी काव्य की लोकसामान्य भावभूमि की प्रशंसा की है।[१३] शुक्ल जी ने शेली की सराहना इस्लाम का विप्लव नामक

---

१. Making of Literature, P. 385.

२. Ibid, P. 197.

३. History of English Criticism, by Saintsbury, P. 385.

४. Making of Literature, P. 195, 196.

५. & ६. हि० सा० का इति०, पृ० ६७२. ७. हि० सा० का इति०, पृ० ७००

८. वही पृ० ७२४. ९—वही, पृ० ७८२. १०—वही, पृ० ६७१.

११. का० में रह०, पृ० ११७, ११८, १२१.

१२. का० में रह०, पृ० ११६. १३. वही ११७

महाकाव्य में रूप-सौन्दर्य एवं कर्म-सौन्दर्य में मेल करने के कारण, भावों की अनेकरूपता का विन्यास करने के कारण, लोक-मंगल की साधनावस्था को अपनाने के कारण की है[१]। उन्होंने उत्तरकालीन स्वच्छन्दतावादी कवियों की व्यक्तिवादिता[२], लोकोत्तर उन्मुक्त कल्पना[३], निराली अलौकिक काव्यानुभूति[४], निराली रूप-योजना[५], वस्तु निरपेक्ष सौन्दर्य-धारणा[६अ], अद्भुत अलौकिक नूतन जीवन-सृष्टि[६ब], प्रतिभा की उद्दाम गति[७], राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक—सब प्रकार की व्यवस्थाओं एवं बन्धनों को छिन्न भिन्न करने वाली क्रान्ति—भावना[८], प्रकृति-वर्णन में कल्पना के वैचित्र्यपूर्ण आरोप एवं अन्तवृ॑त्ति के चमत्कार पूर्ण उद्घाटन करने वाली प्रवृत्ति का घोर खण्डन किया है[९]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी योरोपीय काव्य तथा समीक्षा के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन से बहुत दूर तक प्रभावित थे, इसीलिए उन्होंने यथाप्रसंग अनेक अवसरों पर उसके सत्पक्ष का समर्थन तथा असत्पक्ष का खण्डन किया है। स्वच्छन्दतावाद जहां तक जन-जीवन से सम्पर्क रखने में समर्थ है[१०], जहां तक जगत एवं जीवन की अभिव्यक्ति एवं अनुभूति को लेकर[११], भाव की स्वाभाविक पद्धति ग्रहण करके चलता है[१२], जहां आलम्बन-रूप में प्रकृति-चित्रण का आदेश देता है[१३], जहां वह दयनन्दिन जीवन के विषयों की भी काव्य-विषय बनाने का समर्थन करता है[१४], जहाँ वह ग्राम्य गीतों, लोक-कथाओं के काव्यात्मक महत्व पर जोर देता है[१५] जहाँ तक वह उनके मूल सिद्धान्त—लोक-मंगल के अनुकूल पड़ता है[१६], वहाँ तक शुक्ल जी उसका समर्थन करते हैं।

१—चि० प० भाग, पृ० २९८. ३०५. २. चि० प० भाग, पृ० ३२३.

३—का० में रह०, पृ० ८४, ९४. ४. का० में रह०, पृ० ८२.

५—का० में रह०, पृ० ९४, ९५. ६. अ- चि० प० भाग, पृ० ३२७.

६—ब—चि० प० भाग, पृ० २२४. ७. का० में रह०, पृ० ८४.

८—का० में रह०, पृ० १२१. ९. का० में रह०, पृ० २७.

१०-का० में रह० पृ० ११६, ११८, ११९.

११-का० में रह०, पृ० ११६, १२-हि० सा० का इतिहास, पृ० ६७०, ६७१.

१३- वही पृ० ६७२.

१४- काव्य में रह०. पृ० ११८. ११९.

१५-हिन्दी-साहित्य का इतिहास. पृ० ६७१.

१६-चि० प० भा०, पृ० २९६, २९७.

अब स्वच्छन्दतावाद के सिद्धान्तों से शुक्ल जी के सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन को स्पष्ट करने के लिए उन दोनों प्रकार के सिद्धान्तों की असमानताओं पर विचार करना चाहिए। स्वच्छन्दतावादी समीक्षक समीक्षा को परम्परागत नियमों से मुक्ति दिलाने के प्रयत्न के कारण[1] कवि के व्यक्तित्व को, उसके मानसिक जगत को, उसकी अन्त:प्रेरणा या अलौकिक प्रतिभा को[2], उसकी कल्पना को सर्वाधिक महत्व देते हैं[3]; उसके व्यक्तित्व में असीम शक्ति भरकर कविता में भी असीम शक्ति भर देते हैं[4]; वस्तु-जगत को कवि के मानसिक जगत का प्रतिबिम्ब मानते हैं[5]; कला का उद्गम उसके समाहित व्यक्तित्व में मानते हैं[6]। अत: वे कला का अनुशासन कवि के व्यक्तित्व की विशेषताओं के आधार पर करना चाहते हैं[7], कला के लिए ऊपरी अथवा बाह्य नियम बनाना उसके प्रति अनाचार समझते हैं[8]। किन्तु शुक्ल जी वस्तुवादी विचारक होने के कारण मानसिक जगत को वस्तु-जगत का प्रतिबिम्ब मानते हैं[9], व्यक्तित्व की अपेक्षा विषय को अधिक महत्व देते हैं, व्यक्तित्व की तुलना में लोक-धर्म का सम्मान अधिक करते हैं[10], काव्य के उद्गम का स्रोत समाज में ढूँढ़ते हैं[11]। अत: वे कला का अनुशासन अपने सामाजिक दर्शन तथा रस-सिद्धान्त से करना चाहते हैं[12]। व्यक्तिवादी होने के कारण स्वच्छन्दतावादी काव्य तथा जीवन में निर्बन्धता, स्वच्छन्दता, विद्रोह, आकुलता, आवेश, प्रक्षुब्धता, प्रगति, उत्तेजकता, प्रायोगिकता, असन्तोष, अतृप्ति तथा साहसिकता के प्रेमी हैं[13], वहाँ शुक्ल जी मर्यादावादी विचारक होने के कारण व्यवस्था,

---

1. Making of Literature. p. 197.
2. Ibid. p, 197. 199, 203, 211.
3. Ibid. p. 218, 223, 224.
4. A Defence of poetry. Sheley.
5. Making of Literature. p. 198.
6. Ibid. P. 199.
7. History of English Criticism, by Saintsbury. p. 410.
8. Making of Literature. P. 226,

९. चि० प० भाग, पृ० ३२०. १०. चि० प० भाग, पृ० ३२२, ३२३.

११. हि० सा० का इति०, पृ० १. १२, चि० प० भाग, पृ० ३०६,

१३. Making of Literature, p, 167,

संयम, औचित्य, शान्ति, सन्तोष, समानुपातिकता, समन्वय, संगति, उदात्तता तथा अनुशासन के समर्थक हैं[१]।

स्वच्छन्दतावादी क्रान्ति को काव्य अथवा जीवन का मूल मंत्र मानते हैं[२], क्योंकि वे समाज के अनुसार अपने को व्यवस्थित न करके संसार को अपने आदर्शों के अनुसार व्यवस्थित करना चाहते हैं[३], और जब उनके आदर्शों के अनुसार संसार बन नहीं पाता तब वे असन्तोष, अतृप्ति तथा प्रक्षुब्धता का गीत ही नहीं गाते वरन् शेली के समान क्रान्ति द्वारा राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में उलट-फेर कर देना चाहते हैं[४]। इसके विरुद्ध शुक्ल जी सामंजस्य को कविता का मूलमंत्र मानते हैं[५]। उनका विश्वास प्रयोग-सिद्ध प्राचीन जीवनादर्श तथा काव्यादर्श में है। इसलिए वे लोक-स्वीकृत ढंग पर चलना अधिक पसन्द करते हैं। जीवन में विषमता बढ़ने पर नयी शक्ति के संचार के लिए क्रान्ति का आह्वान भी वे करते हैं, किन्तु जीवन के अनित्य धर्म के रूप में[६], स्वच्छन्दतावादियों के समान नित्य धर्म के रूप में नहीं।

व्यक्तिवादी होने के कारण स्वच्छन्दतावादी जहाँ सौन्दर्य को व्यक्तिपरक मानते हैं[७] वहां शुक्ल जी उसे वस्तुपरक कहते हैं[८]। स्वच्छन्दतावादियों की दृष्टि में सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं, मन के भीतर की वस्तु है। उनकी दृष्टि में मानसिक क्रिया ही रूपों की सृष्टि करती है[९]। अतः उसे लोक-मंगल अथवा नीति की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता[१०]। इस प्रकार स्वच्छन्दतावादी सौन्दर्य के बाह्य आग्रहों को नहीं मानते। किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य की कोई सत्ता नहीं[११]। वे उसे मंगल एवं नीति की सीमा में बाँधना चाहते हैं[१२]।

---

१. अभिभा०, पृ० ४२, ७७ और चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २६८.

२. Making of Literature. p. 194.

३. Ibid. P. 197 .194,

४. A Defence of poetry.–Shelley.

५. अभिभा०, पृ० ४२ ६. चि० प०भाग, पृ० २१२.

७. History of Aesthetics, by Bosanquet, p, 266,

८. चि० प० भाग, पृ० २२४.

९. History of Aesthetics, p, 266,

१०. History of English Criticism, by Saintsbury, p, 411,

११. चि० प० भाग, पृ० २२४ १२. का० में रह० पृ० १०.

वस्तुवादी विचारक होने के कारण शुक्ल जी कवि की अनुभूति को वस्तु-सापेक्ष्य कहते हुए उसे प्रत्यक्ष जीवन की अनुभूति के अनुरूप मानते हैं१, किन्तु स्वच्छन्दतावादी भाववादी विचारक होने के कारण उसे वैयक्तिक मानते हुए अलौकिक कहते हैं[२]।

स्वच्छन्दतावाद आत्माभिव्यंजन को अपना मुख्य उद्देश्य बनाकर चलता है[३]। उसमें लोक-मंगल आदि आदर्श उपफल के रूपमें निहित रहते हैं। किन्तु शुक्ल जी लोक-धर्म को अपने काव्य-सिद्धान्त का मूलाधार बनाकर चलते हैं, इसलिए ऐसे काव्यों में वे कवि की आत्माभिव्यक्ति से उतने प्रसन्न नहीं होते जितने वे लोक-मंगल की अभिव्यक्ति से होते हैं[४]।

स्वच्छन्दतावादियों की दृष्टि में कल्पना काव्य का सर्वातिशायी तत्व है[५], किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में अनुभूति या रस। स्वच्छन्दतावादी कल्पना को इलहाम, पारमार्थिक सत्ता, दृश्य जगत से परे, परम कल्पना का अंश, प्रकृति के नाना रूपों को उसकी छाया कहकर उसे अलौकिक, अनन्त एवं नित्य मानते हैं[६], किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में कल्पना काव्य में अनुभूति की तृप्ति एवं अभिव्यक्ति के लिए साधन बनकर आती है[७]। उसके भीतर जो कुछ रहता है वह प्रकृति के विशाल क्षेत्र से प्राप्त होता है। उनके मतानुसार कल्पना में आये हुए रूप प्रकृति के नाना रूपों के प्रतिबिम्ब होते हैं, प्रकृति के रूप कल्पना के प्रतिबिम्ब नही होते[८]। स्वच्छन्दतावादी काव्यगत सभी रूपों तथा उसकी सार सत्ता को कल्पना-रचित मानते हैं[९], किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में कल्पना बाहर के, गोचर जगत के रूपों को लेकर उनके विविध प्रकार के सम्मिश्रण, परिवर्तन, परिवर्धन तथा संशोधन द्वारा उनका पुनर्निर्माण करती है१०।

१—चिं० प० भाग, पृ० ३४४.

२—Making of Literature, p, 211,

३—History of Engiish Criticism, p, 385.

४—चिं० प० भाग, पृ० ३०९.

५—Making of Literature, p, 218,

६—Ibid; p, 219, 220, 224, 225,

७—का० में रह०, पृ० ७८. ८. का० में रह०, पृ० ६६,

९—Making of Literature, p, 220,

बनाकर चलते हैं; सामाजिक अनुभूति उसका प्राण है[१], जिसकी उत्तम अभिव्यक्ति उनकी दृष्टि में प्रबंध काव्यों में ही सम्भव है। शुक्ल जी की दृष्टि में समाज से वर्ग कभी मिट नहीं सकते। अतः वे उनमें सामञ्जस्य-स्थापन की आवश्यकता पर बल देते हैं।[२]

स्वच्छन्दतावादी कवि तथा समीक्षक अंतर्मुखी वृत्ति को प्रधानता[३] देने के कारण प्रतिभा को ही एक मात्र काव्य-हेतु मानते हैं,[४] किन्तु शुक्ल जी वस्तुवादी विचारक तथा वहिर्मुखी वृत्ति के होने के कारण काव्य में प्रतिभा को मूल काव्य-हेतु मानते हुए व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को भी आवश्यक समझते हैं।[५]

स्वच्छन्दतावादी विचार-धारा के अनुसार काव्य-सृजन द्वारा आत्माभिव्यञ्जन के आनंद की तृप्ति के अतिरिक्त कवि का अन्य कोई प्रयोजन नहीं होता, वह स्वान्तः सुखाय कविता करता है।[६] किंतु शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य का प्रयोजन लोक-मंगल की सिद्धि है।[७]

शुक्ल जी प्राचीन काव्यों तथा सिद्धांतों के आधार पर निर्मित अपने काव्यादर्श को लेकर हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में उतरते हैं किंतु स्वच्छन्दतावादी समीक्षक कोई बाह्य आदर्श लेकर किसी कवि की समीक्षा नहीं करता, वरन् अपने हृदय पर पड़े हुए प्रभाव के अनुसार[८], अथवा कवि-व्यक्तित्व की विशेषताओं के आधार पर उसकी उत्तमता का निर्णय करता है[९]। ऐसी समीक्षायें प्रभाववादी समीक्षा का रूप धारण कर लेती हैं। शुक्ल जी का मत है कि ऐसी समीक्षाओं से रसानुभव में सहायता नहीं पहुँचती, इसलिए वे इस प्रकार की समीक्षाओं को ज़नानी समीक्षा कहते हैं।[१०]

१—चिं० प० भाग, पृ० २०६. २—गो० तुलसीदास, पृ० ५१.

३—Making of Literature, P. 208.

४—Making of Literature, P. 198.

५—रस-मीमांसा पृ० १००. ६—Histoty of English Literary Criticism, P. 410. ७—चिं० प० भाग, पृ० २२३, २०१.

८—History of English Literary Criticism, P. 411.

९—English Literary Criticism, by Atkins, P. 374.

१०—अभिभाषण, पृ० ४६.

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद :-

स्वच्छन्दतावादी कवियों तथा समीक्षकों द्वारा साहित्य में अभिव्यंजना-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई, जिसे आगे चलकर शास्त्रीय रूप दार्शनिक क्षेत्र में कान्ट ने तथा काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में क्रोचे ने प्रदान किया। शुक्ल जी ने अपने अभिभाषण में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का खण्डन किया है। अतः क्रोचे के काव्य-सिद्धान्त से शुक्ल जी के काव्य-सिद्धान्तों की तुलना आवश्यक है।

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद पूर्णतः मानस-पीठिका पर प्रतिष्ठित है। इसमें कला को उसके बाह्य आधारों से मुक्ति मिल गई है और कलाकार की अन्तरंग भावना ही कला की एक मात्र नियामिका बन गई है[1]। किन्तु शुक्ल जी का रस-सिद्धान्त वस्तुवादी सिद्धान्त है। वह लोक-धर्म से अनुशासित है।

क्रोचे की दृष्टि में काव्य न तो अनुभूति है, न मूर्त-विधान, और न दोनों का संयोग, वरन् वह अनुभूति का चिन्तन या गीतिमय प्रतिमान या विशुद्ध प्रातिभ ज्ञान है। स्वयंप्रकाश ज्ञान को विशुद्ध कहने का अभिप्राय यह है कि कविता में जिस मूर्त-विधान का उपन्यास किया जाता है, उसकी सत्यता या असत्यता का कोई प्रश्न नहीं रहता; न किसी प्रकार के ऐतिहासिक निर्देश का विचार किया जाता है। कविता यथार्थतः विशुद्ध स्वयंप्रकाश ज्ञान है, जिसमें जीवन की विशुद्ध गति का आदर्श रूप में विवरण रहता है[2] किन्तु शुक्ल जी हृदय की मुक्तावस्था उत्पन्न करने वाली अनुभूति के चित्रण को या विभाव-चित्रित करने वाले मूर्त-विधान को काव्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में काव्यगत मूर्त-विधान या अनुभूति जीवन के अनुरूप होती है। क्रोचे जहां

---

1. Philosophy of Bnedetto Croce, Problem of Art and History by H. Wilden Carr, P. 162, 163.

2. Poetry mustobe called neither feeling uor image, nor yet the sum of the two, but as contemplation of feeling, or lyrical intuition or pure intuition - pure of all historical and critical reference to the reality or unreality of the images of which it is woven, and apprehending the pure throb of life into ideality.—Croce,

कविता को स्वयंप्रकाशज्ञान-स्वरूप मानते हैं[१], वहां शुक्ल जी उसे भावानुभूति-स्वरुप या आस्वाद्य स्वरूप कहते हैं।

क्रोचे कला-सम्बन्धी अनुभूति को अनुभूत्याभास मात्र कहता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में कलाजन्य तथा वास्तविक अनुभूति दो पृथक् क्षेत्र की अनुभूतियां हैं तथा अभिव्यंग्य और अभिव्यंजना के गुणों में कोई सम्बन्ध नहीं रहता[२]। किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में कला की अनुभूति जीवन के अनुरूप ही होती है[3] तथा अभिव्यंग्य एवं अभिव्यंजना में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है[४]। क्रोचे के मत में वास्तविक जीवन में अनुभूत होने वाली वस्तुओं की प्रतीति के भीतर कभी कला का आभास भर आ जाया करता है[५] किन्तु शुक्ल जी के मत में जीवन गत वस्तुओ से भी काव्यात्मक आनन्द मिल सकता है, इसीलिए वे प्रत्यक्ष रुप-विधान-जन्य अनुभूति में रसात्मक बोध की शक्ति मानते हैं[६]।

शुक्ल जी प्रकृति के प्रत्यक्ष रूपों में, जगत और जीवन के पदार्थों में सौन्दर्य मानते हैं[७], इसलिए वे संसार के पदार्थों तथा भावों का वर्णन काव्य का लक्ष्य मानते हुए काव्य-सृष्टि को संसार की सृष्टि से सर्वथा स्वतन्त्र नही मानते[८]। किन्तु क्रोचे कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति में कहीं कोई सौन्दर्य नहीं मानता, इसलिए उसकी दृष्टि में वाह्य प्रकृति के पदार्थों का वर्णन या अन्त:प्रकृति के भावों का चित्रण काव्य का लक्ष्य नहीं होता, ये उपात्दान मात्र होते हैं[९], उसकी दृष्टि में काव्य में कवि बाह्य प्रकृति एवं अन्त:प्रकृति के पदार्थों को द्रव्य रूप में लेकर उनका मनमाना योग करके प्रकृति से सर्वथा स्वतन्त्र एक नई रचना खड़ी करता है[१०]। इन अनेक पदार्थों का वर्णन या इन अनेक भावों की व्यञ्जना काव्य का लक्ष्य नहीं होता।

1—Philosophy of B. Croce, P. 69, 70,

2—Aesthetics, by Croce, P, 26,

३—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७, ८.

४—अभिभाषण, पृ० ३६, ३७.

5—PhilosoPhy of B, Croce, P, 62, 163, 164,

६—चिन्तामणि प० भाग पृ० ३४२, ३४४.

७- वही पृ० २११, ८— अभिभाषण, पृ० ३७

9—Philosophy of B. Crocc, P. 163, 164,

10-Aesthetics, by Croce, P, 6, 9, 26

क्रोचे स्वयंप्रकाश ज्ञान को कला-निर्मिति का मुख्य कारण मानते हैं। उनकी दृष्टि में स्वयंप्रकाशज्ञान का अभिप्राय सहज प्रज्ञा है, जो आपसे आप मूर्त-विधान करती है। यह मूर्त-विधान कवि के अन्तस्तल से संबंध रखता है, अतः यह अन्तरंग कोटि का होता है, बाह्य कोटि का नहीं।[1] किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में कवि की सहजानुभूति वस्तु-सापेक्ष्य कोटि की होती है, वह जीवन और जगत के सम्पर्क में आने पर उद्भूत होती है, उसके द्वारा निर्मित मूर्त-विधान बाह्य जगत के रूपों के आधार पर होता है।[2]

क्रोचे स्वच्छन्दतावादियों के समान कवि-मानस की सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास करता है[3], इसलिए उसके अनुसार सभी रूप या सांचे जिन्हें सत्य कवि- अपनी अभिव्यक्ति के लिए धारण करता है, मन में ही विद्यमान रहते हैं।[4] इसके विरुद्ध शुक्ल जी की दृष्टि में मन रूपात्मक संघात है। यही बाहर हंसता, खेलता, रोता, गाता, खिलता, मुरझाता जगत भीतर भी है, जिसे मन कहते हैं। अर्थात् उनके मत में मन के भीतर प्रतिष्ठित रूप प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं के रूपों के ही प्रतिबिम्ब होते हैं, अथवा उनके आधार पर गढ़े जाते हैं।[5]

सहज प्रज्ञा, कल्पना, रूप, अभिव्यञ्जना और सौन्दर्य को क्रोचे परस्पर अभिन्न मानते हैं, और उन्हें एक दूसरे के समतुल्य निर्धारित करते हैं।[6]

---

१. Philosophy of Croce, B. P. 69, 70, 77, 78.

2. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७, ८.

३. Every form which reality assumes or can assume for us has its ground within mind. There is not and there cannot be a reality that is not mind. This mind which is reality or this reality which is mind is an activity the forms of which we may distinguish but we cannot separate them. —The Philosophy of B. Croce.

४. Ibid. ५. चि० प० भाग. पृ० २२५, ३३०.

६. Aesthetics, by Croce. P. 13, 14, 15, 19, 20, 21.

शुक्ल जी की दृष्टि में सहज प्रज्ञा कवि की उद्भाविका शक्ति है,[१] कल्पना; भावना-शक्ति; अभिव्यञ्जना, उक्ति-स्वरूपा हैं;[२] रूप, लोक जगत् के अनुरूप होते हैं[३], और सौन्दर्य, वस्तु-सापेक्ष्य होता है।[४]

क्रोचे कल्पना को आध्यात्मिक क्रिया मानता है[५], शुक्ल जी मानसिक। क्रोचे के अनुसार स्वयंप्रकाश ज्ञान का सांचे में ढलकर व्यक्त होना ही कल्पना है और कल्पना ही मूल अभिव्यञ्जना है, जो भीतर होती है।[६] क्रोचे का कथन है कि मन छाप ग्रहण करता है, किन्तु ये छाप मन की क्रिया को केवल आरम्भ विन्दु प्रदान करते हैं। उनसे आरम्भ करके मन क्रम-विकास द्वारा कल्पना की सहायता से उन्हें पूर्ण अभिव्यञ्जना तक ले जाता है और इस अभिव्यञ्जना से बने हुए पदार्थ अलौकिक कोटि के होते हैं।[७] क्रोचे के विरुद्ध शुक्ल जी कल्पना को भावात्मक या अनुभूत्यात्मक मानते हैं।[८] उनकी दृष्टि में काव्य विधायिनी कल्पना के भीतर बोध वृत्ति का समावेश हो जाता है, पर उसकी प्रधानता नहीं होती।[९] उनके मत से कल्पना में उठे हुए रूपों की प्रतीति मात्र को ज्ञान कहना उसे ऊँचे दर्जे को पहुँचाना है।[१०]

क्रोचे की दृष्टि में अभिव्यञ्जना भौतिक व्यापार नहीं, मानसिक व्यापार है। अतः बाहरी अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यञ्जना बाध्य नहीं है, उसके मत से अभिव्यञ्जना का वाह्य प्रयोग करते ही हम कला-लोक से हटकर व्यवहार-जगत में आ जाते हैं।[११] वस्तुतः क्रोचे की दृष्टि में काव्यगत अथवा कला-गत अभिव्यञ्जना वहीं पूर्ण हो जाती है, जहां सर्जनात्मक मन उसकी अनुभूति

---

१. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २६२.   २. अभिभाषण पृ० १३.

३. चि० प० भाग पृ० २२५.   ४. वही पृ० २२४.

५. Philosophy of B. Croce, P. 164

६. It springs froth forom within and gives expression to what is internal not external. B. Croce.

७. Philosophy of B. Croce, P. 54, 55,

८. अभिभाषण पृ० २२.   ९. अभि० पृ० ३८.   १०. अभि० पृ० २३.

११. Philosophy of B. Croce, P. 76, 78.

कर लेता है।[१] इन्ट्यूशन ही एक्स्प्रेशन है[२] अर्थात् अनुभूति ही अभिव्यञ्जना है। शब्द और रेखायें आदि उसके स्थूल संकेत मात्र हैं। अतएव क्रोचे की सम्मति में काव्य का शब्द-बद्ध होना आवश्यक नहीं है। यह बाह्य व्यक्तीकरण का कार्य वास्तविक कवि-कर्म से स्वतन्त्र है। इसलिए क्रोचे मनुष्य को जन्मना कवि मानता है। मनुष्य कवि पैदा होता है, कोई बड़ा कवि होता है, कोई छोटा कवि, परन्तु है प्रत्येक मनुष्य कवि।[३] शुक्ल जी काव्य की व्याप्ति जीवन तक मानते हुए भी,[४] उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति में काव्यानुभूति की सत्ता स्वीकार करते हुए भी,[५] काव्य के अस्तित्व के लिए उसका शब्दबद्ध होना आवश्यक समझते हैं।[६] फिर भी क्रोचे के इस मत को शुक्ल जी नहीं मानते कि जिस रूप में अनुभूति कवि के हृदय में होती है, उसी रूप में उसकी व्यंजना भी होती है। वर्ड्सवर्थ के समान उनका मत है कि बहुत सी कविताय स्मृत-दशा में भी होती हैं, जो यह कहे कि जो कुछ हमारे भीतर था सब हमारी कविता में आ गया है, शुक्ल जी के अनुसार उसमें काव्यानुभूति का अभाव समझना चाहिए। उनके मतानुसार जिस रूप में अनुभूति कवि के हृदय में होती है, उसी रूप में व्यञ्जना कभी नहीं हो सकती, उसे प्रेषणीय बनाने के लिए, दूसरों के हृदय तक पहुँचाने के लिए भाषा का सहारा लेना पड़ता है, शब्दों में ढलते ही अनुभूति बहुत विकृत हो जाती है, और भी और हो जाती है।[८]

क्रोचे के मत में अभिव्यञ्जना ही सौन्दर्य है, सौन्दर्य सफल अभिव्यञ्जना है, अथवा केवल अभिव्यञ्जना है, न अधिक और न कुछ कम, क्योंकि यदि अभिव्यञ्जना सफल नहीं होती तो अभिव्यञ्जना ही नहीं होती।[९]

---

१. Philosophy of B. Croce. P. 72, 73.

२. Aesthctics, by Croce, P, 13.

३. Philosophy of B. Croce, P. 70, 71,

४. चि० प० भाग, पृ० २११.   ५. चि० प० भाग, पृ० ३३४.

६. चि० प० भाग, पृ० १६३.

७. Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotion recollected in tranquillity. Prose writings of Wordsworth, Ed. by W. Knight, P. 24.

८. काव्य में रह०. पृ० ८०.

९. Philosophy of B Crocc; P. 161, 162.

सौन्दर्य से उसका अभिप्राय केवल उक्ति के सौन्दर्य से है, किसी प्रकृत वस्तु के सौन्दर्य से नहीं। उसके मत में सुन्दर कोई भौतिक तथ्य नहीं, वह प्रस्तुत द्रव्यों में नहीं रहता। यह सम्पूर्ण रूप से मनुष्य के मानस-व्यापार से ही सम्बन्ध रखता है और यह व्यापार मानसिक या आध्यात्मिक कोटि का होता है।[१] किन्तु शुक्ल जी उक्ति को रमणीय मानते हुए भी[२] वर्ण्य के लिए सुन्दर-असुन्दर शब्द का प्रयोग करते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में सौन्दर्य वस्तु-सापेक्ष्य होता है।[३]

अभिव्यंजनावादियों के अनुसार जिस रूप में अभिव्यंजना होती है उसी में काव्यत्व है।[४] शुक्ल जी भी उक्ति में ही काव्य की रमणीयता मानते हैं[५], किन्तु अभिव्यञ्जनावादियों से शुक्ल जी का महान अन्तर यह है कि जहां वे वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ का विचार कला में नहीं करते वहाँ शुक्ल जी वाच्यार्थ के अतिरिक्त लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की काव्य में सत्ता मानते हुए काव्य-विवेचन में उनका भी विचार करते हैं।[६] क्रोचे के मत में काव्य की उक्ति किसी दूसरी उक्ति की प्रतिनिधि नहीं है, वह वाच्यार्थ का सम्बन्ध किसी दूसरे अर्थ से नहीं मानता[७], किन्तु शुक्ल जी के मत में काव्य को धारण करने वाले सत्य प्रायः लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ के भीतर रहते हैं, जिसकी देखरेख में वाच्यार्थ मनमानी क्रीड़ा करता है।[८]

क्रोचे के मत में काव्य तथा कलाओं का व्यापार एक अखण्ड मानसिक व्यापार है। अतः सब प्रकार के काव्य तथा कला-भेदों में एक ही अखण्ड अभिव्यञ्जना है। मानसिक व्यापार पर बल देने के कारण और सब प्रकार की कलाओं की सृष्टि में एक ही प्रकार की मानसिक प्रक्रिया मानने के कारण वे काव्य अथवा कला के भेदों को बाहरी मानते हैं। उनकी दृष्टि में कला या तो परिपूर्ण होगी या कला की संज्ञा के अयोग्य होगी।[९] किन्तु शुक्ल जी

१—Philosophy of B. Croce, P. 164.

२—अभिभाषण पृ० १२.   ३—चि० प० भाग पृ० २२४.

४—Aesthetics, by Croce, P. 14.

५—अभिभाषण पृ० १३.   ६—   वही   पृ० १५.

७—It is nothing else (nothing more but nothing less) than to express. Aesthetics, P. 19.

८—अभिभाषण पृ० १५.   ९—Aesthetics, P, 33, 34.

कलावाद:—

पश्चिमी समीक्षा में जब साहित्य एक ओर कार्लायल, रस्किन आदि आचार्यों द्वारा धर्म और दर्शन के भीतर केन्द्रित होने लगा, तथा उपदेशात्मकता के भार से लदने लगा एवं दूसरी ओर स्वच्छन्दतावादी कविताओं के अतिरेक की सीमा में जब काव्य का विषय ऊटपटांग तथा वर्णन-शैली शिथिल एवं अशक्त होने लगी, तब उसके प्रतिवाद रूप में कलावाद उत्पन्न हुआ। उसके प्रतिनिधि आचार्य ब्रैडले, क्लाइवबेल, स्पिंगार्न, आस्करवाइल्ड आदि हैं। शुक्ल जी ने इन सभी कलावादियों का खण्डन किया है। अतः कलावादियों के सिद्धान्तों से उनकी तुलना आवश्यक है।

कलावादियों की दृष्टि में कला की पृथक् अपने आप में पूर्ण स्वतः-शासित स्वतन्त्र सत्ता है, इसलिए वे कलागत अनुभूति को जीवनगत अनुभूति से एकदम पृथक् मानते हुए कवि के जगत को जीवन-जगत से स्वतन्त्र मानते हैं, जिसके रूप-व्यापारों की संगति प्रत्यक्ष या वास्तविक जगत के रूप-व्यापारों से मिलाने की आवश्यकता नहीं[१]। कला के आस्वादन के लिए जीवन से हमें कुछ भी लाने की आवश्यकता नहीं। कविता की बातों का विचार करते समय जीवन की बातों को लाना व्यर्थ है[२], कला का अपना मूल्य अलग ही है जो उसके आभ्यंतर में ही है, बाहर नहीं[3]। किन्तु शुक्ल जी काव्य की अनुभूति को जीवन के समान मानते हुए, काव्य-संसार को इस जगत के आधार पर बना हुआ तथा इसके अनुरूप समझते हुए उसकी जीवन-सापेक्ष्य सत्ता निरूपित करते हैं; उसके रूपों, व्यापारों एवं वस्तुओं को वास्तविक जगत के आधार पर निर्मित मानते हैं[४], काव्य के आस्वादनार्थ जीवन-जगत का ज्ञान अनिवार्य समझते हैं[५]; काव्य का मूल्य जीवन की दृष्टि से ही उसके मंगल-विधान के योग देने में मानते हैं तथा काव्य-लोक को इस लोक की रीति-नीति, औचित्य, आदर्श, सौन्दर्य, मंगल आदि से अनुशासित करना चाहते हैं[६]।

---

1. Oxford Lectures on Poetry, by A. C. Bradley, P. 4, 5, 6.
2. Art, by Clive BeII, P. 49.
3. Oxford Lectures on Poetry. by A. C, Bradley p, 5

४—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ८१, ८२, ८३.

५—चिन्तामणि प० भाग पृ० ३२१, ३४४, ३५२.

६—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ६८, १०४, ११२, ११६.

ब्रैडले कविता का उच्चतम मूल्य उसके भीतर ही देखते हैं। नीति, धर्म, संस्कृति आदि को कला के बाहर की वस्तु मानते हैं। कला का विचार करते समय इन बाहरी बातों का विचार करना उन्हें सह्य नहीं।[१] आस्कर-वाइल्ड कला और आचार के क्षेत्र को सर्वथा पृथक् मानते हैं, उनके मत से कला के भीतर नैतिक सत्-असत् का भेद आ ही नहीं सकता। स्पिंगार्न महोदय शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूँढ़ना ऐसा ही समझते हैं जैसा रेखागणित के समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचार पूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण। रोजरफ्राई की दृष्टि में काव्यगत भावों का मूल्यांकन नैतिक दृष्टि से नहीं होता, कलागत दृष्टि से ही होता है। इनकी दृष्टि में भी काव्य का कल्पना-लोक, प्रत्यक्ष जीवन से अलग कोटि का होता है।[२] शुक्ल जी काव्य या कला की उपादेयता जीवन की दृष्टि से आँकने के कारण, रस को अपना साध्य सिद्धान्त अपनाने के कारण नीति, संस्कृति आदि को काव्य के भीतर की वस्तु समझते हैं, तथा काव्य से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वे काव्यगत भाव, सौन्दर्य, कल्पना, विचार आदि का मूल्यांकन लोक-मंगल की दृष्टि से करते हैं।[3] काव्य के भाव-योग की परिणति लौकिक जीवन के कर्म-योग में करने के कारण, भावों के वैधानिक निरूपण के आग्रह के कारण तथा जीवन से काव्य का नित्य सम्बन्ध मानने के कारण उनके विचार कलावादियों से नहीं मिलते।

ब्रैडले की दृष्टि में कविता में क्या कहा गया है यह महत्वपूर्ण नहीं, कैसे कहा गया है, यही महत्वपूर्ण है[४], किन्तु शुक्ल जी काव्य के भाव तथा कला-पक्ष में सामंजस्य मानते हुए भाव या वर्ण्य-पक्ष की प्रधानता पर ही बल देते हैं।

टालस्टाय का आदर्शवाद :–

कला के लिए कला के विरोध में टालस्टाय का आदर्शवाद उत्पन्न हुआ। शुक्ल जी ने इसका भी खण्डन किया है। अतः दोनों की तुलना आवश्यक है।

मानव-संस्कृति का लक्ष्य विश्व-बन्धुत्व निरूपित करने में, काव्य का साध्य लोक-मंगल मानने में, काव्य की मूल वस्तु भाव को सर्वाधिक महत्ता

---

1. Oxford Lectures on Poetry, P. 5.
2. Vision and Design, by Roger Fry, p. 31, 32 & 26.
३. अभिभाषण, पृ० ३७.
4. Oxford Lectures on Poetry. P. 7; 8, 9. and 10.

प्रदान करने में, काव्यगत भाव की संक्रामक विशेषता के निरूपण में, काव्य या कला का उद्देश्य प्रेषणीयता मानने में, कलाकार के सामाजिक दायित्व पर आग्रह करने में, काव्य में नैतिक तत्व को स्थान देने में, काव्य को भावना-परिष्कार, विकास एवं जीवन-सुधार का साधन मानने में, काव्य की सार्थकता मानव-विकास में सहायक होने में तथा कला की सार्वजनीनता के ऊपर बल देने में दोनों आचार्य बहुत साम्य रखते हैं।[१]

टालस्टाय ने साहित्य को धार्मिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है,[२] इसलिए वे काव्यगत भावना का मूल्य धार्मिक धारणा के आधार पर निश्चित करते हैं जो क्रिश्चियन धर्म की भूमिका पर आधारित है, किन्तु शुक्ल जी का साहित्य त्रिकालवर्त्तिनी विश्वात्मक भावसत्ता की भूमिका पर प्रतिष्ठित है[३]। वे काव्यगत भावों का मूल्य लोक मंगल की दृष्टि से करते हैं। इस प्रकार शुक्ल जी की मूल धारणा टालस्टाय की अपेक्षाकृत अधिक व्यापक कोटि की है। टालस्टाय की दृष्टि में लोक-मंगल-साधक भाव केवल कोमल कोटि के होते हैं[४], किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में कठोर तथा कोमल दोनों प्रकार के। इस प्रकार टालस्टाय का आदर्श केवल निवृत्ति पक्ष पर अवलम्बित है, किन्तु शुक्ल जी का आदर्श प्रवृत्ति-निवृत्ति के सामंजस्य के कारण अन्तःप्रकृति के समूचे पक्ष को आत्मसात् करके चलता है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में टालस्टाय का आदर्श शान्त एवं निष्क्रिय कोटि का है, उसमें मनुष्य के कर्म-सौन्दर्य की एकांगी अभिव्यक्ति होती है। वह निवृत्ति के आदर्श स्वप्न में लीन करने में ही काव्य की उच्चता मानता है। टालस्टाय की निष्क्रिय प्रतिरोध की भावना का खण्डन करते हुए शुक्ल जी ने उसे वैयक्तिक सिद्धान्त माना है।[५] काव्य की कसौटी के विषय में भी दोनों आचार्य एकमत नहीं हैं। टालस्टाय के अनुसार शुभ और सात्विक भावों की अशुभ और तामस भावों पर चढ़ाई ऊंचे साहित्य का विधान है।[६] क्रूरता पर क्रोध, अत्याचारियों का ध्वंस, पापियों को जगत के मार्ग से हटाना मध्यम काव्य का विधान है।

---

१. चि० प० भाग, कविता क्या है. & what is Art ? and Essays on art, by L. Tolstoy, P. 118, 121, 123, 212, 266.

२. Ibid, P. 127. ३. अभिभाषण, पृ० ४०.

४. What is Art ? and Essays on Art, tr. by A. Maude, P. 129.

५. का० में रह०, पृ० ११.

६. What is Art ? and Essays on Art, P. 128.

किन्तु शुक्ल जी टालस्टाय द्वारा निरूपित मध्यम काव्य को उत्तम काव्य मानते हैं[१], क्योंकि उसमें लोक-मंगल-साधक कठोर, कोमल सभी भावों का सामंजस्य रहता है।

आधुनिक युग में स्वच्छन्दतावाद के पतन के पश्चात् पश्चिमी समीक्षा पर विज्ञान का प्रभाव अन्य क्षेत्रों की भाँति बहुत अधिक मात्रा में पड़ा। फलतः साहित्यिक सिद्धान्तों के स्थान पर विभिन्न विज्ञानों का प्रयोग समीक्षा के क्षेत्र में होने लगा। आलोचना को साहित्य की दृष्टि से न देखकर विभिन्न विज्ञानों की दृष्टि से देखने से कई समीक्षावाद उत्पन्न हुए, जैसे, अन्तश्चेतनावाद, मार्क्स-वाद आदि। विभिन्न विज्ञानों के आधार पर प्रचारित समीक्षावादों को शुक्ल जी साहित्य के बाहर का वाद कहकर उनका खण्डन करते हैं। उन्होंने विशेष रूप से अन्तश्चेतनावाद तथा मार्क्सवाद का यथाप्रसंग खण्डन किया है[२]। अतः शुक्ल जी के समीक्षासिद्धान्तों की तुलना इन्हीं दो सिद्धान्तों से की जायगी।

फ्रायड का अन्तश्चेतना वादः—

इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य कवि के अचेतन मन में प्रतिष्ठित कुंठित इच्छाओं की काल्पनिक परितृप्ति का साधन है[3]। किन्तु शुक्ल जी के मत से काव्य अशेष सृष्टि के साथ कवि तथा पाठक के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा तथा निर्वाह का साधन है[४]। फ्रायड के मतानुसार काव्य का प्रयोजन कवि की आत्मतृप्ति है[५], पर शुक्ल जी के मतानुसार लोक-मंगल की सिद्धि। फ्रायड की दृष्टि में कवि-कर्म का प्रेरक अचेतन मन है[६], किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा उससे सम्बन्धित जगत[७]। फ्रायड काव्य की परख व्यक्तिगत मनोविज्ञान की दृष्टि से करते हैं[८] तो शुक्ल जी सामाजिक मनोविज्ञान की दृष्टि से। अन्तश्चेतनावाद के अनुसार काव्य में कलाकार के केवल एकपक्षीय व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति रहती है[९] किन्तु शुक्ल जी के मत में काव्य में

१—काव्य में रहस्य वाद, पृ० ४, ९. २– हि० सा० का इति० पृ० ६३८, ७१६.

3. Introductory Lectures on Psycho—analysis, by S. Freud, tr. by J. Riviere. P. 314. ४–अभिभाषण, पृ० ७०.

5—Freud : His Dream and Sex Theories, by. Jastrow.p. 130.

6—Freud : Introductory Lectures on Psycho-analysis,P. 315.

७-काव्य में रह०, पृ० ७, ८, १२, १९.

8—& 9. Psycho-analysis and Asthetics by C, Baudouin, tr, from the French by Eden and C, Paul, P, 31,

कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की ही नहीं वरन् उसके देश, संस्कृति, युग-तत्त्व, दर्शन आदि तत्त्वों की भी अभिव्यक्ति होती है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि शुक्ल जी द्वारा निरूपित काव्य की व्याप्ति अन्तश्चेतनावाद के आधार पर निर्धारित काव्य-व्याप्ति से बहुत विस्तृत कोटि की है।

फ्रायड का कवि केवल अपनी ओर ही देखता है, केवल अपनी नैसर्गिक वृत्तियों की तृप्ति समाज को साधन बनाकर करना चाहता है[1], पर शुक्ल जी का कवि आत्मानुभूति तथा लोकानुभूति को एक करके अपनी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों तथा निवृत्तियों की अभिव्यक्ति कविता के माध्यम से करना चाहता है[2]। वह अपनी वैयक्तिक सत्ता से ऊपर उठकर विश्व की मंगल-स्थापना में योग देना चाहता है। फ्रायडवादी कवि इस जगत के सामान्य व्यक्तियों के समान ही एक दुर्बल कोटि का प्राणी सिद्ध होता है, वह अपनी वैयक्तिक सत्ता से ऊपर उठने में असमर्थ रहता है[3]। किन्तु शुक्ल जी द्वारा निरूपित कवि बहुत ही उदात्त एवं पवित्र हृदय का व्यक्ति है, जो प्रति क्षण परप्रतीति से भरा रहता है, वह क्रान्त-दर्शी, ऋषि एवं योगी के गुणों से विभूषित रहता है।

फ्रायड के अनुसार काव्य को स्वप्न के समान मान लेने से उसमें कल्पना-क्रीड़ा की प्रधानता हो जाती है, सामाजिक नियमों के बाँध टूट जाते हैं, व्यक्ति-वैचित्र्य की झलक अधिक आने लगती है, बौद्धिक तारतम्य नष्ट हो जाता है तथा वास्तविकता बहुत दूर छिप जाती है[४]। किन्तु शुक्ल जी काव्य को योग के समान मानते हुए उसमें कल्पना की व्यवस्था, सामाजिक मर्यादा तथा जीवन की वास्तविकता का यथोचित समावेश करते हैं। फ्रायड के अनुसार काव्य स्वप्न के समान वासना के रचनात्मक स्वरूप को न लेकर उसकी वैयक्तिकता पीड़ित भोगोन्मुख प्रवृत्ति को लेकर चलता है[५], किन्तु शुक्ल जी के अनुसार काव्य वासना के रचनात्मक पक्ष को लेकर चलता है[६]। शुक्ल जी कल्पना में आई हुई वस्तुओं की अनुभूति और स्वप्न में दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं की अनुभूति

---

1. Frcud : Introductory Lectures on Psycho-analysis, P. 314.

२—चिन्तामणि प० भाग, पृ० ६.

3—Freud : Introductory Lectures on Psycho-analysis, P. 314.

4—Freud : Collected papers, V. IV. P. 174, 175.

5-Freud : Introductory Lectures on Psycho-analysis, P. 315. 314.

६—चिन्तामणि प० भाग, पृ० २२०.

के स्वरूप में बहुत अन्तर मानते हैं। इसलिए वे काव्य-रचना या काव्य-चर्चा में स्वप्न की बहुत अधिक भरमार अपेक्षित नहीं समझते[१]।

काव्यगत पात्र, विषय, प्रतीक आदि फ्रायड के अनुसार कवि के अचेतन मन की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं[२] किन्तु शुक्ल जी के अनुसार काव्य कवि द्वारा निर्मित उसके समस्त जग की अभिव्यक्ति है जिसमें सामान्य जन अपने भावों की अनुरूपता पासकते हैं [3]। किन्तु फ्रायड की धारणानुसार कवि द्वारा रचित काव्य में कलाकार के समान दमित वासना रखने वाले व्यक्ति ही अपनी भावना तथा अनुभूतियों की अनुरूपता पा सकते हैं[४]।

शुक्ल जी के अनुसार काव्यास्वादन का परिणाम भाव-संशुद्धि, भाव-परिष्कार तथा भाव का उदात्तीकरण हैं। किन्तु फ्रायड के मत में काव्य पढ़ने से दमित वासना वाले पाठक के भावों की तृप्ति होती है, यदि वह अतृप्त या दमित वासना वाला न हुआ तो उसकी वासना भड़कती है[५]।

फ्रायड के अनुसार काव्य में जो कुछ प्रत्यक्ष दिखता है, वह केवल छद्म रूप है, स्वयंमें वह कुछ नहीं, वह किसी अन्य वस्तु का प्रतीक है, ये अन्य वस्तुयें कलाकार के हृदय में रहने वाली लालसायें हैं[६]। किन्तु शुक्ल जी के अनुसार काव्य में जो कुछ प्रत्यक्ष दिखता है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है[७]। यदि वह किसी वस्तु का प्रतीक भी बनकर आता है तो वह अन्य वस्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है, सामजिक जीवन की महान आवश्यकता से सम्बन्ध रखती है।

फ्रायड जीवन तथा साहित्य में काम-भावना को ही सर्वाधिक प्रधान मानकर व्यक्ति के जीवन को अधिकांश मात्रा में यौन कल्पनाओं तथा विचारों तक सीमित करते हैं[८] किन्तु शुक्ल जी जीवन में करुणा अथवा प्रेम की प्रधानता

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६३८.

2—Freud : His dream and Sex Theories. P. 131.,

३. चिन्तामणि प्र० भाग, पृ० १२४.

4--Freud: Introductory Lectures on Psycho–Analysis, P. 314

5–Freud: His Dream and Sex Theories, P, 132,

6–Freud: Collected Papers, V. 1V, P, 174,

७. रस-मीमांसा, पृ० ३३६, ३३८.

8–Freud: His Dream and Sex Theories, P. 208.

मानकर जीवन-रक्षा तथा रंजन दोनों पर बल देते हुए[१] साहित्य तथा जीवन दोनों को बहुत ही व्यापक रूप प्रदान करते हैं।

फ्रायड की अन्तश्चेतनावाद के अनुसार समीक्षा का कार्य कवि के अन्तश्चेतन में प्रतिष्ठित दमित वासनाओं की खोज करते हुए उनका विश्लेषण करना, कवि तथा काव्य की मानसिक भूमिकाओं का विवेचन करना तथा काव्य-प्रतीकों में निहित कवि के उपचेतन मस्तिष्क के गुह्य रहस्यों का उद्घाटन करना सिद्ध होता है[२]। इस प्रकार की समीक्षा से साहित्य-सृजन करने वालों को कोई आदर्श या पथ-प्रदर्शन नहीं मिल सकता। किन्तु शुक्ल जी का रस सिद्धान्त साहित्य के विभिन्न प्रेरणा-केन्द्रों का अध्ययन करता हुआ साहित्य के समग्र मूल्यों पर दृष्टि रखता है तथा काव्य के रूपगत, शैलीगत, भावगत एवं विचारगत सभी तत्वों का विवेचन करते हुए कवि तथा पाठक दोनों को उच्चतम आदर्श की ओर उन्मुख कर सकता है[3]।

शुक्ल जी का रसवाद भारतीय लोक-जीवन की आदर्श भूमिका पर प्रतिष्ठित है। इससे उनकी साहित्य-समीक्षा का मानदण्ड मानव का अशेष जीवन हो गया है जिसमें जीवन तथा साहित्य के सभी पक्ष समाविष्ट हैं। किन्तु फ्रायड का अन्तश्चेतनावाद व्यक्तिवादी मनोविज्ञान की एकपक्षीय यथार्थ भूमिका पर स्थित है, अतएव,उसके द्वारा निर्मित, साहित्य-समीक्षा का मानदण्ड जीवन तथा साहित्य के एकांगी रूप को उपस्थित करता है।

मार्क्सवाद:—

मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन में साहित्य मार्क्सवादी राजनीति के इशारों पर नाचता है[४], राजनीतिक क्रान्ति का नित्य साधन बनता है[५], कवि के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की उपेक्षा होती है[६], साहित्य युग-जीवन तथा वर्ग

१—चिन्तामणि पहला भाग, पृ० २०४.

२—आधुनिक साहित्य : नवीन समीक्षा प्रणाली : पृ० ३१२,

३—इसी प्रबन्ध का समीक्षा-सिद्धान्तों का निरूपण वाला अध्याय—रससिद्धान्त सम्बन्धी अंश,

4—Literature must become Party literature.—Lenin on Art and Literature, P. 55.

5—Soviet Literature: Features of Socialist Realism, P. 30, 31

6—Lenin on Art and Literature, P. 47.

जीवन के भीतर आबद्ध कर दिया जाता है[१], शोषित वर्ग के भाव ही साहित्य के भाव माने जाते हैं, वर्ग-संघर्ष की भावना उत्पन्न करना साहित्य का लक्ष्य माना जाता है तथा मार्क्सवादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति ही एकमात्र काव्य-कसौटी बनती है।[२] इसके विरुद्ध शुक्ल जी के साहित्य-दर्शन में साहित्य की सत्ता राजनीति से स्वतन्त्र मानी गई है,[३] साहित्य, समन्वय का मूल साधन माना गया है,[४] कवि की स्वतन्त्र चेतना पर बल दिया गया है,[५] साहित्य की व्याप्ति त्रिकालवर्ती एवं विश्वात्मक भावों पर प्रतिष्ठित है,[६] रागात्मक संबंध-निर्वाह की भावना पैदा करना काव्य का लक्ष्य माना गया है, सब प्रकार के जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति काव्य-कसौटी मानी गई है।[७]

मार्क्सवादी वर्गहीन समाज की स्थापना को साहित्य एवं जीवन का आदर्श मानते हैं,[८] किन्तु शुक्ल जी वर्ग विहीन समाज की स्थापना में विश्वास नहीं करते। उनका मत है कि समाज के विभिन्न वर्ग कभी मिट नहीं सकते, अतः इनमें समन्वयपूर्ण सुखावह सम्बन्ध स्थापित करना साहित्य का कार्य है। वे मार्क्सवादी समाज-व्यवस्था को शोषित वर्ग की दुर्वृत्तियों के आधार पर स्थापित व्यवस्था मानते हैं।[९]

मार्क्सवादी कविता के मूल आधार को जातीय, सांस्कृतिक, दार्शनिक अथवा राष्ट्रीय न मानकर केवल आर्थिक मानने का आग्रह करते हैं,[१०] इसलिए उनके मत में काव्य-निर्माण की दिशायें, प्रवृत्तियां तथा स्वरूप उस देशकी उत्पादन प्रणाली तथा आर्थिक ढांचे के अनुसार बदलते रहते हैं,[११] साहित्य का विकास इनकी दृष्टि में आर्थिक विकास पर निर्भर करता है।[१२] किन्तु शुक्ल जी

---

1. Marxism and Poetry, P. 40. Lenin on Art and literature, p,47
2. Ibid. p, 45.
३. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ७६९.
४. काव्य में रहस्यवाद, पृ० १५१: ५. वही पृ० १४८
६. अभिभाषण, पृ० ५०, ७. चि० प्र० भाग, पृ० २१०.
8—Literature and art : Socialist humanism, P, 61.
९. गो० तुलसीदास, पृ० ४०, ४४, ५१.
10. Poetry is regarded then, not as something racial, national, genctic or specific in its essence but as something economic,—Illusion & Reality, p, 7,
11. Lenin on Art and Literature, p, 126,
12. Literature and art : OnDevelopment of Art, P 9,

साहित्य के आधार में समाज की आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, सभी परिस्थितियों को सम्मिलित करते हैं। अतः उनके मतानुसार साहित्य-निर्माण की दिशाओं, प्रवृत्तियों तथा स्वरूपों के परिवर्तन में उस देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा आर्थिक—सभी परिस्थितियों का योग रहता है।[1] अतः साहित्य का इतिहास जनता की विभिन्न चितवृत्तियों पर निर्भर करता है, जिनके निर्माण में उस देश की सांस्कृतिक, दार्शनिक, आर्थिक आदि सभी विशेषताओं का योग रहता है।

मार्क्सवाद के साहित्यिक सिद्धान्त का सम्बन्ध समाजशास्त्र तथा राजनीति शास्त्र से अधिक है, साहित्यिक तत्वों से बहुत ही कम। क्योंकि उसके पास कोई स्वतंत्र साहित्य-दर्शन नहीं, अतः साहित्य में उसके प्रयोग से एक विशिष्ट प्रकार के सामाजिक जीवन के सिद्धान्तों का विवेचन हो सकता है किन्तु काव्य-कला सम्बन्धी सौन्दर्य का विवेचन सम्यक् प्रकार से नहीं हो सकता।[2] किन्तु शुक्ल जी के रस-सिद्धान्त का सम्बन्ध साहित्य से है। अतः उसके प्रयोग से साहित्य-सौष्ठव का सम्यक् विवेचन हो सकता है।

अत्यन्त स्थूल रूप में मार्क्सवादी पक्ष यह है कि साहित्य और कलायें या तो वर्गविहीन समाज की सृष्टि हैं, या वर्गवादी समाज की।[3] समाजवाद की प्रतिष्ठा के पूर्व का सम्पूर्ण साहित्य इसकी दृष्टि में वर्गवादी या पूंजीवादी साहित्य है, शोषक वर्ग का साहित्य है, इसलिए वह दूषित है, मानव-सभ्यता का प्रतिगामी साहित्य है।[4] इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचक प्राचीन साहित्य को अनास्था की दृष्टि से देखते हैं। उनकी दृष्टि में वही साहित्य श्रेष्ठ है जो मार्क्सवाद के सिद्धान्तों, योजनाओं तथा जीवन-प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करता हो। इस प्रकार ये समीक्षक मार्क्सवादी बटखरे से सभी प्रकार की कृतियों तथा कवियों को नापना चाहते हैं। शुक्लजी भी रस-सिद्धान्त की कसौटी पर ही सभी कवियों तथा कृतियों को परखना चाहते हैं, किन्तु उनका रस-सिद्धान्त इतना व्यापक एवं गत्यात्मक है कि उसका प्रयोग सभी कालों तथा सभी देशों की कृतियों तथा कवियों के साथ सहानुभूति रखते हुए किया जा सकता है।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १.

२. आधुनिक साहित्य : पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ३०८.

३. वही पृ० ३०९.

४. Literature and art : Art in Capitalist Society, by Karl Marx, P. 28.

मार्क्सवादी आलोचक साहित्य के भावात्मक प्रभाव से ही सन्तुष्ट नहीं होता, वह उसे बौद्धिक ज्ञान का पथ-प्रदर्शक बनाना चाहता है। लेनिन ने स्थान-स्थान पर साहित्य को क्रान्ति का साधन तथा जो कुछ प्रतिगामी है, उसको नष्ट करने का शस्त्र कहा है। उसके अनुसार क्रान्ति और नव-निर्माण की बुद्धि जाग्रत कर देना साहित्य का प्रधान उद्देश्य है।[1] किन्तु शुक्ल जी ने साहित्य का उद्देश्य मानव का रागात्मक प्रसार माना है।[2] उनके साहित्य-दर्शन में बुद्धि-तत्व की प्रधानता नहीं है। बुद्धि-तत्व को साहित्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानने के कारण तथा कवि के व्यक्तित्व को सामाजिक परिस्थितियों की देन समझने के कारण[3] मार्क्सवादी आलोचक प्रतिभा से अधिक महत्व व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को देते हैं किन्तु शुक्ल जी प्रतिभा को सर्वाधिक महत्व पूर्ण मानते हैं।

मार्क्सवादी समीक्षक शाश्वत सत्यों को नहीं मानते, साहित्य का युग-सापेक्ष्य प्रतिमान ही उन्हें मान्य है जो विशेष वर्ग से सम्बन्ध रखता है।[4] इसके विरुद्ध शुक्ल जी का साहित्यिक प्रतिमान अपने भीतर सभी वर्गों तथा सभी कालों के सत्यों को आत्मसात करके चलता है।[5]

मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षक सामूहिक भावों को साहित्य-संवेदनीयता का मूल आधार मानता है, किन्तु उसके सामूहिक भावों पर एक वर्ग तथा एक काल का नियन्त्रण रहता है। शुक्ल जी की साहित्य-समीक्षा भी सामूहिक भावों को मूल आधार बनाकर चलती है किन्तु उसके सामूहिक भाव सार्व-कालिक एवं सार्वदेशिक कोटि के होते है। शुक्ल जी का साधारणीकरण-सिद्धान्त मानव मात्र को एक करने वाली सांस्कृतिक एवं दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित है। किन्तु मार्क्सवादियों का साधारणीकरण केवल विश्व के शोषित वर्गों को एक करने वाली राजनीतिक भूमिका पर स्थित है। मार्क्सवादी समीक्षक जहां काव्य की प्रेषणीयता पर विचार करते हैं वहां सामान्य को ही आधार बनाते हैं किन्तु उनका सामान्य एक वर्ग का होता है। किन्तु शुक्ल जी का सामान्य अखिल मानवता से सम्बन्ध रखता है।

1–Soviet Literature- Features of Socialist Realism, P. 30, 31,

२—काव्य में रहस्यवाद, पृ० १.

3–Literature and Art : Social Existence determines counseiousness by F. Engels. P. 3

4–The Mind in chains, by E. Upward. P. 40,

५—अभिभाषण, पृ० ५०.

मार्क्सवादी तथा शुक्ल जी दोनों लोक-हित को काव्य का चरमध्येय मानते हैं किन्तु शुक्ल जी के लोक-हित के भीतर सभी वर्गों के मनुष्य ही नहीं सभी चर-अचर प्राणी भी आ जाते हैं। पर मार्क्सवाद के लोक-हित के भीतर केवल शोषित वर्ग का ही हित आता है।

मार्क्सवादी केवल मार्क्सवादी विचार-धाराओं में ही प्रगति का तत्व मानते हैं किन्तु शुक्ल जी ऐसी संकुचित धारणा नहीं रखते। वे सभी जीवन-दृष्टियों में कुछ न कुछ सत्य तथा प्रगति का तत्व देखते हैं।

मार्क्सवादी आलोचक तथा शुक्ल जी दोनों काव्य को जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली, विशेष कर्मों की प्रेरणा देने वाली तथा जीवन को परिवर्तित करने वाली वस्तु समझने में, साहित्य की लौकिकता के समर्थन में, व्यक्तिवादी विचार-धाराओं के खण्डन में वस्तुवादी सिद्धान्त के समर्थन में, भाव की वस्तुगत सत्ता मानने में, मनुष्य को लोकबद्ध प्राणी समझने में तथा निष्क्रिय प्रतिरोध का विरोध करने में बहुत दूर तक साम्य रखते हैं।

आइ. ए. रिचर्डस का मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद :—

पश्चिमी समीक्षा में शुक्ल जी रिचर्डस के सिद्धान्तों से सबसे अधिक सहमत हैं, इसलिए सबसे अधिक समर्थन उन्होंने उसके सिद्धान्तों का किया है। उन्होंने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के समय उनकी विश्वात्मकता के प्रमाणार्थ उसकी बातों को अनेक स्थलों पर साक्षी रूप में प्रस्तुत किया है।[1] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि दोनों के सिद्धान्तों में बहुत साम्य है।

दोनों आचार्य साहित्य एवं जीवन में अविच्छिन्न सम्बन्ध मानते हैं।[2] दोनों की दृष्टि में साहित्यगत अनुभूति जीवनगत अनुभूति के समान ही होती है,[3] वह जीवन से ही पैदा होती है और साहित्यकार द्वारा जीवन के लिए ही निर्मित होती है।[4] दोनों साहित्य एवं समीक्षा को बहुत ही गम्भीर,

---

१. आज, काशी विशेषांक, १७ फरवरी १९५७. महान आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पं० वि० प्र० मिश्र. 2. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७.

Principles of Literary Criticism I. A. Richards, P. 233.

३. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ८.

and principles of Literary Criticism, P. 79,

४. काव्य में रहस्यवाद. पृ० ८४.

Principles of Literary Criticism, P, 190-193,

दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक शाश्वत कोटि की है। दोनों की मूल्य-सम्बन्धी धारणाओं का सम्बन्ध नीति-तत्व से है।[1] इसलिए दोनों आचार्य जीवन तथा काव्य का सम्बन्ध नीति से स्थापित करते हैं।[2] रिचर्ड्स् की नीति-धारणा गत्यात्मक तथा विकासशील कोटि की है। वह युग तथा परिस्थिति के साथ बदलती रहती है।[3] शुक्ल जी का नीति-सिद्धान्त अपेक्षाकृत शाश्वत कोटि का है। रिचर्ड्स् की नीति-व्याख्या मनोवैज्ञानिक ढंग की है, किन्तु शुक्ल जी की नीति-व्याख्या सांस्कृतिक तथा दार्शनिक कोटि की है। शुक्ल जी अपनी मूल्य-धारणा में शिव और सौन्दर्य का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करते हैं।[4] उनकी दृष्टि में सौन्दर्य, मंगल का पर्याय है; जो धर्म में शिव है, वही काव्य में सुन्दर है। रिचर्ड्स् ने अपनी मूल्य-धारणा में सुन्दर का सत्य के साथ सामंजस्य स्थापित किया है।[5]

रिचर्ड्स् का समीक्षा-भवन मूल्य तथा प्रेषणीयता के सिद्धान्तों पर अवलम्बित है,[6] शुक्ल जी का लोक-मंगल तथा रस पर। मानसिक व्यवस्था, विकास, परिष्कार तथा संतुलन रिचर्ड्स् के मूल्य की आधार-भूमि है। इधर जीवन-सामंजस्य, मानसिक विकास तथा लोक-धर्म शुक्ल जी के लोक-मंगल की आधार-शिला है। रिचर्ड्स् के प्रेषणीयता-सिद्धान्त का सम्बन्ध कलात्मक-भाव या अनुभूति से है।[7] इसने कला द्वारा प्रेषित अनुभूति को सामान्यीकृत अनुभूति Standard experience. अथवा कल्पनात्मक अनुभूति Imaginative experience. अभिहित किया है।[8] इसे ही शुक्ल जी रस कहते हैं। जैसे रिचर्ड्स् काव्यानुभूति को कल्पनात्मक अथवा सामान्यीकृत कोटि का कहते हैं[9] तद्वत् शुक्ल जी भी।[10] शुक्ल जी के समान रिचर्ड्स् को भी साधारणीकरण की प्रक्रिया मान्य है, किन्तु शुक्ल जी के समान उसका विस्तृत विवेचन उन्होंने नहीं किया है।[11]

१—चि० प० भाग, पृ० २८७. & Principles of Lit. Criticism, p. 58, 60, 62. २—का० में रह०, पृ० १०. & Ibid, P. 59, 34.

3—Principles of Lit. Criticism, P, 60.

४—का० में रह०, पृ० ४, १०.

5—Principles of Literary Criticism, P. 264, 269.

6—Ibid, P. 25, 7—Ibid, P. 25. 8. Ibid, 227, 237.

9—Ibid, 227, 237. १०—चि० प० भाग, पृ० ३३७, ३६१, ३६३.

11—Principles of Literary Criticism, P. 61.

शुक्ल जी उसे कभी कभी इस लोक से ऊपर उठा ही देते हैं[1], रिचर्ड्स उसे मनुष्य-लोक तक सीमित रखता है[2]।

यदि रिचर्ड्स की दृष्टि मुख्यतः साहित्य के मूल्य की व्याख्या करने में लगी है तो शुक्ल जी की दृष्टि रस-सिद्धान्त की सार्वभौम-व्याप्ति सिद्ध करने में। रिचर्ड्स की समीक्षा-दृष्टि में मनोवैज्ञानिक पक्ष की प्रधानता है, तो शुक्ल जी की दृष्टि में नैतिक पक्ष की। कविता के मूल्य का स्पष्टीकरण रिचर्ड्स मनोविज्ञान के माध्यम से करते हैं तो शुक्ल जी नीति के माध्यम से। रिचर्ड्स में सैद्धान्तिक विवेचन की शक्ति अधिक है किन्तु शुक्ल जी में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार के विवेचनों की शक्तियां सम कोटि की हैं। समीक्षा-जगत में रिचर्ड्स की महत्ता मुख्यतः चार बातों में हैः—

१—समस्या की तह तक जाने में,

२—ठीक ठीक प्रश्न उठाने में,

३—मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अपूर्व क्षमता में, और

४—समुचित निष्कर्षों के आनयन में।

उसी प्रकार शुक्ल जी की महत्ता समीक्षा-क्षेत्र में मुख्यतः चार बातों में है :—

१—किसी समस्या के मूल को पकड़ने में,

२ विस्तृत व्याप्ति में,

३—तार्किक विश्लेषण में, और

४—विश्लेषण के आधार पर उपयुक्त निष्कर्ष निकालने में।

पश्चिमी समीक्षकों के समीक्षा-सिद्धान्तों के साथ शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों के तुलनात्मक-अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे अपने समीक्षा-सिद्धान्तों के मौलिक चिन्तन तथा व्यापक विश्लेषण के आधार पर पश्चिमी समीक्षा के प्रथम श्रेणी के समीक्षकों के बीच भी बहुत ही उच्च स्थान पाने के अधिकारी हैं।

१—का० में र८०, पृ० ८१,

2—Principles of Lit. Criticism. p, 133,

to 512 only.
19/8/54

संकेत सूची

अ० गु०	...	अभिनव गुप्त
अ० पु०	...	अग्निपुराण
अथर्व०	...	अथर्ववेद
अध्या०	...	अध्याय
अ० भा० या अभि० भार०	...	अभिनव भारती
अभिभा०	...	अभिभाषण
अश्व०	...	अश्वमेध यज्ञ
आधु० सा० या आधु० साहित्य	...	आधुनिक-साहित्य
आलो०	...	आलोचना
औ० वि० च० या औ० वि० चर्चा	...	औचित्यविचार चर्चा
उ०	...	उत्तर पर्व
ऋग्०	...	ऋग्वेद
क० क०	...	कवि-कंठाभरण
का०	...	कारिका
का० प्र०	...	काव्य-प्रकाश
का० मी०	...	काव्य-मीमांसा
का० में रह० या का० में रहस्य०	...	काव्य में रहस्यवाद
का० ना० प्र० सभा	...	काशी नागरी प्रचारिणी सभा
गो० तुलसी० या गो० तुलसीदास	...	गोस्वामीतुलसी दास
चिन्ता० प० भाग या चि० प्र० भाग या चिन्तामणि प्र० भाग या चि० प० भा०		चिन्तामणि पहला भाग

संक्षेप		पूर्ण रूप
चि० द्वि० भाग या चि० दू० भाग	...	चिन्तामणि दूसरा भाग
चन्द्रा०	...	चन्द्रालोक
जायसी-ग्रन्था० या जा० ग्रन्था०	...	जायसी-ग्रन्थावली
ना० प्र० प०	...	नागरी प्रचारिणी पत्रिका
पृ०	...	पृष्ठ
प्रब०	...	प्रबन्ध
भ्र० गी० सा०	...	भ्रमरगीत- सार
भा०	...	भाग
भू० या भूमि०	...	भूमिका
भू० ले०	...	भूमिका लेखक
मनु०	...	मनुस्मृति
महा० या म० भा०	...	महाभारत
मानस	...	रामचरित मानस
यजु०	...	यजुर्वेद
र० गं०	...	रस-गंगाधर
र० तं०	...	रस-तरंगिणी
र० मी०	...	रस-मीमांसा
र० वा०	...	रस-वाटिका
राम० शुक्ल	...	रामचन्द्र शुक्ल
व्य० वि०	...	व्यक्ति विवेक
व० जी०	...	वक्रोक्ति जीवितम्
वन०	...	वन पर्व
वि०	...	विक्रमी संवत्
वि० प०	...	विनय पत्रिका
वि० प्र०	...	विश्व-प्रपंच
वि० प्र० मिश्र	...	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
वि० वि०	...	विश्वविद्यालय
वृ०	...	वृत्ति
श० ब्रा०	...	शतपथ ब्राह्मण
सं० या सम्पा०	...	सम्पादक
सं० या संस्क०	...	संस्करण

सर०	...	सरस्वती
सर० कं० या स० कं०	...	सरस्वती-कंठाभरण
सा० द०	...	साहित्य-दर्पण
हि० अनु०	...	हिन्दी-अनुवादक
हि० ध्वन्या०	...	हिन्दी-ध्वन्यालोक
हि० वि० टीका	...	हिन्दी-विमला टीका
हि० सा० का इति०	...	हिन्दी-साहित्य का इतिहास
हि० सा० सम्मे०	...	हिन्दी-साहित्य सम्मेलन

उपस्कारक ग्रन्थों की नामानुक्रमणिका

संस्कृत

१. वैदिक साहित्य—

१. ऋग्वेद
२. अथर्ववेद
३. यजुर्वेद
४. सामवेद
५. शतपथ ब्राह्मण
६. तैतिरीय संहिता
७. कपिल संहिता
८. मांडूक्योपनिषद्
९. मैत्र्युपनिषद्
१०. छान्दोग्योनिषद्
११. वैशेषिक सूत्र
१२. बृहदारण्यक उपषिद्
१३. मुंडकोपनिषद्

२. लौकिक साहित्य—

प्रणेता		काव्यग्रन्थ
१. वाल्मीकि	...	रामायण
२. व्यास	...	महाभारत
३. व्यास	...	भागवत
४. कालिदास	...	शाकुन्तल
५. कालिदास	...	मेघदूत
६. भवभूति	...	उत्तररामचरित

३. काव्यशास्त्र—

अप्पयदीक्षित ... १ कुवलयानन्द
२ चित्र-मीमांसा, काव्यमाला नं० ३८, निर्णयसागर, १८९३।

अभिनवगुप्त ... १ अभिनव भारती—नाट्यशास्त्र की भूमिका।
२ लोचन—ध्वन्यालोक की टीका।

आनन्दवर्धन ... १ ध्वन्यालोक-हिन्दी, व्याख्याकार: आचार्य विश्वेश्वर, सं० डा० नगेन्द्र, दिल्ली, गौतम दिल्ली, गौतम बुकडिपो, १९५२ ।

उद्भट ... १ काव्यालंकार सार संग्रह ।

कर्णपूर । कवि । ... १ अलंकार-कौस्तुभ

कुन्तक ... १ वक्रोक्ति, जीवितम्–हिन्दी, व्या०: विश्वेश्वर, सं० : नगेन्द्र, दिल्ली, आत्माराम, १९५५ ।

कौटिल्य ... १ अर्थशास्त्र ।

क्षेमेन्द्र ... औचित्य विचारचर्चा ।

२ कविकंठाभरण, हरिदास संस्कृत सीरीज, २४ ।

जगन्नाथ ... १ रस-गंगाधर, काव्यमाला नं० १२, तृतीय संस्करण, १९२६ ।

जयदेव ... १ चन्द्रालोक, सं०: एम० जी० वर्के, १९२३ ।

दण्डी ... १ काव्यादर्श, कलकत्ता, १८८२ ।

... २ काव्यादर्श की टीका, टीकाकार : वाचस्पति मिश्र ।

धनंजय और धनिक ... १ दशरूपक: हिन्दी, अनुवादक: गोविन्द त्रिगुणायत, कानपुर, साहित्य निकेतन, ति० ही

... अवलोक । दशरूपक की टीका ।

भरतमुनि ... १ नाट्यशास्त्रम्, बनारस, जयकृष्णदास हरीदास गुप्त, काशी, संस्कृत सीरीज ६०

भानुदत्त ... १ रस-तरंगिणी, बुम्बई, गोपाल नारायण, ति० ही०

... रस-मंजरी

भामह ... १ काव्यालंकार, बनारस हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला ६१, १९८५ वि०

भोज ... १ सरस्वती कंठाभरण, काव्यमाला नं० ९५, निर्णय सागर

... २ शृङ्गार प्रकाश, सं०: व्ही राघवन, १९४१

मधुसूदन सरस्वती ... १ भगवद्भक्त रसायन।

मम्मट ... १ काव्य-प्रकाश, अनुवाद: हरिमङ्गल मिश्र प्रयाग, हि० सा० सम्मेलन, २००० वि०

महिमभट्ट ... १ व्यक्ति विवेक, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, नं. ५, १९०९।

राजशेखर ... १ कर्पूरमंजरी, हार्वर्ड ओरेन्टल सीरीज, १९०१
२. काव्य मीमांसा बनारस, सं० १९०० वि०

रामचन्द्र और गुणचन्द्र... १ नाट्यदर्पण।

रुद्रट ... १ काव्यालंकार, बम्बई काव्यमाला २, १८८६ वि०

रुय्यक ... १ साहित्य-मीमांसा,
... २ अलंकार सर्वस्व।

वाग्भट्ट ... १ काव्यानुशासन
... २ वाग्भट्टालंकार

वामन ... १ काव्यालंकार सूत्र, हिन्दी, व्या०: विश्वेश्वर, सं० नगेन्द्र, दिल्ली, आत्माराम एण्ड सन्स १९५४।

विश्वनाथ ... १ साहित्यदर्पण: विमलाविभूषित: द्वितीय संस्करण, व्याख्याकार: शालिग्राम शास्त्री, लखनऊ, श्रीकान्त शास्त्री १९९१ वि०

वेदव्यास ... १ अग्निपुराण, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावली नं० ४१, १९००।

शारदातनय ... १ भावप्रकाश।

शार्ङ्गदेव ... १ संगीत-रत्नाकर, आनन्दाश्रम, संस्कृत ग्रन्थावली, नं० ३५, १८९७।

शोभाकरमित्र ... १ अलंकार रत्नाकर, १९४२।

हरिपाल देव ... १ संगीत सुधाकर,

हेमचन्द्र ... १ काव्यानुशासन,

Some aspects of अलंकार शास्त्र V. Raghwan.
High ways and by ways of literary Criticism in Sanskrit—S. Kuppuswani Shashtri.
Indian aesthetics-Volu I K. C. Pandey
Philosophy of aesthetic pleasure.
Hormic Theory—Maidu.

४—दार्शनिक और अन्य ग्रन्थ

१. गीता
२. शंकर भाष्य
३. योगसूत्र
४. व्यासभाष्य
५. न्याय, मुक्तावली
६. मनुस्मृति
७. याज्ञवल्क्यस्मृति
८. सर्वसिद्धांन्त संग्रह
९. तत्व-कौमुदी
१०. नीतिशतक, आदि
११. वेदान्त सूत्र
१२. योग-वासिष्ठ
१३. तैत्तिरीय भाष्य

———

हिन्दी के ग्रन्थ

ग्रन्थकार — **ग्रन्थ**

अर्जुनदास केडिया —१. भारती-भूषण, काशी, भारती-भूषण. कार्यालय, १९३० ।

अयोध्यासिंह उपाध्याय—१. रस-कलश, बनारस, हि०सा०कुटीर, २००८ वि०

उदयभानुसिंह —१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग । लखनऊ विश्वविद्यालय, २००८ वि०

कन्हैयालालपोद्दार —१. अलंकार-मंजरी, मथुरा, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ।
२. काव्य-कल्पद्रुम, भाग१,२ । मथुरा, १९६८ वि०
३. रस-मंजरी, मथुरा, २००२ वि०
४. साहित्य-समीक्षा. मथुरा, २००७ वि० ।

कालूराम —१. काव्य-भूमिका ।

कुलपतिमिश्र —१. रस-रहस्य ।

कृष्णविहारी मिश्र —१. देव और बिहारी, तुलनात्मक अध्ययन, लखनऊ, गंगा-ग्रंथागार, २००६ वि० ।
२. नव रस-तरंग ।
३. मतिराम-ग्रन्थावली, परिचय भाग, तृतीय सं०, लखनऊ, गं० ग्र०, १९५१ ।

केशवदास —१. कवि-प्रिया, प्रयाग, मातृभाषा मंन्दिर, १९५२ ।
२. रसिक-प्रिया । प्रयाग, मातृभाषा मंदिर १९५४ ।

केसरीनारायण शुक्ल —१. आधुनिक काव्य का सांस्कृतिक स्रोत । काशी, सरस्वती मंदिर, २००४ वि० ।
२. आधुनिक काव्यधारा । काशी, २००७ वि० ।
३. भारतेन्दु के निबन्ध, सम्पादित । बनारस, सरस्वती मंदिर, २००८ वि० ।

गंगाप्रसाद अग्निहोत्री —१. रस-वाटिका । बम्बई, खेमचन्द्र श्रीकृष्णदास, १९०३ ।
२. समालोचना ।

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'—१. समीक्षकप्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल । प्रयाग, रामनारायण लाल, १९५५ ।

गुलाबराय —१. काव्य के रूप, तृतीय संस्क०, दिल्ली, आत्माराम १९५४ ।
२. नवरस

गुलाबराय और विजयेन्द्र स्नातक —१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल । दिल्ली, आत्माराम, १९५२ ।

गोविन्द दास सेठ —१. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन-ग्रन्थ, सं० डा० नगेन्द्र, नई दिल्ली, से० गो० दा० हीरक जयन्ती समारोह, १९५६ ।

चिन्तामणि त्रिपाठी —१. कविकुलकल्पतरु
२. शृंगार-मंजरी

छुन्नूलाल द्विवेदी —१. कालिदास और शेक्सपीयर

जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'—१. हिन्दी-काव्यालंकार
२. नायिका भेद-शंकावली
३. रस-रत्नाकर
४. काव्य-प्रभाकर

जगन्नाथदास 'विशारद'—१. कवि-कर्त्तव्य

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—१. कविवर विहारी, सं० रामकृष्ण. वनारस, गं० ग्र० १९५३

जयशंकर 'प्रसाद' —१. काव्य-कला और अन्य निवन्ध. इलाहावाद भारती-भंडार १९९६ वि०

जसवन्तसिंह राठौर —१. भाषा-भूषण, सं० ब्रजरत्नदास, तृतीय संस्क० इलाहावाद, रामनारायण लाल, १९४२.

तासी, गार्सां द —१. हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास, अनुवादक : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय । इलाहावाद, हि० एकेडेमी, १९५३

तुलसीदास गो० —१. कवितावली
२. दोहावली
३. तुलसी-ग्रन्थावली, सं० पं० रामचन्द्र शुक्ल
४. विनय-पत्रिका
५. रामचरित मानस

तोष —१. सुधानिधि

देवदत्त —१. भाव-विलास
२. रस-विलास
३. शब्द-रसायन

देवराज उपाध्याय —१. रोमांटिक साहित्य-शास्त्र. दिल्ली, आत्माराम १९५१

धीरेन्द्र वर्मा —१. विचार-धारा, द्वितीय संस्क० इलाहाबाद, साहित्य-भवन २००१ वि०

नगेन्द्र डा० —१. अरस्तू का काव्य-शास्त्र, सं० एवं अनुवादक डा० नगेन्द्र. प्रयाग, भारती-भंडार २०१४ वि०
२. काव्य-चिन्तन. मेरठ, नव-भारती १९५१
३. भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका. दिल्ली, ओरिएन्टल बुक०, १९५५
४. विचार और विवेचन. दिल्ली, गौतम बुक० १९४९

नन्ददुलारे वाजपेयी —१. आधुनिक साहित्य, इलाहाबाद, भारती-भण्डार २००७ वि०
२. नया साहित्य : नये प्रश्न. बनारस, विद्यामंदिर १९५५
३. हिन्दी-साहित्य : बींसवी शताब्दी. लखनऊ इंडियन बुकडिपो, १९४५

पद्मसिंह शर्मा —१. बिहारी सतसई

पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी—१. विश्व-साहित्य. लखनऊ, गं०ग्रं० २००३ वि०

प्रेमनारायण टंडन —१. द्विवेदी-मीमांसा. इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, १९३९

बद्रीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' —१. प्रेमघन सर्वस्व, सं० प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय तथा दिनेशनारायण उपाध्याय, प्रयाग हि० सा० सम्मे० २००७ वि० भाग १–२

बालकृष्ण भट्ट —१. भट्ट-निबन्धावली, सं० धनंजय भट्ट 'सरल' भाग २–हि० सा० सम्मे १९९९ वि० तथा भाग १ का० ना० प्र० २००४ वि०

बलदेव उपाध्याय —१. भारतीय साहित्य का इतिहास
२. भारतीय साहित्य-शास्त्र, काशी, प्रसाद-परिषद्, भाग १. २००७ वि० भाग २. १९५२ प्रयाग, रामनारायणलाल

बाबूराम बित्थारिया —१. नव रस.

बालगंगाधर तिलक —१. गीता-रहस्य, अनुवादक: माधव राव सप्रे०

भगवानदीन लाला —१. अलंकार-मंजूषा
२. बिहारी और देव

भागीरथ मिश्र —१. हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास. लखनऊ, विश्वविद्यालय, २००५ वि०

भिखारीदास —१. काव्य-निर्णय, सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी वाराणसी, कल्याणदास, १९५६

भूषण —१. शिवराज भूषण

मंगलदेव शास्त्री —१. भारतीय संस्कृति का विकास वैदिकधारा. काशी, समाज-विज्ञान परिषद्, १९५६

मतिराम —१. रसराज

महावीर प्रसाद द्विवेदी —१. कालिदास की निरंकुशता । प्रयाग, इंडियन प्रेस, १९१९
—२. विक्रमांकदेव चरित चर्चा
—३. हिन्दी कालिदास की आलोचना
४. नैषध चरित-चर्चा
५, द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, काशी, ना० प्र० सभा
६. वाग्विलास, लहेरिया सराय, हिन्दी-पुस्तक-भंडार,
७. रसज्ञ-रंजन. आगरा साहित्य-रत्न-भंडार, १९२०
८. समालोचना-समुचय इलाहाबाद, रामनारायण-लाल, १९३०

मिश्रबन्धु —१. मिश्र-बन्धु-विनोद, लखनऊ गं०ग्र० १९९१ वि०
२. हिन्दी नव रत्न, लखनऊ गं०ग्र० २००३ वि०
३. साहित्य-पारिजात, लखनऊ, १९५१

रघुनाथ प्रसाद 'साधक'—१. समालोचना-शास्त्र, नई दिल्ली, नव-साहित्य-प्रकाशन १९५६

रघुबीर सिंह —१. शेष स्मृतियाँ. बनारस, सरस्वती-मंदिर १९४६

रामकुमार वर्मा —१. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद रामनारायण लाल, १९३८

रामचन्द्र शुक्ल —१. अभिभाषण. चौबीसवां हि०सा० सम्मे० साहित्य-परिषद् के सभापति के पद से दिया गया, इन्दौर १९३४
२. आदर्श जीवन. प्रयाग, इंडियन प्रेस, १९३०
३. काव्य में रहस्यवाद. बनारस, साहित्य-भूषण कार्यालय १९८६ वि०
४. गोस्वामी तुलसीदास. काशी ना० प्र० सभा २००८ वि०
५. फारस का प्राचीन इतिहास, अनुवादित,
६. मेगस्थानीय का भारतवर्षीय वर्णन. अनुवादित,
७. राज्य-प्रबन्ध शिक्षा. अनुवादित
८. प्रगति वा उन्नति, उसका नियम और निदान
९. चिन्तामणि. पहला भाग, प्रयाग, इंडियन प्रेस, १९४५
१०. चिन्तामणि, दूसरा भाग, काशी सर० मंदिर २००२ वि०
११. जायसी-ग्रन्थावली. काशी ना० प्र० सभा २००३ वि०
१२, बुद्ध-चरित, काशी ना० प्र० सभा १९९५ वि०
१३. भ्रमर-गीत-सार-काशी-साहित्य-सेवा-सदन १९९६ वि०
१४. विचार-वीथी
१५. विश्व-प्रपंच. काशी, ना० प्र० सभा १९७७ वि०
१६. रस-मीमांसा, सं०: पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र काशी, ना० प्र० सभा, २००६ वि०
१७. शशांक, अनुवादित
१८. सूरदास, सं०: पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र बनारस, सर० मंदिर तृतीय सं०
१९. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, काशी, ना० प्र० सभा १९९९ वि०

२०. हिन्दुस्तानी का उद्गम. काशी, ना० प्र० सभा १९९६ वि०

रामदहिन मिश्र —१. काव्यालोक. बांकीपुर, ग्रन्थमाला २००७ वि०
२. काव्य-दर्पण. बांकीपुर, १९४७

रामनरेश वर्मा —१. वक्रोक्ति और अभिव्यंजना. बनारस, ज्ञानमंडल २००८ वि०

रामानन्द तिवारी शास्त्री—१. भारतीय दर्शन का परिचय. प्रयाग, भारती मंदिर २००९ वि०

रामविलास शर्मा —१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना. आगरा, विनोद पुस्तक-मंदिर २०१२ वि०
२. भारतेन्दु-युग. आगरा, वि०पु० मं०१९५१

रामधारीसिंह 'दिनकर'—१. संस्कृति के चार अध्याय. दिल्ली, राजपाल, १९५६

रांगेय-राघव —१. समीक्षा और आदर्श, आगरा वि० पु० मंदिर, १९५५

राजपति दीक्षित —१. तुलसीदास और उनका युग, बनारस, ज्ञानमण्डल, २००९ वि०

रूपनारायण पाण्डेय —१. कालिदास और भवभूति,

लक्ष्मीनारायण सुधांशु —१. अभिभाषण, काशी, ना० प्र० सभा, हीरक-जयन्ती समारोह, साहित्य-विमर्श गोष्ठी के सभापति से दिया गया, ९ मार्च १९५४
२. काव्य में अभिव्यंजनावाद, कलकत्ता, जनवाणी प्रका० २००७ वि०
३. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त कलकत्ता, १९५०

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय —१. आधुनिक हिन्दी-साहित्यः १८५० ई० से १९०० तकः इलाहाबाद, वि० वि० हिन्दी परिषद्, १९५४
२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इलाहाबाद, सा० भवन, १९५१

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र —१. गद्य-मंजरी, संकलनकर्ताः वि० प्र० मिश्र बनारस, सर० मं०, १९५०

रघुबीर सिंह —१. शेष स्मृतियाँ. बनारस, सरस्वती-मंदिर १६४६

रामकुमार वर्मा —१. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद रामनारायण लाल, १६३८

रामचन्द्र शुक्ल —१. अभिभाषण. चौबीसवां हि० सा० सम्मे० साहित्य-परिषद् के सभापति के पद से दिया गया, इन्दौर १६३४

२. आदर्श जीवन. प्रयाग, इंडियन प्रेस, १६३०

३. काव्य में रहस्यवाद. बनारस, साहित्य-भूषण कार्यालय १६८६ वि०

४. गोस्वामी तुलसीदास. काशी ना० प्र० सभा २००८ वि०

५. फारस का प्राचीन इतिहास, अनुवादित,

६. मेगस्थानीय का भारतवर्षीय वर्णन. अनुवादित,

७. राज्य-प्रबन्ध शिक्षा. अनुवादित

८. प्रगति वा उन्नति, उसका नियम और निदान

९. चिन्तामणि. पहला भाग, प्रयाग, इंडियन प्रेस, १६४५

१०. चिन्तामणि, दूसरा भाग, काशी सर० मंदिर २००२ वि०

११. जायसी-ग्रन्थावली. काशी ना० प्र० सभा २००३ वि०

१२, बुद्ध-चरित, काशी ना० प्र० सभा १६६५ वि०

१३. भ्रमर-गीत-सार-काशी-साहित्य-सेवा-सदन १६६६ वि०

१४. विचार-वीथी

१५. विश्व-प्रपंच. काशी, ना० प्र० सभा १६७७ वि०

१६. रस-मीमांसा, सं०: पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र काशी, ना० प्र० सभा, २००६ वि०

१७. शशांक, अनुवादित

१८. सूरदास, सं०: पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र बनारस, सर० मंदिर तृतीय सं०

१९. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, काशी, ना० प्र० सभा १६६६ वि०

२०. हिन्दुस्तानी का उद्गम. काशी, ना० प्र० सभा १९९६ वि०

रामदहिन मिश्र —१. काव्यालोक. बांकीपुर, ग्रन्थमाला २००७ वि०
२. काव्य-दर्पण. बांकीपुर, १९४७

रामनरेश वर्मा —१. वक्रोक्ति और अभिव्यंजना. बनारस, ज्ञानमंडल २००८ वि०

रामानन्द तिवारी शास्त्री—१. भारतीय दर्शन का परिचय. प्रयाग, भारती मंदिर २००६ वि०

रामविलास शर्मा —१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना. आगरा, विनोद पुस्तक-मंदिर २०[illegible] वि०
२. भारतेन्दु-युग. आगरा, वि० पु० मं० १९[illegible]

रामधारीसिंह 'दिनकर'—१. संस्कृति के चार अध्याय. दिल्ली, राजपाल, [illegible]

रांगेय-राघव —१. समीक्षा और आदर्श, आगरा वि० पु० मंदिर, १९[illegible]

राजपति दीक्षित —१. तुलसीदास और उनका युग, बनारस, ज्ञानमण्डल, २००[illegible] वि०

रूपनारायण पाण्डेय —१. कालिदास और भवभूति,

लक्ष्मीनारायण सुधांशु —१. अभिभाषण, काशी, ना० प्र० सभा, [illegible] अर्धशती समारोह, साहित्य-विभाग के सभापति ने दिया गया, [illegible] मार्च १९[illegible]
२. काव्य में अभिव्यंजनावाद. [illegible] प्र० २०० [illegible] वि०
३. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, कलकत्ता, १९५०

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय —१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य: १८५० ई० से १९०० तक: इलाहाबाद, हि० वि० हिन्दी परिषद्, १९४८
२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इलाहाबाद, [illegible] भवन, १९५१

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—१. गद्य-मंजरी, संकलनकर्ता: वि० प्र० मिश्र बनारस, [illegible] सं०, १९५०

२. वाङ्मय-विमर्श, वनारस, हि० सा० कुटीर, १६६६ वि०

३. हिन्दी का सामयिक साहित्य, काशी, सरस्वती मंदिर, २००८ वि०

शिवदत्त ज्ञानी —१. भारतीय संस्कृति, दिल्ली, राज० प्रका० १६

शिवदान सिंह चौहान —१. हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष, दिल्ली, राज० प्रका० १६५४

श्रीकृष्णलाल —१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास: १६०० १६२५ ई०: प्रयाग, हिन्दी-परिषद्, १६५२,

शचीरानी गुर्टू —१. हिन्दी के आलोचक दिल्ली, आत्मा राम १६५

श्यामसुन्दरदास —१. हिन्दी-भाषा और साहित्य, प्रयाग इंडियन प्रेस १६७७ वि०

२. साहित्यालोचन, प्रयाग, २००४ वि०

शिवनाथ —१. आचार्यरामचन्द्र शुक्ल, वनारस, सर० मंदिर, २००० वि०

२. भारतेन्दु-युगीन निवंध, वनारस, सर० मंदिर, २०१० वि०

शिवसिंह सेंगर —१. शिवसिंह सरोज

सहृदय —१. हिन्दी आलोचना के भिन्न-भिन्न स्रोत और उनके विकास का इतिहास, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर, २००८ वि०

सीताराम चतुर्वेदी —१. समीक्षा-शास्त्र, काशी, अ० भा० विक्रम परिषद्,

२. हिन्दी-साहित्य-सर्वस्व, वनारस, हिन्दी-साहित्य-कुटीर, २०१३ वि०

सीताराम जयराम जोशी—१. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, कलकत्ता, लक्ष्मी बुक० १६३३

सीताराम शास्त्री —१. साहित्य-सिद्धान्त

हजारी प्रसाद द्विवेदी —१. हिन्दी-साहित्य : उसका उद्भव और विकास देहली, १६५२

हरिश्चन्द्र भारतेन्दु —१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, सं० ब्रजरत्नदास, काशी, ना० प्र० सभा, २००७ वि०

मराठी—

पाठक वा० मा० —१. टीका आणि टीकाकार,

फड़के ना० सी० —१. साहित्य आणि संसार, कोल्हापुर, १९४२

वाटवे के० एन० —१. रस-विमर्श पुणे, १९४२

वालिंबे रा० शं० —१. वाङ्मयीन टीका: शास्त्र आणि पद्धति पुणे, जनार्दन सदाशिव, १९३६

२. साहित्य-मीमांसा, पुणे, नित्रशाला प्रका० १९५५ साहित्य-शोभ आणी आनन्द बोध

पत्र-पत्रिकाएँ—

१. अवन्तिका, १९५३-५४
२. आज, काशी विशेषांक, १९५७ साहित्य-विशेषांक
३. आनन्दकादम्बिनी, १९६३-१९६४ वि०
४. आलोचना, इतिहास-विशेषांक, आलोचनांक, साधारण अंक
५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १९१०, १८९७ ई०
६. माधुरी १९२४-१९२७
७. वीणा १९५७।
८. समालोचक १९०३-१९०४
९. सरस्वती, १९०२, ३, ४, ५, १४, १५, १६, १७ आदि
१०. साहित्य-संदेश, शुक्लांक, साधारण अंक १९४१-१९५१
११. हिन्दी-प्रदीप
१२. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-पत्रिका आदि

ENGLISH BOOKS

Aborcrombie, 1. Principles of Criticism,

Addison. 1. Spectator. London, J. M. Dent, 1945. v. 1—4.

Aristotle. 1. Poetics of Aristotle, ed. by S. H. Butcher, 4th ed' London, Macmillan, 1939,

2. Poetics: Aristotle: On style & other classical writings on criticism. London, J. M. Dent, 1949.

3. Rhetoric.

Arnold'M. 1. Essays in criticism; London, Macmillan, 1915.

Atkins, J. W, H. 1. English literary criticism 17th & 18th centuries. London, Methuen, 1954.

2. Literary criticism in Antiquity. A sketch of its development. London, Methuen. 1952.

Graeco-Roman, v-2.

Baudouin, C. 1. Psychoanalysis and Aesthetics, tr. from the French by Eden & Cedar Paul. London George Allen, 1924.

Bell, C. 1. Art. London, Chatto, 1949

Beuve, S. 1. Essays by Sainte Beuve,

Bosanquet, B. 1. History of Aesthetics. London, George Allen, 1949

Bradley, A, C. — 1. Oxford Lectures on Poetry. Londcn, Macmillan, 1950.

Brown. — 1. Philosophy of Human mind.

Cambridge. — 1. Cambridge History cf English Literature.

Caudwell, C. — 1. Illusion and Reality. Study of the sources of Poetry. Bombay, People's Pub. House, 1947.

2. Studies in Dying Culture London, John Lane the Bodley Head, 1951.

Coleridge, S. T. — 1. Biographia Literaria, ed with his Aesthetical essays, by J. Shawcross, London, O. U. P. 1949. v. 1, 2.

Croce. B. (by Carr, H. W. — 1. Philosophy of Benedetto Croce. the Problem of art ond History. London. Macmillan, 1917.

Dange, S. A. — 1. Literature and the People.

Dryden. — 1. Essay ef Dramatic poesy 3rd. ed.ed. by T. Arnold. Oxford, Clarendon press,1952.

Eliot, T. S. — 1. Use of Poetry and the Use of Criticism. London, Faber & Faber, 1945.

Encyclopedea. — 1. Encyclopedea of Britainica.

2. Encyclopedea of Religion and Etheics.

Freud,S — 1. Basic Writings of Singmund

Freud, tr. by A. A. Brill. N. Y., Modern library, 1938.
2. Collected Papers—on Meta-psychology, Papers on Applied Psycho-analysis. London, Hogrth press, 1949.
3. Interpretation of Dreams, tr. from the German, ed. by J. Strachey. London George Allen, 1954.
4. Introductory Lectures on Psycho-analysis, English tr. by J. Riviere. London, George Allen, 1952.
5. Freud. His Dreams and Sex Theories. Originally titled. The House that Freud built by J, Jastrow. N. Y., Pocket bk., 1948.

Fry, R. — 1. Vision and Design. Harmondsworth, Penguin dk. 1937.

Gayley, C. m. & B. P. Kurtz. — 1. Methods and Materials of Literary Criticism. Lyric, Epic and Allied form of Poetry. Boston, Ginn and Co, 1920.

Goetz, H. — 1. Crisis of Indian Civilization in the 18th and early 19th centuries.

Gorky, M. — 1. Life and Literature.

Gupta, Rakesh. — 1. Psychological Studies in Rasa. Aligarh, 1950.

Grierson. 1 Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan. 1818,89
2. Tulsi Das-Poet and Religious Reformer. 1903.

Growse. 1. Ramayan of Tulsi Das. 1897.

Hallbrook & Jackson. 1. Reader and Critic.

Hudson. 1. Introduction to the Study of Literature. London, G. G. Harrap, 1932.

Hume. 1. Psychology.

Keith, A. B. 1. History of Sanskrit Literature.

Lempriers. 1. Classical Dictionary of Proper Names mentioned in Ancient Authors, rev. by F. A. Wright. London, Routledge, 1948.

Lenin. 1. Materialism and Empirio-Criticism.

Longinus. 1. Longinus on the Sublime, tr. by A. O. Prickard. Oxford at the Clarendon press, 1949.

Lucas, F. L. 1. Literature and Psychology. London, Cassell & Co; 1951.

Lunacharsky. 1. Lenin on Art and Literature.,

Majunmadar. R. C. 1. An Advanced History of India pt. III Modern India, London Macmillan, 1951.

Saintsbury, G. 1. History of English criticism. Edinburgh, William Black-Wood, 1949.

Sastri, P. Panchapagesa. 1. Philosophy of Aesthetic Pleasure.

Scott-James, R. A. 1. Making of Literature. London, Secker & Warburg 1956
2. Personality in literature. 1931.

Shand, A. F. 1. Foundations of Character. 1914.

Shastri, R. M. 1. Indian Aesthetics.

Shelley. 1. Defence of Poetry (1821). First published by Mrs. Shelley in Essays and letters from Abroad, 1840.
2. English literary Criticism.
3. Shelley. poetry & Prose, ed. by S. Aiyar. Bombay, Karnatak Publishing House, nd.

Shipley. J. T. 1. Dictionary of world literature 1943.

Shukla, L. R. 1. Elements of Educational Psychology. Benaras Nand Kishore, 1942.

Somanath Dhar. 1. Role of Critic.

Spingarn. 1. New Criticism.

Stalin. 1. Dialectical and Historical Materialism.
2. Problem of Leninism.

Thomson, G. 1. Marxism & poetry.

Trotsky. 1. Revolution and Literature.

Tolstoy. 1. What is art? and Essays on art, tr, by A. Maude. Geoffrey Cumberlege, O. U. P.

Upward, E. 1. Mind in Chains.

Vaughan. C. E. 1. English literary criticism 1896.

Water, D. 1. Outline of world literature.

Winternitz. M. 1. History of Indian literature Calcutta. V. I-1927. V. 2-1933.

Worsfold, W. B. 1. Judgment in literature London, Bedford Street, 1932.

Woodworth & Marquis 1. Psychology 1932

Wordsworth 1. Lectures and Essays, 2nd ed, by H. W. Garrod, Oxford, at the Clarendon press, 1939
2. Prose writings of wordsworth, ed. W. Knight London, Walter Scott, 1893
3. Poetry and poetic Diction

JOURNALS

Educator

Leader— Weekly, Allahabad

Hindi Review, Varanasi

Spectator, London

Saintsbury, G. 1. History of English criticism Edinburgh, William Black Wood, 1949.

Sastri, P. Panchapagesa. 1. Philosophy of Aestheti Pleasure.

Scott-James, R. A. 1. Making of Literature. London, Secker & Warburg 195(

2. Personality in literature 1931.

Shand, A. F. 1. Foundations of Character 1914.

Shastri, R. M. 1. Indian Aesthetics.

Shelley. 1. Defence of Poetry (1821) First published by Mrs. Shelley in Essays and letters from Abroad, 1840.

2. English literary Criticism

3. Shelley. poetry & Prose, ed by S. Aiyar. Bombay, Karnatal Publishing House, nd.

Shipley. J. T. 1. Dictionary of world literatur 1943.

Shukla, L. R. 1. Elements of Educational Psychology. Benaras Nanc Kishore, 1942.

Somanath Dhar. 1. Role of Critic.

Spingarn. 1. New Criticism.

Stalin. 1. Dialectical and Historica Materialism.

2. Problem of Leninism.

Thomson, G. 1. Marxism & poetry.

Saintsbury, G. 1. History of English criticism. Edinburgh, William Black Wood, 1949.

Sastri, P. Panchapagesa. 1. Philosophy of Aesthetic Pleasure.

Scott-James, R. A. 1. Making of Literature. London, Secker & Warburg 1956.
2. Personality in literature 1931.

Shand, A. F. 1. Foundations of Character 1914.

Shastri, R. M. 1. Indian Aesthetics.

Shelley. 1. Defence of Poetry (1821) First published by Mrs. Shelley in Essays and letters from Abroad, 1840.
2. English literary Criticism
3. Shelley. poetry & Prose, ed by S. Aiyar. Bombay, Karnatak Publishing House, nd.

Shipley. J. T. 1. Dictionary of world literature 1943.

Shukla, L. R. 1. Elements of Educational Psychology. Benaras Nand Kishore, 1942.

Somanath Dhar. 1. Role of Critic.

Spingarn. 1. New Criticism.

Stalin. 1. Dialectical and Historical Materialism.
2. Problem of Leninism.

Thomson, G. 1. Marxism & poetry.